सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ८
(पथ प्रदीप)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹2500/- (10 X ₹250/-)

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द! **ॐ आनन्द!!** **ॐ आनन्द!!!**

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।

सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना!

विषय सूची

सन्त जीवन दर्पण 7

1. स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज` 8
2. पुण्य- स्मृति 11
4. वह तो आते आधे नाम.....13
5. जीवन के मार्मिक प्रसंग.....14
7. विविध प्रसंग 26

साधन त्रिवेणी.....66

1. जीवन का सत्य.....67
2. हमारी आवश्यकता 73
3. सेवा ही जीवन का सार सर्वस्व 77
4. सत्संग मानव का स्वधर्म....83
5. स्वाधीनता, उदाराताऔर प्रेम85
6. धर्म विज्ञान.....92
7. सच्चा साधक कौन?..... 101
8. विवेकऔर विश्वास..... 113
9. साधना-पथ की बाधाएँ : . 121
10. प्रभु-प्रेम की विलक्षणता133
11. विश्व-शान्ति..... 135

'मैं' की खोज 149

1. 'मैं' क्या है?..... 150
2. 'मैं' का स्वरूप' 152
3. 'मैं' का विवेचन.....157
4. उपसंहार.....185

पथ प्रदीप 186

1. जीवन कला.....187
2. मानव की महिमा.....190
3. 'मैं' का परिचय 193
4. अचाह-मानव का परम पुरुषार्थ 195
5. राग निवृत्ति-नित्ययोग.....198
6. दुःख-एक विवेचन 202
7. सन्तुलन.....206
8. सेवा का माहात्म्य.....209
9. व्यक्तिगत सत्संग.....212
10. विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि 215
11. विश्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं.....218
12. साधन-भजन-पूजन.....223
13. भक्ति – योग.....225
14. अहैतुकी कृपा 228
15. प्रभु की प्रियता 230

प्रश्नोतरी संतवाणी..... 236

सन्त जीवन दर्पण

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

-ब्रह्मलीन श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

श्री उड़िया बाबा जी महाराज के आश्रम (वृन्दावन) में बड़े फाटक के ऊपर, छत पर, सत्संग हो रहा था। बाबा चौकी पर बैठे थे, शेष सब नीचे। एक युवा सन्त, जो नेत्रहीन थे, बाबा के साथ प्रश्नोत्तर कर रहे थे। इस सम्बन्ध में दोनों एक प्रकार का ही प्रतिपादन कर रहे थे कि वेदान्त-विचार में भक्ति-भावना का मिश्रण नहीं करना चाहिए। बाबा -विचार' एवं 'भाव' शब्द का प्रयोग करते थे और वे नेत्रहीन सन्त 'विवेक' और 'विश्वास' शब्द का। मैं उस समय तक संन्यासी नहीं हुआ था। दोनों के बीच में कुछ बोलता नहीं था। मैं मन ही मन श्री मधुसूदन सरस्वती के 'श्री भक्ति रसायन' के उस प्रसंग से तुलना कर रहा था जिसमें द्रुत-चित्त के लिए भक्ति रस एवं अद्रुत चित्त के लिए वेदान्त-विचार का अधिकार बतलाया गया था।

उन दोनों महात्माओं के विचार में शास्त्रोक्त भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक नयी भाषा-भाव एवं विचार, विवेक एवं विश्वास का नाम मिला, और वह मेरे लिए बहुत प्रभावी सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र चिन्तन को एक दिशा मिली। वे नेत्रहीन सन्त स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज थे। बाद में उनके साथ हमारा सम्पर्क वर्षों तक बना रहा।

दूसरी बात एक प्रश्न था कि "क्या ईश्वर की मान्यता के बिना भी सदाचारी एवं जागरूक चिन्तनशील पुरुष यर्थाथ रूप में परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है? उस समय मुझे यह मीमांसा बहुत अटपटी, लोक-व्यवहार के लिए अनुपयुक्त तथा लोक-मानस में नास्तिकता के प्रति महत्त्व-बुद्धि का आधान करने वाली लगी। परन्तु वेदान्त के आभास, प्रतिबिम्ब अथवा औपाधिक ईश्वर की अनिर्वचनीयता निश्चय करने के लिए चिन्तन का एक नया, प्रशस्त पथ भी अस्पष्ट रूप से झलकने लगा। दृष्टि-सृष्टिवाद अथवा एक जीवनवाद के महत्त्वपूर्ण चिन्तन के लिए जैसे कोई नवीन मार्ग मिल गया हो। हाँ, तो इस विषय में भी बाबा एवं स्वामी शरणानन्द जी का मत एक-सा ही था। बाबा औपनिषद् रीति से और स्वामी जी अपने स्वतन्त्र चिन्तन की रीति से एक ही निष्कर्ष पर पहुँच रहे थे। यह सत्संग भी बड़ा प्रभावी रहा।

एक बार स्वामी शरणानन्द जी महाराज सेठ श्री जय दयाल जी

के सत्संग में स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) आये। उनकी भाषा विलक्षण थी। उसको ग्रहण करने के लिए पहले-पहल कई दिन तक सुनना पड़ता था। स्वामी श्री रामसुखदास जी के साथ उनका विचार-विमर्श होता था। वे जब नये-नये शब्दों का प्रयोग करते तो पहले कुछ अद्‌भुत सा लगता, बाद में विचार करने पर प्राचीन शास्त्रों के साथ उसी संगति लग जाया करती थी। वे 'अचाह' तथा 'अप्रयत्न' शब्द का प्रयोग किया करते थे। सीधी-सी बात है-'अचाह' माने निष्कामता और 'अप्रयत्न' माने नैष्कम्र्य। 'अचाह' अन्तः करण की शुद्धि है और 'अप्रयत्न' स्वरूप ही सहज स्थिति। व्यवहार में यदि अपनी योग्यता का सदुपयोग दूसरों की सेवा के लिए नहीं किया जाएगा तो वह केवल अपनी सुख-सुविधा एवं भोग का साधन हो जाएगा।

श्री रामसुखदास जी ने मुझे बताया कि स्वामी शरणानन्द जी का चिन्तन बहुत ही गम्भीर एवं सूक्ष्म है। प्रत्येक बात को वे स्वयं चिन्तन के द्वारा अपनी भाषा में अभिव्यक्ति देते हैं। विचार करके देखने पर वह कहीं भी शास्त्र के विरुद्ध नहीं मिलती। 'अचाह' से हृदय शुद्ध होता है और 'अप्रयत्न' से सहज स्थिति होती है। बात सोलहों आने यथार्थ है। यहाँ सेवा ही धर्म है। इसी प्रकार धर्म, निष्कामता एवं सहज स्थिति की संगति लग गई।

स्वामी जी किसी जाति-पाती, सम्प्रदाय, वर्ण-आश्रम आदि का नाम नहीं लेते थे। वे मानव के लिए मानवता का प्रतिपादन करते थे। मानव में जो आनुषंगिक विकार आ गए हैं, उनके निवारण के लिए प्रयास करना चाहिए एवं सहज मानवता का विकास तथा प्रकाश होना चाहिए। इसके लिए संकीर्ण विचारों एवं भावनाओं का परित्याग तथा उदात्त एवं उदार विचारों को उल्लास होना चाहिए। इसी अभिप्राय से श्री शरणानन्द जी महाराज ने 'मानव-सेवा-संघ' नाम की संस्था की स्थापना की।

उनका पूर्वाश्रम का नाम, ग्राम या जाति का मुझे पता नहीं है। वे इनकी चर्चा भी नहीं करते थे। हाँ, इतना अवश्य ही ज्ञात है कि वे 20वीं शताब्दी के आरम्भ में जन्मे थे और दस वर्ष की आयु होते-होते वे नेत्रहीन हो गये थे। पहले उन्हें अपनी नेत्रहीनता की ग्लानि अवश्य हुई परन्तु बाद में महात्माओं के सत्संग से वह जाती रही। उनका मन भगवान के भजन में लगने लगा। पढ़ाई-लिखाई न होने पर भी परमात्मा के

चिन्तन की दिशा में उनकी प्रज्ञा स्वतः अग्रसर होने लगी।

हमने स्वयं देखा और अपने कानों से सुना कि कोई कैसा भी प्रश्न करें, वे तत्काल उस प्रश्न का निरसन कर देते थे। उनकी सूझ-बुझ इतनी प्रखर थी के वे प्रश्न के शब्द सुनते ही समझ जाते थे कि प्रश्नकर्ता किस नासमझी या भूल के कारण यह प्रश्न कर रहा है। तत्क्षण वे उस पर चोट करते और प्रश्न ही कट जाया करता था। किसी का तर्क-वितर्क उनके समक्ष टिक नहीं पाता था। इसके साथ ही साथ उनका हृदय इतना भावपूर्ण एवं कोमल था कि भगवच्चर्चा करते-करते वे भावमग्न हो जाते और नेत्रों से अश्रुधारा का प्रवाह एवं कण्ठ गद्गद हो जाया करता था। उनकी वाणी का स्वर ही बदल जाता था।

क्रोध एवं क्षोभ की व्यर्थता पर चर्चा के समय उन्होंने सुनाया था कि वे कहीं अकेले यात्रा कर रहे थे। हाथ में डंडा था। पीछे से कोई बैलगाड़ी आयी, चक्का लगा, वे गिर पड़े। मन में गाड़ीवान के प्रति क्रोध भी आया, क्षोभ भी हुआ कि मैं नहीं देखता हूँ तो क्या हुआ, यह तो देखता है। गाँव के किसी व्यक्ति ने गाड़ीवान को भला-बुरा भी कहा, डाँट-डपटा भी, परन्तु जब स्वामी जी आगे बढ़े तो किसी पेड़ से टकरा गये और गिर पड़े। कहते थे कि उस समय मन में आया कि अब करो क्रोध। इस दुर्घटना का तो कोई विशेष कर्ता ही नहीं है। जो सबका कर्ता है वही इसका कर्ता है। वस्तुतः जो अपने को कर्ता मानता है वही दूसरे को कर्ता मानता है। यह सब तो प्रभु की लीला है-चाहे जो हो जाय, जो किया जाय, जो कहा जाय-सब प्रभु की ओर से ही आता है। क्रोध-विरोध का कोई कारण नहीं।

स्वामी जी ने सुनाया था-वे अपने कुछ भक्तों के साथ एक बार उत्तराखण्ड की यात्रा कर रहे थे। उन दिनों यात्रा पैदल ही होती थी। मार्ग में स्वामी जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। दो चार दिन तक तो भक्तगण उनकी सेवा में रहे। फिर धीरे-धीरे एक-एक करके अपनी यात्रा पूरी करने के लिए चले गए। वे बेचारे पहाड़ी मार्ग पर कब तक उनका साथ देते। स्वामी जी अकेले रह गये। थोड़े दिनों में उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। अपना डण्डा और कमण्डलु लेकर उन्होंने अकेले ही यात्रा की। एक नेत्रहीन व्यक्ति का एकाकी हिमालय की यात्रा करना कैसा होगा। क्या आश्चर्य है। उनके हृदय में ईश्वर के प्रति कितनी आस्था थी और ईश्वर अपने विश्वासी भक्त की

कैसे रक्षा करता है एवं सहायता देता है-यह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

पुण्य- स्मृति

-श्री सुदर्शन जी 'चक्र'

सर्वप्रथम हरिद्वार में मुझे श्री महाराजजी के दर्शन हुए थे। उससे पूर्व एक-दो पत्र मैंने लिखे थे और उनका उत्तर मुझे प्राप्त हुआ। यह बात सन् 1938 या 1939 का सम्पादन कर रहा था। उसके विशेषांक के सामग्री-चयन के कार्य से हरिद्वार गया था। प्रबल शरीर, धूप में तपने से किंचित् श्यामवर्ण। मैंने चरणों पर सिर रखकर परिचय देते हुए कहा 'सुदर्शन प्रणाम कर रहा है।'

'दादा', इस सम्बोधन के साथ मुझे दोनों हाथों से पकड़ हृदय से लगा लिया, लाठी नीचे गिर गई, जिसे पीछे मैंने ही उठाकर उनके हाथ में दिया। बहुत विचित्र लगा, क्योंकि आयु की दृष्टि से भी मैं उनके बच्चे के बराबर था। उनके सम्बोधन की कोई संगति मन में बैठती न थी।

उस समय तक अपने 'श्यामसुन्दर' को मैं मित्र तो मानता था, किन्तु मेरे मन में यह स्पष्ट नहीं था कि कन्हाई मुझ से बड़ा है या छोटा। यह बात तो बहुत पीछे, जब मैं नागपुर में था तब बनी। संसार में मेरे सम्बन्धियों से मेरा केवल छोटा भाई बचा था। अचानक पत्र आया। उसका शरीर नहीं रहा। जिसका संसार में कोई एक ही सम्बन्धी रहा हो और उसकी मृत्यु का समाचार आ जाय, तो मन की क्या दशा होती है, यह कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है। किन्तु हुआ यह कि कठिनाई से दो क्षण उस शोक का वेग रहा। सहसा, हृदय में श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर कहा, 'दादा', मैं तो तेरा छोटा भाई हूँ।' शोक गया, बहुत कुछ मिला। उस दिन उस समय यह भी याद आया कि प्रथम मिलन के समय श्री महाराज ने इसी 'दादा' से सम्बोधन किया था और तब मुझे इस सम्बोधन की सार्थकता समझ में आई। यह घटना सन् 1945 की है।

मैं गंगोत्री पहुँचा था। मेरे साथ देवी सत्यमूर्ति और उनके कोई सम्बन्धी साधु थे। श्रीकृष्णाश्रमजी महाराज के दर्शन करने गया। वे जाड़ों में भी गंगोत्री में दिगम्बर, बिना धूनी के रहा करते थे। उनकी ख्याति सुन चुका था। महामना पं. मदनमोहन मालवीय उनको हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास कराने के लिए वाराणसी लाये थे। मैंने उन्हें

प्रणाम किया, देवी सत्यामूर्ति का परिचय दिया कि वे श्री स्वामी शरणानन्दजी महाराज की सगी छोटी बहिन हैं, इन्हें ढाई वर्ष का छोड़कर स्वामी जी ने गृह त्याग किया था। श्री कृष्णाश्रमीजी महाराज मौन रहा करते थे। उन्होंने भूमि पर लिखा, 'स्वामीजी महाराज मेरे मित्र हैं।' मैंने पूछा, 'आप बहुत वर्षों से गंगोत्री में रहते हैं, श्री महाराज जी से आपकी मित्रता कैसे हुई?' उन्होंने लिखकर बतलाया, 'उन्होंने अकेले पाँच बार यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा की है। गंगोत्री आने पर मेरे पास ही ठहरते थे।

आज भी सोचकर आश्चर्य होता है कि उस समय सड़के नहीं थी, बसें नहीं थीं, ऋषिकेश से ही पैदल जाना पड़ता था, मार्ग ऐसा था कि आँख वालों को भी गिर जाने का डर था, पहाड़ में आज भी चाहे जब मार्ग टूट जाया करता है, उस समय एक अकेला आदमी जो बिना आँख का है पाँच-पाँच बार इन तीर्थों की यात्रा कैसे कर सका? और इस यात्रा में कोई कम्बल या चद्दर साथ में नहीं रखी थी। श्री कृष्णाश्रमजी महाराज बराबर गंगोत्री में रहते थे, इसलिए उन्हें शीत सहने का का अभ्यास हो गया था। किन्तु मैदानी क्षेत्र में रहने वाला कोई अचानक केवल कौपीन लगाये यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ में पहुँच जाएगा, इसकी आशा आज भी नहीं की जा सकती है। यह तो उनका अपना तपोबल अथवा भगवत्कृपा ही संभव बना सकती थी।

वृन्दावन में सत्संग चल रहा था। मैं चुपचाप बैठ गया। किसी सज्जन ने अपने किसी स्वजन का नाम लेकर कहा कि उसके प्रति उनकी बहुत आसक्ति है, यह आसक्ति कैसे टूटे? 'उसकी खूब अधिक सेवा करो', श्री महाराज ने यह संक्षिप्त उत्तर उसे दे दिया। वे प्रायः ऐसा ही सूत्र बोलते थे और व्याख्या करना उनके स्वभाव में नहीं था।

लेकिन उनका वह सूत्र मुझे कभी विस्मृत नहीं हुआ।

पर दुःख – कातरता की साक्षात मूर्ति

- श्री नारायण रेड्डी

पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज बहुत ही दयालु एवं प्रेमी सन्त थे। उनका अधिकांश समय भ्रमण में ही बीतता था। वे जहाँ कहीं भी जाते स्वयं अपना तो नहीं, परन्तु साथियों का बहुत अधिक ध्यान रखते

थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार जब वे दिल्ली पधारे तो स्टेशन से उन्हें अपने यहाँ ले जाने के लिए सेठ श्री जयदयाल जी डालमिया एक बड़ी कीमती मोटर लेकर स्टेशन पहुँचे। स्वामी जी महाराज पहले अपने साथियों को सेठजी की कोठी पर भेजते गये और वे स्वयं कार के लौटने की प्रतीक्षा में बड़ी देर तक वहीं ठहरे रहेंगे। मैंने स्वामी जी से निवेदन किया, 'महाराज! आप कब तक यहाँ ठहरे रहेंगे। आप पहले सेठ जी के स्थान पर चलिए, हम लोग थोड़ी देर में आ जायेंगे।' उत्तर मिला-'अगर मैं पहले चला जाऊँ तो सेठजी भी मेरे साथ चले जायेंगे और आप लोगों की व्यवस्था ठीक तरह नहीं हो पायेगी।'

स्वामी जी के साथ हर यात्रा में दस-पद्रह सत्संग-प्रेमी सज्जन रहते थे, जिन्हें लोग शंकरजी की बरात कहते थे। परन्तु इस बरात के स्वागत-सत्कार और आतिथ्य का ध्यान जितना स्वामी जी को रहता था, सामान्यतया किसी भी घराती को अपने यहाँ आई हुई बरात का शायद ही इतना ध्यान रहता हो। इस सुख-सुविधा की व्यवस्था को किसी दूसरे पर न छोड़कर स्वयं अपने निरीक्षण में करवाते थे।

श्री महाराज जी परदुःखकातरता तथा सेवापरायणता की भी साक्षात् मूर्ति थे और मैं स्वयं अपने जीवन की घटनाओं के आधार पर कह सकता हूँ कि इन विशेषताओं को चरितार्थ करते हुए वे अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करते थे। एक बार वृन्दावन में बिजली का शॉक लगने पर जब मैं अचेत होकर मरणासन्न हो गया तब उन्हीं की कृपा, करुणा एवं स्नेह के परिणामस्वरूप मेरी प्राणरक्षा हो सकी और जब बच गया तब श्री महाराजजी ने मुझे कहा,-"देखो, तुम्हारा यह नया जन्म हुआ है, अब तुम अपने शेष जीवन को भगवान के समर्पण कर दो।"

वह तो आते आधे नाम

-श्री ठाकुर जगत सिंह झालामण्ड

मेरे पूज्य पिता श्री स्व॰ ठाकुर विजय सिंह जी झालामण्ड साधु-सन्तों के प्रेमी एवं श्रद्धालु थे। इन पर कृपा भाव रखने वाले सन्तों ने अभ्यासजन्य साधन नाम-जप आदि शुरु कराया। 'अजपा जप', जो नाम-जप के दीर्घकालीन अभ्यास से होता है, वह होने लग गया था। सन् 1949 में स्वर्गाश्रम में परमपूज्य गुरुदेव स्वामी शरणानन्द जी से भेंट हुई।

पूज्य स्वामी जी की बातचीत एवं प्रश्नोत्तर की शैली ने पिता जी को बहुत प्रभावित किया।

ठाकुर साहब अपने नियम के बड़े पक्के थे। नित्य नियम से 200 माला पूरी करने के पश्चात् ही कोई काम करना आरम्भ करते थे। एक बार पू° स्वामी जी जोधपुर पधारे। यह बात सन् 1953-54 की होगी। पिता जी अपने साधन में निमग्न थे। पू° स्वामी जी सीधे उनके कमरे में चले गए एवं बड़े ही सहज भाव से बोले, "क्या हो रहा है?" चरण-स्पर्श करके पिता जी ने कहा, "बाबा, बस थोड़ी सी माला और रह गई है।" श्री स्वामी जी महाराज ने आत्मीयता से किन्तु विनोदपूर्ण स्वर में कहा, "क्या उधार ले रखा है, जो गिन-गिन कर चुका रहे हो? अरे भाई, वो तो आधे नाम पर ही आ जाता है। तुम प्रेम एवं अपनत्व से एक बार नाम ले लो, तुम्हारा काम बन जाएगा।"

जीवन के मार्मिक प्रसंग

(1)

बालक (श्री महाराजजी) जब तीन वर्ष का था, तो एक दिन किसी रमते योगी ने उसके द्वार पर अलख जगायी, और बालक जब माता के हाथ से आटे की कटोरी छीन कर 'हूँ दूँगों भिच्छा'-कहता हुआ योगी की ओर दौड़ा, तो योगी बालक की बड़ी-बड़ी आँखों से आकर्षित होकर उसके ललाट को एकटक निहारने लगा। भिक्षा लेना भूलकर बालक को उस तरह घूरते देख माँ के मन में संदेह तथा भय-मिश्रित भाव उत्पन्न हुआ और आगे बढ़कर उसने बालक को अपनी बाँहों के घेरे में लेते हुए योगी की दृष्टि से हटा लिया तथा हाथ से आटे की कटोरी लेकर योगी की झोली में भिक्षा डाल दी। 'तेरे लल्ला को हाथ देखना चाहूँ हूँ, मैया! जु कहै तो देख लऊँ।' योगी ने माता से आज्ञा माँगी और सकुचाती हुई माता ने बच्चे की दाहिनी हथेली फैलाते हुए योगी के आगे कर दी। माता गौर वर्ण की थी और बच्चा साँवले रंग का। तभी योगी के मुँह से निकला, 'तौ जि बात है! जसोदा ने कारो जायो है!' बात चाहे जिस उद्देश्य से कही गयी हो, माता ने उसे व्यंग्यात्मक भाव में ही लिया। इधर योगी बच्चे की मुलायम और गुलगुली हथेली को अपने अँगूठे इधर-उधर खींचता हुआ देख-देखकर मुस्करा रहा था और उधर माता बालक का भविष्य जान लेने को उतावली हो रही थी। माता को बात अच्छी तो नहीं लगी, फिर झुककर

उसने योगी को दण्डवत् प्रणाम किया और विनयपूर्वक बोले-

"कोऊ अच्छौ वरदान देते जइयो महाराज, मेरे छोरा को।"

तो योगी यह कहता हुआ लम्बे डग भरने लगा कि-

"तेरो लाला कै तो बड़ो राजा होगो, नहीं तो सिद्ध जोगी तो होगा ही, या मैं तो कोऊ संदेह नाय। विधि के विधान कूँ को टार सक्यो है, मैया? रामऊँ को वन जानो पड़यो हतो, मेरी-तेरी तो बात ही कहा है।" लम्बे डग भरता हुआ योगी गाता जा रहा था-

"मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि कै लगन धरी।
सीता हरण मरण दशरथ को वन में विपति परी।"

(2)

बचपन की बात है। प्रीति के लिए ही जैसे बना हुआ हृदय, मैत्री-भाव छलकता रहता है। तेज हवा चलती बगीचों के पके आम टपकते। मुहल्ले के बच्चों के साथ यह अनुरागी-हृदय बालक भी आम खाने के लिए दौड़ जाता। आम उठाया, एक बार चूसा, रस अगर मीठा लगा तो झटपट दोस्त की याद आ गयी "अरे, यह तो बढ़िया आम उसको खिलाऊँगा।" देख आपने! आम खाने का सुख प्यारे मित्र को आम खिलाने के रस में बदल गया! कैसी अद्‌भुत रचना है! कैसा प्रेमी हृदय है! मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि बाल्यकाल में व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता है, अपना ही सुख पसंद करता है। आगे चलकर सामाजिकता के प्रभाव से सुख बाँटना सीखता है। यह लक्षण उस बालक पर लागू नहीं होता, जो भोग और मोक्ष-सब कुछ उस अनन्त पर न्यौछावर करके उसको आनन्दित करने वाला, उसका नित्य सखा होने जा रहा है। परमात्मा का अभिन्न मित्र होकर उसके डंके की चोट प्रेम-पथ के साधकों को सुनाया कि परमात्मा को रस देने के लिए उसको प्यार करो।

(3)

'शरीर विश्व के काम आ जाये', इस सत्य को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत व प्रतिपादित किया गया बहुत पीछे, परन्तु बीज रूप में यह सर्वहितकारी भाव उनमें विद्यमान था जन्म से ही, बचपन से ही इसके लक्षण प्रकट होने लगे थे उनमें। उन्हीं के श्रीमुखसे हमने सुना है, "मुझे

दूसरों के काम आने का बचपन से ही बड़ा शौक रहा है। जब चिट्ठीरसा गाँव में आता तो मैं उसके पीछे-पीछे डोलता था, क्योंकि गाँव में अधिक लोग निरक्षर भट्टाचार्य थे। मैं ही थोड़ा-सा पढ़ा-लिखा था। जब लोग कहते कि लल्ला, जरा पढ़कर सुना देना, तो बड़ा मजा आता लल्ला को।" कैसी लगन है! कोई मदद की आवश्यकता अनुभव करेगा, इसलिए स्वयं पहले ही वहाँ उपस्थित हो जाने में, ऐसा मजा लेने में, कितना सयानापन है। दूसरों के काम आने वाली लगन जो सीमित सामर्थ्य के बालक में अंकुरित हुई थी वह त्रिगुणातीत ब्रह्मनिष्ठ संत हो जाने के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची और निकटवर्तियों ने शरीर-नाश के अंतिम क्षणों में सर्वात्म-भाव से भावित उस महामानव को अपने परम सुहृद् से सबका कल्याण करने के लिए कहते हुए सुना।

(4)

'योगः कर्मसु कौशलम्', यह लक्षण भी बाल्यकाल में ही प्रकट होने लगा था। श्री महाराजजी ने स्वयं ही सुनया था कि-"मुझे पढ़ने जाने का बड़ा शौक था। पिता के घर से कुछ दूर दूसरे गाँव में पढ़ने जाता था और लालटेन की रोशनी में चलने का भी बहुत शौक था। अतः स्कूल से आते समय खेल कूद में, जान-बूझकर थोड़ी देर कर देता और लालटेन जलाकर हाथ में लेकर थोड़ा अँधेरा होने पर घर आता। एक दिन घर पहुँचने पर पता चला कि लालटेन की टिबरी रास्ते में कहीं गिर गई। इससे मुझे बड़ी तकलीफ हुई। दूसरे दिन रविवार था। स्कूल नहीं जाना था। इस कारण उस दिन भी बड़ी बेचैनी रहीं। मेरे द्वारा ऐसी भूल क्यों हुई? भूल की तकलीफ मिटाने के लिए लालटेन की टिबरी को खोजना था। सारा दिन, सारी रात बेचैन रहने के बाद सोमवार के दिन जब घर से स्कूल के लिए चला तो अपने दरवाजे से ही पूरे रास्ते भर आँखें गड़ा-गड़ा कर लालटेन की टिबरी को खोजता हुआ गया। छोटी-सी चीज थी, दो दिन बीत गये थे। रास्ते में पड़ी हुई चीज किसी ने उठा ली होगी। मिलने की आश तो बहुत कम थी, परन्तु गलती हो जाने की तकलीफ और टिबरी को खोजने का चाव बहुत प्रबल था। चलते-चलते स्कूल पहुँचने से पहले टिबरी मिल गयी और मुझे बड़ी प्रसन्नत हुई।" आप सोचिये, लालटेन की टिबरी

जैसी मालूम चीज का खो जाना कोई खास बात नहीं थी। अच्छे सम्पन्न परिवार का इकलौता लड़का, एक लालटेन बिना टिबरी की हो गयी हो तो माता-पिता बालक के लिए दो-चार नयी लालटेनें खरीद सकते थे, परन्तु बालक को अपनी कार्यकुशलता में कमी का बड़ा भारी दुःख था। संत हो जाने पर उसी जीवन में से यह सत्य उद्‌भासित हुआ कि यदि एक गिलास जल सही ढंग से पिलाना नहीं आता है तो ध्यान करना नहीं आयेगा। छोटे-से-छोटा काम करने में भी जो असावधानी करता है वह करने के राग से मुक्त नहीं हो सकता। राग-रहित हुए बिना योगवित् होना संभव नहीं है। उनके प्रेमी मित्र इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं कि आँखों से देखकर उतनी अच्छी तरह वस्तुओं को हम नहीं सँभाल सकते जितनी अच्छी तरह श्री महाराजजी बिना देखे सँभालते थे।

(5)

अद्‌भुत प्रतिभा-सम्पन्न बालक की आँखें बड़ी गजब की थीं। एक बार स्कूल इन्सपैक्टर आया! वर्ग-कक्ष में बच्चों से बातें करने लगा। परन्तु रह-रहकर उसकी दृष्टि इस बालक पर अटक जाती थी। आखिर उसके मुँह से निकल ही गया-'इस बच्चे की आँखें गजब ढाती हैं।' उन गजब ढाने वाली आँखों ने बालक का साथ बचपन में ही छोड़ दिया। बालक अत्यन्त दुःखी हो गया। पढ़-लिखकर वकील होने की उसकी कल्पना बिखर गई। अरमानों को गहरी ठेस लगी। सारा परिवार दुःखी हो गया। "अपने दुःख से मैं दुःखी होता था और मुझे रोता हुआ देखकर माता-पिता और बहनें सब रोने लगती। उनको रोते हुए सुनकर मैं और अधिक दुःखी होता-मैं यहाँ तक सोचने लग जाता-हाय! मेरा जन्म लेना कितने लोगों के लिये दुःखदायी हो गया। मेरा जन्म न होता तो दुःख का यह चक्र न चलता।"

(6)

दृष्टि-हीन हो जाने की अपनी दशा पर स्वयं बाल को इतना दुःख हुआ कि माता-पिता घबरा उठे। बच्चा बाँस की छड़ी टेकता और टटोल-टटोल कर चलता। सुबह से ही निकल जाता और आबादी से बाहर जाकर अपना समय गुजार देता-जैस, अब वह घर का सदस्य ही नहीं रह

गया था। इसी तरह जाड़ों के एक दिन जब वह घर लौटा तो उसके बदन का गर्म कुरता गायब था। फिर एक दिन बदन पर लिपटी हुई लोई भी नदारत थी। बहुत पूछने पर उसने केवल इतना बताया कि किसी रमैया को सर्दी में ठिठुरते सुनकर उसने लोई उसे दे दी थी, क्योंकि 'उसकी जरूरत मुझसे अधिक थी।'

(7)

दस-ग्यारह साल के बालक में यह प्रश्न पैदा हो गया था कि "ऐसा भी क्या कोई सुख होता है जिसमें दुःख न शामिल हो?" एक दिन पिताजी किसी से बातें कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि "ऐसा सुख साधुओं को होता है जिसमें दुःख नहीं रहता।" होनहार, मेधावी सजग बालक को जीवन की राह मिल गई। उसने निश्चय कर लिया, "आँखों के चले जाने से पढ़ना-लिखना संभव नहीं, और सब दरवाजे तो मेरे लिए बंद हो गये, मैं और कुछ नहीं कर सकता, परन्तु साधु तो हो सकता हूँ।" उसी बालक ने साधु होकर दुःख-रहित जीवन का आनन्द स्वयं पाया। घोर पराधीनता से उच्चतम जीवन की यात्रा आरम्भ करने वाला परम स्वाधीन हो गया। सर्वात्म-भाव से भावित हृदय उमड़ पड़ा और आज आप उनके सिद्धान्तों एवं साधन-प्रणालियों में प्रत्यक्ष उनके जीवन की इस व्याग्रता को अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने असमर्थ से असमर्थ को भी स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में पहुँचाने का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया।

(8)

दिल में धुन लगी है कि साधु कैसे हो जाऊँ। आँखों की ज्योति नष्ट हो जाने से चेहरा कैसा दिखता होगा, इस दुःख के मारे घर से बाहर निकला नहीं जाता था। साधु होने की बात सुनना भी माता-पिता सहन नहीं कर सकते थे। साधुओं से मिलने-जुलने के लिये कैसे जाऊँ? कहाँ जाऊँ? कौन ले जाय? बड़ी भारी बेबसी थी। फिर भी, दूसरों की दया का पात्र होकर जीने की बात सोचना भी बालक सह नहीं सकता था। मिलने-जुलने वाले, सगे-सम्बन्धी, जिस किसी से बातचीत होती, केवल सत्संग की ही चर्चा होती, क्योंकि जीवन में एक ही धुन रह गई थी-साधु

कैसे बनूं? एक दिन एक संत आये। दरवाजे पर, चौकी पर उनका आसन लगा। पास ही जमीन पर दुःखी बालक चौकी पकड़कर बैठा था। हित-चिंतकों ने संत को दुःखी बालक का दुःख सुना दिया। संत ने कहा-

"भैया!" राम-राम कहा करो।" बालक ने कहा-"मेरा राम-नाम में विश्वास नहीं है।" संत ने कहा, "कोई बात नहीं। ईश्वर को तो मानते हो?" बालक ने कहा, "हाँ! ईश्वर को मानता हूँ।" इस पर संत ने कहा कि "अच्छी बात है, ईश्वर के शरणागत हो जाओ।" संत ने कहा, बालक ने सुना। संत की वाणी जादू का काम कर गई। संत होने के बाद अनेक अवसरों पर श्री मुख से ऐसा कहते सुना गया है-"प्रभु के शरणागत होने की बात जीवन में ऐसी लग गई कि जब से सुना, प्रत्येक क्षण शरण्य से लिने की धुन तीव्र होती चली गई। रह-रहकर हृदय से हुलास उठती रहती-शरण्य से कैसे मिलूँ?" सत्य की स्वीकृति से साधना की अभिव्यक्ति होती है-जीवन का यह सत्य बालक में प्रत्यक्ष हुआ। जप, ध्यान, स्मरण कुछ करना नहीं पड़ा; स्वतः होने लगा।

(9)

बालक का हृदय प्रेमी तो था ही। अन्धे हो जाने से प्रिय कुटुम्बी-जनों का स्नेह इस बालक के प्रति अधिकाधिक उमड़ने लगता। एक दिन की बात है कि चचेरे भाई, उनकी पत्नी इस बालक के साथ एक ही बिस्तर पर लेटे-लेटे प्यार की बातें कर रहे थे। भाभीजी को देवर के साधु होने की बात याद आ गई। उन्होंने प्रेमभरे गद्गद् कण्ठ से कहा कि "आप साधु हो जायेंगे, तो इस प्यार को कौन निभाएगा?" बालक ने सुना। ज्ञान का प्रकाश, असाधारण बुद्धि में बिजली की तरह कौंध गया। उसने उत्तर दिया-"हम लोग यहाँ लेटे-लेटे प्रेमभरी बातें कर रहे हैं, बड़ा अच्छा लग रहा है। यह अच्छा लगना कब तक रहेगा?" अभी थोड़ी देर में हमें नींद सतायेगी और हम सब अलग-अलग होकर सो जायेंगे, फिर यह अच्छी लगने वाली परिस्थिति कहाँ रहेगी?" भाई-भाभी से उत्तर देते नहीं बना। बालक के जीवन में यह सत्य प्रकट हो गया कि अच्छी लगने वाली परिस्थिति रहती नहीं है। उसका आश्रय लेना असत्य है।

(10)

संत की वाणी ने मंत्र का कार्य तो कर ही दिया था। जीवनी में साधुता का विकास आरम्भ हो गया था, परन्तु संन्यास लेना बाकी था। राह दिखाने वाले संत आवश्यकतानुसार समय-समय पर आते रहते थे। संन्यासी होने की उत्सुकता को सुनकर उन्होंने आदेश दिया, "माता-पिता के जीवन-काल में तुम उन्हें मत छोड़ो। धीरज रखो, जो तुम्हें छोड़ता जाय, उसे तुम छोड़ते जाओ।" गुरु के आदेश में अविचल निष्ठा थी। कुछ ही दिनों के भीतर मोह का घेरा डालने वाले कुटुम्बी-जन एक-एक कर दिवंगत होते गए, संन्यास लेने के लिए उत्सुक किशोर सबसे नाता तोड़ता गया। अब एक विकट परिस्थिति सामने आई। परपीड़ा से द्रवित किशोर में एक चिन्तन आरम्भ हुआ- "अम्मा नहीं रहेंगी तो पिताजी दुःखी रहेंगे। पिताजी नहीं रहेंगे तो अम्मा रोयेगी। मैं अंधा बालक कुछ कर नहीं सकता। अम्मा का दुःख मुझसे कैसे देखा जायेगा? कितना अच्छा होता कि ये दोनों एक साथ चले जाते।" और वही हुआ। माता-पिता दोनों का देहान्त 2-3 घंटों के आगे-पीछे हो गया! कैसे हो गया, किसने किया- कौन कहे!

(11)

अब तक 18-19 वर्ष की उम्र हो गई थी। बड़ी उत्सुकता से गुरु-आगमन की प्रतीक्षा हो रही थी। नाते-रिश्ते, अड़ौसी-पड़ौसी, वृद्ध एवं समवयस्क लोगों की ओर से तरह-तरह के सुझाव आने लगे-सम्पत्ति काफी है, बैंक में जमा कर दो और फिर दरवाजे पर बैठकर चैन से राम-भजन करो। प्रस्तव सुनकर युवक तिलमिला उठता। बिचारे मोह में पड़े-सने लोग समझ नहीं पाते थे कि जिसने सर्व-सामर्थ्यवान की शरणा ली है वह भला संग्रहीत सम्पत्ति के सहारे कैसे बैठ सकता है। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता, जब वे युवक के मुँह से ध्रुव-निश्चय की दृढ़ता के साथ यह सुनते- "तुम लोग मुझे सम्पत्ति के अधीन रखना चाहते हो, मैं ऐसा नहीं करूँगा।" भीतर से संन्यास तो सिद्ध हो ही गया था, अब बाहर से संस्कार पूरे करने के दिन आ गये। अन्य संतों-भक्तों की मंडली लेकर सद्गुरुदेव एक दिन पधारे और आदेश दिया, "अब समय आ गया है-

घर के दरवाजे सब खोल दो-गाँव के लोग जो चाहें सब उठा ले जायें-तुम मेरे साथ चलो।" ऐसा ही हुआ। शरण्य से मिलने की लगन ने संन्यासी होने की तीव्र अभिलाषा ने, लोभ-मोह का अन्त पहले ही कर दिया था। एक क्षण की देर नहीं लगी। गुरु ने जैसा कहा, शिष्य ने वैसाही किया। निकटवर्ती जनों में स्नेह का भाव उमड़-उमड़ कर आँखों से बहने लगा। युवक ने प्रेम-पूर्वक सबका समाधान किया और गुरु के पीछे चल दिया। उस समय से अन्त तक संन्यास-धर्म का बड़ी दृढ़ता के साथ स्वामीजी ने पालन किया। अन्धे होने के कारण कभी भी संन्यास-धर्म के पालन में कोई कमी नहीं आने दी। संन्यास देने वाले गुरु ने चलते समय कह दिया, 'बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लालायित रहेगी।' चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए तत्पर रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे, दिल देवे सो दिलबर को पावे"

स्वामी जी ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा।

(12)

गुरु के पास बैठे-बैठे एक दिन तेजोमय युवक संन्यासी के मन में उपनिषद् पढ़ने का संकल्प उठा। सद्गुरुदेव ने बिना पूछे ही उत्तर दिया-'ठहरी हुई बुद्धि में सब वेद-शास्त्र, उपनिषदों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। पाठशाला है एकान्त और पाठ है मौन।' प्रश्न का उत्तर मिल गया। संत ने जो कहा, स्वामी जी ने उसे किया और वे प्रज्ञाचक्षु हो गये। 'मैं', 'यह' और 'वह' का प्रत्यक्ष बोध हो गया। फिर तो यह परिणाम हुआ कि उस बेपढ़े-लिखे की बात सुनकर बड़े-बड़े विद्वद्वरेण्य भी चकित होने लगे।

(13)

रात्रि का समय है। गाँव के बाहर खेत की मेंड़ पर विरही साधु रात्रि-जागरण कर रहा है। रात्रि के निविड़ अंधकार में आस-पास से, दूर-दूर से खेत रखने वालों की आवाज सुनाई देती है। विरही साधु में

प्रिय-मिलन की लौ और तेज होती है- 'ये खेत रखाने वाले मुट्ठी भर अन्न के लिए सारी रात जगते हैं। मैं शरण्य से मिलना चाहता हूँ और सोऊँ?" विरह की लहर तीव्र हो जाती है। सवेरा होने का आभास पाकर ही विरही संन्यासी नित्य-कर्म के लिए उठ बैठता है।

(14)

एक परिचित गृहस्थ के यहाँ आज बड़ी भीड़-भाड़ है। नव-विवाहित ननद ससुराल से पीहर आई है। भाभियाँ दिल्लगी में पूछ रही हैं- "बीबी जी कैसा लग रहा है?" नवोढ़ा दिल की कसक के साथ कह रही है- "भाभी जी! दिन में अँधेरा-अँधेरा दिख रहा है।" पास ही में बैठे, प्रभु-प्रेम के प्यासे, स्वामी जी भीतर-भीतर तड़त उठे-"प्रेम करना तो ये जानती है। प्रिय के बिना इनको दिन में भी अँधेरा दिख रहा है, ओर एक मैं हूँ कि अपने शरणागत कहता हूँ और शरण्य से मिले बिना चैन से रहता हूँ।" प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा तीव्रतर होती जा रही है।

(15)

उत्कण्ठा बढ़ती गई। सम्पूर्ण अहं को उत्कण्ठा बनाकर वह शरणागत शरण्य से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। गर्मी के दिन हैं। दो-मंजिले मकान पर छत के ऊपर टिन के शेड के नीचे निर्विघ्न बैठे हैं। प्यास लगी है। पास में जल भी रखा है, परन्तु प्रिय से अभिन्न होने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र है कि जल पिया नहीं जाता। 'नहीं, सत्य मिले पहले, जल पीऊँ, पीछे। यदि जल पीते ही पीते प्राण-पखेरू उड़ गये तो।' फिर क्या था। माँग की जागृति में ही माँग की पूर्ति निहित है, यह सत्य जीवन में प्रत्यख हो गया।

(16)

गुरु के शरीर के शांत होने का समय आया। स्वामीजी महाराज ने गुरु से कहा-"आपका शरीर कुछ काल और रह जाता तो मेरी साधना के लिए अच्छा रहता।" यह सुनकर श्री सद्गुरुदेव ने उत्तर दिया कि "ऐसा क्यों सोचते हो? मेरे अनेकों शरीर हैं, तुम्हें जब आवश्यकता होगी मैं मिल जाऊँगा।" सद्गुरु के सद्शिष्य ने गुरु-वाणी को गाँठ-बाँध लिया, उसके बाद अनेकों बार का अनुभव उन्होंने निज श्रीमुख से हमें सुनाया है कि

साधन की दृष्टि से जब-जब स्वामीजी के दिल में कोई प्रश्न उठता, तत्काल कोई न कोई संत मिल जाते और समाधान कर जाते। श्री महाराजजी को यह पक्का अनुभव हो गया कि उनके सद्गुरु के अनेकों शरीर है और किसी-न-किसी रूप में वे मार्ग-दर्शन कर देते हैं। इतना निश्चय होते ही श्री स्वामी जी महाराज निश्चिन्त हो गये। एक समय एक समस्या को लेकर गंगाजी के तट पर अकेले बैठे थे। गुरुदेव की याद आई। श्री स्वामीजी ने तुरंत सोच लिया कि जब अनेकों शरीर गुरुदेव के हैं तो यह एक शरीर भी तो उन्हीं का है। किसी भी शरीर के माध्य से जब वे मार्ग दिखा सकते हैं, तो यह शरीर भी तो उनका ही अपना है। इसके माध्यम से भी वे मेरी मदद कर सकते हैं। इतनी बात ध्यान में आने भर की देर थी कि समस्या हल होने में देर नहीं लगी। फिर तो गुरु-तत्त्व को अपने ही में विद्यमान जानकर बाह्म गुरु की आवश्यकता को ही उन्होंने समाप्त कर दिया। शरीर के लिये संसार का आश्रय तो वे पहले ही छोड़ चुके हैं, अब गुरु-तत्त्व को स्वयं में ही विद्यमान जानकर इस दिशा में भी वे सर्वथा स्वाधीन हो गये। भीतर-बाहर परमानन्द छा गया।

(17)

देश में स्वातंत्र्य-आन्दोलन चल रहा था। महात्मा गाँधी के निर्देशन पर सारे देश में विदेशी सरकार के साथ असहयोग एवं विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धूम मची थी। सरकार के द्वारा दमन का चक्र चल रहा था और गुलामी की घुटन में से नित नये आजादी के दीवाने प्रकट हो होकर जन्मसिद्ध स्वराज्य पाने के लिये हँसते-हँसते फाँसी की तख्ती चूम रहे थे। श्री स्वामीजी महाराज जैसा सर्वांश-परिपूर्ण व्यक्तित्व वाला निर्भीक, दिलदार, उत्साही भला देश की सेवा की लहर से अछूता कैसे रह जाता? वे कूछ पड़े स्वतंत्र्य-आन्दोलन की लहर में। भाषणों के द्वारा स्वाधीनता के प्रति जन-जागरण की सेवा, विदेशी कपड़ों की दुकान पर 'पिकेटिंग' करना, जेल जाना-सब कुछ किया। बाल-मुड़ाये हुए चिकने-चिकने सिर पर पुलिस की लाठी खाने में बड़ा मजा आयेगा-इस उत्साह से भरकर पिकेटिंग में व्यस्त नेत्रहीन युकव-संन्यासी को देखकर बेजान लोगों में भी जान आ जाती थी। एक दिन

स्वामीजी महाराज के गुरुदेव के मित्र एक संत महापुरुष ने इनको बड़े जोर-शोर से स्वराज्य के आन्दोलन में लगा हुआ देखकर इनके पास आकर बड़े प्यार से पूछा-'बेटा, क्या तुमने इसलिए घर छोड़ा था?' स्वामीजी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया-'बिल्कुल नहीं। देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका इसलिए इस कार्य में लगा गया हूँ।'

पुनः उक्त संत महापुरुष ने पूछा-'तुम्हारा हाल क्या है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया-'मैं सर्व-काल में अपनी अखण्ड शान्ति में विराजमान हूँ, मैं करता-कराता कुछ नहीं हूँ।' यह उत्तर सुनकर वे संत बहुत प्रसन्न हुए। बड़े प्यार से स्वामी जी महाराज की पीठ थपथपाई और यह कहकर चले गये कि 'खूब सेवा करो।'

(18)

"एक बार मथुरा से आगरा जाते समय मैं (श्री स्वामीजी महाराज) यमुना के किनारे-किनारे जा रहा था। एक स्थान पर ढाह गिरी और हम पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी भी छूट गयी थी। दिखाई देता नहीं था कि किधर को तैरे। भगवान के भरोसे शरीर को ढीला छोड़ दिया। लगा जैसे किसी ने हाथ पकड़कर खुश्की पर डाल दिया। उठने को हाथ धरती पर टेका तो (पहली वाली नहीं) एक दूसरी लाठी हाथ में आ गई थी।"

गीता में कथित भगवत्वाणी श्री महाराजजी के लिए प्रत्यक्ष हो गई- "जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरे चरणों के नित्य आश्रित हैं, उन जीवों के योग-क्षेम का मैं वहन करता हूँ।" गीता में जो कहा था श्री महाराजजी के साथ वह करके दिखा दिया। शरण्य और शरणागत की जगत्पावनी मधुमयी लीला धन्य है।

(19)

साधुशाही रहती थी। गाँव के किनारे शाम के समय किसी स्थान पर ठहरना था। विवेक-विरोधी वातावरण देख श्री स्वामीजी महाराज वहाँ से रात्रि में ही चल दिये। सारी रात चलते रहे। शरीर बहुत थक गया था। नौका से पार होते समय मल्लाह ने भजन गाया, जिसका आशय यह

था कि 'श्याम का दास हो गया बेदाम का।' भजन सुनकर स्वामीजी के हृदय में प्रीति का भाव उमड़ पड़ा। उसी मस्ती में नदी के पार उतर-कर अकेले ही चल पड़े। नदी का कछार कँटीर था, जमीन दलदल थी किसी से रास्ता पूछने का उनका नियम नहीं था। स्वयं रास्ता बताने वाला कोई राही वहाँ नहीं था। बिना देखे, बिना जाने, थका-माँदाशरीर और विरह से उमड़ता हुआ हृदय; श्री स्वामी जी महाराज जिधर ही कदम रखें, पैर काँटों और दलदम में फँस जाय- शरणागत की रक्षा में उपस्थित होने का अवसर शरण्य को मिला। एक व्यक्ति आया और कहने लगा कि 'बाबा! अमुक गाँव को जा रहे होक्या? मुझे भी वहीं जाना है। चलो मेरे साथ और देखो भाई, मैं बहुत थका हुआ हूँ, धीरे-धीरे चलूँगा।' ऐसा कहकर वे श्री स्वामीजी महाराज को काँटा-कुशा से बचाकर ठीक रास्ते से निकालकर लिवा गये। जब गाँव नजदीक आ गया और पक्की सड़क आ गयी तो यह कह करके गायब हो गये कि मुझे यहाँ से दूसरी तरफ जाना है। श्री स्वामीजी महाराज को उनका आत्मीय व्यवहार एवं कुसमय में उनका सहारा प्रेम-भाव को अति तीव्र करने वाला मालूम हुआ। विरह आँखों से छलकने लगा। हृदय में प्रतिध्वनि होने लगी-हे मेरे प्यारे, कितना ध्यान रखते हो! बिना बुलाये आ गये! जिधर मुझे जाना था उधर के ही राही बने! और प्यारे, जैसी मेरी थकी हुई दशा थी जिसमें मैं खुद ही जल्दी-जल्दी नहीं चल सकता था, वैसी ही थकी हुई दशा अपनी बनाकर धीरे-धीरे मुझे चलाकर गाँव तक पहुँचा दिया! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है!

(20)

प्रेम-रस में डूबे, फिर भी बाह्म दृष्टि से बड़े ही सजग, निर्भीकता-पूर्वक रास्ते चलते हुए बाबा से किसी ग्रामीण ब्रजवासी ने बड़े प्यार से पूछा-बाबा! लाला-लाली के प्रति आपका क्या भाव है? स्वामीजी ने उत्तर दिया-भैया, मैं तो प्रिया-प्रियतम का फुटबॉल हूँ। वे चाहे जिधर ठुकरा दें उधर चल जाता हूँ। इसमें बड़ा रस है। दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। प्रियतम प्रिया की ओर फेंकते हैं; दोनों के चरण-स्पर्श के आनन्द में आनन्दित रहता हूँ। मेरा अपने में अपना कुछ नहीं है। अनुपम खिलाड़ी के हाथ का खिलौना हूँ। वे दोनों मुझे बहुत प्यार करते हैं।

(21)

किसी महापुरुष की जीवनी इसलिए लिखी जाती है कि पाठकगण उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को उन्नत बनाने में उसका उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से श्री स्वामीजी महाराज की जीवनी लिखने का संकल्प परिचित मित्रों के मन में बार-बार उठता रहा है। परन्तु श्री स्वामीजी महाराज ने इस बात को कभी भी पसन्द नहीं किया कि उनकी जीवन-गाथा लिखी जाय। एक आदर्श शरणागत संत के रूप में उन्होंने परमात्मा की ही महिमा को धारण करना एवं प्रकाशित करना पसन्द किया। उन्होंने ज्ञान और प्रेम को ही दिव्य-चिन्मय तत्त्व के रूप में प्रकट करना पसन्द किया। अपने सीमित अहम् के लेश-मात्र का भी उल्लेख उन्हें प्रिय नहीं था। उनकी अमर वाणी है-

(1)मेरा कुछ नहीं है,
(2)मुझे कुछ नहीं चाहिए,
(3)मैं कुछ नहीं हूँ।

विविध प्रसंग

(1) अहंशुन्य व्यक्तित्व

सर्व सेवा संघ ने श्री महाराज जी के जीवन-दर्शन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चय करके उसकी जिम्मेदारी सौंपी प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जवाहरलाल जी जैन को। श्री जैन इस सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करने के लिए श्री महाराज जी से मिलने वृन्दावन आए। पहली ही भेंट में श्री महाराज जी ने बहुत मीठे शब्दों में अपनी जीवनी के सम्बन्ध में तथा अपनी जीवनी लिखी जाने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया। श्री जवाहर लाल के दोनों हाथ अपने में लेकर बहुत भावपूर्ण शब्दों में कहा- "जैन जी! आप मेरी जीवनी लिखने का विचार बिल्कुल छोड़ दीजिए। जो कुछ आपको लिखना है, मानव सेवा संघ की विचार धारा के सम्बन्ध में लिखिए। मानव सेवा संघ ही मेरा स्वरूप है।"यह सुन कर श्री जवाहर लाल जैन दंग रह गये। उनकी आँखों में आँसू छलक आए।

कुछ समय पश्चात् एक पत्रकार महोदय के इसी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर अहंशून्य सन्त ने कुछ दूसरे ढंग से इस प्रकार दिया-

प्रश्न-श्री महाराज जी, हम आपका परिचय जानना चाहते हैं?

उत्तर-शरीर सदैव मृत्यु में रहता है और मैं सदैव अमरत्व में रहता हूँ, यह मेरा परिचय है।

प्रश्न-श्री महाराज जी, हम आपकी जीवन लिखना चाहते हैं?

उत्तर-मेरी जीवन है "दुःख का प्रभाव।" लिख लो।

प्रश्न-स्वामी जी महाराज! यहाँ का प्रोग्राम पूरा करके आप कहाँ जाएँगे?

उत्तर-गेंद को क्या पता है कि खिलाड़ी उसे किधर लुढ़काएगा।

(2) स्वामी जी: एक विलक्षण संन्यासी

श्री गिरिवर शरण अग्रवाल पू. स्वामी जी महाराज के समान आयु के थे तथा उसने संन्यासी के प्रारम्भिक दिनों से मित्रवत सम्पर्क में रहे थे। उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा है कि स्वामी जी के गुरु महाराज उनके कस्बा जलेसर, जिला एटा (उ.प्र.) स्थित बगीचे में रहते थे तथा स्वामी जी उनके मिलने वहाँ आते थे। जब वे अपने गुरु जी से साधु होने की इच्छा प्रकट करते तोवे कह देते हैं कि अभी समय नहीं आया है।

एक दिन स्वामी जी महाराज व्याकुल होकर घर से निकल पड़े, स्टेशन आए और जलेसर रोड का टिकट लेकर गाड़ी पर चढ़ने ही वाले थे कि प्रभु कृपा से उनके गुरु महाराज उसी गाड़ी से उतरे। गुरु महाराज ने इनके कन्धे पर हाथ रखा और कहा कि चलो अब समय आ गया है। तत्पश्चात् उन्हें विधिवत् संन्यास देकर गुरु महाराज, स्वामी जी को अग्रवाल जी के ही बगीचे में उस फूस की छत वाली कोठरी में, जिसमें वे स्वयं रहते थे, छोड़कर चले गए। उसके पश्चात्, अग्रवाल जी ने गुरु महाराज को फिर नहीं देखा। गुरु जी की उर्दू की शायरी की एक छोटी पुस्तक स्वामी जी महाराज ने सार्वजनिक आर्थिक सहयोग से छपवाई थी और जिन्होंने चार आने का भी सहयोग दिया उनका नाम भी सूची में दिया।

प्रारम्भिक काल में ही संयम, स्वावलम्बन तथा भगवत्-प्राप्ति की व्याकुलता आप में चरमसीमा की थी। अकेले रहना, लाठी के सहारे टटोल-टटोल कर चलना, कुँए से जल भी अधिकतर स्वयं ही निकालना, किसी कार्य के लिए बाग के नौकर या किसी अन्य से याचना न करना उनका सहज स्वभाव था। अभिमान शून्य, सरल और हँसमुख होने के कारण वे बहुत कम समय में ही लोकप्रिय हो गए। स्वरूप-स्थिति, आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्-प्राप्ति उन्हें

बहुत शीघ्र हो गई लेकिन प्रवचन देना अब तक शुरु नहीं किया जब तक ज्ञान का पूर्ण रूपेण विकास नहीं हो गया।

अपने कष्ट का कारण किसी अन्य को न मानना उनका सहज स्वभाव था। एक बार अग्रवाल जी के मुहल्ले में एक भैंसा गाड़ी का लोहे का पहिया स्वामी जी के पैर पर से उतर गया, जिससे उनका पैर लहूलुहान हो गया। किन्तु उन्होंने उफ तक नहीं की। केवल पैर पकड़ कर बैठ गए। बाजार के लोग गाड़ीवान को मारने दौड़े किन्तु पू. स्वामी जी महाराज ने यह कह कर उसे जन-आक्रोश से बचा लिया कि 'इसमें कुसूर उसका नहीं है, कुसूर तो मेरा है कि मुझे दिखाई नहीं देता।

(3)निर्भीक राष्ट्र- प्रेमी

सन् 1930 में नमक कानून के विरोध में गाँधी जी ने सत्याग्रह-आन्दोलन किया। आन्दोलन के संचालन के लिए डिक्टेटर बनाए जाते, जिन्हें ब्रिटिश सरकार गिरफ्तार कर लेती थी। दूसरे या तीसरे डिक्टेटर के जेल जाने के बाद कोई तैयार नहीं होता था। यह देख कर स्वामी जी महाराज स्वतन्त्रा-संग्राम में कूद पड़े और स्थानीय आन्दोलन की बागडोर सँभाल ली। इससे जनता में नया उत्साह आ गया। स्वामी जी भी शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिया जाए। जेल में जबरदस्ती उनके गेरुए वस्त्र उतार कर जेल के कपड़े पहना दिए गए। स्वामी जी ने उन कपड़ों को शीघ्र ही उतार फेंका। जेलर ने उन्हें शारीरिक कष्ट देकर डराना चाहा। उन्हें जमीन पर घसीटा गया जिससे उनकी पीठ छिल गई। पाँच छः अन्य संन्यासी माफी माँग कर जेल से छुटकारा पा गए किन्तु स्वामी जी अपने सिद्धान्त पर निर्भीकता पूर्वक डटे रहे और उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। लोगों को चिन्ता हुई और उन्होंने यू.पी. सरकार तथा अखिल भारतीय संन्यासी मण्डल को तार दिया। अन्ततः बड़े अधिकारियों ने हस्तक्षेप किया तथा स्वामी जी को अपने गेरुए वस्त्र ही पहनने को कहा, तब उन्होंने 20-21 दिनों के बाद अनशन समाप्त किया। एक-डेढ़ महीने बाद उन्हें जेल से छोड़ दिया गया तथा कस्बे के लोगों ने उनका धूम-धाम से स्वागत किया। स्वामी जी को तो अपने देश-सेवा के राग की निवृत्ति करनी थी, उन्हें सम्मान से क्या मतलब। शीघ्र ही उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया।

(4) सन्त तीर्थो को पवित्र करते हैं

एक बड़े नगर में एक बार पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज का सत्संग चल रहा था। श्री महाराज जी जब प्रवचन कर चुके तो मंच पर उपस्थित उस समय के एक प्रसिद्ध सन्त स्वामी पथिक जी महाराज ने स्वामी जी से पूछा कि, "महाराज, आप जो कुछ कहते हैं वहीं सत्य है क्या?"

महाराज जी ने तत्काल कहा-"सत्य क्या है और कैसा है, यह तो सत्य जाने किन्तु मैंने उसे जैसा समझा और अनुभव किया-वैसा ही उसका निरूपण कर रहा हूँ। यह सत्य है। इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।"

सत्संग-कार्यक्रम पूरा होने पर अगले दिन श्री महाराज जी को वहाँ से प्रस्थान करना था। श्री पथिक जी महाराज ने स्वामी जी से पूछा- "महाराज, अब यहाँ से आप कहा जाएँगे?"

महाराज जी ने कहा-"यहाँ से हम प्रयागराज जाएँगे।"

पू॰ पथिक जी ने प्रश्न किया- "महाराज, लोग तीर्थों में क्या जाते हैं?"

महाराज जी ने उत्तर दिया- "पवित्र होने के लिए।"

पू॰ पथिक जी ने फिर पूछा- "तो फिर सन्त लोग किस लिए जाते हैं?"

श्री महाराज जी ने कहा- तीर्थों को पवित्र करने के लिए।'

(5) 'प्राकृतिक न्याय'

उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जनपद में जिला जज के निवास पर श्री महाराज जी ठहरे हुए थे। एक दिन जज साहब ने कहा कि चलिये महाराज आपको जेल दिखा लायें। श्री महाराज जी ने कहा कि भैया! यह सब क्या है? सब फँसे पड़े हैं। खैर, चलो कैदियों से बातचीत करेंगे। जेल में सभी प्रकार की सजायाफ्ता कैदी थे। बातचीत के दौरान एक फाँसी की सजा घोषित कैदी श्री महाराज जी के पास आया और कहा कि महाराज आप कहते हैं अपने किये का ही भुगतान प्रत्येक भाई करताहै सो यह हत्या जिसमें मुझे फाँसी की सजा इन जज साहब ने दी है, मैंने नहीं की। श्री महाराज जी ने जज साहब से पूछा तो उन्होंने कहा कि सभी तथ्य इसके खिलाफ है अतः फाँसी की सजा देनी पड़ी। तब एकान्त में ले जाकर श्री महाराज जी ने उस कैदी से पूछा कि भैया! सच-सच बताओ कि क्या तुमने

कभी कोई खून नहीं किया। कैदी ने कहा कि महाराज! सो तो मैंने तीन हत्यायें की हैं। श्री महाराज जी ने कहा भैया! जो तुमने किया उसी का फल तुम्हारे सामने आया है। प्रकृति का विधान न्यायकारी है जब तक पुण्य का खाता चला तुम बचते रहे। तुम भूल पर भूल करते रहे तो कैसे बचोगे। पाप का खाता खुलते ही तुम्हें यह सजा मिल रही है।

(6) दिखाई देने से प्यार नहीं होता- अपना मानने से होता है।

वर्ष 1972 माह अप्रैल में भरतपुर में सत्संग हो रहा था। श्री महाराज जी प्रभु प्रेम की बात कर रहे थे। सभा में बैठे एक सज्जन ने श्री महाराज जी से पूछा कि महाराज! आप कहते हैं कि परमात्मा को प्रेम करो, तो वे दिखाई तो देते नहीं, प्रेम कैसे करें? श्री महाराज जी ने कहा कि भैया! दिखाई देने से प्रेम नहीं होता। दिखाई तो देती है तुम्हें अपनी लुगाई भी और दिखाई देता हूँ तुम्हें मैं भी, बताओं किसे प्रेम करते हो। उन सज्जन ने कहा कि महाराज जी आपको भी हम प्रेम तो करते हैं। तत्काल श्री महाराज जी बोले हाँ भैया! मुझे भी करते हो और उसे (पत्नी) ही करते हो। (हास्य) यार उसे अपना मानते हो। अपना अपने को प्यारा लगता ही है। भगवान को अपना मान लो तो अपने आप उनमें प्रेम हो जायेगा।

(7) पसन्दगी में भगवान

वर्ष में 1974 हरिद्वार कुम्भ में श्री महाराज जी दैनिक प्रार्थना सभा बटाला कैम्प में प्रवचन कर रहे थे। श्री महाराज जी कह रहे थे कि प्रभु प्राप्ति में किसी योग्यता, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति की विशेषता नहीं है। परमात्मा कहते ही उसे हैं जो सभी को प्राप्त होता है। उनकी प्राप्ति में बाह्य तैयारी की आवश्यकता नहीं है। एक सज्जन ने यह सुनते ही प्रश्न किया कि महाराज न तो मैं पढ़ा लिखा हूँ, न कोई योग्यता है, न गायन-वादन-नृत्य जानता हूँ कि भगवान को रिझा सकूँ फिर भगवान मुझे कैसे मिलें? श्री महाराज जी ने कहा कि देखो भैया मुझे देखो। यदि भगवान ने कोई ऐसी शर्त लगाई होती कि मैं केवल विद्वानों को ही मिलूँगा तो मेरा तो उनकी लिस्ट में से नात ही कट जाता क्योंकि मैं केवल तीसरा दर्जा पास हूँ यदि भगवान धनवानों को ही मिलते तो भी मैं गितनी में नहीं आता क्योंकि मैं भिक्षुक हूँ। भगवान केवल बलवानों को ही मिलते तो भी मैं उस श्रेणी में नहीं आता क्योंकि अन्धा हूँ। किसी गुण विशेष पर रीझते

तो भी मेरा नाम कट जाता। क्योंकि मुझमें कोई गुण नहीं है। पर क्या बताऊँ भैया! उन्होंने अपने मिलने का इतना सहज उपाय बताया है कि मैं उसे मिलता हूँ जो मुझे पसन्द कर लेता है। वृन्दावन आश्रम में न तो मैंने कोई मन्दिर बनाया है, न साधु-भण्डारा ही नित्य प्रति आश्रम में न तो मैंने कोई मन्दिर बनाया है, न साधु-भण्डारा ही नित्य प्रति होता है। पर क्या बताऊँ भैया! फिर भी वह मेरे संग लगा ही रहता है।

(8) विलक्षण प्रतिभा के धनी

पटना में इंडियन साइंस कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। विशाल पंडाल लगा था जिसमें विज्ञान के बड़े-बड़े प्रोफेसर तथा छात्र जुटे थे। उसमें स्वामी शरणानन्द जी महाराज को भी बुलाया गया। मंच पर जब उन नेत्रहीन सन्त को आमंत्रित करके कहा गया कि वे भी सम्मेलन को सम्बोधित करेंगे तो वहाँ उपस्थित लोग हँसे कि भला ये विज्ञान पर क्या बोलेंगे। किसी ने परमाणु सिद्धान्त पर प्रश्न कर दिया। वहाँ उपस्थित विद्वत् मण्डली के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब श्री महाराज जी ने एक वैज्ञानिक की भाँति आधा घण्टा परमाणु सिद्धान्त पर प्रवचन दे दिया। मंच से उतर कर आप चल दिये। उनके एक शिष्य ने जो स्वयं आश्चर्यचकित था पूछा कि महाराज, आपने तो केवल चौथे-पाँवचें क्लास तक ही पढ़ाई की थी, फिर आपने विज्ञान के उच्चतम प्रश्न पर कैसे बोल दिया? तो महाराज ने कहा कि जिसने साइंस (विज्ञान) को बनाया उसने मुझे बता दिया।

(9) ब्रह्म ज्ञानी

सन् 1967 ई. के दिसम्बर महीने में जोधपुर में अखिल भारतीय दार्शनिक सम्मेलन (इंडियन फिलोसोफिकल कांग्रेस) का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसमें देश भर के दर्शनशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान, विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष भाग ले रहे थे एवं अपने भाषण दे रहे थे। सम्मेलन में भारत सरकार के तत्कालीन पेट्रोलियम मंत्री एवं दर्शन शास्त्र के विद्वान प्रो. हुमायूँ कबीर भी भाग लेने आये थे। एक दिन सम्मेलन के जनरल सेक्रेटरी ने पू॰ स्वामी शरणानन्द जी महाराज को मंच पर लाकर उनका परिचय दिया तथा कहा कि अब आप लोग इनके विचार सुनिये। इस पर कई कोट-पैंट-टाई वाले विद्वान उठकर बाहर जाने लगे, किन्तु जैसे ही पू॰ महाराज जी ने अपना सम्बोधन प्रारम्भ किया, उनके

सुस्पष्ट विचारों और अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर शीघ्र ही हॉल में लौटकर अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गए। करीब 45 मिनट तक शांत होकर सभी विद्वान जीवन-दर्शन और मानव-दर्शन पर पू॰ स्वामी जी महाराज के विचारों को सुनते रहे। प्रो. बसावड़ा जी एवं जसवन्त कॉलेज, जोधपुर के विभागाध्यक्ष प्रो. साहनी आदि वहाँ थे। श्री महाराज जी ने अपने भाषण से इस भ्रम को दूर किया कि जो जाना जाता है वह ज्ञान है तथा वह अभ्यास से बढ़ता है। उन्होंने स्पष्ट प्रतिपादित किया कि जिससे जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान मानव को ईश्वरीय देन के रूप में मिला है; वह घटता या बढ़ता नहीं है।

(10) आजादी के दीवाने

सन् 1930 में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी द्वारा संचालित स्वतन्त्रता संग्राम का "नामक सत्याग्रह" आन्दोलन चल रहा था। श्री स्वामी जी महाराज अपनी टोली के आगे-आगे स्वयं झण्डा लेकर बड़े ही मधुर व ऊँचे स्वर से गाते चलते थे-

"भारत न रह सकेगा,
हरगिज गुलामखाना।
आजाद होगा होगा, आता है
वो जमाना।"

इसी आन्दोलन में आप जेल भी गये और छः मास तक कारावास भी हुआ। वहाँ जेल में उन्होंने गाँधी नमक माँगा। पर नहीं मिला। कौन देता? खद्दर के कपड़े माँगे, नहीं मिले तो सर्दी के दिनों में भी छः माह तक वस्त्र विहीन दिगम्बर वेष में रहे। देश की आजादी के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया। शरीर को विश्वरूपी वाटिका की खाद बना दिया।

(11) अगर बोओगे नहीं तो काटोगे क्या ?

बात जनवरी 1946 की है। श्री महाराज जी परिकर-समाज सहित श्री जगन्नाथ पुरी की यात्रा पर जाने के लिए स्टेशन के प्लेटफार्म पर प्रतीक्षा कर रहे थे। श्री स्वामी जी महाराज का विनोदी स्वभाव और उन्मुक्त हास्य से वातावरण बड़ा ही उल्लासपूर्ण और आकर्षक हो उठा था। प्लेटफार्म के अन्य यात्रीगण तथा कुछ रेलवे कर्मचारी भी आनन्द ले रहे थे। एक एँग्लो इंडियन अधिकारी से नहीं रहा गया। आगे बढ़कर उसने कहा "महाराज मेरा खर्च आमदनी से ज्यादा है, बहुत पेरशान रहता हूँ। इससे छुटकारा पाने का कोई उपाय बताइए।"

स्वामी जी ने कहा, "जो पाते हो उसका कुछ भाग दान कर दिया करो।" उस व्यक्ति ने कहा, "महाराज! यह आप क्या कहते हैं? मेरी तो आमदनी वैसे ही कम है, उस पर भी खैरात करूँ?" श्री महाराज जी-"क्यों? अगर महीने में दस दिन भूखे रहते हो तो बाहर दिन सही। अगर धन के अभाव को मिटाना है तो देना ही पड़ेगा। अगर बोओगे नहीं तो काटोगे क्या?"

(12) समय का महत्व

श्री महाराज जी समय के बड़े पाबन्द थे। जीवन में उन्नति के लिए इसे परम आवश्यक समझते थे। एक स्थान पर सत्संग के लिए जो समय घोषित किया गया था उससे आधा घण्टा बाद चलने का प्रस्ताव संयोजक महोदय ने स्वामी जी से किया, ताकि श्रोतागणों की संख्या कुछ बढ़ जाए।

स्वामी जी ने कहा कि "एक व्यक्ति भी आप लोगों पर विश्वास करके निश्चित समय पर आ गया तो उसे निराश होना पड़ेगा। इसलिए निर्धारित समय पर ही कार्यक्रम आरम्भ कर देना चाहिए।"

इसी प्रकार एक स्थान पर सत्संग के लिए श्री महाराज जी कार द्वारा जा रहे थे। श्री महाराज जी ने ले जाने वाले सज्जन से पूछा-समय क्या हुआ है? उन्होंने कहा-आठ बजने में पाँच मिनट शेष है। सत्संग ठीक आठ बजे प्रारम्भ होना था एवं सत्संग स्थल एक फर्लांग की दूरी पर था। स्वामी जी महाराज ने कहा-भाई गाड़ी रोको। कार रोक दी गई। स्वामी जी कार से उतर वही टहलने लगे। साथ वाले सज्जन आश्चर्य से श्री स्वामी जी को देखने लगे। महाराज जी ने कहा-अगर सत्संग-स्थल पर समय से पूर्व ही हम लोग पहुँच जायेंगे तो आयोजकों में हड़बड़ी फैल जायेगी। इसलिए ठीक समय पर पहुँचना चाहिए।

(13) प्रेम विह्वलता

श्री महाराज जी का हृदय सदैव करुण रस से ओत-प्रोत रहता था। इटावा जनपद की बात है। श्री महाराज जी का शरीर बहुत अस्वस्थ चल रहा था। मीठी वस्तुएँ एकदम बन्द थीं। महाराज जी दोपहर के समय आराम कर रहे थे। साथ सेवा में जो साधक भाई थे बड़ी ही दृढ़ता के साथ बाहर बैठे रहे कि कोई व्यवधान न आ जाय। संत के आगमन

का समाचार सुनकर किसी गाँव से पैदल चलकर एक वृद्धा माँ भरी दोपहर में दर्शनार्थ पहुँची। साधक ने चुपचाप बरामदे में बैठने का संकेत किया। अभी एक मिनट ही बीता होगा कि श्री महाराज जी ने साधक को आवाज लगाई-यदि कोई बाहर मिलने आया है तो अन्दर भेज दो। साधक ने कहा-"एक वृद्धा माँ दर्शनार्थ अभी आई है और बरामदे में आराम से बैठी है। आप कुछ आराम और कर लेवें।" श्री महाराज जी बोले-"अरे भैया! तुम मेरा कर्त्तव्य बताते हो। हमने आराम कर लिया है, अब नींद नहीं आयेगी। उसे आ जाने दो।" माँ से अन्दर जाने के लिए कहा तो वे एकदम हर्षित हो गई। प्रीति और श्रद्धा के अश्रुकणों को छिपाते हुए और अंचल से ताजी राब (गन्ने से चीनी तैयार करते समय प्राप्त होने वाला एक द्रव पदार्थ) का एक बड़ा सा कुल्हड़ छिपाते हुए अत्यन्त भाव-विह्वल होकर तुरन्त अन्दर आई। बार-बार श्री महाराज जी के चरणों में सिर झुकाते हुए प्रीति गदगद कंठ से बोली-"मैं बहुत बूढ़ी हो गई हूँ, न जाने कब मर जाऊँगी, पर आज आपके दर्शन पाकर मैं धन्य हो गई हूँ। महाराज! मैं एक गरीबनी हूँ। आपके लिए घर में बनी ताजी राब लाई हूँ।" यह कहेते हुए भरे कुल्हड़ को श्री महाराज जी के हाथों में थमा दिया। श्री महाराज जी के नेत्रों से करुणाश्रु छलक उठे और उन्होंने एक साथ ही लगभग आधा किलोराब बड़े ही प्रेम से पी डाला। डॉक्टरों की सलाह, शारीरिक अस्वस्थता और मीठी वस्तु के निषेध की मर्यादायें सभी तिरोहित हो गई-प्रेम के वशीभूत होकर।

(14) जो अपनी बात नहीं मानता, वह गुरु,ग्रन्थ कि क्या मानेगा

श्री महाराज जी एक बार प्रवचन करते-करते श्रोता समाज से पूछने लगे-"अनादि काल से कितने ऋषि-मुनि, महापुरुष आये, कितने सद्ग्रन्थ लिखे गये, प्रचार-प्रसार भी खूब हो रहा है फिर भी उनका जितना प्रभाव होना चाहिए था, नहीं हुआ। बताओ भाई! इसका क्या कारण है? श्रोताओं में से किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ कहा। जिसने जैसा समझा उत्तर दिया। पर सच्ची बात प्रकट नहीं हुई। श्रोताओं ने आग्रह किया कि महाराज जी। आप ही बतायें। श्री महाराज जी ने कहा-"मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव ने अपनी बात नहीं मानी, यानी अपने जीवन के सत्य को स्वीकार नहीं किया, यही इसका कारण है। जो अपनी बात नहीं मानता वह अपने

गुरु, ग्रन्थ और धर्म की बात को मानही कैसे सकता है?"

(15) परमात्मा कि प्रियता ही सच्चा भजन

एक बार स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज गीता भवन के संस्थापक सेठ जयदयाल जी गोयन्दका के सत्संग में स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) आये। गोयन्दका जी ने पू॰ स्वामी जी महाराज से कहा कि हमारा आपका मत चौदह आने मिलता है। केवल दो आने का फर्क यह है कि आप नाम-जप और ध्यान की बात नहीं करते। श्री महाराज जी ने तुरन्त कहा कि मैं इनका विरोध करता हूँ क्या? बोले, "नहीं"। फिर श्री महाराज जी ने गोयन्दका जी से पूछा, अच्छा, यह बताओ, कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति का नाम लेती है क्या? सेठ जी बोले, "नहीं। फिर पूछा, "लेकिन वह अपने पति को कभी भूलती है क्या?" श्री महाराज जी ने आगे उनसे कहा कि मेरे तो कान पक गए यह सुन-सुन कर कि "मुझे तो 25 वर्ष हो गए नाम लेते हुए, लेकिन परमात्मा में मन टिकता नहीं है।" इसलिए मेरा यह कहना है कि अभ्यास का नाम भजन नहीं है, प्रियता ही सच्चा भजन है।

(16) अपना मन कर मन कभी परमात्मा में नहीं लगता

स्वामी श्री हरिनाथ जी महाराज जो पू॰ स्वामी शरणान्द जी महाराज के साथ महीनों रहते थे तथा जिनका गीता भवन, ऋषिकेश से भी सम्पर्क था, उन्होंने एक प्रसंग सुनाया था, जो इस प्रकार है-

एक दिन ऋषिकेश में प्रातः काल के सत्संग के पश्चात् गीता भवन, स्वर्गाश्रम के ट्रस्टी महोदय स्वामी शरणानन्द जी महाराज के पास आये और उन्होंने पू॰ स्वामी जी से एकान्त में बात करने की इच्छा प्रकट की। इस पर पू॰ स्वामी जी ने साथ बैठे लोगों से बाहर जाने को कहा। श्री हरिनाथ जी महाराज थोड़ी ही दूरी पर एक तख्त पर लेटे हुए थे, वे वहीं लेट रहे, तथा उन्होंने उस बातचीत को सुना। ट्रस्टी महोदय ने कहा, 'महाराज पिछले पन्द्रह वर्षों से मेरा यह नियम है कि मैं प्रतिदिन एक लाख नाम का जप करता हूँ, उसके पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करता हूँ। लेकिन अभी तक मेरा मन भगवान में नहीं लग पाया।' श्री स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कहा-आपका मन भगवान में नहीं लग सकता। ट्रस्टी महोदय आश्चर्यचकित होकर उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने पूछा, महाराज, मेरी बात से नाराज हो गये क्या? पू॰ महाराज जी ने कहा-नहीं, मैं

नाराज नहीं हूँ, मेरी बात समझो। मैं यह कहता हूँ कि जब सब कुछ परमात्मा का है तो मन तुम्हारा कैसे हो गया? यदि परमात्मा को तुम अपना मान लो, उनसे सम्बन्ध जोड़ लो तो तुम्हारा मन स्वतः परमात्मा में लग जायेगा। अपना मानकर हम मन को कभी स्थिर नहीं कर सकते और न परमात्मा में लगा सकते हैं, मन को अपना मान कर।'

(17) विनोद में भी ज्ञान का पुट

सन् 60 के दशक की बात है। पू॰ स्वामी जी महाराज प्रातः काल की ट्रेन से छपरा पधार रहे थे। स्टेशन पर उनका स्वागत करने कई लोग गए, जिनमें कुछ वकील भी थे। संयोग से ट्रेन कुछ घण्टे लेट हो गई। सन्ध्या समय टाउन हॉल में सत्संग हुआ। सत्संग के बाद कुछ लोगों ने कहा कि स्वामी जी! हम लोग स्टेशन गए थे, किन्तु ट्रेन लेट हो गई अतः हम लौट गए। पू॰ महाराज जी ने चुटकी लेते हुए कहा कि हाँ भैया, अपनी लुगाई आने वाली होती तब तो दुबारा स्टेशन जाते। कहने वाले अपना-सा मुँह लेकर रह गए।

(18) मेरा तो पचास प्रतिशत चला गया

पूज्य स्वामी जी सत्संग कार्यक्रम के सिलसिले में एक सम्पन्न प्रेमी के यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन प्रातः 4 से 5 बजे तक सत्संग के समय महाराज जी को घर में कुछ बातचीत सुनाई पड़ी। उन्होंने पूछा तो ज्ञात हुआ कि घर में रात्रि के समय चोरी हो गई थी। चोर काफी सामान ले गए थे। स्वामी जी उन दिनों केवल दो लँगोटी रखते थे, एक पहने हुए थे, दूसरी आँगन में सूखने को डाली हुई थी। चोर अन्य सामान के साथ स्वामी जी की लँगोटी भी लेते गए थे। महाराज जी ने पूछा कि क्या बहुत सामान चोरी हो गया है? घर के मालिक ने कहा कि हाँ महाराज, चोर सामान तो बहुत ले गए हैं। सब लो उदास थे। महाराज जी ने पूछा कि अच्छा बताओ चोरी गया सामान तुम्हारी सम्पत्ति का कितने प्रतिशत था? उत्तर मिला कि महाराज जी, प्रतिशत के हिसाब से तो कम ही गया है। महाराज जी ने हँसते हुए कहा कि तब चिन्ता की क्या बात है। मुझे देखो मैं तो पचास प्रतिशत लुट गया (दो लँगोटियों में से एक लँगोटी चोर ले गए)। यह सुनते ही सब लोग हँस पड़े और उनकीउदासी तिरोहित हो गई

राँची में एक गाँधीवादी सज्जन ने श्री महाराज जी ने कहा, "महाराज जी, मन को मारने का क्या उपाय है?" श्री महाराज जी ने कहा,

"राम-राम, गाँधी जी के शिष्य होकर, मारने की बात करते हो? गाँधी जी ने तो असहयोग का मार्ग अपनाया था। आप मन से असहयोग कर दो, मन समाप्त हो जाएगा।"

(19) लोकनायक जयप्रकाश नारायण के प्रति आत्मीयता

सन् 1973 ई. में पटना सचिवालय के समीप स्थित बँगले (10 मैंगल्स रोड) में स्वामी जी महाराज का प्रवचन चल रहा था। एक दिन अपनान्ह 3 बजे लोकनायक जय प्रकाश बाबू ने अपना सिर श्री महाराज जी के चरणों में रखकर प्रणाम किया। श्री महाराज जी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। उसके पश्चात् उन्होंने श्रद्धेय जय प्रकाश जी से उनकी धर्म पत्नी प्रभावती देवी के स्वास्थ्य का समाचार पूँछा जो हाल में ही बम्बई से कैंसर का आप्रेरेशन कराकर आई थी। बातचीत के क्रम में पू° महाराज जी ने जय प्रकाश बाबू से कहाकि उनसे मेरी ओर से कहिएगा कि शरीर से असंग हो जायें, मुक्त हुए बिना शरीर न छूटे। जय प्रकाश बाबू ने कहा कि ये बातें वे आपके मुँह से सुनती तो ज्यादा अच्छा रहता। स्वामी जी ने कहा, "सभी मुँह एक है।" इसके पश्चात् उनसे देशों की समस्याओं पर भी चर्चा हुई। जय प्रकाश जी ने कहा, 'आप बिहार को अधिक समय दें।' श्री महाराज जी ने कहा कि "मैंने प्रान्तीय का कभी ख्याल नहीं रखा। वैसे मैं पटना तथा अन्य स्थानों पर आता ही रहता हूँ।"

(20) स्वीकृति का जीवन पर प्रभाव

एक साधक भाई को पू° स्वामी जी महाराज जब भी पत्र लिखाते तो उन्होंने 'साधन निष्ठ' सम्बोधन से सम्बोधित करते। उन्होंने एक बार पूछा, महाराज मैं तो साधननिष्ठ नहीं हूँ। फिर भी आप मुझे पत्र में 'साधननिष्ठ' सम्बोधित करते हैं। पू° स्वामी जी ने उत्तर दिया, "मैं चाहता हूँ कि तुम साधननिष्ठ हो जाओ, इस लिए ऐसा लिखता हूँ। देखो स्वीकृति का जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है।"

(21) भक्ति का सच्चा स्वरुप

किसी साधक ने श्री स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया कि भक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है? तो स्वामी जी ने उत्तर दिया-

मेरा कुछ नहीं है यही भक्ति है,

मुझे कुछ नहीं चाहिए यही भक्ति है,

मैं कुछ नहीं हूँ, यही भक्ति है;

इस भक्ति की प्राप्ति में सभी स्वाधीन हैं।

(22) गुरु तो तत्त्व है

एक बार गुरु-पूर्णिता का दिवस था। पूज्य महाराज जी राजकोट (गुजरात) में एक प्रेमी भक्त के यहाँ ठहरे हुए थे। उन्होंने श्री महाराज जी का गुरु रूप में पूजन करने की अनुमति माँगी। श्री महाराज जी ने कहा, 'सेवकों के गुरु है श्री हनुमन्त लाल जी, विचारकों के गुरु हैं भगवान शंकर और प्रेमियों की गुरु हैं श्री राधा रानी। अब तुम्हारी अपने सम्बन्ध में जैसी मान्यता हो उस हिसाब से पूजन करो। देखो भाई, गुरु किसी शरीर का नाम नहीं है। गुरु तो तत्त्व है। शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर-बुद्धि भूल है।'

(23) पर -दोष -दर्शन से सर्वथा मुक्त

एक बार एक साधक भाई पू॰ स्वामी जी महाराज के पास आकर कहने लगे। महाराज जी, श्री रजनीश अपने नाम के आगे भगवान लिखते हैं-क्या यह उचित है। स्वामी जी ने कहा-"जब वे आपको "भगवान" कह कर सम्बोधित करते हैं तब आपको आपत्ति क्यों नहीं होती? श्री रजनीश श्रोताओं को प्रवचन से पूर्व "आप सब के हृदय में विराजमान परमात्मा को नमस्कार है"-कह कर सम्बोधित करते थे।

(24) जो चाहता है, सो होता नहीं

परमपूज्य दिव्य ज्योति देवकी माता जी ने काफी परिश्रम करके उच्च अंकों के साथ एम.ए. की डिग्री प्राप्त की किन्तु उन्हें लगा कि जीवन का अभाव तो मिटा नहीं। वे सोचने लगी कि भगवान का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त मिल जाता तो उनसे पूछती। संयोग से छपरा के टाउन हॉल में पू॰ स्वामी शरणानन्द जी महाराज का प्रवचन चल रहा था। देवकी माता जी उनसे मिली और कहा, "महाराज जो चाहती हूँ, सो होता नहीं, जो होता है, सो भाता नहीं और जो भरता है, सो रहता नहीं; बताइये मैं क्या करूँ?" श्री स्वामी जी महाराज ने कहा कि 'लाली, जब तुम जानती हो कि जो चाहती हो, वह होता नहीं तो फिर चाह छोड़ क्यों नहीं देती?' देवकी जी ने दोबारा प्रश्न किया कि इतने बड़े संसार में अपना

कहने वाला तो कोई दिखाई नहीं देता। तब श्री महाराज जी ने कहा कि, "कोई एक हैं तो सही,वे मेरे मित्र हैं, कहो तो, सगाई की चर्चा करूँ लेकिन एक शर्त है लाली, कि जो कुछ झोली में भर कर लाई हो (गुणों और सच्चरित्रता का अभिमान आदि) उससे झोली खाली करने पड़ेगी क्योंकि वह पट्ठा अपने साथ किसी और को पसन्द नहीं करता।"

(25) सच्ची सेवा

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया कि सेवा का स्वरूप क्या है? श्री महाराज जी ने सेवा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा, देखो, सुख के बन्धन में आबद्ध प्राणी एक मात्र सेवा के द्वारा ही छुटकारा पा सकता है। सेवा उसी साधन से की जा सकती है जिस साधन से सेवक अपनी सेवा करता है। शरीर तथा वस्तुओं के द्वारा तो केवल संसार के ऋण से छुटकारा पाता है। सच्ची सेवा वही है जिससे प्राणी का कल्याण हो। प्राणी का कल्याण तो भक्त तथा सन्त होने पर ही होता है। भक्त वही है जो प्रेमपात्र से विभक्त न हो अर्थात् जिसका सद्भावपूर्वक प्रेमपात्र से सम्बन्ध हो जाता है। सन्त वही हो सकता है जो दोष के त्याग तथा निर्दोषता को अपनाने में समर्थ हो। भक्त तथा सन्त होने पर ही प्राणी सच्चा सेवक हो सकता है।

(26) जीने कि कला

एक बार श्री महाराज जी अपने प्रवचन में 'जीने की कला' बता रहे थे कि, यदि हम शरीर को संसार की मर्जी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु के हवाले कर दें तो जीवन की सभी समस्याएँ आसानी से हल हो सकती हैं। इस पर एक सत्संगी बोल उठे, "महाराज! हमारे परिवार वालों के मन में हमें खिलाने की नहीं आती। यदि आपके कथनानुसार, हमने अपने शरीर को यदि परिवार की मर्जी पर छोड़ दिया तो हमें भूखा ही मरना पड़ेगा। इस पर श्री महाराज जी तपाक से बोले, "यदि भूखे मर जाओगे तो खाते-खाते अमर नहीं हो जाओगे। भोजनन आज तक किसी को अमर नहीं बना सका। फिर मरने से क्यों डरते हो?"

(27) ईश्वर धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते

अपने समय के प्रसिद्ध सन्त श्री सनातन देव महाराज ने एक बार अपने पूर्व आश्रम की घटना बताई-श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज

भगवान आश्रम ऋषिकेश में ठहरे हुए थे। मेरे मन मे संन्यास का संकल्प मुझे आन्दोलित कर रहा था। मन काम-काज और लौकिक सम्बन्धों की पराधीनता से मुक्त होना चाहता था, परन्तु शरीर अस्वस्थ रहने के कारण भगवद्-इच्छा पर जीवन-निर्वाह को छोड़ने का साहस नहीं होता था। श्री महाराज जी के सम्मुख मैंने अपनी मनः स्थिति प्रकट की। श्री महाराज जी बोले, "ईश्वर, धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते। जो इनके लिए त्याग करते हैं उनका वे अवश्य निर्वाह करते हैं।" महाराज जी के इन्हीं वाक्यों ने मुझे संन्यासी बना दिया। बाद में पू॰ स्वामी जी महाराज ने एक बड़ा ही प्रेरक पत्र मुझे लिखा।

पत्र के शब्द थे-

"आत्म-सम्मान परम धन है। राग-रहित हो जाना परम निर्दोशता है। आत्म-समर्पण परम बल है। सर्व अवस्थाओं से अतीत हो जाना परम त्याग है। प्रतिकूलता का भय तथा अनुकूलता की आशा न करना ही परम तप है। अपने में ही परम प्रेमास्पद की स्थापना कर सब प्रकार से अभय और अचिन्त हो जाना ही परम-भक्ति है। अपने लिए अपने से भिन्न की खोज न करना ही परम प्रयत्न है। जिन साधनों से संयोग की दासता तथा वियोग का भय निवृत्त हो, वे ही आध्यात्मिक साधन है। शरीर विश्व के काम आ जाए, हृदय प्रीति से छका रहे और अपने में अपना बोध हो यही पूर्ण जीवन है।"

(28) सन्देह का समाधान

एक बार ऋषिकेश में गीता-भवन के पास वट-वृक्ष के नीचे सत्संग चल रहा था। एक सन्त ने कागज पर गीता का एक श्लोक लिख कर महाराज से उसकी व्याख्या चाही। श्री महाराज जी ने कहा कि, भैया, देखो अर्जुन को सन्देह हुआ और भगवान ने उसका समाधान कर दिया तो वह 'गीता' बन गई। आपका भी जो सन्देह और कठिनाई है वह हमारे सामने रखिए वह भी गीता बन जाएगी। हम लोग ग्रन्थ को अपना सन्देह मिटाने के लिए नहीं पढ़ते वरन् उसे खुराक बना कर मस्तिष्क के संग्रह के लिए पढ़ते हैं। महाराजश्री ने जब श्लोक की क्रम, अध्याय और संख्या सहित व्याख्या की तो सारा सन्त समाज आनन्द-विभोर हो उठा। तभी एक सन्त ने पूछ लिया, "महाराज, आपकी ऊँचाई कहाँ तक

है?" स्वामी जी ने कहा, "भैया, ऊँचाई नहीं बता सकता, मेरी निचाई जान लो कि सृष्टि की छाती पर पाँव रखकर खड़ा हूँ, मरूँगा नहीं।"

(29) सिर कट गया संसार डूब गया

एक बार श्री महाराज जी किसी सन्त से मिलने गए। वे सन्त लोगों से कम ही मिलते थे। सच्चे सन्तों को बहिर्मूखता पसन्द नहीं होती। कोई जाता तो वे सन्त दूर से ही फटकार देते। श्री महाराज जी भी जब मिलने गए तो दूर से ही कह दिया, "मेरे पास कुछ नहीं रखा, यहाँ से चले जाओ।" स्वामी जी ने कहा,"न आपके कहने से आया हूँ और न आपके कहने से जाऊँगा।" वे सन्त शान्त हो गए। बोले-"बताओ, किस लिए आए हो।" स्वामी जी ने कहा, "आपके जीवन का अनुभव जानने के लिए आया हूँ।" सन्त फिर बोले, "मेरा सिर कट गया, संसार मिट गया, जाओ, जाओ, इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता।" श्री महाराज जी ने हम लोगों को कहा, "जब संसार से कुछ चाह नहीं रही, अपने लिए कुछ करना नहीं रहा तो सिर कट गया, अहं का नाश हो गया, मृत्यु घटित हो गई, नित्य जीवन से अभिन्नता हो गई।"

(30) अप्रयत्न दशा

एक बार किसी जिज्ञासु ने श्री महाराज जी से पूछा, "महाराज! जब आपका कोई संकल्प नहीं है, कोई प्रयत्न नहीं है तो आप हमारे प्रश्नों का उत्तर कैसे दे देते हो?" श्री स्वामी जी ने कहा, "जैसे गेंद को दीवार पर फेंक देने पर वह स्वतः उछलती है वैसे ही प्रश्नों का उत्तर पूछने पर स्वतः आ ही जाता है। उसमें मुझे कोई संकल्प या प्रयत्न नहीं करना पड़ता।"

(31) अभय दान

हैदराबाद में एक विश्वास-पथ की साधिका ने श्री महाराज जी से कहा, "महाराज जी, जन-समाज मे सत्वर्चा के लिए लोग मुझे बुलाते हैं तो जाती हूँ किन्तु कभी-कभी भीतर से भय-सा लगने लगता है कि सुख-सुविधा-सम्मान में पड़ कर कहीं मैं भटक न जाऊँ"। सुन कर श्री स्वामी जी कुछ देर चुप रहे और फिर गम्भीर होकर कहा, "बिटिया, जहाँ रहो, प्यारे प्रभु की होकर रहो। अपने में विश्वास की नहीं, प्रभु में विश्वास की बात सामने रखना और एक रहस्य की बात तुम्हें बताता हूँ भूल कर भी संसार का दिया हुआ सम्मान स्वीकार मत करना, उसका मजा मत लेना, तब भटकने और अटकने का कोई भय नहीं रहेगा।"

(32) बच्चे देख कर सीखते हैं

कुरुक्षेत्र में सर्वोदय के वार्षिक अधिवेशन में एक बहन श्री स्वामी जी महाराज से कहने लगी, "स्वामी जी! मैं अपने बच्चे को बार-बार समझाती हूँ पर वह मेरी बात नहीं मानता और तब उस पर मुझे बहुत क्रोध आता है। दूसरों के बच्चे चाह कितना भी तंग करें, उन पर मुझे क्रोध नहीं आता।" श्री महाराज जी ने कहा, "बेटी, अपने बच्चे पर ममतावश क्रोध करती हो और दूसरों के बच्चों को क्रोधी कहे जाने के भय से क्षमा कर देती हो। बच्चे को समझाओ मत और न ही उसे भय दिखाओ, बल्कि उसका ध्यान किसी रुचिकर वस्तु की ओर लगा दो। अपने जीवन से बच्चे को अच्छाई दिखाओ। बच्चे देखकर सीखते हैं, समझाने से नहीं।"

(33) लड़के स्वयं सुधर जाएँगे

एक बार दिल्ली के सत्संग में एक अध्यापक महोदय श्री महाराज जी से कहने लगे, "हमारे स्कूल के बच्चे अनुशासनहीन होते जा रहे हैं और हमारा कहना नहीं मानते।" इस पर महाराज जी ने कहा-आप विद्यार्थियों के साथ अपने बच्चों जैसा व्यवहार नहीं करते और उनकी दुर्दशा से आपको पीड़ा नहीं होती। गुरुजनों के बिगड़ने से चेला-चेली बिगड़ते हैं। बुराई ऊपर से नीचे की ओर चलती है। अपना सुधार करने की आवश्यकता है, लड़के स्वयं सुधर जाएँगे।

(34) वह ईमानदार नास्तिक है

एक बार ऋषिकेश के सत्संग में हैदराबार एक सज्जन स्वामी जी महाराज से अपनी शंकाओं का समाधान करा रहे थे। वे कह रहे थे, "महाराज जी मैं तो भगवान को मानता हूँ, पर मेरा लड़का भगवान को बिल्कुल नहीं मानता। उसे मैं कैसे समझाऊँ?" स्वामी जी ने कहा, "वह ईमानदार नास्तिक है, पर तुम बेईमान आस्तिक हो। यदि तुम भगवान को मानते हो तो लड़का तुम्हारा कैसे हो गया? वह तो भगवान का होना चाहिए। भगवान की वस्तु को अपना मानना क्या ईमानदारी है? लड़के से ममता हटाकर उसे प्रभु को सौंप दो। वह स्वतः कट्टर ईश्वरवादी आस्तिक हो जाएगा।

(35) गंगाजल से अभिषेक

श्री स्वामी जी महाराज के एक प्रेमी भक्त ने एक बार उनके जीवन की एक बड़ी ही रोमांचकारक घटना सुनाई। घटना इस प्रकार है-

पूज्य श्री महाराज जी एक बार गंगोत्री की यात्रा पर थे। साथ में कुछ साधक भी थे। श्री महाराज जी उत्तरकाशी में बाबा काली कमली वालों की धर्मशाला में ठहरे हुए थे। श्री महाराज जी ने साथ के लोगों को मनेरी चट्टी पर रुकने के लिए कहा और स्वयं एक साधक को साथ लेकर पैदल ही चल पड़े। साथ वाले व्यक्ति से श्री महाराज जी ने कहा-"यहाँ से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर असी घाट है-जैसा काशी में है। चल कर हम लोग वहीं स्नान करेंगे।" तीन किलोमीटर चलने के पश्चात् श्री महाराज जी ने कहा, 'गंगा जी यहाँ से खेतों के पार लगभग एक फर्लांग की दूरी पर होंगी।' हम लोग बड़ी कठिनाई से उबड़-खाबड़ खेतों को पार करके वहाँ पहुँचे किन्तु वहाँ स्नान करने योग्य कोई घाट न था।

एकदम निर्जन सुनसान जगह; पथरीले किनारे; पत्थरों से टकराती शोर मचाती गंगा का तेज प्रवाह। जल में पाँव रखने की हिम्मत नहीं होती थी। मैंने श्री महाराज जी का डण्डा पकड़ कर डुबकी लगाई और श्री महाराज जी से प्रार्थना की कि आप कृपया दो-चार कदम से आगे न जाएँ। मैंने देखा कि स्वामी जी निर्भय हो कर बीच धारा में आगे बढ़ते ही जा रहे हैं। कुछ दूर जाने पर उनके हाथ का डण्डा भी छूट गया। घबराहट में मेरी चीख निकल गई- अब क्या होगा। मैं पूरी शक्ति से चिल्लाया, स्वामी जी बह गए! स्वामी जी बह गए। मेरे हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गए। इतने में ही मैंने क्या देखा कि डगमगाते पैरों से धारा के बीच उभरी हुई एक चट्टान को पकड़ लिया है। अगले ही क्षण वे उछल कर उस पर बैठ गए। मैं इस उधेड़बुन में था कि महाराज जी तक कोई मदद कैसे पहुँचाई जाए तब तक महाराज जी की आवाज सुनाई दी-बस डर गया, डर गया, कह कर वे हँस रहे थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो गंगा जी चट्टानों से टकाराती हुई अपने जल से भगवान शिव का अभिषेक कर रही हों। देर होते देख अनन्त परमात्मा के उस नित्य सखा से उस भयावह प्रवाह

में शेर की तरह उछल कर एक छलाँग लगाई और दोनों हाथों से जल को चीरते हुए किनारे पर आ पहुँचे।

(36) विलक्षण स्नान

ऐसी ही एक घटना श्री महाराज जी की परिकर एक साधिका बहन ने इस प्रकार सुनाई-

स्थान था चम्बल-तट, ऊदी अवारी की गुफा। जहाँ पैर में चोट लग जाने के कारण कुछ समय तक श्री महाराज जी ने निवास किया था। श्री महाराज जी स्थान के लिए चम्बल तट स्थित श्मशान घाट पर गए जो गुफा के ठीक नीचे ही था। वहाँ जल काफी गहरा था। श्री महाराज जी ने अपना डण्डा पकड़ा कर मुझे जल में उतारा किन्तु मेरे पैर जमीन पर नहीं लग रहे थे। अतः मैंने उच्च स्वर से कहा-महाराज जी, मैं तो डूबी। श्री महाराज जी कहने लगे, "मेरे होते हुए तुम कैसे डूब सकती हो? चलो डूबकी लगाओ। देखो, तैंतीस डुबकियाँ लगानी हैं तभी पूर्ण स्नान होगा। मैंने काँपते हुए साहस बटोर कर डुबकियाँ लगाई। श्री महाराज जी कहते जा रहे थे-"लगाओ नौ डूबकी। पंच तत्त्व, तीन गुण और एक ब्रह्म। फिर लगाओ नौ डूबकियाँ। शरीर विश्व के काम आ जाए। अहं अभिमान-शून्य हो जाए, हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाए। लगाओ पाँच गोते, जिनके प्रति तुम्हारे हृदय में दुर्भाव आया हो उनसे क्षमा माँग कर। तुम्हारे प्रति जिनके हृदय में दुर्भाव आया हो उन्हें तुम क्षमा कर दो। अन्त में पाँच गोते उनके लिए लगाओ जो इस पवित्र नदी में स्थान की अभिलाषा अपने हृदय में सँजोए मन मसोस कर रह गए हों, किसी कारण से न आ सके हों, उन्हें इस स्नान का फल मिले।" इसके पश्चात् श्री महाराज जी स्वयं स्नान करने लगे।

(37) प्रेम कि जागृति में ही जीवन कि पूर्णता

आज के युग के महान् विचारक श्री जे॰ कृष्णमूर्ति जी के साथ पूज्य स्वामी शरणानन्द जी की एक भेंट का प्रसंग इस प्रकार है-

दिल्ली में श्री कृष्णमूर्ति जी जहाँ ठहरे थे वहाँ श्री स्वामी जी महाराज पहुँचे। श्री कृष्ण-मूर्ति जी ने अत्यन्त आदर और स्नेह के साथ स्वामी जी का स्वागत किया तथा

अपनी विशेष कुर्सी पर ही स्वामी जी को बैठाया स्वयं एक साधारण सी कुर्सी पर बैठ गए। दुभाषिए के माध्यम से बात-चीत आरम्भ हुई। श्री स्वामी जी महाराज ने कहा, "आप प्रत्येक बात का निषेध करते जाते हैं तो क्या आप अभाव को स्वीकार करते हैं?" श्री कृष्णमूर्ति जी ने तुरन्त कहा, "नहीं, नहीं लाइफ है लाइफ है।" इस पर श्री महाराज जी ने कहा, "जिसे आप लाइफ (जीवन) कहते हैं उसे यदि मैं परमात्मा कहूँ तो आपको कोई आपत्ति है?" सुन कर श्री कृष्ण-मूर्ति जी मौन हो गए उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में इस भेंट की चर्चा करते हुए श्री स्वामी जी महाराज ने बताया कि कृष्णमूर्ति जी ने जो अन्तिम पुस्तक लिखी है उसमें कहा है कि, प्रेम की जागृति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। तो भाई, प्रेम तो तभी होगा जब कोई प्रेमास्पद हो। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने परमात्मा की सत्ता को ही स्वीकार किया है।

(38) जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति

एक बार एक साधक ने श्री महाराज जी से सामाजिक क्रान्ति के विषय में चर्चा की कि, महाराज, समाज में क्रान्ति कैसे आए?

श्री महाराज जी ने कहा कि, भैया देखो, बलपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी नहीं होता और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है, किन्तु विचारपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी होता है और उसकी विपरीत प्रतिक्रिया भी नहीं होती। गुण-दोष व्यक्तिगत होते हैं। किसी वर्ग विशेष को सदा के लिए हृदय-हीन और बेईमान मान लेना न्याय संगत नहीं है। जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति आती है, परिस्थिति-परिवर्तन से नहीं। जीवन में परिवर्तन जाने हुए असत् के त्याग से होता है, बल से नहीं; और असत् के त्याग की प्रेरणा व्यापक हो सकती है व्यक्तिगत सत्संग के प्रभाव से।

(39) दिवंगत व्यक्ति कि सच्ची सेवा

एक बहन ने श्री महाराज जी को बहुत दुःखी हो कर कहा कि, "कुछ ही समय पहले मेरे पति का अचानक देहावसान हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? अब मैं क्या करूँ?" श्री महाराज जी ने जीवन का रहस्य उन्हें बताया कि हिन्दू धर्म के अनुसार स्थूल शरीर के न रहने पर भी सूक्ष्म

तथा कारण शरीर उस समय तक रहता है जब तक कि प्राणी देहाभिमान का अन्त कर समस्त वासनाओं से पूर्णतया मुक्त न हो जाए। ऐसी दशा में मृतक प्राणी के प्रति जो कर्त्तव्य है, उस पर ध्यान देना चाहिए।

स्वधर्मनिष्ठ पत्नी अपने पति की आत्मशान्ति के लिए बहुत कुछ कर सकती है। वैधव्य धर्म, सती धर्म से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सती तो अपने शरीर को भौतिक अग्नि में दग्ध करती है और फिर पति-लोक को प्राप्त करती है। किन्तु विधवा अपने सूक्ष्म तथा कारण शरीर दोनों को ज्ञान अग्नि में दग्ध करके जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कर लेती है, जिससे स्वयं जीवन-मुक्त होती है और पति की आत्मा को भी मुक्त करती है।

देखो माँ! पत्नी पति कीअर्द्धांगिनी है। अतः पत्नी की साधना से पति का कल्याण हो सकताहै। इस समय आपका हृदय घोर दुःखी है। परन्तु हमें दुःख से भी कुछ सीखना है। दुःख को व्यर्थ जाने देना, उससे भयभीत हो जाना भूल है। दुःख हमें त्याग का पाठ पढ़ाने आया है। अतः जब-जब पतिदेव के वियोग की वेदना उत्पन्न हो तब-तब उनकी आत्मा की शान्ति के लिए सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना करो। मृतक प्राणी का चिनतन करने से उसे विशेष कष्ट होता है। कारण कि सूक्ष्म शरीर कुछ काल उसी वायुमण्डल में विचरता है जहाँ-जहाँ उसका सम्बन्ध होता है। जब-जब वह अपने प्रियजनों को दुःखी देखता है तब उसे बहुत अधिक दुःख होता है। अतः आपका धर्म है कि आप उन्हें देःखी न करें। उनके कल्याणार्थ साधन अवश्य करें, पर मोह-जनित चिन्तन न करें।

(40) संसार सेवा के लिए है भोग के लिए नहीं

एक साधक श्री महाराज जी के पास आए। जीवन की हताशा-निराशा से पीड़ित थे। बार-बार संसार की शिकायत कर रहे थे। श्री महाराज जी ने कहा, "लाला, जिस दिन यह बात समझ लेगे कि संसार तुम्हारे लिए नहीं है, वरन तुम्हीं संसार के लिए हो उसी दिन जीवन का चित्र बदल जाएगा। आज तक व्यक्ति यही भूल कर ता रहा है कि वह संसार को अपने भोग की वस्तु मानता आया है। और उसी कारण वह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए संसार से सदा कुछ न कुछ चाहता ही रहता है। जिस दिन उसे इस सत्य का पता चलता है कि उसे जो कुछ मिला है वह अपने लिए नहीं है, दूसरों के लिए है। उसी दिन

से उसके जीवन में क्रान्ति का सूत्रपात हो जाता है।

(41) न चल पाने की वेदना में ही चलने कि सामर्थ्य निहित है।

एक बार पूज्य स्वामी जी महाराज दिल्ली में थे। राष्ट्रपति-भवन से बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी का बुलावा आया। श्री महाराज जी राष्ट्रपति-भवन पहुँचे। वहाँ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित थे। एक-दो अन्य सज्जन भी थे। प्रश्नोत्तर की सत्संग-गोष्ठी का आयोजन किया गया था।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने विनम्रतापूर्वक पूज्य स्वामी जी से अनुरोध किया, "महाराज पथ-प्रदर्शन कीजिए।" श्री स्वामी जी महाराज ने तत्काल कहा, " चलने की रुचि में पथ का दर्शन होता है।" इस पर बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा, "चलने की रुचि भी है और पथ भी दिखाई देता है, लेकिन चला नहीं जाता।"

इस पर श्री स्वामी जी उत्तर दिया, "न चलने की वेदना में वेदना की सामर्थ्य निहित है।" सुनकर राजेन्द्र बाबू तथा अन्य सज्जन प्रभावित हुए बिना न रह सके।

(42) गुलामों को ऐसी हँसी नहीं आती

परमपूज्य स्वामी जी महाराज एक बार जयपुर में थे। सत्संग का एक विशाल आयोजन किया गया था। उसमें राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री मोहन लाल सुखाड़िया को भी आमंत्रित किया गया था। प्रवचन पूरा होने के पश्चात श्री सुखाड़िया जी, महाराज जी के समीप आकर बैठ गए। उनके साथ कुछ व्यक्ति और भी थे। किसी व्यक्ति ने महाराज जी से कोई बात पूछी जिसके उत्तर में स्वामी जी महाराज ने उन्मुक्त रूप से अट्टाहास किया। सुखाड़िया जी विस्मय विमुग्ध होकर स्वामी जी के उत्फुल्ल मुखमण्डल को एकटक देखते ही रह गए। उन्होंने पूँछ ही लिया, महाराज, मैं इस राज्य का मुख्यमंत्री हूँ। राज्यसत्ता एवं पैतृक सम्पत्ति के कारण सब कुछ होने पर भी मैं आज तक ऐसी हँसी नहीं हँस सका। श्री महाराज जी ने बिना किसी लाग-लपेट के कहा, "यार, गुलामों को ऐसी हँसी नहीं आती।" सुखाड़िया जी से फिर कुछ कहते न बना।

(43) तुम्हारी आँखे किसके काम आएँगी

एक बार श्री स्वामी जी महाराज ट्रेन से लखनऊ से बलरामपुर जा रहे थे। उन दिनों श्री महाराज जी अकेले ही यात्रा करते थे। महाराज जी के डिब्बे में ही एक इस्लाम धर्मावलम्बी जिला-जज भी

बैठे हुए थे। बातचीत के क्रम में जब उन सज्जन ने स्वामी जी महाराज के गन्तव्य के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ तो उन्होंने प्रश्न किया, "स्वामी जी, आपको दिखाई तो देता नहीं-गोंडा स्टेशन पर आप गाड़ी कैसे बदल पाएँगे।" महाराज जी ने तुरन्त कहा, भैया तुम्हारी आँखें किस काम आएँगी? इस बात को सुनकर जज साब बहुत प्रभावित हुए और गोंडा स्टेशन में पर स्वयं उतर कर स्वामी जी महाराज को बलरामपुर जाने वाली गाड़ी में सवार कराया।

(44) अर्थ का अभाव उतना बुरा नहीं जितना अर्थ का प्रभाव

श्री स्वामी जी महाराज एक बार सत्संग के क्रम में बटाला पहुँचे। "मैं नहीं मेरा नहीं" गीत के रचयिता श्री महावीर जी वीर स्वामी जी के स्वागतार्थ आए। महाराज ने उनकी कुशल-क्षेम पूछी। वीर जी की टेलरिंग की दुकान थी। उन दिनों उनका व्यवसाय कुछ मंदा चल रहा था। वे कहने लगे, "महाराज जी, वैसे तो सब ठीक है किन्तु अर्थ का कुछ अभाव चल रहा है।" स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कहा-"अर्थ का अभाव उतना बुरा नहीं है, अर्थ के प्रभाव से बचना।"

(45) किसी साधक के प्रश्न और उत्तर

प्रश्न-महाराज, मेरी नैया पार लगा दीजिए।

उत्तर-भैया, जिसकी नैया है, उसके भरोसे छोड़ दो। नैया भी पार हो जाएगी और तुम्हें भी पार ले जाएगी। और दोस्त, पकड़ोगे तो नाव भी डूबेगी और तुम्हें भी ले डूबेगी।

प्रश्न-महाराज, भगवान का नाम कितनी बार लेने से मनुष्य का उद्धार हो सकता है?

उत्तर-पूर्ण विश्वास हो तो, एक बार।

प्रश्न-जीवन में एक बार?

उत्तर-हाँ, जीवन में एक बार।

प्रश्न-यदि पूर्ण विश्वास न हो तो?

उत्तर-तब निरन्तर।

प्रश्न-सोते समय भी?

उत्तर-अरे जागते में तो लो, सोने के समय की जिम्मेदारी मेरे पर छोड़ दो। (यह कर ठठा कर हँस दिए)

प्रश्न-परमात्मा कैसे मिलें?

उत्तर-देह-गेह से नाता तोड़ दो, परमात्मा मिल जाएँगे?

(46) राघवेन्द्र सरकार ने होली खेली

एक बार सत्संग-गोष्ठी में उपस्थित कुछ सत्संगी सज्जनों ने स्वामी जी पर दबाव दिया कि वह घटना बताइये, जब एक माता जी के साथ भगवान ने होली खेली थी। पहले तो स्वामी जी महाराज जी ने आना-कानी की, फिर अधिक आग्रह करने पर कहने लगे-

सत्संग-कार्यक्रम था। उस समय एक माता जी आईं और बोली-स्वामी जी मुझे भगवान का दर्शन कराइये। वे चाहें तो दर्शन दें, चाहे न दें। माता जी ने कहा-नहीं, आपको दर्शन कराना पड़ेगा। बहुत देर तक वे जिद करती रहीं फिर बोली-मुझे यह बताइये कि मैं क्या करूँ, जिससे मुझे दर्शन हों? स्वामी जी ने कहा कुछ मत करो। वे बोली-मैं तो कुछ करती ही नहीं हूँ। तब स्वामी जी ने कहा-कुछ भी नहीं करतीं? बोली-केवल राम-राम करती हूँ। स्वामी जी ने कहा-वह भी मत करो। इतना सुन कर वे चली गई।

दूसरे दिन लोगों ने बताया कि वे तो जब से यहाँ से गई है तब से केवल रो रही है। उन्हें राम-नाम का आश्रय था-वह भी छूट गया था। इसलिए बस उस परमात्मा के विरह में रोए जा रही थी। तीसरे दिन वे रोती हुई आई और कहने लगीं-"स्वामी जी, मुझे तो कुछ भी अच्छा नहीं लगा। मुझे जल्दी भगवान के दर्शन कराइये।" स्वामी जी ने कहा-"भगवान के साथ होली खेलोगी?" इस पर वे बोलीं-हाँ महाराज, खेलूँगी। दूसरे दिन होली थी। स्वामी जी ने कहा-जाओ तैयारी कर लो। कल भगवान आएँगे तो उनके साथ होली खेलना। वे चली गई। दूसरे दिन एक थाली में गुलाल लेकर, सामने तीन आसन बिछा कर, होली खेलने के लिए तैयार होकर बैठ गई और प्रतीक्षा करने लगीं। भगवान राघवेन्द्र सरकार आए और तीनों रूपों में आए-मिथिलेश नंदिनी सीता जू और लखन लाल जी भी साथ थे। तीनों आसनों पर विराजमान हो गए और तीनों ने उनकी थाली में गुलाल लेकर उन्हें लगाया। माता जी तो भाव विह्वल होकर ठगी-सी रह गई। भगवान बोले-"तुम हमें गुलाल नहीं लगाओगी?" तब उन्हें चेत हुआ और उन्होंने भी तीनों को अपने हाथ से गुलाज लगाया। इसके बाद भगवान अन्तर्धान हो गये। तब माता जी दौड़ी-दौड़ी आईं और स्वामी जी से कहने लगी, "महाराज जी! मैं तो लुट गई।भगवान आए और चले गए। इससे तो मैं पहले ही अच्छी थी। भीतर दर्द था। स्वामी जी, वे चले क्यों

गए।" स्वामी जी ने कहा, "अरे माता जी, मैंने तो पहले ही कहा था। दर्शन की जिद मत करो, उनके प्रेम को बढ़ाती रहो।"

(47) दुःख - सुख साधन - सामग्री

एक बार एक साधक के मन में विचार आया कि मनुष्य के जीवन में दुःख क्यों आता है। उसी दिन स्वामी जी ने उनके बिना ही प्रश्न किए कहा, "दुःख-सुख किसी कर्म का परिणाम नहीं है। मानव के हित के लिए जब दुःखद परिस्थिति आवश्यक होती है, तब दुःख आता है एवं जब सुखद परिस्थिति आवश्यक होती है, तब सुख आता है। दुःख-सुख तो साधन-सामग्री है।" यह सुन कर साधक की शंका का समाधान हो गया।

(48) संसार का स्वरुप

पुरलिया (प. बंगाल) में सत्संग-कार्यक्रम हो रहा था। किसी साधक ने प्रश्न किया-"महाराज जी, संसार का स्वरूप क्या है? स्वामी जी ने उत्तर दिया-"जिसके पीछे दौड़ते रहो और हाथ न आवे, वह है संसार।" साधक ने पुनः प्रश्न किया, "इच्छाओं का स्वरूप क्या है?" महाराज जी ने कहा-"जो कभी पूरी न हो।"

(49) परमात्मा अभी है, अपने में है और अपना है

किसी साधक ने पूज्य देवकी जी से प्रश्न किया कि प्रभु का अनन्य चिन्तन कैसे हो? उस समय स्वाजी जी के साथ ही पूजनीय देवकी माता जी भी पुरलिया पधारी थीं। माता जी ने समझाया किन्तु उन साधक के ठीक समझ में नहीं आया। उसी समय पूज्य स्वामी जी महाराज भीतर कमरे से बाहर आए और अपने आप ही बोले-"अनन्य अर्थात् दूसरा कोई है ही नहीं।" सुन कर साधक को सन्तोष हुआ। स्वामी जी महाराज ने सत्संग में आगे कहा-"देखो भाई, परमात्मा उसे नहीं कहते जो कभी हो और कभी न हो। परमात्मा सदैव है, पहले भी थे, अभी भी हैं और आगे भी रहेंगे। अतएव अभी हैं। परमात्मा उसे भी नहीं कहते जो सर्वत्र न हो। जो कहीं हो और कहीं न हो वह परमात्मा नहीं हो सकता। अतएव परमात्मा सर्वत्र होने से मेरे में भी है। परमात्मा उसे भी नहीं कहते जो किसी का हो और किसी का न हो। अतः परमात्मा सभी का होने से मेरा भी है। अर्थात् मेरा परमात्मा मेरे में अभी है। तो भाई, अभी होने से भविष्य की प्रतीक्षा गई और अपने में होने से बाहर की तलाश गई कि कहाँ जाने से मिलेंगे,

हिमालय की कन्दाओं में मिलेंगे या जंगलों-पहाड़ों में मिलेंगे और अपने होने से प्यारे लगेंगे।

यह सुनकर उन साधक को बड़ी शान्ति मिली एवं उनका हृदय आनन्द से भर गया। सारी चिन्ताएँ मिट गईं। जिस परमात्मा को पाने के लिए निरन्तर चिन्तित रहते थे, वह तो हमारे में ही है।

(50) साधना में प्रगति का महामंत्र

पुरलिया के सत्संग में एक सज्जन ने कहा, "स्वामी जी महाराज तो आसमान की बात करते हैं। कहते हैं-निर्मम और निष्काम हो जाओ।" तब स्वामी जी बोले "अरे भाई, मैं तो बिल्कुल जमीन की बात करता हूँ। ममता और कामना का त्याग किए बिना साधना के मार्ग में बढ़ा ही नहीं जा सकता। इसलिए इस महामंत्र को अपनाना बहुत जरूरी है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, सर्वसमर्थ प्रभु अपने हैं और सब कुछ उन्हीं का है।"

(51) कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नहीं होता

किसी साधक ने प्रश्न किया कि, "स्वामी जी महाराज, आपने बताया कि किसी का बुरा मत करो-बहुत अच्छी बात है। किसी का बुरा नहीं करना चाहिए। और आपने कहा-किसी का बुरा नहीं चाहना चाहिए, यह और भी अच्छी बात है, किन्तु आपने कहा-किसी को बुरा नहीं समझना चाहिए। यह कैसे?

स्वामी जी बोले, "हाँ, यहीं साधक अटक जाते हैं। अच्छा भाई, यह बताओ कि कोई कितना भी बुरा क्यों न हो, क्यों सर्वांश में बुरा हो सकता है? तब किसी को बुरा समझना उसके साथ अन्याय है।"

(52) खाते खाते क्या नहीं मरोगे ?

किसी साधक ने प्रश्न किया, "भगवान काम कितनी देर करें?"

उत्तर-चौबीस घण्टे।

प्रश्न-चौबीस घण्टे?

उत्तर-हाँ, चौबीस घण्टे। तेईस घण्टे, उनसठ मिनट, उनसठ सैकेण्ड भगवान का काम किया और एक सैकेण्ड-अपना काम किया तो कुछ नहीं हुआ। चौबीस घण्टे ही भगवान का काम करना है।

प्रश्न-चौबीस घण्टे भगवान का काम करें तो खाएँ क्या?

उत्तर-मत खाओ, भूखे मर जाओ। अपना काम करते-करते, खाते-खाते नहीं मरोगे क्या? फिर यदि भगवान का काम करते-करते भूखे मर जाओगे तो अधिक घाटा तो नहीं लगेगा।

स्वामी जी ने फिर कहा-मैं आपको कोई लोभ तो नहीं देना चाहता किन्तु सत्य कहता हूँ कि जबसे मैंने भगवान की शरणा ग्रहण की है तब से किसी दिन भूखा रहना नहीं पड़ा। ऐसा कभी नहीं हुआ कि शरीर को भोजन की आवश्यकता है और भोजन न मिला हो।

(53) भगवन कैसे दिखाई दें?

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया-"महाराज, भगवान के साकार रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।" स्वामी जी ने तत्काल कहा, और सब कुछ देखना छोड़ दो, भगवान दीख जाएँगे। साधक ने कहा-"यह तो बहुत कठिन है।" स्वामी जी ने स्पष्ट किया, "सब कुछ देखना छोड़ने का अर्थ आँखें बन्द कर लेना नहीं है। इसका अर्थ है कि देखने में रुचि न लेना। संसार से पूर्ण असंगता।"

(54) परमात्मा पाप-पुण्य का प्रेरक नहीं

किसी बालिका ने स्वामी महाराज से प्रश्न किया, "जब सारे कार्य भगवान की सत्ता से ही होते हैं तो फिर मनुष्य को पाप-पुण्य क्यों होता है?

स्वामी जी ने पूछा, "अच्छा बेटी, क्या तुम अँधेरे में गीता पढ़ सकती हो?"

बालिका ने कहा-नहीं।

स्वामी जी ने फिर कहा-और प्रकाश में?

बालिका ने कहा -"पढ़ सकती हूँ।"

स्वामी जी-"और क्या तुम अँधेरे में ताश खेल सकती हो?"

बालिका-नहीं।

स्वामी जी-और प्रकाश में?

बालिका-खेल सकती हूँ।

स्वामी जी-तो फिर गीता पढ़ने और ताश खेलने में सत्ता तो प्रकाश की हुई किन्तु पढ़ने और खेलने की क्रिया तो तुम्हारे द्वारा ही हुई न?

बालिका ने कहा-महाराज जी अब मैं समझ गई।

(55) नाम कि महिमा

किसी साधक भाई ने प्रश्न किया कि नाम-जप के बारे में आपके क्या विचार हैं, तो स्वामी जी ने कहा कि नाम-जप का तो मैं विरोध नहीं करता किन्तु साथ-साथ नाम की महिमा भी स्वीकार करने के लिए कहता हूँ। साधक भाई ने पूछा नाम की महिला कैसे स्वीकार करें, तो स्वामी जी महाराज ने बताया कि मेरे प्यारे का नाम है इसलिए प्यारा लगना चाहिए। मैंने तो यह समझा है कि नाम में प्रेम हो और नाम महिमा में विश्वास हो।

इसके बाद स्वामी जी ने बताया कि एक स्थान पर साधुओं का सम्मेलन था। वहाँ सब साधु ही साधु थे। मुझसे पूछा कि, महाराज, नाम के विषय में आपके क्या विचार हैं? स्वामी जी ने कहा कि धोखे से भी कान में पड़ जाए तो उद्धार हो जाए। साधुओं ने स्वामी जी से फिर पूछा, महाराज कितनी बार भगवान का नाम लेने से मनुष्य का उद्धार हो सकता है-तो स्वामी जी जोर से हँसे और बोले, "आप नाम की महिमा पूछ रहे हैं या संख्या की?"

(56) जीवन का सम्पूर्ण सत्य

एक दिन दोपहर के समय पूज्य स्वामी जी महाराज विश्राम कर रहे थे। महाराज जी अपने सामने बैठे साधक से कहने लगे, "जो व्यक्ति संसार में किसी भी वस्तु को अपनी मानता है, वह सबसे बड़ा बेईमान और जो व्यक्ति भगवान को अपना नहीं मानता वह महामूर्ख।" कितने थोड़े-से शब्दों में स्वामी जी महाराज ने जीवन का पूरा सत्य प्रकट कर दिया।

(57) जागरूक नागरिक

एक बार श्री महाराज जी कुछ साथियों के साथ दिल्ली से इटावा जाना था। समय के अभाव के कारण टिकट खरीदना सम्भव नहीं हो सका। गाड़ी में ही टिकट बनवा लेने के इरादे से सब लोग गाड़ी पर चढ़ गए। गाड़ी में भी टिकट बनवाने का अवसर नहीं मिल पाया। इटावा

स्टेशन पर उतर कर स्वामी जी ने एक साथी से कहा कि इटावा से दिल्ली की चार टिकटें खरीद कर ले आओ। टिकटें आ जाने पर स्वामी जी ने कहा-इन टिकटों को फाड़ कर पानी में फेंक दो। वाह रे! देश के विधान का आदर करने वाले संन्यासी। आपसे रेल-विभाग की हानि सहन नहीं हुई।

(58) बल, निर्बलों के लिए

शुरू-शुरू में श्री महाराज जी जेब में कभी कोई पैसा नहीं रखते थे। जरूरत पड़ने पर भिक्षा से पैसा माँग कर काम चला लेते थे। एक बार नाव के द्वारा नदी पार करना पड़ गया। किनारे पर कुछ नौजवान आपस में बातचीत कर रहे थे। उनकी आवाज सुनकर स्वामी जी उनके पास जाकर कहने लगे, बेटा, मुझे दो आने चाहिएँ, नाव का भाड़ा देकर पार जाना है। वे नवयुवक कहने लगे, "जाओ बाबा माफ करो।" स्वामी जी ने हाथ बढ़ा कर एक लड़के का हाथ पकड़ लिया और कहने लगे, "ऐसे माफ नहीं करूँगा। पहले मुझे यह बताओ कि मैं लेने के काबिल नहीं हूँ या तुम देने में समर्थ नहीं हो। अन्धा हूँ भैया, कमा नहीं सकता। क्या आँख वालों का यह धर्म नहीं है कि किसी अन्धे के काम आएँ" उन लड़कों ने लज्जित होकर सन्त के पाँव पकड़ लिए और सहायका कर दी।

(59) प्राकृतिक न्याय

एक बार श्री महाराज जी किसी द्वार पर भिक्षा माँगने गए। भिक्षा के लिए जब आवाज लगाई तब उनका डील-डौल देखकर गृहस्वामी कहने लगा-"इतने हट्टे-कट्टे होकर भिक्षा क्यों माँगते हो?" वह नहीं जानता था कि भिक्षुक सन्यासी प्रज्ञाचक्षु हैं। महाराज जी ने तुरन्त उत्तर दिया-"भैया, मैं तो इसलिए माँग रहा हूँ क्योंकि पिछले जन्म में दिया नहीं था।" प्राकृतिक न्याय की यह बात सुनकर वह व्यक्ति अवाक् रह गया और झट स्वामी जी को भिक्षा देने के लिए आतुर हो गया। सन्त की बात हृदय में कौंध गई कि यदि मैंने इस जन्म में नहीं दिया तो अगले जन्म में मुझे भी माँगना पड़ेगा।

(60) सुख में दुःख का दर्शन

एक बार एक निःसन्तान दम्पति वृन्दावन-आश्रम में श्री महाराज जी के दर्शनार्थ पधारे। पत्नी ने दुखी हृदय से कहा, "40 वर्ष से

अधिक अवस्था हो गई है। भगवान ने हमें सन्तान का सुख नहीं दिया।" श्री महाराज जी करुणित होकर कहने लगे, "बिटिया, यह कहा करो हे प्रभु, तेरी इच्छा पूर्ण हो। वैसे भी बेटी, कितना अनुभूत सत्य है कि बेटे के जन्म के समय कितनी भयंकर प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है, बेटे के पालन-पोषण में कितना कष्ट उठाना पड़ता है। बीमार होने पर कितनी चिन्ता होती है। विवाह होने पर माँ-बाप को भूल ही जाता है। कितना रुलाता है बेटा। तुम यहाँ आश्रम में आकर रहो। यहाँ तुम्हें माँ कह कर पुकारेंगे पर रुलाएँगे नहीं।"

(61) मन एकाग्र कैसे हो ?

गीता-भवन (ऋषिकेश) के प्रांगण में श्री महाराज जी का प्रवचन प्रारम्भ होने वाला था। एक सन्त आकर महाराज जी के तख्त के पास नीचे बैठ गए। महाराज जी ने उन्हें पकड़ कर अपने पास बैठा लिया। सन्त जी बोले कि उनका एक प्रश्न है। महाराज जी ने कहा कि, आपका क्या प्रश्न होगा। आप हमसे अकेले में बार कर लेना। सन्त जी ने कहा-नहीं महाराज मैं तो सब के सामने ही पूछा चाहता हूँ। तब महाराज जी ने कहा-तो पूछो फिर। सन्त ने पूछा-महाराज, मन बड़ा चंचल है। इसको एकाग्र करने की टैक्नीक बताएँ। श्री महाराज जी कहने लगे-"मन किसी टैक्नीक से एकाग्र नहीं होता। सम्बन्ध एक से रखो और उसके नाते सेवा अनेक की करो। मन तो वहाँ जाता है जहाँ अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है। मन को एकाग्र करने का प्रयास मत करो, अपना सम्बन्ध बदल डालो।"

(62) सास-बहू का झगड़ा

गीता-भवन (ऋषिकेश) के प्रांगण में प्रश्न-उत्तर काल में एक नवयुवक ने महाराज जी के सामने अपनी समस्या रखी। वह नवयुक कहने- "महाराज जी न मेरे घर में मेरी पत्नी और मेरी माँ की आपस में नहीं बनती। वे दोनों एक-दूसरे से झगड़ती रहती हैं। मैं बहुत दुःखी हूँ क्या करुँ?" श्री महाराज जी ने परामर्श दिया-"अपनी माँ से कहो कि माँ, मेरी पत्नी तुम्हारी तो कुछ नहीं लगती। आप इसलिए उसे प्यार करो कि वह तुम्हारे बेटे की बहू है; और पत्नी से कहो कि मेरी माँ तुम्हारी तो कुछ नहीं लगती। तुम इसलिए उसे आदर दो क्योंकि वह तुम्हारी पति की माँ है। उन्हें समझाओ मत। तुम्हारा दुःख जरूर मिट जाएगा। उन दोनों का दुःख मिटे चाहे न मिटे।"

(63) मजदूरी नहीं , अफसरी करो

स्वामी जी महाराज के एक प्रेमी एक दिन उनसे कहने लगे- "महाराज जी, मैं प्रतिदिन मन्दिर में जाकर भगवान की सेवा-पूजा करता हूँ फिर भी मुझे भगवान का प्रेम प्राप्त नहीं हुआ।" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया कि, "भाई, तुम मजदूरी क्यों करते हो? अफसर बनो। मजदूर को सारा दिन मेहनत करने पर केवल 20 रुपये मिलते हैं, जबकि अफसर 400 रु. रोज प्राप्त करता है। आप भगवान से सम्बन्ध जोड़ लो। बिना किसी प्रयत्न के भगवान का प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाएगा।"

(64) आश्रम भिक्षावृत्ति से चलना चाहिए

एक बार मानव सेवा संघ आश्रम वृन्दावन के कुछ ट्रस्टी, मीटिंग के पश्चात् श्री महाराज जी की कुटिया में आकर कहने लगे, "महाराज जी, आश्रम में धन का अभाव चल रहा है। हमने मीटिंग में पास किया है कि सड़क के किनारे आश्रम की भूमि पर कुछ दुकानें बनवा कर किराये पर चढ़ा दी जाएँ जिससे आश्रम का धनाभाव समाप्त हो जाए।" ऐसा सुनकर श्री महाराज जी को इतनी पीड़ा हुई कि एक दम शेर की तरह दहाड़ पड़े-"जज साहब। हमारा आश्रम यदि समाज की भिक्षा से नहीं चल सकता तो तुम्हारी अकल से भी नहीं चलेगा। धन का अभाव देकर तो हमारे प्रभु हमें त्याग का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। खबरदार। यदि आश्रम में एक पैसे की भी आमदनी पैदा करने की कोशिश की।"

(65) साधुओं का घरों से क्या सम्बन्ध?

एक बार श्री महाराज जी दैनिक प्रार्थना सभा बटाला (पंजाब) में पधारे हुए थे। एक साधु से उनकी बातचीत चल रही थी। बातों-बातों में वे साधु, महाराज जी से कहने लगे- "महाराज जी मैं कई वर्षों से बटाला में सत्संग के लिए आ रहा हूँ। बटाला में मेरे पचास घर हो गए हैं जहाँ मुझे आदर, सम्मान एवं भोजन मिलता है।" महाराज जी झट बोल पड़े-"अरे। घर तो भंगियों के होते हैं। साधुओं का घरों से क्या सम्बन्ध है?" वह साधु अपना-सा मुँह लेकर रह गया। महाराज जी ने विरक्तों को उनके धर्म की याद दिलाई।

(66) गुरु कि बात मानो

श्री महाराज जी बटाला (पंजाब) में पधारे हुए थे। साधकों से बातचीत चल रही थी। एक डॉक्टर साहब कहने लगे-"महाराज जी, जब

आप यहाँ आते हैं, आपका सत्संग सुन कर ऐसा लगता है जैसे सब साफ हो गया परन्तु आपके जाने के बाद वे ही विकार फिर से हमें घेर लेते हैं। ऐसा क्यों होता है?" श्री महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "बाहरी बात तो यह है कि आपको अपनी दुर्दशा की पीड़ा नहीं होती। हल्की-हल्की होती है और कभी-कभी होती है। और भीतरी बात यह है कि आप हमसे सम्बन्ध नहीं जोड़ते। गुरु नहीं बनाते तो चेला ही बना लो। बाप नहीं बनाते तो बेटा ही बना लो। कोई न कोई सम्बन्ध तो जोड़ा, फिर देखो क्या होता है? जब तक गुरु जिन्दा है, उसकी छाती पर चढ़ोगी, उसकी जान लोगे। और जब गुरु मर जाएगा, तो उसकी मढ़ी बनाओगे। बात न अब मानोगे और न ही बाद में।"

(67) साधना से कल्याण

बटाला के एक टेलर मास्टर श्री महाराज जी को अपने घर ले गए। श्री महाराज जी को बैठक में बिठाकर अपना फीता लेकर आ गए। कहने लगे-"महाराज जी, मैं आपके दो चोले सी कर देना चाहता हूँ।" श्री महाराज जी उनकी भावना को भाँप गए। कहने लगे-"बेटा नए चोले तो बेशक बना दे परन्तु अपना पुराना चोला तुम्हें नहीं दूँगा। यह तो वस्त्र है। यदि तू मेरी चमड़ी भी उतार कर पहन ले तो कुछ नहीं होने वाला। जब तक स्वयं साधना नहीं करेगा, कल्याण नहीं होगा।" इस प्रकार महाराज जी साधकों की भ्रान्त धारणाओं को भस्मीभूत करते रहते थे।

(68) कौन जाने कब क्या हो जाए

बटाला में श्री महाराज जी को एक दुखद समाचार मिला कि उनके किसी प्रेमी साधक के बेटे का देहान्त जालन्धर में स्कूटर और बस की टक्कर के कारण हो गया है। दुःखी परिवार को सान्त्वना देने के लिए महाराज जी रात-भर फोन मिलाने का प्रयास करते रहे। बड़ी मुश्किल से भोर में फोन मिल पाया। प्रातःकालीन सत्संग में महाराज जी ने उस दुःखद घटना की चर्चा करते हुए कहा-"देखो, भाई, उस बाप को अपने इकलौते नौजवान बेटे की याद आ रही होगी या नहीं। इस याद में अभाव सताएगा या नहीं। यदि उस बाप ने 50 वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ ले लिया होता तो वह इस भयंकर वेदना से बच सकता था। तब उसे लड़के

की नहीं, प्रभु की याद आती। इस नश्वर संसार में निर्मम होकर रहना चाहिए। कौन जानता है कब क्या हो जाए।"

(69) प्राप्ति केवल परमात्मा की

बटाला के सत्संग में एक भाई ने साधना-पथ पर चलने में भय की आशंका को प्रकट करते हुए कहा, "महाराज जी साधना-पथ पर चलने में मुझे भय लग रहा है कि कहीं जो मिला हुआ है वह भी न छिन जाए और आगे कुछ मिले नहीं।" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया, कि "भैया, मिले हुए से तुझे मिला क्या? जितना मिला, उससे सन्तोष हुआ क्या? यह जो मिला हुआ-सा लगता है वह एक दिन छूट जाएगा कि नहीं? प्राप्ति तो केवल परमात्मा की होती है। जगत तो मिल कर बिछुड़ ही जाता है।"

(70) शरीर है संसार की वस्तु

डेरा बाबा नानक (पंजाब) से एक अध्यापक श्री महाराज जी का प्रवचन सुनने के लिए बटाला पधारे। उन्होंने प्रश्न किया, "महाराज जी सत्य के मार्ग पर चलने में मुझे भय लगता है कि कहीं हमारे शरीर की हानि न हो जाए।" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "तुम्हारे पास जगत की एक वस्तु है शरीर के रूप में। उसको तुमने गलती से अपना मान रखा है। इस बेईमानी के कारण ही तुम्हें लग रहा है। जगत् यदि इस शरीर को मिटाता है तो हानि जगत की होगी कि तुम्हारी?" इस पर उन्होंने दूसरा प्रश्न किया, "महाराज जी, सत्य के मार्ग पर चलने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं।" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "अरे भाई, सती साध्वी के जीवन में ही कठिनाइयाँ आएँगी, वेश्या के जीवन में क्या कठिनाइई है।"

(71) अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ

बटाला के एक कॉलेज के प्रोफेसर ने किसी से नाम-दीक्षा ले रखी थी। उसने प्रश्न किया, "महाराज जी, अहं ब्रह्मास्मि का क्या अर्थ है?" श्री स्वामी जी ने कहा, "अहं जो है वह ब्रह्म का बाप तो हो सकता है, पर ब्रह्म नहीं हो सकता। हाँ, ब्रह्म भले ही अहं हो।" साधक ने दूसरा प्रश्न किया, "महाराज जी भगवान को प्राप्त करने के लिए गुरु तो बनाना ही पड़ेगा न।" महाराज जी ने उत्तर दिया, "इतना हट्टा-कट्टा गुरु खड़ा तो हैं तेरे सामने।" अपनी महानता को गुप्त रखने वाले सद्गुरु की इससे अधिक करुणा भला और क्या होगी?

(72) होली का वास्तविक अर्थ

होली के वार्षिक सत्संग समारोह के अवसर पर श्री महाराज जी अपनी कुटिया में तख्त पर लेटे हुए थे। उनके आस-पास बैठे हुए साधक श्री महाराज जी का वार्तालाप सुन रहे थे। श्री महाराजजी के मुख से ये शब्द निकले-"जानते हो, होली का अर्थ क्या है। राग-द्वेष को अग्नि में जला दो। देहाभिमान को मिट्टी में मिला दो और प्रेम में रंग जाओ। यही होली-पर्व का सच्चा अर्थ है। जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए ही सारा क्रिया-कलाप होना चाहिए।"

(73) प्रभु कि कृपालुता

एक दिन कुछ साधक भाई स्वामी जी के साथ सायंकाल को श्री बाँके बिहारी जी के दर्शनार्थ मन्दिर में गए। होली-उत्सव के कारण मन्दिर के गोसाँईं पिचकारियाँ भर-भर कर दर्शनार्थियों पर रंग डाल रहे थे। महाराज जी के मुख पर पिचकारी की धार पड़ते देख एक साधक ने अपने दोनों हाथ मुख के सामने कर दिए। महाराज जी कड़क कर बोले, "यह कौन बुद्धिमान है, जो हें भगवान से होली खेलने से रोक रहा है।" यह सुन कर उस सज्जन ने तुरन्त अपने हाथ हटा लिए। दर्शन कर लेने पर जब वापस लौटने लगे तो किसी ने रिक्शा ले आने के लिए कहा क्योंकि डॉक्टर ने स्वामी जी को अधिक चलने के लिए मना किया हुआ था। इधर-उधर रिक्शा ढूँढने का प्रयास किया किन्तु कहीं कोई खाली रिक्शा नहीं मिला। साधक ने वापस लौट कर रिक्शा न मिलने की बात कहीं तब महाराज जी कहने लगे, "चलो आज पैदल ही चलेंगे। भगवान ने यदि साधन नहीं दिया तो शक्ति अवश्य दे देंगे।" ऐसा था अपने नित्य सखा के प्रति स्वामी जी का अटल विश्वास।

(74) भगवान इच्छा-रहित करते हैं

एक बार किसी ने श्री महाराज जी से प्रश्न किया-

"महाराज जी, क्या भगवान भक्त की इच्छा पूरी कर देते हैं? महाराज जी ने कहा, "कैसी बात करते हो, इच्छा तो उन्होंने अपने बाप की भी पूरी नहीं कि फिर तुम्हारी कैसे कर देंगे? राजा दशरथ ने जो चाहा, वह नहीं हुआ। जो यशोदा जी ने चाहा वह नहीं हुआ। ब्रह्म की नित्य सहचरी सीता जी ने जो चाहा वह भी नहीं हुआ। भगवान इच्छा पूरी नहीं करते वे तो भक्त को इच्छा-रहित करते हैं।"

(75) शान्ति न जाने पाये

एक बार श्री महाराजजी के पास एक महिला आई। महाराज जी के चरण पकड़ कर वह जोर-जोर से रोने लगी। महिला ने रोते हुए कहा,"महाराजजी! मेरे पति मुझे छोड़कर चले गए।" करुणित होकर श्री महाराज जी ने कहा, "सुख चला गया है पर शान्ति न जाने पाये। साधना करो बेटी। तेरे मरे हुए पति का कल्याण होगा और तुम बार-बार पत्नी बनने के दुःख से छूट जाओगी।"

(76) सेवक को निह:संकल्प होना चाहिए

तीन-चार दिन की छुट्टी लेकर एक साधक महाराज जी से भेंट करने रानी-कोठी (ऋषिकेश) पहुँचे। प्रणाम करने पर महाराज जी ने पूछा, "कितने दिनों के लिए आए हो।" उन्होंने उत्तर दिया, "महाराज जी, तीन-चार दिनों के लिए आया हूँ।" स्वामी जी ने कहा, "यदि सेवा के लिए अधिक दिन रुक जाते तो अच्छा रहता।" दोपहर को श्री महाराज जी की आज्ञा लिए बिना वे साधक लक्ष्मण-झूला चले गए। शाम को जब वे लौटे तो महाराज जी की सेवा में रत एक साधिका बहन ने कहा, " कहाँ चले गए थे, स्वामी महाराज आपके बारे में पूछ रहे थे।" वे साधक स्वामी जी के तख्त के पास ही सो गए। प्रातः 2 बजे बिना बताएँ कहाँ चले गए थे?" जब साधक ने कहा कि मन्दिर देखने लक्ष्मण झूला चले गए थे तब स्वामी जी कहने लगे-"देखो बेटा, सेवक को अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिए।" जब उन साधक ने अपनी साधन सम्बन्धी कठिनाई का जिक्र किया तो स्वामी जी कहने लगे- "बेटा, घबराने की जरूरत नहीं। धीरे-धीरे सब होगा। साधक की अपनी बनावट के अनुसार स्वयं को कुछ न कुछ मान अवश्य लेना चाहिए। चाहे अपने को भक्त मान लो, चाहे सेवक मान लो, चाहे जिज्ञासु मान लो। मान्यता के अनुरूप साधना फलित होने लगेगी।"

(77) अच्छी बात सब जानते हैं

एक बार एक भाई श्री महाराज जी से कहने लगे, "महाराज जी, हमें भी कोई अच्छी बात बताओ।" श्री महाराज जी ने कहा, "भैया, क्या तुम स्वयं अच्छी बातों को नहीं जानते, जो मानव को करनी

चाहिए।" वह भाई कहने लगा, "हाँ महाराज, जानते तो हैं।" तब महाराज जी बोल उठे, "जब तुम अपनी ही जानी हुई बातों को नहीं मानते तब क्या गारण्टी है कि तुम हमारी बताई हुई बातों को मान लोगे।" महाराज जी यह ज्ञान करा दिया कि बिना पोथी पढ़े प्रत्येक भाई को बुराई का ज्ञान है। और सब व्यक्ति अच्छी बात जानते हैं।

(78) पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है

रानी कोठी (ऋषिकेश) की छत पर एक बार एक साधक छत पर महाराज जी को टहलने में सहायता कर रहे थे। उन साधक ने प्रश्न किया- "महाराज जी, श्री राम कृष्ण परमहंस इतने बड़े महापुरुष होने पर भी हुक्का क्यों पीते थे?" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "यद्यपि यह कोई अच्छी बात नहीं थी। फिर भी महापुरुषों के दोष नहीं देखने चाहिएँ। देखों, पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है।" महाराज जी के इस सटीक उत्तर को सुन कर वे प्रश्नकर्त्ता साधक अवाक् रह गए।

(79) बदले कि भावना से अपना अहित

एक साधक भाई ने श्री महाराज जी से अपनी प्रथम भेंद का वृतान्त इस प्रकार सुनाया-

एक बार श्री महाराज जी हमारे शहर में आए हुए थे। मैं उन्हें जानता नहीं था। उन दिनों अपने ससुराल वालों से मेरी बहुत कहा सुनी हो गई थी। उन्होंने मेरी बहुत ही बेइज्जती कर डाली थी। मैं क्रोध से पागल होकर चाकू लेकर बाजार में घूमता रहता कि कहीं मुझे मेरे साले मिल जाएँ तो मैं उन्हें मार डालूँ। रात भर नींद नहीं आती थी। सुबह मेरा मित्र मुझे अपने घर ले गया जहाँ स्वामी जी महाराज ठहरे हुए थे। मैंने अपरिचित होने के कारण बिना किसी श्रद्धा के उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मुझे पकड़ कर अपने पास बिठा लिया और कहने लगे, "जिन्होंने माफ कर दिया उन्हें फाँसी के तख्ते पर भी चैन मिला। जो बदला लेने की सोचता है वह अपने ही जख्मों को हरा रखता है।" मैं इस बात से बहुत प्रभावित हुआ कि मेरे बिना बताए उन्होंने मेरी मनोदशा को कैसे जान लिया?

(80) बुद्धि से सत्य कि खोज नहीं हो सकती

एक बार अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के फिलासफी के विद्यार्थियों ने श्री महाराज जी को अपना संशय निवारण करने की दृष्टि से बुलाया। वे कहने लगे, "महाराज जी, हमें लगता है कि अल्लाह का

हाथ साफ नहीं रहा। उससे अच्छे इन्सानों की जगह खराब इन्सान ज्यादा बन रहे हैं।" श्री महाराज जी ने तुरन्त उत्तर दिया,-"अरे अल्लाह का हाथ कैसा भी क्यों न हो पर उसने इतना बढ़िया खिलौना अवश्य बना दिया, जो वह अपने बनाने वाले के भी दोष देख सके।"

(81) बुद्धि से सत्य कि खोज नहीं हो सकती

एक बार कुछ विद्यार्थी मानव सेवा संघ के वृन्दावन आश्रम में आए, कहने लगे, "महाराज जी, हम फिलासफी के रिसर्च स्कॉलर हैं। हम आपके दर्शन के विषय में बातचीत करने आए हैं।" श्री महाराज जी हँस कर बोले, "एक बाकायदा बदमाशी होती है, यह बेकायदा बदमाशी है। प्यार करते हो लुगाई से और रिसर्च ईश्वर की करने आए हो। फँसे हुए हो धन के प्रलोभन में और चाहते हो शरणान्द के दर्शन को समझना। आप जैसे बुद्धिमानों ने गीता की अनेक टीकाएँ कर डालीं जो परस्पर मेल नहीं खातीं। दर्शन की बातों को जीवन में धारण करें। तुम्हारी खोज भी हो जाएगी और तुम्हें जीवन-धन भी मिल जाएँगे। बुद्धि से सत्य की क्या खोज करोगे?"

(82) मानव पर प्रभु कि कृपालुता

एक बार एक फलों की दुकान वाले ने श्री महाराज जी को खाने के लिए केले दिए। श्री महाराज जी जैसे ही केला खाने लगे आँखों से आँसू टपकने लगे। फलवाला घबड़ा कर पूछने लगा-"महाराज जी, क्या आपको मैंने खराब केला दे दिया?" महाराज जी कहने लगे-"नहीं बेटा, यह बात नहीं है। केला खाते हुए मेरी दृष्टि प्रभु पर चली गई कि हे प्यारे। तूने अपने प्यारे मानव को छिलके में मीठा हलवा बंद करे दिया है। हे प्रभु! आप कितना प्यार करते हैं अपने प्रिय मानव से।"

(83) देने वाले में उदारता और लेने वाले में त्याग

एक बार दो प्रेमी श्री महाराज जी के पास अपने बेटे और बेटी की शादी तय करने के उद्देश्य से आए। श्री महाराज जी बेटे को एक ओर ले जा कर पूछने लगे कि, "तू दहेज में क्या लेना चाहता है?" बेटा कहने लगा-"महाराज जी, जब आपका आशीर्वाद मिल रहा है तो इससे बढ़ कर मुझे और क्या चाहिए।" महाराज जी कहने लगे, "तू लड़की वालों से एक पैसा भी मत लेना।" उधर लड़की के बाप को एक ओर ले जा कर कहा कि "तू लड़की को अधिक से अधिक दहेज देना।

शादी में ज्यादा पैसा बर्बाद न करके धन लड़की के नाम बैंक में जमा करा देना।" एक को महाराज जी ने त्याग का उपदेश दिया और दूसरे को उदारता का।

(84) बच्चो को सही मानव बनाओ

दिल्ली के एक जज साहब और उनकी पत्नी अपनी छोटी बच्ची को महाराज जी की गोद में डालकर बोले, "महाराज जी, इसे आशीर्वाद दीजिए। हम इसे डॉक्टर बनाना चाहते हैं।" महाराज जी कहने लगे- "बेटा, तुम्हारा संकल्प यह होना चाहिए कि हम इसे मानव बनाना चाहते हैं, फिर चाहे भले ही यह कुछ भी बन जाए।"

(85) मन, वाणी और कर्म से बुराई-रहित होना

एक करनाल के सत्संग में एक महिला ने श्री महाराज जी से प्रश्न किया, "महाराज जी, मेरे पति मुझे सत्संग में नहीं जाने देते। मेरा कल्याण कैसे हो सकता है?" श्री महाराज जी ने कहा-"बेटी, जब पति अच्छे मूड में हों तो अपनी इच्छा प्रकट कर दिया करो, फिर भी यदि वे न मानें तो तुम मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित हो जाओ। घर में रहते हुए ही सिद्ध हो जाओगी।"

(86) सन्त कभी नहीं सोते

दशहरे के अवसर पर दिल्ली में सत्संग चल रहा था। महाराज जी स्टेज पर लेटे हुए थे और बहन देवकी जी प्रवचन कर रहीं थी। किसी भाई के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर उन्हें नहीं सूझ रहा था। महाराज जी एकदम उठ कर बैठ गए और प्रश्नकर्त्ता से बोले, "आगे आओ बेटा, हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देते हैं। देवकी जी अभी साधिका हैं।" प्रश्नकर्त्ता ने कहा, "महाराज जी आप तो खर्राटि भर कर सो रहे थे। आपको कैसे पता चला कि क्या चर्चा हो रही है।" महाराज जी ने कहा, "अरे हम कहाँ सोते हैं। (शरीर पर हाथ मार मार कर कहने लगे कि) यह कमबख्त सो रहा था।"

(87) आँखे तो पहले भी तुम्हारी नहीं थीं

मानव सेवा संघ के प्रथम प्रधान अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री बी.पी. सिन्हा स्वामी जी के पास वृन्दावन आश्रम में बैठे हुए थे। सिन्हा साहब कहने लगे, "महाराज जी, मैं 72 वर्ष का हो गया हूँ। अब मेरी आँखें जा रही हैं।" महाराज जी ने तुरन्त कहा, "भैया

आँखें तो पहले भी तुम्हारी नहीं थीं। पता अब चला, जब वे जा रही हैं।"

(88) भगवान कृष्ण में आस्था

एक बार एक आर्यसमाजी भाई श्री महाराज जी से पूछने लगे, "महाराज जी आप कृष्ण को भगवान मानते हैं क्या?" श्री महाराज ने तुरन्त कहा, "भैया यदि आप उसे मानव भी मानें तो मैं उस पर ब्रह्म को न्यौछावर कर दूँ।"

(89) अपने धर्म का पालन और दूसरों के धर्म का आदर

एक बार श्री महाराज जी से एक भाई ने कहा, "महाराज अन्य सम्प्रदाय वाले सनातन धर्म के विरूद्ध बात करते हैं। महाराज जी ने उत्तर दिया, "हम पर तो किसी के बाप का भी असर नहीं हो सकता। तुम कैसे सनातन धर्मी हो। तुम्हारी आस्था में कैसे खलल पड़ गया? वह तुम्हारे धर्म की निन्दा करते हैं और तुम हसमें उनके धर्म की निन्दा कराना चाहते हो। तुम्हें इससे क्या मिलेगा? अपने धर्म का पालन करो और दूसरों के धर्म का आदर करो।"

(90) मेरे अनेक मुख हैं

एक बार दिल्ली के सत्संग कार्यक्रम में महाराज जी विराजमान थे। एक भक्त श्री महाराज जी के लिए अपनी गाय के दूध के पेड़े बना कर लाए। महाराज जी ने जरा सा पेड़ा मुख में रख लिया और शेष सभी पेड़े सत्संग भवन में बैठे हुए साधकों में बाँट दिए। पेड़े लाने वाले साधक यह देखकर उदास होकर महाराज जी से कहने लगे, "उन्होंने बड़े भाव से ये पेड़े महाराज जी के लिए बनाए थे।" महाराज जी झट बोल पड़े-"भैया, एक ही मुख से बार-बार खाने की बजाय मैंनेये पेड़े अनेक मुखों से एक ही बार में खा लिए।"

(91) जीवन-मुख का अभिप्राय

एक बार एक भाई ने प्रश्न किया-"महाराज जी, जीवनमुक्ति किसे कहते हैं। स्वामी जी महाराज ने उत्तर दिया, "इच्छाओं के रहते हुए प्राण चले जाएँ तो मृत्यु हो गई और प्राण रहते हुए इच्छाएँ चली जाएँ तो मुक्ति हो गई। आप कुछ पैसे लेकर बाजार जाते हैं। यदि पैसे समाप्त हो गए और जरूरत बनी रही तो पैसे लेने के लिए फिर घर आओगे। यदि पैसों के रहते हुए जरूरत समाप्त हो गई तो बात बन गई।"

(92) वैज्ञानिक उन्नति क्या है : ¾ को 75/100 करना

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से कहा, "महाराज जी! विज्ञान, अनेक आविष्कारों के द्वारा सुख-भोग के साधनों में वृद्धि करता जा रहा हैः इस विषय में अध्यात्मक क्या दृष्टिकोण है?" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "बेटा, प्रकृति से जितना सुख लोगे उतना दुःख भी भोगना पड़ेगा। वैज्ञानिक उन्नति क्या है-3/4 को 75/100 करना। पहले हम सरसों के तेल के दिये की रोशनी में पढ़ते थे तो नजर कितनी तेज थी। आज ट्यूब लाइट की चकाचैंध ने नजर कितनी कमजोर कर दी। आँखों पर चश्में लग गए। जब घोड़े पर सवारी करते थे तो गिरने पर चोट कम लगती थी और आज सब कार का एक्सीडैण्ट होता है तब? और जब हवाई जहाज का एक्सीडैण्ड होता है तब?"

(93) गुरु मानने का अधिकार सभी को है

एक साधक ने श्री महाराज जी से प्रार्थना की, "क्या आप मुझे अपना शिष्य बनाएँगे?" श्री महाराज जी ने कहा-"तुम्हें मुझे अपना गुरु मानना है कि मुझे तुम्हें शिष्य बनाना है। गुरु मानने का अधिकार सभी को है और शिष्य बनाने का किसी को अधिकार नहीं। गुरु मान लोगे तो शिष्य हो जाओगे। शिष्य हो जाओगे तो गुरु हो जाओगे। गुरु बन जाओगे तो हमारे मित्र हो जाओगे।"

(94) परिस्थिति को नहीं, अपने को बदलो

एक बार किसी साधक ने श्री महाराज जी के सामने अपनी व्यक्तिगत समस्या रखी, "महाराज जी मेरी पत्नी को यह भय है कि कहीं मैं घर छोड़ कर न चला जाऊँ।" श्री महाराज जी ने कहा, "हमारी बिटिया को जाकर कह देना कि यदि तुम्हारा पति घर छोड़ता है, तो वह सच्चा मानव सेवा संघी नहीं है। बेटा! घर नहीं छोड़ना है, ममता और अपना अधिकार छोड़ना है। परिस्थिति को नहीं, अपने को बदलो।"

(95) ममता अवश्य छूट सकती है

एक बार बटाला में श्री महाराज जी से एक माता जी ने प्रश्न किया, "महाराज जी, मोह-ममता तो यशोदा मैया की भी नहीं छूटी थी। हम साधारण स्त्रियों की कैसे छूट सकती है?" श्री महाराज जी ने कहा, "माता जी। आपको कैसे पता कि यशोदा मैया की मोह ममता नहीं छुटी थी। उनकी न भी छूटी हो, परन्तु तुम्हारी अवश्य छूट सकती है।"

साधन त्रिवेणी

जीवन का सत्य

आपके जीवन का जो सत्य है, वह आपके पुरुषार्थ का फल नहीं है। यह तो आपको स्वतः प्रदान किया गया है। यह ज्ञान से सिद्ध है कि मेरा कुछ नहीं है; मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। मेरा किसी वस्तु पर अधिकार नहीं है-यह ज्ञान से सिद्ध है। और यह ज्ञान आपको मिला है। ऐसे ही प्रभु मेरे अपने हैं-यह आस्था से सिद्ध है। यह आस्था का तत्त्व आपको मिला है। ऐसे ही बल के सुदपयोग से विश्वशान्ति की समस्या हल होती है, यह बल आपको मिला हुआ है। बल आपको मिला हुआ है, ज्ञान आपको मिला हुआ है; आस्था आपको मिली हुई ह। यह जो बल, ज्ञान और आस्था का तत्त्व आपके जीवन में है, यह आपके किसी कर्म विशेष का फल नहीं है।

यदि कर्म विशेष का यह फल होता है तब तो आप ऐसे यन्त्र बना सकते थे, जिनसे आपको आस्था, ज्ञान और बल मिल जाता। हाँ, बल के सुदपयोग से बल मिलता है, ज्ञान के सदुपयोग से मुक्ति मिलती है, आस्था के सदुपयोग से भक्ति मिलती है- यह आपके जीवन का अनुभव सिद्ध सत्य है। तो मूल बात आपको मिलता है आपको भेंट किया जाता है। तो मिले हुए मूल बल के द्वारा आप संसार के काम आएँ; मूल ज्ञान के द्वारा आप निर्मम, निष्काम, असंग हो कर मुक्त हो जाएँ और मूल विश्वास के द्वारा आप प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करके भक्त हो जाएँ। अब आप देखिए न, ये तीनों बातें आपने अपने द्वारा की। कौन-कौन सी? बल के दुरुपयोग न करने का निर्णय अथवा बल के सदुपयोग के अभिमान और फल का त्याग, यह आपने अपने द्वारा किया। मैं बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा यह निर्णय करने में शरीर की सहायता नहीं लेनी पड़ी; इसमें संसार की सहायता नहीं लेनी पड़ी। मैं बल के सदुपयोग का फल नहीं माँगूँगा, इसका अभिमान नहीं करूँगा, इसमें आपको शरीर और संसार की सहायता अपेक्षित नहीं हुई।

तो जो अपने द्वारा किया जाएँ उसी को सत्संग कहते हैं। और सत्संग क्या हैं? सत्संग माने मनुष्य का स्वधर्म। तो जो आपने बल का दुरुपयोग छोड़ दिया; सदुपयोग का फल और अभिमान छोड़ दिया, तो आपका संसार से सम्बन्ध टूट गया। देखिए, संसार से सम्बन्ध टूट गया; संसार नहीं छूट गया। एक बात और, संसार का सम्बन्ध ही बाध था संसार

बाधक नहीं था। हमारी साधना में संसार का सम्बन्ध बाधक है; संसार बाधक नहीं है। इसलिए संसार का सम्बन्ध टूटने से साधना में जो बाधा थी, वह नष्ट हो गई।

अब बाधा का नाश तो हो गया, अब इसका विकास क्रम क्या हो-इस पर थोड़ा विचार कीजिए। जिस समय बल के दुरुपयोग को छोड़ कर उसके फल और अभिमान को छोड़ देंगे तो आप थोड़ी देर के लिए अपने को अपने में सन्तुष्ट पाएँगे। तो संसार से सम्बन्ध टूटने का फल क्या हुआ कि मानव अपने में अपने को सन्तुष्ट पाता है। अब अपने में अपने को संतुष्ट पाने का फल क्याहै? अपने में जो अपना जीवन है वह उसे प्राप्त हो जाएगा। अपने में अपना जो परमात्मा है वह उसे प्राप्त हो जाएगा या अपने में जो अपने सर्व दुःखों की निवृत्ति है, वह उसको प्राप्त हो जाएगी या अपने में जो अपना आनन्द है वह हमको प्राप्त हो जाएगा।

यह जो अनेक ढंग से एक बात कही गई, यह अनेक मान्यताओं के कारण कही गई। नहीं तो, सीधी बात यह है कि बुराई-रहित होकर, भलाई का फल और अभिमान छोड़ कर साधक अपने में सतुष्ट होकर सब कुछ पा जाता है। इतना कहना पर्याप्त था। लेकिन आप लोगों के मस्तिष्क में विभिन्न विचार अंकित होते हैं इसलिए सभी दृष्टियों से विवेचन की जरूरत होती है।

अपने में सन्तुष्ट हुए बिना भगवान बुद्ध का 'निर्वाण' सिद्ध नहीं होगा, शंकराचार्य का निजानन्द सिद्ध नहीं होगा और चैतन्य महाप्रभु का प्रेम सिद्ध नहीं होगा। ये तीनों सत्य तभी सिद्ध होंगे, जब हम अपने को अपने में सन्तुष्ट पायेंगे। और अपने को अपने में तभी सन्तुष्ट पाएँगे जब आप संसार के सम्बन्ध से मुक्त हो जाएँगे। संसार के सम्बन्ध से तभी मुक्त होंगे जब आप बुराई-रहित होकर भलाई के फल और अभिमानन को छोड़ देंगे। यह वास्तव में सम्पूर्ण जीवन की साधना का क्रम आपकी सेवा में निवेदन किया।

अब आप दूसरी दृष्टि से सोचिए, कि आप बुराई-रहित होना तो चाहते हैं, पर हो नहीं पाते। या भलाई का अभिमान और फल छोड़ना तो चाहते हैं, पर छोड़ नहीं पाते। यानी जो चाहते हैं सो कर नहीं पाते। इसका परिणाम क्या होना चाहिए? इसका परिणाम यह होना चाहिए कि हम भले ही कर न पायें परन्तु जीवन की जो माँग है, उससे निराश तो न हो जाएँ। यदि हम निराश नहीं होंगे और अपने द्वारा

करने में अपने को असमर्थ पाएँगे तब अपने आप एक वेदना जाग्रत होगी। यह वेदना ईश्वरवादी की प्रार्थना है, यह वेदना अध्यात्मवादी की साधना है और यह वेदना भौतिकवादी की उदारता है, करुणा है। तो यह वेदना जाग्रत होनी चाहिए। कौन-सी वेदना? अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर पाने की वेदना, अपनी निर्बलता का अनुभव करने पर जो वेदना होती है वह वेदना तो जाग्रत होनी चाहिए।

आप कहेंगे कि अगर हमने जो करना चाहिए वह कर लिया तो वेदना नहीं होगी, लक्ष्य की प्राप्ति होगी। लक्ष्य की प्राप्ति होने के बाद-सभी को लक्ष्य प्राप्त हो जाए-यह वेदना होगी। इसी बात को बताने के लिए किसी लेखक ने लिखा था कि भगवान बुद्ध कहते हैं कि जो मानव उस जीवन का अधिकारी हैं, जहाँ पराधीनता का, अशान्ति का, जड़ता का, अभाव का और नीरसता का प्रवेश ही नहीं हो सकता; जो मानव इतने ऊँचे जीवन का अधिकारी है, वही मानव आज अपनी ही भूल से कीड़े-मकोड़ों की तरह जीता है। क्याहै वह? क्या यह वेदना नहीं हैं? मैं यह निवेदन कर रहा था कि जो सही कर्त्तव्य-पालन करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें इस तरह की वेदना होती है कि सभी को सफलता मिलनी चाहिए।

ऐसे पर दुःख कातर व्यक्तियों को समाज ने महापुरूष कहा। उनको समाज ने कभी महापुरुष नहीं कहा जिनके जीवन में समाज के हित का उत्तरदायित्व नहीं जगा। जिन्होंने समाज को विश्वास दिलाया कि जो जीवन मुझे मिला है वह तुम्हें भी मिल सकता है उनको समाज ने कभी नापसन्द नहीं किया।

इसलिए महानुभाव, आप अपने ही द्वारा बुराई-रहित होकर धर्मात्मा हो सकते हैं, धर्म के अभिमान और फल को छोड़ कर आप मुक्त हो सकते हैं, और मुक्ति से मुक्त हो कर आप भक्त हो सकते हैं। भक्त होने से आप में भक्ति-रस की अभिव्यक्ति हो सकती है और भक्ति-रस की अभिव्यक्ति से आप भगवान को रस दे सकते हैं या भक्तिरस से भगवान को रस मिलता है।

तो मनुष्य का जो भगवान के साथ सम्बन्ध है, वह भगवान से कुछ माँगने के लिए नहीं है; भगवान का प्रेमी होने के लिए है; और मनुष्य का जो सम्बन्ध संसार के साथ है, वह संसार से कुछ लेने के लिए नहीं है अपितु उदार होने के लिए है। अब आप सोचिए, भगवान के लिए हम प्रेमी हो जाएँ, संसार के लिए हम

उदार हो जाएँ। यह कब होगा? जब संसार से हम कुछ न चाहें और भगवान से भी हम कुछ न चाहें।

अब आप देखिए, जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, वह अशान्त होगा क्या? वह पराधीन होगा क्या? वह देहाभिमानी रहेगा क्या? उसका देहाभिमान भी गल जाएगा, पराधीनता भी मिट जाएगी, अशान्ति भी मिट जाएगी। समस्त विकार नाश हो जाएँगे और वह निर्विकार जीवन से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जाएगा। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो आपके इस मानव-जीवन का बड़ा भारी महत्त्व है। आप संसार के लिए उदार हो सकते हैं, प्रभु के लिए प्रेमी हो सकते हैं और आप अपने लिए अचाह हो सकते हैं।

लेकिन अचाह का अर्थ बड़ा पेचीदा है। पैर में दर्द हो रहा है, डॉक्टर मौजूद है। अब हम कैसे कहें, कैसे दिखाएँ, यह कैसे कहें कि हमारे पैर में दर्द है, देख लीजिए। क्यों? ऐसा कहने से अगर उसने नहीं देखा, तब तो बड़ा अपमान हो जाएगा। लेकिन अपमान तब हो जाएगा, जब आप यह समझेंगे कि यह मेरा पैर है। अरे भाई यह उसी का पैर है, जिसका डॉक्टर है। तो डॉक्टर किसी बीमार के कष्ट को नहीं देखेगा, तो परमात्मा के विधान को तोड़कर वह परमात्मा का अपमान करेगा कि आपका अपमान करेगा। लेकिन अगर आपको अपमान मालूम होता है तो इसलिए मालूम होता है क्योंकि आप परमात्मा की वस्तु को अपने वस्तु मान लेते हैं।

अगर आपकी कोई शारीरिक सेवा करता है तो आप उसके उपकार को इसलिए नहीं मानते कि उसने सेवा की है आप उपकार को इसलिए मानते हैं क्योंकि शरीर को आपने अपना माना है। ऐसे ही सेवा करने वाला अगर आप पर एहसान करता है, तो वह सेवा नहीं करता वह परमात्मा की दी हुई वस्तु को अपनी मान कर बेईमान बन कर संसार में मिथ्या अभिमान करता है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे, कि ये सारी बातें क्यों नहीं जीवन में आती? इसलिए नहीं आती कि सचमुच हम अचाह हो कर रहते ही नहीं। हम निर्मम होकर रहते ही नहीं।

अगर हम अचाह होना पसन्द करें, अगर हम निर्मम होना पसन्द करें तो हमारा करके कुछ है ही नहीं और हमें संसार से कुछ चाहिए ही नहीं, तो संसार हमारा क्या अपमान करेगा? संसार हमें क्या हानि पहुँचाएगा? न हानि पहुँचाएगा और न अपमान करेगा। संसार तब अपमानित करेगा जब संसारकी वस्तु को अपना मानेंगे, जो संसार से कुछ

चाहेगा। संसार की वस्तु का उपयोग संसार की सेवा में करना और संसार के लिए संसार से भिक्षा माँगना यह अपमान तो नहीं है, बन्धन तो नहीं है।

जो उनका अपना बनाया हुआ बन्धन है। जो सम्पत्ति, योग्यता, वस्तु को अपनी मान कर, उन पर अधिकार जमा कर उसका उपयोग करते हैं वह बन्धन अपना मानने में है या अपना न मानने में है। तो आपको साफ दिखाई देगा कि अपना न मानने में बन्धन नहीं है। अपना न मानने में अशान्ति नहीं है। अपना न मानने में अगर बन्धन नहीं है, अशान्ति नहीं है तो फिर क्या है? शान्ति है, स्वाधीनता है।

जहाँ शान्ति और स्वाधीनता है वहाँ हम प्रेमी हो सकते हैं, उदार हो सकते हैं। अगर हमारे जीवन में शान्ति नहीं है, अगर हमारे जीवन में स्वाधीनता नहीं है, तो हम सच्चाई के साथ न तो उदार हो सकते हैं, न प्रेमी हो सकते हैं और न अचाह हो सकते हैं।

इस प्रकार जब हम सबकी बुद्धि सम हो जाए यानी विवेकवती हो जाए तो हृदय अनुरागी हो जाएगा और अहं अभिमान-शून्य हो जाएगा। प्रेमी की अभिव्यक्ति के लिए आप परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करें। स्वीकार करना कोई क्रिया थोड़ा ही है। जैसे अपने अपनी माँ को माँ स्वीकार किया, बाप को बाप स्वीकार किया, भाई को भाई स्वीकार किया वैसे ही आप परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्वीकार करें। यह सम्बन्ध जोड़ने की स्वाधीनता तो आपको है न? जैसे मेरी माता है, मेरे पिता हैं, मेरे भाई है, मेरे बन्धु हैं ऐसे ही मेरे प्रभु हैं।

जैसे आप धन की महिमा को मानते हैं कि धन होगा तो काम चल जाएगा ऐसे ही प्रभु की महिमा स्वीकार करें और फिर परमात्मा की प्राप्ति की आवश्यकता अनुभव करें। स्वीकृत्ति तो तुम्हारे अपने द्वारा ही होगी। देखो अगर क्रिया के द्वारा काम बन जाता तो, आज के वैज्ञानिक युग में ऐसे यन्त्र बनन जाते कि यन्त के द्वारा गायत्री मंत्र सिद्ध हो जाता। लेकिन जो अपने द्वारा करने वाली बात है वह क्रिया के द्वारा कैसे हो जाएगी भाई?

मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि आपका ज्ञान, ध्यान और जीवन एक हो जाना चाहिए। जिस प्यार से ध्यान करो उसी प्यार से काम हो जाए, जिस प्यार से काम करो उसी प्यार से ध्यान हो जाए। ये अलग-अलग नहीं है। हम लो जो अलग-अलग मान लेते हैं कि ध्यान अलग चीज है और ज्ञान अलग चीज

है। सो नहीं है। दोनों एक ही चीज है। ज्ञान आपको क्या प्रेरणा देता है? ज्ञान को आपको प्रेरणा देता है निर्मम होने की, निष्काम होने की। ध्यान आपको क्या प्रेरणा देता है? शान्त होने की। काम भी करो और शान्त भी रहो तथा निर्मम भी हो जाओ। तब ज्ञान, ध्यान और कर्म एक हो जाते हैं।

काम तो होता ही पराश्रय और परिश्रम से है। काम माने पराश्रय और परिश्रम। पराश्रय और परिश्रम का स्थान है पर-सवेा में-शरीर की सेवा में, परिवार की सेवा में, समाज की सेवा में, विश्वकी सेवा में। बिना दूसरी को हानि पहुँचाए जो कार्य है वह सेवा है। और दूसरों को हानि पहुँचा कर जो कार्य है वही भोग है। पर-सेवा के लिए आप स्वाधीन है, भोग के लिए नहीं। पराश्रय और परिश्रम का उपयोग है पर-सेवा में। पर-सेवा में आप भलाई चाहे जिसके साथ करें लेकिन बुराई आप किसी के साथ न करें। तो बुराई न करना यह विश्व की सेवा है, भलाई करना यह परिवार, समाज और देश की सेवा है, अचाह होना अपनी सेवा है और प्रेमी होना प्रभु की सेवा है। तो सेवा आप चाहे जिस की करें। अभी प्रभु की सेवा करने से फर्सत न हो, तो कोई चिन्ता की बात नहीं है, अपनी सेवा करें और अपनी सेवा की फुर्सत न हो शरीर की, समाज की परिवार की सेवा करें परन्तु हानि तो किसी को न पहुँचाएँ।

देखों आफिस की पराधीनता थोड़ी देर की छह घण्टे की तो अटठारह घण्टे तो आप स्वाधीन हेा। पराधीन कौन होता है? जिसे अपने में यह अनुभव है कि मेरा कुछ है वह सबसे बड़ा पराधीन है? और मुझे कुछ चाहिए वह उससे बड़ा पराधीन। जो निर्भय और निष्काम है वही स्वाधीन होता है। परिस्थिति में सब पराधीन रहते हैं।

आप विचार करके देखो- शरीर संसारकी शक्तियों के अधीन है। आफिस का काम तो आप आफिस के साथ समय पर ठीक कर दो, पूरी शक्ति लगा दो, आदरपूर्वक कर दो, पवित्र भाव से कर दो। इस प्रकार पराधीनता पर-सेवा में व्यय कर दो। मुश्किल तो तब है न, जब आपके कार्य का कोई लक्ष्य न हो।

आप इस दृष्टि से ठीक-ठीक कर्त्तव्यपालन कीजिए तो मुश्किल बहुत आसान हो जाएगी। हानि बिना पहुँचाए कोई काम करोगा तो वह सेवा हो जाएगी।

देखिए जर्मन बरबाद हुआ और हिन्दुस्तान आजाद हुआ। जर्मन लोगों से आठ-आठ घण्टे में दस-दस घण्टे, बारह-बारह घण्टे काम किया

और वहाँ के कारखानों में लाखों का फायदा हुआ और हिन्दुस्तान के लोगों ने बोनस माँगना शुरू कर दिया। काम करना कम कर दिया और लाखों का नुकसान हुआ। जो काम तुम्हें मिला है तुम अपने काम को ठीक-ठीक ईमानदारी से पूरा कर दो। तुम संसार के ठेकेदार नहीं हो। ज्यादा तो तुम कर ही नहीं सकते। आठ घण्टे काम करते हैं तो उसके बाद काम करने की तबियत ही नहीं होती। अभी अमेरिका से एक आदमी आया तो उसने कहा कि अमेरिका में सप्ताह में दो दिन की छुटटी होती है लेकिन वहाँ आठ घण्टे काम करते हैं। इस प्रकार वह सप्ताह में चालीस घण्टे काम करते हैं और हिन्दुस्तान में सप्तामें 25 घण्टे काम करते हैं। यहाँ एक दिन की छुटटी होती है तब भी 25 घण्टे से ज्यादा काम करते ही नहीं। यह काम करने की पद्धति में अन्तर है।

क्रियात्मक सेवा निकटवर्ती प्रियजनों की करो और भावात्मक सेवा सारे संसार की करो। किसी का बुरा मत चाहो यह भावात्मक सेवा हो गई और यथाशक्ति किसी की मदद कर दो यह क्रियात्मक सेवा हो गई। यथाशक्ति किसी की सहायता कर दी, यह क्रियात्मक सेवा हो गई। किसी को बुरा न समझों, यह भावात्मक सेवा हो गई। बुराई न करना यह क्रियात्मक सेवा हो गई। बुराई न चाहना, यह भावात्मक सेवा हो गई।

हमारी आवश्यकता

मानव जन्मजात साधक है। साधक की क्या क्या आवश्यकता है इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा लगता है कि साधक के सामने सबसे बड़ी समस्या क्या है? एक समस्या तो तुझे यह मालूम होती है कि साधक के सामने मौलिक प्रश्न है देहाभिमान गलित होने का। दूसरा प्रश्न है अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का। अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न रहे। तीसरा प्रश्न यह है कि जीवन में नीरसता न आए। और चौथा प्रश्न है कि अभाव का अन्त हो जाए। ये चार समस्याएँ साधक के सामने रहनी चाहिए। इस समस्याओं का हल होना सम्भव है।

अब देहाभिमान-रहित होने के लिए कोई उपाय नहीं है सिवाय इसके कि वह अकिंचन और अचाह हो जाए। और कोई उपाय ही नहीं है। कितना ही तप करे, कितनी ही योग्यता का सम्पादन करे, बलपूर्वक कितनी प्रकार की साधनाएँ करे,

लेकिन जब तक अकिंचन और अचाह नहीं होगा तब तक देहाभिमान का नाश नहीं होगा। अर्थात् जब तक यह निर्णय न करे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए।

देह के तादात्म्य से ही देह का अभिमान उत्पन्न होता है और देह के अभिमान से ममता और कामनाओं का जन्म होता है। देह-अभिमान का परिणाम क्या है-ममता और कामना। इनकी निवृत्ति कैसे होगी? जब यह विचार करके देखें कि भई, सृष्टि एक इकाई है और इसी के अन्तर्गत मिला हुआ शरीर है, मिली हुई वस्तु है, मिली हुई योग्यता है। तो सृष्टि कहो, चाहे वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य कहो, क्या फर्क पड़ताहै।

हमसे गलती क्या होती है कि यह सृष्टि है, इस बात को भूल जाते हैं और इसके अन्तर्गत अपनी सृष्टि अलग बनाते हैं। जो प्राकृतिक सृष्टि है यह एक इकाई है। इसमें अपनी एक शक्ल बनाते हैं, मैं अमुक हूँ, मेरा यह है। जहाँ 'मैं' है और 'मेरा यह है' वहाँ अनेक प्रकार की कामना पैदा होती है। कामना पैदा होने से पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख पैदा होता है। सुख-दुःख के द्वारा ही देहाभिमान पुष्ट होता है। तो अगर हमारे सामने देहाभिमान-रहित होने का प्रश्न है तो आप सोचिए।

आज हमको एक घटना सुने को मिली कि साधक ने किसी साधिका से माता जी कह दिया तो वह नाराज हो गई-"तुमने मुझे माता जी क्यों कह दिया नाम क्यों नहीं लिया।" मैं आपसे निवेदन करता हूँ हमने अपने बचपन में धर्मात्माओं से सुनाथा कि अपने बराबर वाली माँ हो सकती है, बड़ी माँ हो सकती है, छोटी बहन हो सकती है। तो हमें तो बगैर पढ़े-लिखों की बात मालूम थी कि अपरिचित स्त्रियों के साथ इसी भावना से व्यवहार किया जा सकता है। ऐसे ही एक साधक को किसी ने नौकर कह दिया, जैसा मैंने सुना। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जो यह समझते हैं कि साधक एक नौकर है, उनकी बड़ी भारी भूल है। मानव-सेवा-संघ के अनुसार मानव-सेवा-संघ साधकों का संघ है। साधक यहाँ का मालिक है चाहे एक दिन के लिए आयाहो, चाहे हजार दिन के लिए आया हो, चाहे वर्षों से काम करता हूँ चाहे आज काम आरम्भ किया हो। साधक माने मानव-सेवा-संघ का मालिक क्योंकि यह साधकों का संघ है, किसी व्यक्ति का तो है नहीं। तो साधक को नौकर कहने से, हमने सुना कि उस साधक को बड़ाकष्ट हो गया। उनको 'माता जी' सुनने से कष्ट हो गया और इन्हें

'नौकर' सुनने से कष्ट हो गया। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि इस कष्ट का कारण क्या हैं? देहाभिमान के सिवाय कोई ओर कारण है क्या?

देहाभिमान जो होता है, वह अपनी रुचि के विरुद्ध बात सुन नहीं सकता। हम आपको क्या बताएँ, जिन लोगों ने भिक्षा माँग कर खाया है उन भिक्षा माँगने वालों को ऐसे ऐसे कटु शब्द सुनने को मिलत हैं कि जिसकी हद नही। तो उन विरक्त महात्माओं को क्रोध क्यों नही होता, क्षोभ क्यों नहीं होता? तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि इस घटना को सुनकर मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि बेचारा साधक ऐसा अनुभव क्यों करता है? देखो, मानव-सेवा-संघ की साधन-प्रणाली में दुःख का मूल भूल है। अगर हमारी भूल नहीं है तो हमारे जीवन में दुःख हो ही नहीं सकता। जैसे कि यह भूल थी 'माता जी' कहने से बिगड़ गई और शरीर बन गई साढ़े तीन हाथकी और साधक की भूल थी कि 'नौकर' कहने से बिगड़ गए और साढ़े तीन हाथ के शरीर बन गए। तो में आपसे बड़ी नम्रता के साथ निवेदन करना चाहता हूँ कि साधक के सामने देहाभिमान-रहित होने का पहला प्रश्न है। आप किसी काल में देह नहीं हैं। मानते हैं तब भी नहीं है नहीं मानेंगे तब भी नहीं हैं। पहले भी नहीं थे, आगे भी नहीं रहेंगे। यह तो देह का हमने अभिमान जो कर लिया है, इसलिए साधक के सामने पहली समस्या है कि हम देहाभिमान से रहित हो जाएँ।

देहाभिमान से रहित होने का उपाय है-सम्मान और अपमान का सदुपयोग। अगर मैं उन साधक की जगह होता तो कहता कि अच्छा माता जी, आपने बता दिया। आपका नाम पूछँगा तो आपका नाम लिया करूँगा, आप मुझको क्षमा करें। और क्षुभित बिल्कुल न होता। मैं तो कहता हूँ कि यह लोगों का भ्रम है कि जो माता, बहन और बेटी कहने से एतराज करें। यह भ्रम है कि उस साधक से यह कहना चाहता हूँ कि अगर तुमसे किसी ने नौकर कह दिया तो तुम नौकर थे क्या? किसी करोड़पति को कोई कंगाल कह दे तो वह हँसेगा कि क्रोध करेगा। कोई करोड़पति सम्पति-शाली हो और कोई उससे कह दे कि तुम कंगाल हो तो वह हँसेगा कि यह जानता नहीं; अबोधहै। तो अबोध की बात का प्रभाव अपने पर होना, यह साधक का धर्म तो नहीं है। और इसका कारण क्या है? कभी हमसे आकर व्यक्तिगत सत्संग करते नहीं। खुद जानते नहीं और सुनते हैं नहीं।

तो केवल काम करने मात्र से कोई मालिक नहीं हो जाता। और काम करने मात्र से कोई नौकर नहीं हो जाता। मालिक सृष्टि का एक है, वह व्यक्ति नहीं है। और भैया जो कुछ भी चाहता है, जरा गंभीरता से सोचना, बुरा मत मानना कोई भाई, जो कुछ भी चाहता है वह नौकर तो है ही। नौकर में और मालिक में फर्क क्या है? यही फर्क है कि जो मालिक होता है, वह की हुई सेवा के बदले में कुछ चाहता नहीं। और नौकर जो है,वह की हुई सेवा के बदले में अपनी मार्केटिंग वैल्यू बताता है कि मुझे यह दोगे तो मैं ऐसा करूँगा। तो जो अचाह नहीं है वही नौकर है। चाहे मैं हूँ, चाहे कोई हो।

जो परमात्मा को सृष्टि का मालिक मानता है, वह देहाभिमानी नहीं है। तो मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि आपको जो वस्तु मिली है, जो योग्यता मिली है, जो सामर्थ्य मिली है वह किसी की दी हुई है या आपकी उपार्जित है? दी हुई है, तो जिसकी दी हुई है वह मालिक है कि आप मालिक है? मालिक सृष्टि का एक है, दो नहीं हो सकते क्योंकि सृष्टि एक है।

अगर इस सत्य को आप स्वीकार कर सकते हैं कि इस सृष्टि का प्रकाशक और आधार एक है तो इस प्रकाशक ने तो कभी कहा नहीं कि सृष्टि मेरी है। और आप सोचते हैं, तन मेरा है, मन मेरा है प्राण मेरे हैं, मैं योग्य हूँ, योग्यता मेरी है, सामर्थ्य मेरी है जो लोग मिली हुई वस्तु को अपनी मान लेते है; हम क्या बतावें, बेइर्ममानों में तो पहला नाम है ही उसका, वह चोर भी है। सबसे बड़ा चोर दुनिया में वही ै, बेईमान वही है जो मिली हुई वस्तु को अपनी मिल्कियत मान लेता है। मेरे पास इतना रुपया जमा है, मैं चाहूँगा सो देख लूँगा। अरे भैया, रुपये के अधीन हो कर तुम शान्ति का सुख लेते हो, बल के अधीन हो कर तुम मुक्ति का सुख लेते हो, योग्यता के अधीन होकर तुम भक्ति का सुख लेते हो। यह भ्रम है, यह चोरी है, वह बेईमानी है।

मैं यह जीवन का सत्य आपसे निवेदन कर रहा हूँ कि मैं किसी व्यक्ति से कुछ नहीं कह रहा हूँ। इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि यदि आज आपके सामने देहाभिमान-रहित होने का प्रश्न नहीं है तो भाई कब होगा? कालान्तरर में यह नहीं होगा, धीरे-धीरे यह नहीं होगा। अगर देहाभिमान-रहित होने का प्रश्न है, तो जिस वक्त आपको पता चल गया कि देहाभिमान के कारण मुझ को क्षोभ होता है, मुझ को क्रोध आता है, मुझमें

कानामओं का जन्म होता है तो उसी समय आपको सजग होकर सावधानी पूर्वक जीवन का यह पहला प्रश्न होना चाहिए कि जब तक देहाभिमान का नाश नहीं करूँगा तब तक चैन से नहीं रहूँगा। पूरी अभिलाषा देहाभिमान के नाश की होनी चाहिए।

सेवा ही जीवन का सार सर्वस्व

जिसका नाश नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती। नाश किसका नहीं होता? जिसकी उत्पत्ति नहीं होती। जिसे उत्पत्ति का ज्ञान है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जिसे उत्पत्ति का बोध है वह अनुत्पन्न हुआ है। वह अविनाशी तत्त्व अनुत्पन्न है। उसी अनुत्पन्न और अविनाशी तत्त्व से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना अथवा उससे एकता अनुभव करना ही सत्संग है। वैसे देखा जाए तो मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना भी सत्संग है। अचाह होना भी सत्संग है। अकिंचन होना भी सत्संग है।

यह सत्य है कि व्यक्तिगत कुछ नहीं है, यह सत्य है कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, यह सत्य है कि जो सभी का है, जो सदैव है, जो सर्वत्र है, वही सत् है। तो आस्था और धर्म के आधार पर सत् की चर्चा चलती है, जो जाना जाता है वह ज्ञान नहीं कहलाता। जिससे जाना है वही ज्ञान है। इस सब का ज्ञाता कौन है? उत्पत्ति-विनाश का क्रम चल रहा है। सृष्टि की स्थिति नहीं है, केवल उत्पत्ति-विनाश का ही क्रम है। इस बात का बोध जिसके द्वारा होता है, वह बोध रूप सत्य है।

अब हम इस सत्य को स्वीकार करें ज्ञान के आधार पर अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर-उसका नाम सत्संग है। मन से, वाणी से, कर्म से बुराई-रहित होना अनिवार्य है। क्योंकि हम जानते हैं कि कोई हमारे साथ बुराई न करे। ज्ञान विरोधी कर्म का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। यह सत्संग है। इसका फल क्या होगा? हम धर्मात्मा हो जाएँगें; कर्त्तव्य-परायणता आ जाएगी। ऐसे ही ज्ञान-विरोधी विश्वास का त्याग सत्य है। ज्ञान-विरोधी विश्वास का त्याग करते ही प्रभु-विश्वास का उदय होगा। ज्ञान-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करते ही वास्तविक सम्बन्ध जिसके साथ है उसकी जानकारी होगी।

अतः हमें क्या नहीं करना चाहिए, इस बात को ठीक-ठीक अनुभव करने से, हम धर्मात्मा हो सकते हैं, ज्ञान-विरोधी सम्बन्ध के

त्याग से जीवन-मुक्त हो सकते हैं और ज्ञान-विरोधी विश्वास के त्याग से भक्त हो सकते हैं। तो मानवमात्र धर्मात्मा होने में, जीवन-मुक्त होने में और भगवत् भक्त होने में सर्वदा स्वाधीन है-यह जीवन का सत्य है।

इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करना साधक का स्वधर्म है; परम पुरुषार्थ है। जब हम स्वधर्मनिष्ठ हो जाते हैं, तो जीवन में स्वतः साधना की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् साधना और जीवन एक हो जाता है। साधना क्या है? साधना सत्य के संग का परिणाम है। जहाँ आपने ज्ञान-विरोधी कर्म का त्याग कर दिया, आप धर्मात्मा हो गए; ज्ञान-विरोधी विश्वास का त्याग कर दिया, जीवन मुक्त हो गए और ज्ञान-विरोधी सम्बन्ध का त्याग कर दिया, भगवद्भुक्त हो गए। इन तीनों बातों में मानव सर्वदा स्वाधीन है-धर्मात्मा होने में, जीवन-मुक्त होने में और भगवद्भक्त होने में।

इसी सत्य को बताने के लिए यह कहा गया है कि हम जिस बात में स्वाधीन है, उस स्वाधीनता का हम दुरुपयोग न करें अपितु सदुपयोग करें। स्वाधीनता के सदुपयोग से ही भगवत्-विश्वास सजीव हो जाता है। जो स्वाधीन हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है और जो मुक्त हो जाता है, वह भक्त हो जाता है। स्वाधीनता के सदुपयोग से ही मानव धर्मात्मा हो जाता है। तो हमें मिली हुई स्वाधीनता का सर्वदा ही सदुपयोग करना चाहिए।

बुराई क्या है? स्वाधीनता का दुरुपयोग ही वास्तव में बुराई है। आप विचार करके देखो-यदि ऐसा विधान होता कि हम झूठ बोलने की सोचते तो वाणी अवरूद्ध हो जाती है। ऐसा होने पर क्या हमको यह भास होता है कि हम सत्य बोलते हैं? क्या राय है? तो प्रभु ने यह विधान नहीं बनाया। इसलिए प्रभु ने यह विधान नहीं बनाया कि मानव मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग से यह स्वयं स्वीकार करें कि मैं धर्मात्मा हूँ, मैं जीवनमुक्त हूँ, मैं भगवद्भक्त हूँ। तो धर्मात्मा होने की उपाधि जीवनमुक्त होने की उपाधि, भगवत्भक्त होने की उपाधि 'यह' के अन्तर्गत नहीं है, यह 'स्व' के अन्तर्गत है।

यह जो ज्ञान का प्रकाश मिला है, आस्था का तत्त्व मिला है और बल का तत्त्व मिला है, यह साधन-सामग्री है और मानव साधक है। तो साधन-सामग्री आपको मिली हुई है, उसके सदुपयोग की स्वाधीनता आपको मिली हुई है। अब आप सोचिए कि फिर भी हम यदि साधन-निष्ठ नहीं होते तो इसमें किसी परिस्थिति विशेष का हाथ नहीं है, यह

हमारा ही प्रमाद है। साधन-सामग्री भी हमें प्राप्त है, उसके सदुपयोग की स्वाधीनता भी हमको प्राप्त है फिर भी हम यदि उस साधन-सामग्री का सदुपयोग नहीं करते तो यह हमारी ही भूल है।

हम अपनी भूल से ही पराधीनता में, अभाव में, अशान्ति में, नीरसता में आबद्ध होते हैं। हमें कोई और पराधीन नहीं बनाता, और कोई अभाव में आबद्ध नहीं करता, अशान्ति दूसरे लोगों की दी हुई नहीं है हमने स्वयं ही अपने जीवन में इन विकारों को उत्पन्न कर लिया है। यदि हम जीवन के इस सत्य को स्वीकार करें तो जो विकार हमने स्वयं उत्पन्न किए हैं, वे सब नाश हो सकते हैं। क्या इस सत्य को स्वीकार करने को हम राजी है? यदि आप राजी हैं तो आपकी साधक संज्ञा हो गई।

जो सत्य को स्वीकार करता है, वही साधक कहलाता है; वही मानव कहलाता है। जिसमें सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता ही नहीं है; उस सत्य का बोध ही नहीं है उसकी मानव संज्ञा ही नहीं है, वह प्राणी है। वह भोगयोनि है। वह सुख का भोग करेगा हर्षपूर्वक और उसे दुःख भोगना पड़ेगा, विवश होकर। हम हर्षपूर्वक सुख का भोग करें और विवश हो कर हमें दुःख भोगना पड़े यह साधक संज्ञा नहीं है। साधक संज्ञा तभी से आरम्भ होती है, जब से हम जीवन के सत्य को स्वीकार करते हैं।

अब आप विचार करके देखें कि सुख का भोग तो अच्छा लगता है, लेकिन उसका परिणाम अच्छा होता है क्या? जिसका परिणाम रुचिकर नहीं होता उससे अरुचि हो जाना, उसको नापसन्द करना क्या स्वाभाविक बात नहीं है? हम परिणाम पर दृष्टि न रखें और सुखद अनुभूति को जीवन मान लें क्या यह साधका का लक्षण है। क्या कोई भी सुखद अनुभूति ऐसी होती है, जिसका आरम्भ और अन्त दुःखमय न हो। आरम्भ भी जिसका दुःख है और अन्त भी जिसका दुःख है केवल कुछ काल के लिए आपको सुखद अनुभूति होती है तो सुख का भोग दुःख है या सुख? दुःख ही है। भोग नाश हो जायगा, भोग करने की शक्ति का ह्रास हो जाएगा, यदि इस सत्य को स्वीकार करें तो भोगों का सुख, सुख है क्या?

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि प्रत्येक साधक को, प्रत्येक भाई-बहन को अपने जाने हुए सत्य का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए, मनन करना चाहिए और स्वीकार करना चाहिए। आप विचार करके देखिए, आपको भूख कब अच्छी मालूम होती है जब हम यह

विश्वास कर लेते हैं कि हम भूखे हैं। तो भूख का लगना सुखद मालूम होता है कि नहीं? भोजन करने के साथ-साथ भोजन करने की सामर्थ्य का ह्रास हो जाएगा। भोग-सामग्री का विनाश हो जाएगा। अब इस सत्य को सामने रखें तो क्या लगेगा? सुख का जो प्रलोभन है वह रह जाएगा।

जब जीवन में से सुख का प्रलोभन चला जाता है या आप स्वयं छोड़ देते हैं तो दुःख का भय भी चला जाता है। क्योंकि सुख के भोगी को ही तो दुःख भोगना पड़ता है। यह जो दुःख है यह हमारी मर्जी से आता है कि अपने आप आता है। अपने आप आने वाले दुःख के प्रभाव को अपनाना चाहिए या नहीं? हम सुख के बाद दुःख का भोग करने लगते हैं। हाय! हम बहुत दुःखी हैं, हाय! हम बहुत दुःखी हैं। इस प्रकार हम दुःख का भोग करने लगते हैं उसके प्रभाव को नहीं अपनाते। अगर हम दुःख के प्रभाव को ठीक-ठीक अपनाएँ तो उससे सुख का नाश नहीं होगा, उसका प्रलोभन नाश होगा।

सुख के प्रलोभन का नाश होने पर सुख में आसक्ति रह सकती है क्या? अच्छा और दुःख के प्रभाव को अपनाने पर दुःख का भय रहता है क्या? तो दुःख का भय न रहे, सुख का प्रलोभन न रहे, सुख आए, चला जाए, दुःख आए अपना प्रभाव दे जाए। अब जीवन में इस प्रकार देखा जाए तो दुःख साधन-सामग्री है या कुछ और है? अगर दुःख को हम साधन-सामग्री स्वीकार करें तो हम सुख के भोगी न बन कर सेवा करने वाले बन जाएँ।

अरे भाई, आज हमारे पास धन है इसको अगर हम अपनी खुराक बनाएँगे, अपने लिए मानेंगे, तो इसके नाश होने पर हमें निर्धनता की पीड़ा सहनी पड़ेगी। यह बल हमारा अपने लिए नहीं है, यह तो निर्बलों की सेवा के लिए है। तो जिसके जीवन में सेवा का भाव उदय हो जाता है, उसे शारीरिक प्रवृत्ति सेवा ही मालूम होती है। उसे रोटी खिलाना मालूम होता है, खाना नहीं मालूम होता। उसे पानी पिलाना मालूम होता है, पीना नहीं मालूम होता। इसमें फर्क है या नहीं? तो सेवा एक ऐसा विलक्षण भाव है कि इससे हरेक प्रवृत्ति सेवा हो जाती है।

सेवा का अन्त त्याग में होता है और त्याग की पूर्णता बोध और प्रेम में होती है। इसलिए सुख की घड़ियाँ सेवा करने के लिए हैं और दुःख की घड़ियाँ दुःख के प्रभाव से सुख के प्रलोभन को नाश करने के लिए हैं। सुख की नाशक नहीं है सुख के प्रलोभन की नाशक हैं। सुख का प्रलोभन कब रहता है? जब हम सुख

भोगते हैं। सेवा करने वाले में सुख का प्रलोभन नहीं रहता है। और सुख का प्रलोभन नाश होने के बाद दुःख का स्वतः नाश हो जाता है। जिसको जीने की आशा नहीं रहती, उसको मरने का भय भी नहीं रहता। जो लाभ का सुख नहीं भोगता, वह हानि के भय से भयभीत नहीं होता।

हमसे गलती क्या होती है? हम सुख-दुःख को साधन-सामग्री नहीं मानते, जीवन मान लेते हैं। मानवीय प्रकृति के अनुसार, प्राकृतिक विधान के अनुसार, सुख-दुःख साधन-सामग्री है। अगर यह सत्य हमें जँच जाए, रुच जाए, पसन्द आ जाए, तो जो जीवन सुख के सदुपयोग से मिल सकता है, वही जीवन के सदुपयोग से भी मिल सकता है। तो हमें सुख-दुःख में समता प्राप्त हो सकती है कि नहीं? सुख-दुःख के द्वारा हम सुख-दुःख से अतीत, अविनाशी, स्वाधीन रसरूप चिन्मय जीवन को प्राप्त कर सकते हैं कि नहीं?

यह आस्था की दृढ़ता कि हम सुख-दुःख से अतीत, अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय जीवन को प्राप्त कर सकते हैं, बड़े काम की चीज है। यह आस्था बड़े काम की चीज है। अगर हमें आज यह निर्भरता प्राप्त हो जाए, कि हम स्वीकार करें कि यह जीवन का सत्य है कि सुख-दुःख के सदुपयोग से अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन की प्राप्ति होती है, उसकी माँग जीवन में भर लें। अविनाशी जीवन की माँग जीवन में नहीं है क्या? (श्रोता का **उत्तर**-हैऋ स्वाधीन जीवन की माँग है। रसरूप जीवन की माँग है। जिसकी माँग होती है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है। सुख की माँग नहीं है; सुख की तो रुचि है।

मानव जीवन में सेवा का व्रत एक महत्त्वपूर्ण साधन है क्योंकि सेवा प्रेम का क्रियात्मक रूप है और त्याग प्रेम का विवेकात्मक रूप है। प्रेम तत्त्व में ही जीवन की पूर्णता है। जब तक प्रेम तत्त्व से अभिन्नता नहीं होती तब तक जीवन पूर्ण नहीं होता। प्रेम तत्त्व की प्राप्ति के लिए सेवा और त्याग साधन हैं। सेवा के बिना और त्याग के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। तो दुःख का प्रभाव हमें त्याग की प्रेरणा देता है और सुख हमें सेवा की प्रेरणा देता है। इस हिसाब से सेवा और त्याग साधना हुई और प्रेम तत्त्व की प्राप्ति साध्य हुआ।

सेवा कोई कर नहीं सकता, ऐसी बात है ही नहीं। किसी का बुरा न चाहो यह नहीं कर सकता? बुराई-रहित वह नहीं हो सकता?(श्रोता का उत्तर "हो सकता है।"ऋ तो मानव-मात्र सेवा कर सकता है कि नहीं?

सेवा का आरम्भ जो होता है वह बुराई-रहित होने से, मध्य में सुखद घड़ियों में यथाशक्ति भलाई से और अन्त में अचाह होने से। अगर भलाई का फल चाहेगा तो सेवा नहीं हो सकती; बुराई-रहित नहीं होगा तो सेवा नहीं हो सकती। तो भलाई का फल मत चाहो और बुराई रहित हो जाओ यही तो सेवा का स्वरूप है। सभी के प्रति सद्भाव यह सेवा है, यथाशक्ति सहयोग यह सेवा है। इस दृष्टि से जो व्यक्ति हृदय में सद्भाव रखता है, वह तो इतनी बड़ी सेवा करता है कि हम आपको क्या बतावें। अगर किसी पंगु को देख कर हृदय में यह भाव उदय होता है कि इस बेचारे से चला नहीं जाता। लाओ इसे वहाँ पहुँचा दें, तो आपमें उदारता की जागृति होती है कि नहीं? तो सेवा तो हर आदमी कर सकता है।

लेकिन दुःख की बात तो यह है कि कुछ लोग सोचते हैं कि पैसा खर्च कर दो तो सेवा हो गई। कुछ लोग समझते हैं कि शरीर से कार्य कर दो तो सेवा हो गई। कर्म में और सेवा में भेद है। कर्म अपने सुख की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है और सेवा पर-हित कि दृष्टि से की जाती है। तो जो सभी का हित चाहता है वह सेवा कर सकता है। जो अपना सुख चाहता है कि घर छोड़ दो, वन में चले जाओ, भिक्षा माँग कर खाओ और भिक्षा सुविधा से मिल गई तो बड़ा सुख मालूम होता है नहीं मिली तो दुःख मालूम होता है। इसने सेवा की क्या? इससे तो शरीर की सेवा भी नहीं बनी, मन की सेवा भी नहीं बनी, प्राणों की सेवा भी नहीं बनी।

यह जो आपका शरीर है यह भी तो आपको मिला है। इसकी सेवा करो, अपनी सेवा करो। अगर आप अकिंचन और अचाह नहीं होते तो क्या अपनी सेवा कर सकते हैं? अगर आप उदार नहीं बनते तो क्या आप विश्व की सेवा कर सकते हैं? अगर आप प्रभु को अपना नहीं मानते; प्रेमी नहीं बनते तो प्रभु की सेवा कर सकते हैं क्या? प्रेम तत्त्व की प्राप्ति का अर्थ क्या है? प्रभु की सेवा, और त्याग का अर्थ क्या है? अपनी सेवा और उदारता का अर्थ क्या है- जगत् की सेवा। तो आप अपनी सेवा कर सकते हैं, जगत की सेवा कर सकते हैं और प्रभु की सेवा कर सकते हैं। सेवा ही तो मानव-जीवन का सार सर्वस्व है। इस सम्बन्ध में हमारी दृष्टि नहीं जाती। हम इस तरह सोचते ही नहीं। तो जिस प्रभु ने हमें यह स्वाधीनता दी कि हम जगत् की सेवा कर सकते हैं, अपनी सेवा कर सकते हैं और प्रभु की सेवा कर

सकते हैं, हम उस प्रभु की महिमा गायें।

सत्संग मानव का स्वधर्म

मैं उन लोगों का बड़ा आभार मानता हूँ जो यहाँ सुनने आए और जिन्होंने आयोजन किया। करनाल और दिल्ली के लोगों ने मिल करके आयोजन किया। सत्संग को मैंने स्वधर्म बताया। सत्संग स्वधर्म है, पुरुषार्थ है। सत्संग से ही असाधन का नाश होता है, साधन की अभिव्यक्ति होती है, साधन और जीवन में एकता होती है। मनुष्य को सत्संग करना चाहिए। सत्संग की परिभाषा क्या है? बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा यह सत्संग है, ज्ञान का आदर नहीं करूँगा यह सत्संग है, विश्वास में विकल्प नहीं करूँगा यह सत्संग है। यह मनुष्य का व्रत होना चाहिए।

किसी भी व्रत को पूरा करने के लिए तीन चीजों की जरूरत होती है-तप की, प्रायश्चित् की और प्रार्थना की। तो तप, प्रायश्चित् और प्रार्थना पूर्वक इस व्रत को पूरा करो। बल का दुरुपयोग नहीं करोगे तो कर्त्तव्य परायणता आ जाएगी अपने आप। ज्ञान का अनादर नहीं करोगे तो आत्मीयता आ जाएगी और श्रद्धा-विश्वास में विकल्प नहीं करोगे तो आत्मीयता आ जाएगी। कर्त्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होगा। असंगता से जीवन अपने लिए उपयोगी होगा तथा आत्मीयता से परम प्रेम की प्राप्ति होगी और जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होगा। इसी लिए मैंने जो जोर दिया है वह इस बात पर कि हमें सत्संग करना चाहिए।

सत्संग का अर्थ है कि जो नहीं करने वाली बात है वह नहीं करेंगे। जैसे-अगर आप से भलाई नहीं होती तो कोई बात नहीं; किसी के साथ बुराई मत करो। तो बुराई-रहित होने से हम भले हो जाएँगे और जब हम भले हो जाएँगे तो भलाई स्वतः होने लगेगी क्योंकि कर्त्ता में ही से कर्म निकलता है। होने वाली भलाई का अभिमान और फल छोड़ दें तब आप स्वाधीन हो जायेंगे। स्वाधीन होने से दो चीजें अपने आप आ जाती हैं जीवन में-संसार के प्रति उदारता और परमात्मा के प्रति प्रेम स्वतः उदय होता है। यह सब सत्संग का ही फल है।

और यह भी कहा गया था कि जितनी समस्याएँ आती हैं जीवन में उन सारी समस्याओं का हल सत्संग से ही हो सकता है। और सत्संग बताया आपका अपना स्वधर्म,

कोई अभ्यास नहीं बताया। तीन तत्त्व आपमें हैं। ज्ञान का तत्त्व है उसका तो अनादर न करें, बल का तत्त्व है उसका दुरुपयोग न करें, श्रद्धा का तत्त्व है उसमें विकल्प न करें। क्या चीज आपके जीवन में आस्था से सिद्ध है। कर्त्तव्य-परायणता आपके बल के अधीन है, असंगता ज्ञान के अधीन है और आत्मीयता आस्था के अधीन है।

कर्त्तव्य-परायणता कहो चाहे धर्म-विज्ञान कहो चाहे भौतिकवाद कहो, एक ही बात है। असंगता कहो चाहे अध्यात्मवाद कहो एक ही बात है। आत्मीयता कहो चाहे ईश्वरवाद कहो एक ही बात है। भौतिकवादी होने से कर्त्तव्य-परायणता से सिद्धि होगी, अध्यात्मवादी होने से असंगता से सिद्धि होगी और ईश्वरवादी होने से आत्मीयता से सिद्धि होगी।

तो जो मैं कहता हूँ उसका अर्थ आप वही लेते हैं जो मैं कहता हूँ या मनमाना अर्थ लेते हैं? इसलिए जो मैंने कहा हैं उससे क्या समझा है आपने सो बताओ। बल का दुरुपयोग न करना आपको ठीक मालूम पड़ता है कि नहीं? और ज्ञान का अनादर न करना? और श्रद्धा में विकल्प न करना। श्रोता-ज्ञान का अनादर तो नहीं करना चाहिए लेकिन मोह और ममत। स्वामी जी-मोह और ममता का तो उसका फल है। ज्ञान के अनादर का फल है मोह और ममता। जब ज्ञान का आदर करना शुरु करेंगे तो निर्मोहता आ जाएगी, निर्ममता आ जाएगी, निष्कामता आ जायेगी। निर्ममता आने पर भी आप परिवार का, समाज का कार्य कर सकेंगे। निष्काम होने पर भी आप काम कर सकेंगे। मोह और ममता पहले थोड़े ही होती है, वह तो ज्ञान के अनादर के बाद होती है। भूल का परिणाम है मोह और ममता। मोह-ममता स्वाभाविक थोड़े ही है। परिवार की सेवा करो, ममता का क्या अर्थ। परिवार के अधिकार की रक्षा करो और परिवार के ऊपर से अपना अधिकार हटा लो। यही त्याग हो गया। अपना अधिकार हटा लोगे तो ज्ञान मार्ग हो जाएगा और परिवार का अधिकार मान लोगे तो भौतिक वाद हो जाएगा। दुनियादार होकर रहना चाहो तो दूसरों के अधिकार की रक्षा करो और दुनिया के ऊपर उठना चाहो तो अपने अधिकार का त्याग करो। परिवार का बुरा मत समझो, परिवार की निन्दा मत करो। हर आदमी अपनी जगह पर पूरा और श्रेष्ठ है। क्योंकि भौतिकवाद की चरम सीमा; पराकाष्ठा हो जाएगी तो अध्यात्मवाद आ ही जाएगा। और अध्यात्मवाद की पूर्णता हो जाएगी तो

ईश्वरवाद आ ही जाएगा। आरम्भ-काल में भेद है अन्त में तीनों एक ही जीवन की चीज है न?

भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और ईश्वरवाद एक ही जीवन के तीन पहलू हैं। चाहे आप भौतिकवाद से आरम्भ करो, चाहे अध्यात्मवाद से आरम्भ करो चाहे ईश्वरवाद से करो। कोई आसान नहीं जिसे जो पसन्द आ जाए। पहले तो तीनों ही करने पड़ेगें। अगर रोटी खाना है तो भौतिकवाद मानना पड़ेगा। स्वाधीन होना है तो अध्यात्मवाद मानना ही पड़ेगा, प्रेमी होना है तो ईश्वरवाद या आस्तिक वाद मानना ही पड़ेगा। चाहे प्रेमी होकर स्वाधीन होकर कर्त्तव्य का पालन करो, चाहे कर्त्तव्यनिष्ठ होकर प्रेम प्राप्त करो चाहे स्वाधीन होकर कर्त्तव्यनिष्ठ हो कर प्रेम को प्राप्त करो। तीन में से आरम्भ कहीं से करो।

स्वाधीनता, उदाराता और प्रेम

कर्त्तव्यपरायण हो जाने पर आपका चित्त शुद्ध हो जाएगा और चित्त शुद्ध होने पर आपको शान्ति मिल जाएगी। शान्ति में से अगर आप परमात्मा को मानने वाले हैं, तो परमात्मा की प्रियता उदय होगी; परमात्मा का प्यार पैदा होगा। अगर आप अध्यात्मवादी हैं तो आत्म-संतुष्टि प्राप्त होगी। अगर आप भौतिक वादी हैं तो आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति होगी इस शान्ति में से। शान्ति का मतलब कोई अभ्यास नहीं है। शान्ति एक ऐसी चीज है जिसमें कोई श्रम नहीं होता। परिश्रम नहीं है शान्ति में। इसका जो बाह्य रूप बताया था मैंने वह यह बताया था कि जब आपने बुराई छोड़ दी, तो आपसे भलाई होगी। जैसे, आपने कहा मैं झूठ नहीं बोलूँगा तो सत्य बोलोगे। सत्य बोलोगे तो सुनने वालों को लाभ होगा, उनके अधिकार की रक्षा होगी। परन्तु इसका अभिमान मत करना कि मैं सत्य बोल रहा हूँ। ऐसे ही अगर किसी को हानि नहीं पहुँचाओगे तो किसी की मदद हो करोगे। उसका फल मत चाहना, उसका अभिमान मत करना कि मैं मदद करता हूँ।

भलाई का फल मत चाहो और बुराई करो मत। जब बुराई नहीं करोगे तो भलाई अपने आप होगी। जो अपने आप होती है उसका अभिमान होता नहीं है, कायदे से। परन्तु उसका फल नहीं माँगना चाहिए। इसका मजलब यह हुआ कि बुराई-रहित हो गये और अचाह हो गये। मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ

नहीं है क्योंकि आप अगर दी हुई चीज को अपना मानेंगे तो अचाह हो ही नहीं सकते। जैसे, मैंने कोई व्याख्यान दिया और मैं यह मान लूँ कि जो व्याख्यान मैंने दिया वह मेरी चीज है तो अचाह नहीं हो सकता। अचाह होने के लिए जिस वस्तु के द्वारा भलाई की जाय उस वस्तु को अपनी न मानी जाय। इतनी-सी बात जरूरी है। क्योंकि सचमुच वस्तु तो अपनी हैं ही नहीं।

आप विचार करके देखें कि कोई वस्तु भी व्यक्तिगत नहीं है। अगर हम बोल रहे हैं और आकाश न हो तो शब्द थोड़े ही बनेगा। आपकी आँखें मौजूद हैं लेकिन बाहर की रोशनी के बिना आँखें देख सकती है क्या? क्या राय है? बोलो डॉक्टर साहब! अगर बाहर की रोशनी न हो तो आँखें देख सकती हैं? अगर आकाश न तो तो कान सुन सकते हैं? तो समष्टि शक्तियों के बिना संसार की शक्तियों के बिना तुम्हारे शरीर की शक्ति काम कर सकती है? जी? नहीं कर सकती। तो इसका मतलब क्या हुआ? अच्छा समष्टि शक्ति किसी व्यक्ति की बनाई हुई है क्या? तो इसका मतलब यह हुआ न कि समष्टि शक्ति का ही शरीर हुआ। सारी शक्तियाँ, जो हमारे पास है, वे समष्टि शक्तियों का ही एक हिस्सा हुआ। और समष्टि शक्ति किसी व्यक्ति की है नहीं।

आपने शक्ति का तो सदुपयोग किया बुराई छोड़ देने से, उसका क्या आप अभिमान करेंगे? भलाई करने वाली शक्ति अगर हमारी होती तो हम कहते कि इसका फल हमको चाहिये, इसका अभिमान हमको करना चाहिए। मतलब कहने का यह था कि मनुष्य का व्यक्तिगत(पर्सनलऋ कुछ है नहीं। इसलिए भलाई का अभिमान नहीं करना चाहिए। लेकिन हम अचाह हो सकते हैं। बुराई-रहित होने से भलाई हो सकती है और हम अचाह हो सकते हैं।

अचाह होने से हमें शान्ति मिलती है। देखिए, शान्ति का एक सीधा उपाय बतायें आपको, शान्ति मिलती है कुछ न चाहने से। अतः कुछ न चाहो। कुछ न चाहने की शक्ति आती है, मेरा कुछ नहीं है यह बात जान लेने से। मेरा पर्सनल कुछ नहीं है, यह बात जान लेने से यह शक्ति आती है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। यानी मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए और बुराई आपने पहले छोड़ ही दी।

तो बुराई-रहित हो गए, इससे तो आप संसार के काम आ गए। और मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ

नहीं चाहिए, इससे आप स्वाधीन हो गए, शान्त हो गये। स्वाधीन होने से आपको वह रस मिलेगा, जिसकी माँग हैं। इस रस के भी तीन चार स्त्रोत हैं। स्वाधीन होने से मनुष्य पहले उदार होता है और फिर प्रेमी होता है। यह तो स्वाधीनता का फल है। उदारता में भी रस है, स्वाधीनता में भी रस है और प्रेम में भी रस है। तो उदार होता है संसार के लिए और प्रेम होता है परमात्मा के लिए। कौन? जो स्वाधीन होता है वह। स्वाधीन कौन हुआ? मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए जिसने यह अनुभव किया वह हो गया स्वाधीन। और जब वह स्वाधीन हो गया तो उदारता और प्रेम की अभिव्यक्ति हो गई।

उदारता का अर्थ है कि वह सभी को अपना करके देखने लगता है। सुखी को देख कर वह प्रसन्न होने लगता है, दुःखी को देखकर करुणित होने लगता है। और उसी में जब प्रेम का उदय होता है तब संसार छिप जाता है और परमात्मा प्रकट हो जाता है। जब तक मानव स्वाधीन नहीं होता, तब तक संसार के लिए उदार नहीं होता और परमात्मा के लिए प्रेमी नहीं होता। ऐसा नियम है। और जब तक बुराई-रहित नहीं होता तब तक मन शुद्ध नहीं होता। जब तक मन शुद्ध नहीं होता तब तक अचाह नहीं होता, निर्मम नहीं होता। तो एक से एक लगा हुआ है।

देवकी जी ने बड़ी सुन्दर बात कही आपसे कि प्रेम हृदय में उदित होता है। हृदय उसे कहते हैं जिसमें प्रेम का उदय होता है। जैसे जिससे हम देखते हैं उसे आँख कहते हैं ऐसे ही जिसमें प्रेम उदय होता है, उसे हृदय कहते हैं। हृदय हमारा तब पवित्र होता है जब हम अचाह हो जाते हैं, जब हम निर्मम होते हैं। देखिए, वस्तु हमारे हृदय को दूषित नहीं करती लेकिन वस्तु की ममता हृदय को दूषित करती है, वस्तु की कामना हृदय को दूषित करती है। वस्तु की ममता से तो जड़ता आ जाती है, और वस्तु की कामना से अशान्ति आ जाती है। अगर वस्तु की ममता न रहे, और वस्तु की कामना न रहे, मेरा कुछ नहीं है; ममता गई, मुझे कुछ नहीं चाहिए; कामना गई, तो मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए, इन दो बातों से हृदय में न तो जड़ता रहती है और न अशान्ति रहती है। देखिए, यह बिल्कुल जीवन का सत्य है कि जहाँ जड़ता नहीं रहती, अशान्ति नहीं रहती वहाँ परमात्मा ही परमात्मा का बोध रहता है। परमात्मा चेतन है न, परमात्मा जड़ तो है नहीं।

ममता जाने से जड़ता गई, कामना जाने से अशान्ति गई। जब हृदय में से जड़ता निकल गई, अशान्ति निकल गई तब चेतना और शान्ति रह गई। चेतना जो है यह अमरत्व का प्रतीक है और शान्ति जो है वह शक्ति का प्रतीक है। अमरत्व, अमर जीवन की प्राप्ति, अविनाशी जीवन की प्राप्ति शान्ति और चेतना के बिना नहीं होगी।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए तो तीसरी चीज क्या आएगी? अब मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है। मेरा कुछ नहीं है यह पहली बात, मुझे कुछ नहीं चाहिए यह दूसरी बात, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है यह तीसरी बात। निर्मम, अचाह और अप्रयत्न। आप निर्मम समझ गए न- मेरा कुछ नहीं है जिसके पास उसे निर्मम कहते हैं। जिसके पास अपना करके कुछ नहीं है उसे अकिंचन कहते हैं। जिसे कुछ नहीं चाहिए उसे अचाह कहते हैं और जिसे अपने लिए कुछ न करना हो उसे अप्रयत्न कहते हैं।

अहंकृति का नाश, चाह का नाश और ममता का नाश-इन तीन बातों से, देवकी जी ने बताया आपका हृदय शुद्ध होगा, कोमल होगा, मधुर होगा और चेताना आ जाएगी। जड़ता मिट जाएगी, अशान्ति मिट जाएगी। अशान्ति गई तो दुःख चला गया, जड़ता गई तो संसार चला गया। इस प्रकार दुःख और संसार की निवृत्ति हो जाएगी। जड़ता के जाने से संसार की निवृत्ति होती है और चेतना के आने पर परमात्मा की प्राप्ति होती है। जड़ता चली गई और अशान्ति चली गई। अशान्ति क्यों चली गई? मुझे कुछ नहीं चाहिए यों। जड़जा चली गई क्योंकि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं करना है। तीन बातें आई न? मुझे कुछ नहीं करना है, मुझे कुछ नहीं करना चाहिए और मेरा कुछ नहीं है। "मैं" के द्वारा तीन बातों को आपने स्वीकार किया-मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए और मुझे कुछ नहीं करना है।

अब यह स्वीकार हो कैसे? कैसे सामर्थ्य आए तीन बातों की? जब आप बुराई रहित होकर भले हो गए और भलाई होने लगी। जब तक बुराई करते रहे तब तक तो भले ही नहीं हो पाते। जब बुराई छोड़ दी तब भले हो गए और जब भलाई का अभिमान छोड़ दिया तब कहने लगे- मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है। जिसे कुछ नहीं चाहिए उसे क्या करना है? जिसके पास कुछ नहीं है, उसे काहे का भय है? जिसके पास

कुछ न हो, उसे सारी दुनिया कोशिश करे नुकसान पहुँचाने की क्या नुकसान पहुँचा सकती हैं? जिसे कुछ नहीं चाहिए उसे कोई अशान्त कर सकता है? जिसे कुछ न करना हो उसमें कहीं भी देह का तादात्म्य रह सकता है? मुझे कुछ नहीं चाहिए, इससे संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। तो संसार का सम्बन्ध और देह का सम्बन्ध कैसे छूटा? मेरा कुछ नहीं है, मुझ कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है-इससे सम्बन्ध टूट गया।

जब बुराई-रहित हो गए तो भले हो गए और संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर दी जैसे गंगाजल से गंगा की पूजा कर देते हैं। तो संसार से ही संसार की सेवा हुई। बुराई छोड़ने के बाद आप में यह ताकत आ गई कि संसार के द्वारा ही संसार की सेवा होने लगी। यदि संसार के द्वारा संसार की सेवा होने लगी, तो इसमें अपना तो कोई अभिमान नहीं रहा न? संसार की सेवा हो गई, हम अचाह हो गये, निर्मम हो गए और अहंकृति-रहित हो गए। अहंकृति-रहित होने से शरीर का तादात्म्य टूट गया, अचाह होने से संसार छूट गया, निर्मम होने से संसार का सम्बन्ध टूट गया। तो चेतना, शान्ति और स्वाधीनता, तीन चीजें आ गई।

उसी स्वाधीनता में से उदारता और प्रेम का उदय हो गया। जगत् की ओर दृष्टि गई तो उदारता आ गई; जगत् की दृष्टि हटी तो प्रेम आ गया। प्रेम और उदारता ये स्वाधीनता के ही विशेषण हैं। जहाँ स्वाधीनता है वहीं उदारता और प्रेम है। इसीलिए जब आप स्वाधीन हो गए तब उदार हो गए और प्रेमी हो गए। अब परमात्मा से पूछो, किसी से पूछो कि परमात्मा कैसा है? तो कोई नहीं कहेगा कि परमात्मा परम उदार नहीं है, परमात्मा परम स्वतन्त्र नहीं है और परमात्मा परम प्रेम से भरपूर नहीं है। तो परमात्मा का जो स्परूप था वही तुम्हारे में व्यक्त हो गया।

उदारता प्रकट हो गई, स्वाधीनता प्रकट हो गई, प्रेम प्रकट हो गया। उदारता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो गया, स्वाधीनता से अपने लिए उपयोगी हो गया और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी हो गया। तो उदारता, स्वाधीनता और प्रेम में जीवन है। और कहीं जीवन नहीं है। उदारता कहाँ गई भाई? उदार कौन हो सकेगा, जो स्वाधीन होगा। पराधीन कैसे उदार हो जाएगा? और स्वाधीन कौन होगा? जिसे कुछ नहीं

चाहिए, जिसके पास कुछ नहीं है वह होगा स्वाधीन।

अब देखिए न; जिस कमरे में हम ठहरे हैं वह हमारा है, यह कहने की बात है न, लेकिन वास्तव में हम जानते हैं कि यह कमरा हमारा नहीं है। तो ऐसे ही यह शरीर हमारा नहीं है। हमारा कुछ नहीं है, मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए यह जान लेने पर ही हम स्वाधीन हो सकते हैं। और देखिए, स्वाधीन होने से ही अविनाशी जीवन की प्राप्ति होती है। स्वाधीन होने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। स्वाधीन होने से ही उदारता और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

स्वाधीन होने में हम पराधीन है क्या? कोई पराधीन नहीं है। लेकिन यह बात हम सोचते हैं क्या? हम यह बात पसन्द नहीं करते कि स्वाधीन होने में हम स्वाधीन है और किसी बात में हम स्वाधीन नहीं हैं। पराधीनता को बनाए रखने में हम स्वाधीन नहीं हैं। मैं हमेशा बोलता रहूँ, इस बात में मैं स्वाधीन हूँ क्या? आप हमेशा सुनते रहें, इस बात में आप स्वाधीन हैं क्या? बोलने और सुनने में हम स्वाधीन नहीं हैं। जब तक हमें बोलना बाकी है, सुनना बाकी है तब तक तो हमें बोलना-सुनना चाहिए। जब तक बुराई नहीं छोड़ते तब तक कुछ कहना बाकी रहता है। बुराई छोड़ने से करना पूरा हो जाता है। जब करना पूरा हो जाता है तब हम अचाह हो जाते हैं, निर्मम हो जाते हैं, अहंकृति-रहित हो जाते हैं, अर्थात् स्वाधीन हो जाते हैं।

और जब स्वाधीन हो जाते हैं तब स्वाधीनता जिसका स्वरूप है, उदारता और प्रेम जिसका स्वभाव है उस परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। जो स्वाधीन है उसी को परमात्मा कहा। संसार स्वाधीन हो सकता है क्या? नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा स्वाधीन है इसलिए परमात्मा परम उदार है और परम प्रेम का भण्डार है। तो अगर हमें परमात्मा को पाना है तो बिना स्वाधीन हुए परमात्मा मिल सकता है क्या?

स्वाधीन कोई धीरे-धीरे होगा क्या? किसी के द्वारा होगा क्या? किसी के द्वारा हो ही नहीं सकता। अच्छा, अचाह होने से स्वाधीन हो जाएगा या नहीं? निर्मम होने से हो जाएगा या नहीं? अहंकृति-रहित होने से हो जाएगा कि नहीं? मेरा कुछ नहीं है, यह बात जान लेने से, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह बात मान लेने से, प्रभु अपने में हैं, अभी हैं-यह मान लेने से आप स्वाधीन नहीं हो जाएँगे क्या? स्वाधीन होने से ही जीवन की पूर्णता

होगी। और किसी प्रकार जीवन की पूर्णता हो नहीं सकती।

अब आप विचार करके देखिए। जितने देर तक आप यह अनुभव करेंगे कि मेरा कुछ नहीं है उतनी देर आपको कोई भय पैदा होगा? कोई भय बताओ। अच्छा जब तक आप यह अनुभव करेंगे कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो कोई अशान्ति बताओ। मुझे कुछ नहीं करना है जब तक यह बात है, तब तक पराधीनता रहती है क्या? मेरा कुछ नहीं चाहिए, तब तक अशान्ति रहती है क्या? मेरा कुछ नहीं है, तब तक कोई भय रहता है क्या? तो भय, अशान्ति और पराधीनता मिट सकती हैं या नहीं? मिट सकती है। तो इसके लिए उपाय क्या है? मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, प्रभु अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं।

अब विचार करके देखो जो अपने में है उसकी प्राप्ति के लिए कोई परिश्रम चाहिए? कोई परिश्रम नहीं चाहिए। अहंकृति का नाश होगा कब? जब आप यह मान लेंगे कि प्रभु अपने में हैं, अपने हैं, अभी है। यह मानने की बात हुई। मेरा कुछ नहीं है-यह जानने की बात हुई। मुझे कुछ नहीं चाहिए मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है, यह अपनी मर्जी की बात हुई। चार बातें हो गई-मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है-ये तीन बातें अपने द्वारा निर्णय करो, अपने लिए करो। और चैथी बात मान लो-प्रभु अपने में हैं, अपने हैं और अभी हैं।

अगर किसी को परमात्मा पाना हो और संसार से मुक्त होना हो तो उसे ऐसी बात बताओ कि एक बात में बेड़ा पार हो जाए। कुछ मत चाहो, कुछ मत करो, अपना करके कुछ मत रखो-इन तीन बातों से क्या होगा कि परमात्मा की तो प्राप्ति हो जाएगी और संसार की निवृत्ति हो जाएगी। हो जाएगी कि नहीं? यह बात समझ में आ गई?

संसार में रहना हो तो बुराई-रहित हो कर रहो। बुराई-रहित होना यह संसार की सबसे बड़ी सेवा है। यह संसार में रहने का तरीका है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है यह अपनी सेवा है। प्रभु अपने हैं, अपने में है और अभी हैं यह परमात्मा की सबसे बड़ी सेवा है।

परमात्मा को अभी न मानना, बड़ी भारी भूल होगी, अपना न मानना उससे बड़ी भूल होगी और अपने में न मानना सबसे बड़ी भूल होगी। परमात्मा के साथ हमारे जो ताल्लुकात हैं, जो सम्बन्ध हैं वे आत्मीयता के सम्बन्ध हैं। डॉक्टर

साहब, सुन रहे हैं आप? यानी परमात्मा को अपना न मानना, अपने में न मानना और अभी न मानना यह बड़ी भारी भूल होगी। परमात्मा अपना है, अपने में है और अभी हैं, यह मानो, यह करने की बात नहीं है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है, यह जानो। और बुराई छोड़ कर संसार में रहो। इन तीन बातों से हृदय की आँखें खुल जाएँगी। प्रभु अपने में है, अभी हैं, अपने हैं इससे परमात्मा मिल जाएगा।

धर्म विज्ञान

मैंने यह कहा कि सुख का भोग मत करो; सेवा करो। आप जिस आफिस में रहते हैं, आपकी जो ड्यूटी है, उसे पूरा कीजिए। उसके बदले में जो वेतन मिलता है उसे परिवार को दीजिए और परिवार से जो टुकड़े मिलें, खा लीजिए। अधिकार मत जमाइये। जिसमें अधिकार-लोलुपता नहीं होती, कर्त्तव्य परायणता होती है, उसे कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसा मान लीजिए, मैं निवेदन कर दूँ आपसे, ऐसा मान कर चलिए कि मुझ पर सबका अधिकार है, सारे संसार का अधिकार है। और उस अधिकार की रक्षा के लिए मुझे जानी हुई और की हुई बुराइयों से रहित होना है।

फिर जो सुख-सुविधा आपके पास आए, जो बल आपके पास आए, उसके द्वारा आवश्यक कार्य करना है। आवश्यक कार्य का मतलब है, जो ज्ञान के अनुसार हो, जो सामर्थ्य के अनुसार हो, जो समाज की माँग हो। समाज ने जो आपको ड्यूटी सौंपी है, उसे आप ठीक प्रकार से कीजिए। 8 घण्टे, 10 घण्टे, 12 घण्टे, समाज का ठीक काम कीजिए परन्तु यह मान कर मत कीजिए कि मेरा काम है। यह मान कर काम कीजिए कि मैं जो काम कर रहा हूँ, यह समाज का काम है और समाज का मालिक परमात्मा है। तो परमात्मा के होकर परमात्मा का काम कीजिए।

यदि इस भाव से आप काम करेंगे तो कार्य के अन्त में प्रियता का उदय होगा। जीवन में अगर आप परमात्मा से दूरी अनुभव करते होंगे तो उसकी स्मृति जाग्रत होगी और समीपता का अनुभव करते होंगे तो प्रियता की जागृति होगी। तो भगवत्-स्मृति और भगवत् प्रियता कार्य के अन्त में स्वतः उदित होनी चाहिए। यह प्रियता प्रभु तक पहुँचती है और प्रभु उस प्रियता को पाकर उसे कई

गुना अधिक करके आपको ही दे देते हैं।

लेकिन कठिनाई क्या होती है कि अपने कर्त्तव्य पर ध्यान न देकर बीच-बीच में अपने अधिकार माँगने लगते हैं। उसका अभिमान भी कर लेते हैं, उसमें फलासिक्त भी रख लेते हैं। तब यह कठिनाई आ जाती है। इसे आप विचार करके देखिए। जिसे बुराई नहीं करना है, उसके सामने क्या कठिनाई? जिसे की हुई भलाई का फल नहीं चाहिए, उसे क्या कठिनाई है? कठिनाई तो तब होती है जब हम कोई बुराई करें। या भलाई का फल माँगे तो कठिनाई पड़ेगी। या भलाई का अभिमान करें तो कठिनाई पड़ेगी। तो बुराई करना नहीं है, भलाई का अभिमान और फल माँगना नहीं है, प्रभु को प्यार देना है। उनसे भी कुछ चाहिए नहीं। संसार की वस्तु से संसार की सेवा करना है, उसके बदले में संसार से कुछ चाहिए नहीं तो कठिनाई क्या पड़ेगी।

आप विचार करके देखो, आपके पास जो कुछ वस्तु है, जो कुछ योग्यता है जो कुछ सामर्थ्य है वह मिली हुई है। आप आज काम करने योग्य है, किन्तु इतने ही बड़े पैदा नहीं हुए थे। जब आप पैदा हुए तब आप कुछ करने के योग्य नहीं थे। आपको नर्सिंग मिली, आपको खुराक मिली, आपको शिक्षण मिला तब आप कुछ करने के लायक हुए। जब आप करने के लायक हुए तब आप समाज के अधिकारों की रक्षा करने से अपने को बचाते हैं और उसका बदला चाहते हैं; उसका अभिमान करते हैं। तब आपके सामने कठिनाई आती है। नहीं तो जो मिला था उसको वापस करते रहो। प्रभु के होकर रहो, प्रभु को अपना मानो इतनी-सी तो बात है।

यदि ऐसा नहीं करोगे और सुख भोगोगे तो सुख भोगने से दो बातें सामने आ जाएँगी। एक तो भोगने की शक्ति का ह्रास हो जाएगा और एक भोग-सामग्री का विनाश हो जाएगा। तब क्या करोगे? तब क्या दशा होगी? भोग की रुचि रह जाएगी और भोग नहीं रहेगा। इसी को तो अभाव कहते हैं। इसी को पराधीनता कहते हैं। भोग की रुचि न रहे, आपको अभाव का अनुभव न हो इसीलिए मैंने कहा कि सुख का भोग मत करो और दुःख का सदुपयोग करो।

सुख-दुःख दो अवस्थाएँ हैं। ये दोनों ही साधन-सामग्री है। सुख आता है उदार बनाने के लिए, दुःख आता है विरक्त बनाने के लिए। दुःख आने पर अचाह हो जाओ; सुख आने पर उदार हो जाओ। अगर तुम उदार हो जाओ तो सुख के बन्धन से छूट जाओगे। अगर तुम अचाह हो जाओ

तो दुःख के भय से छूट जाओगे। अगर अचाह होना ही नहीं चाहते, उदार होना ही नहीं चाहते तो दुःख मजबूर होकर भोगना पड़ेगा, यह मैंने कहा है।

कठिनाई का प्रश्न तो तब तक है, जब तक आप इस सत्य को स्वीकार नहीं करते कि मुझे सुख में उदार होना चाहिए, दुःख में अचाह होना चाहिए और प्रभु के लिए प्रेमी होना चाहिए। ये तीन बातें अपने सामने रखिए, कि मेरे पास सुख आएगा तो मैं सेवा करूँगा, दुःख आएगा तो अचाह हो जाऊँगा और प्रभु का प्रेमी होकर रहूँगा। न मुझे प्रभु से कुछ चाहिए और न संसार से कुछ चाहिए।

अचाह हुए बिना तो काम बनेगा नहीं। और अचाह होना कोई बातों से थोड़े ही आएगा। जब ज्ञानपूर्वक यह विचार करोगे कि मेरा करके इस संसार से कुछ है नहीं। क्यों? अगर मेरा कुछ होता तो मेरे साथ रह सकता था या मैं इसके साथ रह सकता था। तो किस भाई का, किस बहन का यह अनुभव नहीं है। कौन भाई-बहन यह नहीं जानते कि संसार की कोई वस्तु सदैव मेरे साथ नहीं रह सकती। जो प्यारी से प्यारी वस्तु हो, प्यारा से प्यारा व्यक्ति हो, कितना ही अच्छा लगता हो लेकिन जब नींद लगती है तब आप उसे छोड़ देते हैं। तब यह नहीं कहते कि अब हम सोएँगें नहीं, आपस में बातें करेंगे। या वस्तु को देखते रहेंगे या इसका उपयोग करेंगे। ऐसा नहीं होता।

तो वस्तु के बिना आप रह सकते हैं, वस्तु आपके बिना रह सकती है। यह आपका दैनिक जीवन का अनुभव है। यदि अपने अनुभव का आप आदर करना चाहें तो अचाह होना आपके लिए जरूरी हैं। अचाह होकर ही मिली हुई वस्तु का उपयोग कर सकते हैं-दुरुपयोग नहीं सदुपयोग कर सकते हैं। अचाह होने पर आपका परिवार आपसे प्रसन्न हो जाएगा, आपका समाज आपसे प्रसन्न हो जाएगा। कोई बाधा नहीं डालेगा। और अचाह होने से आप स्वयं भी प्रसन्न हो जाएँगे। आपको फिर कोई बाधा नहीं सताएगी। लेकिन कठिनाई तो यह है कि मिली हुई वस्तु है, समाज की दी हुई है और समाज को देते समय आप उसका अभिमान करते हैं। आप उसका फल माँगते हैं। आप उसके बदले में कुछ मान चाहते हैं, सो कैसे चाहते हैं? यह गलती होती है। नहीं तो अगर मेरे पास अपना कुछ नहीं है, तो मुझे काहे का भय होगा? अगर मुझे कुछ नहीं चाहिए तो मुझे काहे की अशांति होगी? आप

देखिए न, भय का कारण क्या है। जब मैं यह मान लूँ, मेरे पास भी अपना कुछ है तब ही भय पैदा हो सकता है। उसके न रहने का भय हो जाएगा, उसके छिन जाने का भय हो जाएगा, उसके बिगड़ जाने का भय हो जाएगा। अगर मैं यह मान लूँ कि मिला हुआ शरीर मेरा तो नहीं है, जिस प्रकृति से मिला है, जिस प्रकृति से बना है उसी में लय हो जाएगा तो भय का प्रश्न ही नहीं होगा। हाँ, उसके उपयोग में मेरा अधिकार है। अतः मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य जो भी है आपके पास, जितनी भी है- उसका सदुपयोग कीजिए। उससे किसी को हानि मत पहुँचाइये। दूसरे के काम आइये, इतनी-सी बात है।

इसका नाम है धर्म विज्ञान। यही संसार आपसे चाहता है कि आप उसके काम आएँ। आपका परिवार भी यही चाहता है कि आप उसके काम आएँ। आपका समाज भी चाहता है कि आप उसके काम आएँ। आप यह मत चाहिए कि समाज भी मेरे काम आए, परिवार भी मेरे काम आए।

अब आप कहेंगे कि मैं तो परिवार-समाज के काम आया और परिवार-समाज मेरे काम नहीं आया, तो उससे हानि क्या होगी; किसको हानि होगी? अगर आपका परिवार आपके शरीर की ठीक प्रकार से आवश्यकता पूरी नहीं करता, जो उसे करना चाहिए, तो उसका शरीर अधिक नहीं चलेगा। नहीं चलेगा तो हानि समाज की होगी, तुम्हारी क्या हानि होगी? लेकिन तुम इसे अपनी खुराक मत बनाओ कि मेरे परिवार को मेरे शरीर की सेवा करनी चाहिए। ऐसा प्रलोभन मत रखो। तब तो कोई कठिनाई होगी नहीं और प्रलोभन रखोगे तो अनेक कठिनाइयाँ होगी ही।

कठिनाई का मूल हुआ अपनी अधिकार-लोलुपता अथवा कठिनाई का मूल हुआ दूसरे का अधिकार न देना। अथवा कठिनाई का मूल हुआ, जो नहीं कर सकते उसे करने की सोचना और जो कर सकते हैं, उसको न करना और जो नहीं करना चाहिए, उसे कर बैठना। इन बातों से ही जीवन में कठिनाई आती है। वास्तव में जो नहीं कर सकते उसे तो करना ही नहीं है और जो नहीं करना चाहिए उसको भी करना नहीं है। तो जो नहीं करना चाहिए उसे जब आपने छोड़ दिया तो आप बुराई रहित हो गये। और जो कर सकते हैं तथा जो करना चाहिए उसमें कठिनाई होती नहीं। उसका फल और अभिमान छोड़ दिया तो आप अचाह हो गए।

कर्त्तव्य-परायणता से मानव को योग की प्राप्ति होती है और अचाह होने की सामर्थ्य आ जाती है। अचाह हो जाना आध्यात्मिक जीवन की बात है। कर्त्तव्य-परायणता जो है, यह भौतिक जीवन की बात है। शुरू में दो बातें कहीं। आप जिस परिस्थिति में हैं, जहाँ हैं, जैसे हैं, जो कार्य आपके सामने है उसे कर्त्तव्य-बुद्धि से करो, अथवा साधन बुद्धि से करो अथवा भगवत् नाते करो। अगर प्रभु विश्वासी हैं तो उस काम को भगवान का समझ कर करो, अगर अध्यात्मवादी है तो साधन-बुद्धि से करो और अगर भौतिक वादी हैं तो संसार का समझ कर करो। तो साधन-बुद्धि से काम करने पर भी करने के राग की निवृत्ति हो जाएगी, कर्त्तव्य-बुद्धि से काम करने से भी करने के राग की निवृत्ति हो जाएगी, भगवत् नाते काम करने से भी करने का राग की निवृत्ति हो जाएगी।

सही काम करो और न करने की स्थिति प्राप्त करो। करने का भी अन्त होना चाहिए न। तो सही काम करने के बाद करने का अन्त होगा। न करने की स्थिति को ही योग कहते हैं। इस योग में ही बोध और प्रेम है। योग होता है परमात्मा के साथ। भोग होता है संसार के साथ। तो योग को पसन्द करो, भोग को नापसन्द करो। भोग को नापसन्द करने पर संसार का सम्बन्ध तो टूट जाएगा और कर्त्तव्य मात्र रह जाएगा। संसार का सम्बन्ध टूट जाने पर भी कर्त्तव्य पूरा कर सकते हैं। कर्त्तव्य को ही धर्म कहते हैं। उसी का नाम धर्म-विज्ञान है। यही वास्तविक भौतिक विज्ञान है।

धर्मात्मा की माँग संसार को रहती है, धर्मात्मा को संसार की माँग नहीं रहती। क्योंकि धर्मात्मा किसी के अधिकार का अपहरण कर सकता नहीं अपितु सभी के अधिकारों की रक्षा करता है। और वह स्वयं अधिकार-लोलुपता से मुक्त होता है। संसार की जरूरत आपको न रहे और संसार आपकी जरूरत अनुभव करे यह है जीवन का शुद्ध भौतिकवाद। इसको कहते हैं दुनिया में रहने का सही ढ़ग। आफिस पसन्द करे आपको, समाज पसन्द करे आपको और संसार से कुछ मतलब न रहे क्योंकि आपको अपने लिए जो चाहिए, वह तो आप में ही मौजूद है।

अध्यात्मवाद ने हमें यह प्रेरणा दी कि हमें जो चाहिए, वह हम में ही मौजूद है। इसलिए हमें संसार से अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। अब अगर आप इस सत्य को अपने जीवन में अनुभव कर लें, कि भई संसार मुझे क्या दे सकता है। जैसे आपको

अविनाशी जीवन चाहिए तो सारी दुनिया मिल कर आपको अविनाशी जीवन नहीं दे सकती। आपको स्वाधीन जीवन चाहिए, संसार से आपको स्वाधीन जीवन नहीं मिल सकता, अविनाशी जीवन नहीं मिल सकता, तो आपको जो चाहिए, वह संसार से आपको नहीं मिल सकता। इसका मतलब क्या है कि जो आपको चाहिए वह आपमें है। जो वस्तु रूप से, सामर्थ्य रूप से, योग्यता रूप से आपको मिला है उसे आप संसार की सेवा में लगा दो। इतनी-सी ही तो आपकी जिम्मेदारी हैं।

अगर मान लीजिए संसार असन्तुष्ट होता है और अधिक की माँग करता है तो ईमानदारी से कह दो कि भई, जो कुछ हमारे पास था वह हमने लगा दिया, अब हम क्षमा चाहते हैं तो संसार नाराज नहीं होगा। न परिवार आपसे नाराज होगा। लेकिन जब परिवार से आप कहते हैं कि हम तो आठ घण्टे काम करते हैं बारह घण्टे काम करते हैं और तुम हमारी यह खिदमत करते हो। तब आप भी दुःखी हो जाएँगे और परिवार में भी खिन्नता आ जाएगी। परिवार वालें कहेंगे-देखो ये हम पर अभिमान दिखाते हैं, अपने धर्म का पालन करते हैं और हम पर एहसास लादते हैं। तो अपनी की हुई भलाई का अभिमान मत करो, एहसास मत जताओ।

आजकल के माँ-बाप क्या कहते हैं, हम बच्चों को खिलाते हैं, पालते हैं। जरा सोचो, तुमने बच्चों को पैदा क्यों किया। बच्चा तुम्हारे बिना, तुम्हारी मर्जी के बिना पैदा हो गया? लायक नहीं है, नायलक सही। तुमने पैदा करते समय कौन से संस्कार रखे थे? सोचना चाहिए जो बच्चा काम से पैदा हुआ है वह कामना वाला ही होगा। और कुछ हो ही नहीं सकता। निष्काम होकर थोड़े ही सन्तान पैदा की है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि समाज के अधिकार की रक्षा करो, परिवार के अधिकार की रक्षा करो, संसार के अधिकार की रक्षा करो, धर्मशास्त्र में तो यहाँ तक लिखा है। मैं वेद मंत्रों की बात बोल रहा हूँ। वेद-मन्त्र धर्मशास्त्र के ऊपर की चीज है वह तो अनादि और ईश्वरीय चीज है। उसमें तो यहाँ तक लिखा है कि जो पति अपनी पत्नी को दूना प्यार नहीं करता, वह चार जन्म तक स्त्री बनता है। इसका मतलब क्या है? स्त्री को प्यार दो, बच्चों के हित के लिए अपना सुख छोड़ दो। इतनी-सी तो बात है। समाज को हानि पहुँचाकर परिवार का पोषण मत करो। समाज को बिना हानि पहुँचाये परिवार की सेवा करो। परिवार की सेवा करके

शरीर के लिए अधिकार मत जमाओ। अपने शरीर की जरूरतों को परिवार की मर्जी पर छोड़ दो तब देखो तुम्हें कितनी शान्ति मिलती है।

तुम अपने मन का खाना चाहते हो, अपने मन का पहनना चाहते हो और सारे परिवार पर हकूमत करना चाहते हो, उसमें अपना सुख की देखना चाहते हो। तब पग-पग पर कठिनाई है। सुख क्या है? दूसरे लोग मेरे काम आते रहें इसका नाम सुख है। सेवा क्या है? मैं दूसरों के काम आता रहूँ इसका नाम है सेवा। सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है क्योंकि उसने पहले ही अपनी प्रसन्नता दूसरों पर निर्भर कर दी।

यह सम्भव नहीं है, कि संसार बेमन का हो जाए और आपके मन की बात पूरी कर दे। हाँ, आप अगर चाहें तो संसार के मन की वह बात-जो ज्ञान के अनुरूप हो, सामर्थ्य के अनुरूप हो-उसको आप पूरी कर दें। देखिए, वैसे तो सारा संसार मिल कर कोशिश करे तो एक आदमी के मन की बात भी पूरी नहीं कर सकता। हो ही नहीं सकती कभी। लेकिन अगर आप चाहें तो अपने सम्बन्धियों के मन की उन बातों को, जो ज्ञान के और सामर्थ्य के अनुसार है, उनको आप पूरा कर दें। जो सामर्थ्य-विरोधी हों उनके लिए क्षमा माँग लो, जो ज्ञान विरोधी है उनके लिए इनकार कर दो। भई, हम ज्ञान-विरोधी काम नहीं कर सकते हमें क्षमा कर दिया जाए, यह हमारी सामर्थ्य के विरुद्ध है इसे हम नहीं कर सकते। यह मत कहना कि तुम्हारी माँग गलत है। ऐसा कहने से तो झगड़ा हो जाएगा? माँग गलत मत बतलाओ। अधिकार किसी के ऊपर मत करो। अधिकार करोगे तो मार खाओगे। किसी को रोक नहीं सकते। कहते रहिए, दुःखी होते रहिए। हाँ, सलाह दे सकते हैं मित्रवत्।

शासन से, कानून से, समझाने से बेसमझी मिटी नहीं है अभी तक। परिवार आपको भूखा मार दे तब तकलीफ कम होगी और लड़भिड़ कर खा लोगे तो अधिक तकलीफ होगी। क्योंकि भूखे मरने से तो शरीर को ही तकलीफ होगी और लड़-भिड़ कर खाने से मन को तकलीफ होगी। और मन तो मरने के साथ भी साथ चलेगा। मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ। मैंने अनुभव करके देखा है। पंडित जी मैं आपसे निवदेन करता हूँ-मैं भी तो परिवार में ही रहता हूँ। परिवार के बाहर थोड़े ही रहता हूँ। (पंडित जी ने कहा-मैंने भी कई अनुभव किए हैं, परिवार के अन्दर ऐसी-ऐसी बातें आ जाती हैं जो

बिल्कुल असह्य होती हैं। उनका त्याग करना चाहिए या उनकी बात मान लेनी चाहिएऋ। पंडित जी के प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामी जी ने कहा, कि मैं आपसे निवेदन करता हूँ-त्याग क्या करना चाहिए, अपना कोई है ही नहीं। त्याग तो तब करें जब अपना कोई हो। ईमानदारी की बात तो यह है कि पहले ही मान कर चलो कि मेरा कुछ नहीं है, फिर मेरे को कुछ नहीं चाहिए। आप अनुभव करके देख लो। अगर आप बच्चे को सुधार सकते हैं तो सुधार लो। हमने सुधरते देखा नहीं है।

हमारा यह विश्वास रहा है कि कानून बना कर सरकार नहीं सुधार सकी, समझा-बुझा कर माँ-बाप नहीं सुधार सके, और लिखा-पढ़ा कर गुरु नहीं सुधार सके। किसको? जो नहीं सुधरना चाहता उसको। और जो सुधरना चाहता है, उसी को आपका समझना काम आता है। तो वह तो सुधर ही जाएगा। सुधरे हुए जीवन का भी तो प्रभाव पड़ता है।

ऐसी बात थोड़े ही है कि दूसरा आदमी इतना हृदयहीन हो जाएगा कि आप भलाई करते रहेंगे, आप अधिकार छोड़ देंगे तो उसके जी में आपके अधिकार का ख्याल नहीं आयेगा। ऐसा नहीं होता। यह नहीं समझना चाहिए कि दूसरे लोग इतने बुरे हो गये हैं, इतने नीच हो गये हैं कि उनमें अच्छाई का अंश नहीं रहा सो बात नहीं है। वह आपके सुधरे हुए जीवन से सँभल जाए तो सँभल जाए नहीं तो आपको ही कौन परवाह पड़ी है। मान लो, अगर आपके शरीर से जल्दी छुट्टी मिल गई, तुम्हारा क्या बिगड़ गया। संसार हमको खाना न दे तो हमारा उससे कुछ बिगड़ता नहीं है। क्या बिगड़ेगा? खाते-खाते नहीं मरते क्या? बिना खाये मर गये। कपड़ा पहन कर मरे या नंगे मर गये। कमने में पलँग पर मरे या जमीन पर मर गये। इसमें कोई खास फर्क नहीं पड़ता है।

एक बात मेरे गुरु ने बताई है। मैं उनकी बात में कभी सन्देह नहीं करता हूँ और उस बात मैं जितना मानता हूँ, उतना ही मुझे सत्य मालूम होती है कि अगर मनुष्य सचमुच स्वाधीन हो जाए, आजाद कहो, स्वाधीन कहो, अचाह कहो तो यह जो प्रकृति है, जड़ प्रकृति है-वृक्ष, फल, फूल खूँख्वार जानवर आदि, ये भी रक्षा करने लगते हैं। यह गुरु वाक्य है। जीवन का सत्य है।

मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि आपको दूसरों के लिए उदार होना है, अपने लिए स्वाधीन होना है, प्रभु के लिए प्रेमी होना है। प्रेमी होने

में आपको स्वाधीनता है। अब परमात्मा आपके प्रेम को पाकर क्या करेगा, इसकी बिल्कुल परवाह मत करो। स्वाधीन होने में आपको स्वाधीनता है, उदार हो सकते हैं, तो संसार के काम आ जाएँगे। प्रेमी हो सकते हैं तो प्रभु के काम आ जाएँगे और स्वाधीन हो सकते हैं तो अपने काम आ जाएँगे। और इनमें से कोई एक होने से तीनों हो जाएँगे। इन तीनों में से पहले आपको स्वाधीन होना पड़ेगा।

स्वाधीन होने के लिए भूखा नहीं मरना है, नंगा नहीं रहना है और घर छोड़ कर बन में नहीं जाना है। ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करना है कि मेरा कुछ नहीं है और दृढ़तापूर्वक निर्णय करना है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। जिसे कुछ नहीं चाहिए वह बड़ी सुगमतापूर्वक स्वाधीन हो जाता है। जिसका कुछ नहीं है उसी का यह निर्णय होता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। निर्मम होने से ही निष्काम होने की सामर्थ्य आती है। और निष्कम होने से ही असंग होने की सामर्थ्य आती है। ऐसा नियम ही है।

असंग होने पर आप जीवन-मुक्ति का आनन्द लीजिए, निष्काम होकर शान्ति का आनन्द लीजिए, निर्मम होकर निर्विकारता का आनन्द लीजिए। तो निर्विकारता का सौन्दर्य, निष्कामता का ऐश्वर्य आपको प्राप्त हो सकता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए उसके समान कौन महान् हो सकता है? संसार में सबसे महान् वही है जिसे कुछ नहीं चाहिए। तो मैं यह निवेदन कर रहा था, कि ज्ञानपूर्वक निर्मम होकर, निष्काम होकर, असंग होकर अपने में अपने को सन्तुष्ट कीजिए।

अपने में अपने को जो सन्तुष्ट करना है यही जीवन-मुक्ति है और इसी से भगवत्-प्राप्ति भी होती है। क्योंकि परमात्मा सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से अपने में है, सभी का होने से अपना है। उसे परमात्मा नहीं कहते जो अभी न हो, उसे परमात्मा नहीं कहते जो अपना न हो, उसे परमात्मा नहीं कहते जो अपने में न हो। तो परमात्मा अभी है, अपना है, अपने में है। अभी होने से भविष्य की आशा क्या करोगे भाई? और अपने में होने से बाहर कहाँ खोजोगे भाई, और अपना होने से प्यारा लगेगा ही। तो प्रियता और समीपता वर्तमान की बात है।

संसार के जितने काम होते हैं वे भविष्य की आशा पर टिके रहते हैं, लेकिन परमात्मा की प्राप्ति की यह बात नहीं है। यह वर्तमान की बात है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए शरीर की सहायता नहीं चाहिए, वस्तु की

सहायता नहीं चाहिए, सामर्थ्य की सहायता नहीं चाहिए, योग्यता की सहायता नहीं चाहिए। यानी परमात्मा को पाने के लिए आपको कोई सामग्री नहीं चाहिए। जब कोई सामग्री नहीं चाहिए तो शरीर का क्या अचार डालोगे? यह परमात्मा की प्राप्ति में तो काम आएगा नहीं।

शरीर के द्वारा परमात्मा के संसार की सेवा कर दो, यथाशक्ति, यथासम्भव, यथासमय। ये तीन बातें ध्यान रखो। यथा-शक्ति, यथा-सम्भव, यथा-समय शरीर के द्वारा सेवा करो- निकटवर्ती प्रिय जनों की क्रियात्मक सेवा करो और समस्त विश्व की भावात्मक सेवा करो। किसी का बुरा मत चाहो, यह भावात्मक सेवा, किसी को बुरा मत समझो यह भावात्मक सेवा और बुराई मत करो यह भावात्मक सेवा। और यथाशक्ति भलाई करो यह क्रियात्मक सेवा। तो भलाई से परिवार की, समाज की, संसार के अधिकार की रक्षा-यह भलाई होगी। और बुराई-रहित होकर सारे विश्व की, चराचर जगत् की सेवा करो। किसी को बुरा मत समझो, किसी का बुरा मत चाहो और किसी के साथ बुराई मत करो। केवल बुराई न करने मात्र से, बुरा न चाहने मात्र से, किसी को बुरा न समझने मात्र से विश्वसेवा सिद्ध हो जाएगी। आपका चित्त शुद्ध और शान्त हो जाएगा। भलाई करने से परिवार और समाज प्रसन्न हो जाएगा और उसका अभिमान और छोड़ देने से तुम स्वाधीन हो जाओगे। और जब तुम स्वाधीन हो गये, परिवार और समाज प्रसन्न हो गया कि यह विश्व की सेवा हो गई। यही है कर्त्तव्य-विज्ञान अथवा धर्म-विज्ञान।

सच्चा साधक कौन?

ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी वास्तविक आवश्यकता से जूझते रहते हैं। इसी का फल यह होता है कि जो हमारा दायित्व है, उसे पूरा नहीं कर पाते। यद्यपि माँग पूरी होती है; दायित्व पूरा कर सकते हैं; यह प्रभु का मंगलमय विधान है। आप विचार करके देखो-वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का कोई उपयोग नहीं है। कारण कि जिस जीवन की माँग है, वह जीवन किसी श्रमसाध्य उपाय से प्राप्त नहीं होता। इसके लिए विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम चाहिए। यही साधना है माँग की पूर्ति की।

अब विश्राम के लिए देखा जाए, तो आवश्यक कार्य पूरा कर लो और अनावश्यक कार्य छोड़ दो और उसके बदले में कुछ न चाहो तो क्या

विश्राम नहीं मिल सकता? आवश्यक कार्य पूरा कर दो और अनावश्यक कार्य छोड़ दो और उसके बदले में कुछ न चाहो तो विश्राम मिलता है। विश्राम में स्वतः एक ऐसी अलौकिक शक्ति है कि वह हमें स्वाधीनता से अभिन्न करता है और स्वाधीनता प्रेम प्रदान करती है।

अब यह सोचिये कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए कोई वस्तु चाहिए क्या? क्या राय है? "नहीं"। शारीरिक आवश्यकता अपनी वास्तविक माँग नहीं है। शारीरिक आवश्यकता सामाजिक सेवा से स्वतः पूरी होती है। समाज की उदारता से शरीर की माँग पूरी होती है और हमारे करने से शरीर की माँग पूरी नहीं होती। शरीर को बनाए रखने का जो संकल्प है, वह समाज-सेवा के लिए है। शरीर के द्वार परमात्मा की प्राप्ति होती नहीं; शरीर के द्वारा जीवन-मुक्ति मिलती नहीं; शरीर के द्वारा चिरशान्ति होती नहीं।

मैंने बड़ी विनम्रता से आपकी सेवा में निवेदन किया था कि वास्तविक माँग का अर्थ यह नहीं है। भूख का लगना, रोटी का खाना, नींद का आना यह वास्तविक माँग नहीं है। क्योंकि खाते-खाते भी एक दिन न खाने की स्थिति आ जायेगी। इसलिए वास्तविक माँग की चर्चा कर रहा हूँ। और शरीर की जो जरूरतें हैं उनकी पूर्ति दो तरह से होती है-या तो किसी की उदारता से या सामाजिक कार्य से। अगर आप किसी के काम आते हैं तो वह आपके काम आता है। अपनी वास्तविक माँग की पूर्ति के लिए अपेक्षा है विश्राम की, स्वाधीनता की और प्रेम की।

विश्राम के लिए आवश्यकता है आवश्यक कार्य पूरा करना, अनावश्यक कार्य छोड़ देना। आवश्यक कार्य में तीन-चार बातें होती हैं। एक तो सामर्थ्य-विरोधी न हो, अपने ज्ञान के विराध में न हो। जो नहीं करना चाहिए वह आवश्यक कार्य नहीं है और जो नहीं कर सकते वह भी आवश्यक कार्य नहीं है। आवश्यक कार्य उसे नहीं कहते जिसे आप पूरा नहीं कर सकते। जैसे, आप से कोई भी आशा नहीं करेगा कि आप एक लाख रुपया दान दे दीजिए। करेगा कोई? "नहीं", जो आपकी सामर्थ्य-विरोधी है उसके लिए आप क्षमा माँग लें कि यह सामर्थ्य विरोधी है, हम नहीं कर सकते। अगर कोई कहे कि अवश्य करो, तो आप कह सकते हैं कि मैं क्षमा चाहता हूँ, यह ज्ञान विरोधी है। करने वाली बात का ज्ञान और उसकी सामर्थ्य रहती है। जो करने वाली बात है उसका ज्ञान भी रहता है और

उसकी सामर्थ्य भी रहती है। इसलिए आवश्यक कार्य करने में कोई पराधीन नहीं होता। और अनावश्यक कार्य करना ही नहीं चाहिए।

देह का सम्बन्ध कर्त्तव्य के साथ हुआ; योग के साथ नहीं हुआ। हमसे गलती क्या होती है कि हम कर्त्तव्य को तो छोड़ देते हैं। जैसे, भूख लगी, मान लीजिए आपने व्रत ले लिया कि भिक्षा मिलेगी तो मैं भोजन करूँगा, तो मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि क्या भिक्षुक को यह अधिकार है कि हम जैसा चाहें वैसा भोजन मिले? "नहीं"। और जब चाहें तब मिल जाए। अगर आपने भिक्षा का व्रत लिया है तो आपको यह अधिकार नहीं है। हमारा व्रत तो है भिक्षा का और मन में यह बात रहे कि भूख लगी है, भोजन मिलना चाहिए तो यह किसकी भूल है? यह भिक्षुक की भूल है। अच्छा, अब भिक्षुक के पास शरीर है तो पहला व्रत तो यह होगा कि शरीर के द्वारा कोई बुराई न करे, दूसरा व्रत यह होगा कि सभी के प्रति सद्भाव रखे तथा तीसरा व्रत यह होगा कि अगर वह कुछ कर सकता है तो किसी न किसी अंश में समाज की किसी आवश्यकता को पूरा करे। जैसे आपसे कोई कुछ कहे पूछे तो अगर आप जानते हैं तो बता दें और अगर नहीं जानते हैं तो क्षमा माँग लें। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आप किसी भी परिस्थिति में कर्त्तव्य के दायित्व को पूरा कर सकते हैं या नहीं?

देखो, कोई बड़े निवृत्तिपरायण है तो उन्हें भी क्या भिक्षा के लिए आग्रह करना पड़ेगा? उनसे कोई मोह-ममता होगी तो उनसे मिलेंगे? क्या धन कमाने में ही समाज का काम होगा? जो धन नहीं कमा सकते, उन पर भी तो समाज का कोई अधिकार है। कम से कम उनके जीवन में आलस्य दिखाई न दे, बुरे संकल्प उठते हुए न दिखाई दें, उनका कोई संकल्प न रहे। आप विचार करके देखिये अगर निवृत्ति-परायण कोई साधक है तो उसके ऊपर सबसे पहला यह उत्तदायित्व होगा कि उसका अपना कोई संकल्प नहीं रहना चाहिए। अपना संकल्प रख कर कोई भी शान्ति पा सकता है क्या? संकल्प रख कर नहीं पा सकता।

अब कल्पना करो कि अपने में कोई संकल्प नहीं होगा तो उसका क्या फल मिलेगा? जिसका अपना कोई संकल्प नहीं रहता उसकी इन्द्रियाँ अविषय होने लगती हैं; मन निर्विकल्प होने लगता है; बुद्धि सम होने लगती है। तो क्या मन की निर्विकल्पता, बुद्धि की समता,

इन्द्रियों की विषय-विमुखता क्या समाज द्वारा होने वाली हैं या स्वतः होने वाली हैं? स्वतः होने वाली है। तो क्या निवृत्तिपरायण साधक को वह जीवन नहीं मिल सकता जो स्वतः होने वाला है? वह जीवन नहीं मिलेगा क्या? श्रोता-"मिल सकता है।" निवृत्ति परायण साधकों को देखना चाहिए कि हमें क्या वह स्वतः मिलने वाला जीवन मिल गया?

जब तुम बिना करे रह ही नहीं सकते, तो सेवा करने में क्या कठिनाई मालूम पड़ती है? सेवा करने में कठिनाई मालूम पड़ती है, पहरा देने में कठिनाई मालूम पड़ती होती है और चाय बनाने में कठिनाई मालूम नहीं होती। यह क्या तरीका है? तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि समाज इतना उदार है कि जो हम कर सकते हैं, उसको ठीक कर दें और अचाह होकर कर दें तो समाज जो कर सकता है उसके करने से इन्कार किया है क्या? श्रोता-'नहीं किया'। इससे क्या सिद्ध हुआ कि साधक के साथ जगत् की उदारता रहती है, सत्पुरुषों की सद्भावना रहती है, प्रभु की कृपालुता रहती है। तो इस दृष्टि से साधक अनाथ है क्या?

क्या संसार में सभी अपने नहीं हैं किसी न किसी नाते से? अच्छा भाई, अगर सभी को अपना मान लिया तो आँख से देखोगे तो प्यार भरी दृष्टि से देखोगे या वैसे ही देखोगे? श्रोता-'प्यार भरी दृष्टि से'। और वाणी से बोलोगे तो प्यार भरी वाणी से। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि अपने कर्त्तव्य से विमुख होना और समाज से उदारता की आशा रखना क्या यह सम्भव होगा? अच्छा अपने कर्त्तव्य को करना और अचाह होना; तो क्या समाज हमारे लिए अनुदार हो जाएगा?

तो न तो हम अचाह हो पाते हैं और न हम कर्त्तव्य-पालन करते हैं। अचाह भी नहीं हो सकते, कर्त्तव्यपालन भी नहीं करते हैं। अचाह भी नहीं हो सकते, कर्त्तव्य-पालन भी नहीं करते और हम सोचें कि हम तो फक्कड़ हैं। किस बात से फक्कड़ हैं कि जो मिल गया सो खा लिया और काम कुछ नहीं करेंगे। तो मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जो कुछ काम नहीं करता वह विरक्त कहलाता है क्या? अचाह हो कर, शान्त होकर, स्वाधीन हो कर, प्रेमी होकर जीवन बिताओ। तो अचाह पुरुष को, शान्त पुरुष को प्रेमी, पुरुष को, स्वाधीन पुरुष को समाज नापसन्द करता है क्या? नहीं करता।

मानव-सेवा-संघ ने तो एक और अच्छी बात बताई। वह यह बताई कि जो सत्य हमारे अपने जीवन

में आ जाएगा, वह समाज में विभु हो जाएगा। हमारे अचाह होने से समाज में अचाह होने की भावना जागेगी। हमारे प्रेमी होने से समाज में प्रेमी होने की भावना जागेगी। हमारे स्वाधीन होने से समाज में स्वाधीन होने की भावना जागेगी। हमारे निर्मम होने से समाज में निर्मम होने की भावना जगेगी।

निर्ममता की सेवा, निष्कामता की सेवा, असंगता की सेवा, अगाध प्रियता की सेवा। इस साधन-युक्त जीवन के द्वारा ही तो हम सेवा कर सकते हैं। जिसके मूल में यह बात है कि मुझे सेवा करना है, उसके जीवन में किसी प्रकार का भय आ सकता है क्या? चिन्ता आ सकती है क्या? परेशानी आ सकती है क्या? जिसे भूख लगती है और भोजन नहीं मिलता है उसे भय लगता है, चिन्तन होता है। उपाय सोचते हैं तो दूसरों की सेवा करने की बात आप क्यों नहीं सोचते?

एक बार जे॰ कृष्णमूर्ति से, बड़े विचारक हैं आज के युग के, किसी ने पूछा कि आप कहाँ सेवा करते हैं। उन्होंने कहा कि काम तो मैं करता हूँ। समाज के साथ जो मेरा सम्बन्ध है, यह मेरा काम है। समाज में उनसे बात करने को लोग लालायित रहते हैं तो यह समाज-सेवा हुई कि नहीं हुई। मुझे इसी काम से रोटी मिल जाती है अपने आप। शादी क्यों नहीं की? मुझे आवश्यकता नहीं इसलिए नहीं की। और उनका बाहरी चित्र देखा आपने? तो उनका अमेरिका जाना उसी तरह है जिस तरह हमारा आगरा जाना। क्यों? उनके पास निमंत्रण आते रहते हैं। संसार के लोग उनसे बात करने के लिए लालायित रहते हैं तो यह समाज की सेवा हुई कि नहीं? हमारे सामने छोटे-छोटे काम बहुत-से रहते हैं लेकिन हम काम करने के लिए लालायित नहीं रहते। हम तो अपनी जरूरत पूरी करने के लिए लालायित रहते हैं। यदि आपको विरक्त होना है, फक्कड़ होना है तो अपनी जरूरतों को भूलना है कि नहीं। उनको छोड़ना है कि नहीं? हम अपनी जरूरतों को छोड़ेंगे नहीं, दूसरों के काम आएँगे नहीं और समझते है कि हम फक्कड़ हो गये।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि या तो तुम शारीरिक श्रम छोड़ दो। इसकी तलाश करने की क्या जरूरत है कि हम यहाँ जाएँगे, वहाँ जाएँगे, यह करेंगे वह करेंगे। सो तो हम छोड़ते नहीं और समाज के किसी काम में हाथ लगाते नहीं। समाज आपसे यह आशा करता है कि हमें कोई सच्ची बात सुनने को मिलेगी,

हमें जीवन की किसी न किसी समस्या का हल मिलेगा। जैसे-आज कोई दुःखी आ जाए मेरे पास, तो क्या मैं धन के द्वारा उसका दुःख दूर कर सकता हूँ? सो तो नहीं कर सकता। लेकिन मैं उसे उचित परामर्श दे सकता हूँ कि नहीं?

हम तो कहते हैं कि आदमी बैठा रहे चुपचाप और उचित परामर्श देता रहे और इतना ही सब्र करे, ज्यादा नहीं, कि अगर समाज मुझे भूखा देखना चाहता है या भूखा मारना चाहता है तो मैं बड़ी शान्ति से, धीरज से भूखा मर जाऊँगा लेकिन कोई ऐसा काम नहीं करूँगा जो समाज नहीं चाहता है। लेकिन हम ऐसा सोचते ही नहीं हैं। तो कृष्णमूर्ति जी की जरूरत को पूरा करने के लिए समाज लालायित नहीं रहता क्या? क्या राय है? जरूर रहता है। अगर तुम हाथ से तोड़ कर रोटी खा सकते हो तो हाथ से कुछ काम ही कर लो। क्या ऋषि-मुनि सेवा नहीं करते थे? आप बिना सेवा के रह कैसे सकते हैं? बिना त्याग के रह कैसे सकते हैं? बिना प्रेम के रह कैसे सकते हैं। तो सेवा करें नहीं, त्याग करें नहीं, प्रेम करे नहीं, तो साधक संज्ञा कैसे हो जाएगी? हम तो सच कहते हैं आपसे कि हम तो निवृत्ति मार्ग के साधकों के लिए तरसते हैं। कोई माई का लाल मिले तो सही जो निवृत्ति-पथ का साधक हो। आखिर तुम मानव हो। मानव होने के नाते तुम्हारा कोई आदर्श होना चाहिए। जब जिसे जो अच्छा लगा सो ठीक, तो यह पागलपन है कि आदर्श? दृढ़तापूर्वक आप अपने जीवन का रहन-सहन निश्चित कर लीजिए। अपना कोई आदर्श बनाइये। मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त में यह मानसिक रोग है कि प्राप्त का अनादर और अप्राप्त का चिन्तन, अप्राप्त की रुचि और प्राप्त से अरुचि। यही मानसिक रोग है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि यदि आप निवृत्ति-परायण साधक हैं तो यह बहुत अच्छी बात है। मुझे बहुत खुशी है। इससे बढ़कर खुशी की कोई बात हो नहीं सकती कि तुम अचाह हो, अप्रयत्न हो, अचिन्त हो। ये साधक के लक्षण हैं, सिद्ध के लक्षण नहीं होते। 'मेरा कुछ नहीं है' इस व्रत को पहले लें। तब मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है इस व्रत को लें। अचाह होकर अकिंचन होकर; अप्रयत्न होकर, तब क्या होगा। जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है उसका देह से तादात्म्य टूट जाएगा। अचाह होने पर अशान्ति मिट जाएगी। अकिंचन हो जाने पर विकार पैदा नहीं होंगे। तो तुम्हें

निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता मिल जाएगी। इन तीन बातों से।

मेरा कुछ नहीं है यह बात मानने का अर्थ यह होता है, कि शरीर भी मेरा नहीं है। तो शरीर के द्वारा अथवा संसार की वस्तुओं के द्वारा संसार की सेवा करो; यथाशक्ति करो;सामर्थ्य विरोधी मत करो और संसार की मर्जी पर अपने शरीर को छोड़ दो। इतनी-सी तो बात है। निवृत्ति-पथ के साधक क्या करते हैं? अपने जरूरी संकल्पों को संसार के संकल्प पर छोड़ देते हैं और किसी न किसी रूप में मूक होकर, बातचीत करके, अपने चरित्र निर्माण करके समाज-सेवा करते हैं। चरित्र-निर्माण से भी समाज-सेवा होती है; मूक होकर भी समाज-सेवा होती है और अपने जीवन में साधना को अपना कर भी समाज-सेवा होती है।

साधक का अर्थ ही यह है कि जो सभी के लिए उपयोगी हो अथवा किसी के लिए भी अनुपयोगी न हो। अगर आप किसी के लिए अनुपयोगी नहीं होते तो इस सत्य को अपना कर आप हमें दिखाइये, आप काम मत कीजिए, कुछ मत कीजिए, लेकिन यह भी मत सोचिये कि मुझे ठीक तरह से रोटी मिल जाय। जो मिले सो खा लीजिए। यह सिद्ध का लक्षण है कि साधक का? यह साधक का लक्षण है।

मुझे भूख लगी है इस कारण रोटी मिलनी ही चाहिए और आदपूर्वक मिलनी चाहिए और काम करने में सोचते हैं कि मेरा जी नहीं लगता, मैं कैसे करूँ? यह जो मानव-सेवा-संघ में काम लगाए गए, हम भी तो निवृत्ति-पथ के साधक है तो इसलिए थोड़े ही काम लगाए गए कि आपको काम करना ही है। वह तो इसलिए लगाए गए कि, ईमानदारी से पूछा जाए तो, आपसे काम किए बिना रहा नहीं जाता। यह आपका भ्रम है कि बिना करे रह सकता हूँ।

अगर कोई आदमी बिना कर करे रह सकता है तो बड़ी सुन्दर जात है। मत करो। लेकिन बिनाकरे नहीं रह सकते तो गलत काम मत करो।

मेरा ध्यान कब लगता है, मुझमें अच्छे विचार कर उठते हैं? जब मैं अकेला घूमता हूँ तब उठते हैं। मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप अकेले कैसे घूमोगे? तुम जिस रास्ते पर चलते हो, और नहीं चलते उस पर? क्या राय है? श्रोता- 'परिस्थितिवश ऐसा होता है।' परिस्थिति से क्या मतलब? श्रोता- 'बात करते हैं।' बात कुछ नहीं करते बोले बिना तुमसने रहा नहीं जाता।

तुम दूसरों के दोष देखते रहते हो और अकर्मण्य रहते हो। मैं आपसे कहता हूँ कि आपसे कोई ऐसा आदमी देखा है, जो यहाँ से चला जाए किसी ऐसी जगह जहाँ से लौटे ही नहीं, फिर दोबारा वहाँ पहुँचे ही नहीं। कल्पना तो कर सकते हैं पर करके नहीं दिखा सकते। तो मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि यह मानसिक रोग है, यह विरक्ति नहीं है। विरक्त के पीछे तो दुनिया दौड़ती है। दुनिया उसे पसन्द करती है। यहाँ राम कृष्ण मिशन का एक ब्रह्मचारी विरक्त हो गया है, वृन्दावन में ही रहता है, उसके पीछे दौड़कर ढूँढते रहते हैं लोग उसे। श्रीपाद को ढूँढते रहते हैं लोग। उनकी न तो कोई जगत निश्चित है और न कोई ठिकाना ही।

माँग को जाग्रत करो। मुझे स्वाधीन जीवन चाहिए उसके लिए तुम्हारे मन में व्याकुलता होनी चाहिए। मैं स्वाधीनता के बिना नहीं रह सकता अगर यह माँग जग जाए तब भी तो काम-नाश हो जाएगा। और काम-नाश हो जाय तो माँग पूरी हो जाए। तो साधक को किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना है, न अप्राप्त वस्तु का चिन्तन करना है और न प्राप्त वस्तु, परिस्थिति का दुरुपयोग करना है। फिर देखो मन शान्त होता है कि नहीं, बुद्धि सम होती है कि नहीं और तुम्हारे अन्दर दैवी शक्तियों का उदय होता है कि नहीं। दैवी शक्तियाँ भी उदय हो सकती है।

तो मानव-सेवा-संघ-आश्रम तो एक प्रयोगशाला है। आप बैठकर प्रयोग कर लीजिए। यहाँ यह नहीं है कि वेदान्त सिखाया जाएगा कि तुमको भक्ति सिखाई जाएगी। जो तुम्हारी मर्जी हो तो सीखिए लेकिन प्रयोग करके देखिए।

लोग कहते हैं कि भेद नाश नहीं होता। अरे भेद नाश नहीं होता कि चाह नहीं छोड़ते। बिना अचाह हुए भेद का नाश हो जाएगा? बिना असंग हुए कोई अचाह हो जाएगा? बिना निर्मम हुए कोई असंग हो जाएगा। निर्मम (ममता रहित) हम नहीं होते, निष्काम हम नहीं होते, असंग हम नहीं होते, उदार हम नहीं होते, धर्मात्मा हम होना नहीं चाहते, जीवन मुक्त हम नहीं होना चाहते, भगवद्भक्त हम नहीं होना चाहते तो भेद कैसे मिट जाएगा? भेद क्या बातों से मिट जाएगा?

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आप महानुभवों की यह बात जँचे, रुचे, पसन्द आ जाए तो एक क्षण भी तुम्हारा या तो वृत्ति का एक कण भी न हो, पक्की निवृत्ति या सर्वहितकारी वृत्ति का उदय हो। या

तो सेवा करो या शान्त रहो। तब आपको प्रेम रूपी धन मिलेगा। सेवा और त्याग के बिना प्रेम किसी को नहीं मिलता और प्रेम रूपी धन जिसको प्राप्त हो जाता है तो प्रेम संसार को भी पसन्द है। यदि तुम अध्यात्मवादी हो तो आत्मरति में मिल जाइये, यदि तुम ईश्वरवादी हो तो प्रभु प्रेम में मिल जाइये और अगर तुम भौतिकवादी हो तो विश्व-प्रेम में मिल जाइये।

मैं कहता हूँ कि दुनिया के बड़े-बड़े आदमियों ने सेवाएँ की है, वह प्रेमी होकर की हैं। भगवान बुद्ध के जीवन की बात है कि अंगुलिमाल बड़ा भारी भक्त हो गया। भगवान बुद्ध ने एक स्थान पर चौबीस चातुर्मास किए यानी चौबीस वर्ष तक वहां आते रहे। श्रोता-यह व्यक्तिगत भिन्नता है। हाँ, आपकी व्यक्तिगत भिन्नता यह है कि समाज की कमाई खाते रहो और काम न करो। अरे पंडित जी, सेवा कार्य करने वाला आश्रम से माँगता नहीं है। काम क्या करता है? मौज आ गई तो कर लिया नहीं तो छोड़ दिया। मस्मराम बाबा है। कितना विरक्त आदमी है। कितना घूमा है। अब एक जगह बैठ गया तो मेला लग गया कि नहीं? आप देखिए कितनी सेवा करता है। साधुओं को भोजन मिलता है दोनो वक्त, आरती-पूजा होती है। तो मै। यह निवेदन करना चाहता था कि तुम निवृत्ति मार्ग के साधक बनना चाहते हो तो चाहो तो निवृत्ति परायण हो जाओ चाहे सेवा परायण हो जाओ। निवृत्ति में एक योजन से ज्यादा चलने का निषेध है। ज्यादा से ज्यादा चार कोस चलो। सूर्योदय के बाद चलो और सूर्यास्त से पहले बैठ जाओ। किसी के मठ में मत जाओ, मंदिर में मत जाओ, घर में मत जाओ, आश्रम में मत जाओ। है कोई माई का लाल जो इस प्रकार निवृत्ति मार्ग पर चल सके।

इसलिए मेरा मतलब था- अपनी माँग को न भूलें अपनी जिम्मेदारी को न भूलें। माँग पूरी हो जाएगी और जिम्मेदारी उतनी ही है जितनी तुम कर सकते हो ईमानदारी से। उदार होने की जिम्मेदारी है, स्वाधीन होने की जिम्मेदारी है, प्रेमी होने की जिम्मेदारी है। उदार होने की आवश्यकता अनुभव करो, प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करो, स्वाधीन होने की आवश्यकता अनुभव करो। आपको सफलता अवश्य मिलेगी यह निर्विवाद सत्य है। और इसके साथ प्रभु की कृपालुता, जगत् की उदारता और सन्त की सद्भावना रहती है। साधक अनाथ नहीं है।

साधक को ममता-रहित होना है। ममता शब्द का क्या अर्थ समझा आपने? अगर सभी को अपना मानो तो ममता नहीं कहलाती। और किसी को अपना मानो और किसी को अपना मत मानो इसका नाम ममता है। यह कैसे छूटे? तो इसके सम्बन्धमें दो उपाय बताये हैं। पहला उपाय तो यह है कि अपने ज्ञान के द्वारा इस बात का अनुभव कर लें कि यही अर्थ में मेरा कुछ नहीं है। ऐसी कौन-सी वस्तु मुझे मिली है अथवा ऐसा कौन-सा साथी मुझे मिला है कि जो मेरे बिना न रह सके और जिनके बिना मैं न रह सकूँ। तो जिसका साथ मेरा नित्य सम्मन्ध नहीं रह सकता उसको अपना नहीं मानना चाहिए। उसकी सेवा करनी चाहिए। हमसे गलती क्या होती है कि हम अपना तो मान लेते हैं और सेवा नहीं करते। जैसे-शरीर है यह भी तो सदैव मेरे साथ नहीं रह सकता न मैं इसके साथ रह सकता हूँ। तो मुझे चाहिए कि मैं शरीर की सेवा करूँ, उसे अपना न मानूँ। ऐसे ही सम्बन्धी हैं। सभी सम्बन्ध न तो मेरे साथ सदैव रह सकते हैं और न मैं सदैव उनके साथ रह सकता हूँ। तो सेवा करना और अपना न मानना इससे ममता नाश हो जाती है और इसका फल होता है कि मनुष्य को निर्विकारता प्राप्त होती है। उसके चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं रहता। निर्विकारता प्राप्त होती है। उसके चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं रहता। निर्विकारता बिना निर्ममता के प्राप्त नहीं होती।

अब आप कहेंगे कि प्रियजनों की ममता तो छूट जाएगी सेवा करने से और अपना न मानने से परन्तु सारी सृष्टि की ममता कैसे छुटेगी। सारी सृष्टि की सेवा नहीं की जा सकती। सारी सृष्टि के प्रति सद्भाव रखने से और अपना न मानने से हम सृष्टि के प्रति निर्मम हो सकते हैं। क्रियात्मक सेवा आप सीमित कर सकते हैं न? तो सीमित क्षेत्र में क्रियात्मक सेवा करते हुए सभी के प्रति सद्भाव रखना सम्भव है।

अब सेवा का अर्थ क्या है? सेवा का अर्थ है कि जिसके बदले में हम सुख का भोग न करें। जैसे-आपने कोई सेवा की और मन में ऐसा प्रतीत हुआ कि हम बड़े उदार आदमी हैं, हमने बड़ी सेवाकी है। यह किया, वह किया। अब आपने इससे बड़ सुख लिया तो सेवा नहीं भोग हो गया। भोग और सेवा में यही बड़ा भारी अन्तर है कि सेवा होती है दूसरों के हित के लिए और भोग होताहै अपने सुख के लिए। हम जो कुछ भी करने वाली बात है वह तो करें लेकिन उसके बदले में सुख न भोगें। अबर

सुख भोगेंगे तो उसका नाम भोग हो जाएगा और अगर भोग हो जाएगा तो क्या मिलेगा हमको-मोह और आसक्ति। तो आप सोचिए कि क्या हमें मोह और आसक्ति पसन्द है। अगर हम सुख का भोग करेंगे तो मोह और आसक्ति में आबद्ध हो ही जाएँगे। और अगर सेवा करेंगे तो बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाएँगे। अब सेवा करना चाहिए या भोग करना चाहिए, यह अपने आप देखिए।

सेवा कैसे करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। सामर्थ्य के अनुसार, विवेक के अनुसार सेवा करनी चाहिए। ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार ही सेवा की जाती है।

ज्ञान-विरोधी सेवा करनी नहीं है और सामर्थ्य-विरोधी सेवा कर ही नहीं सकते आप। सेवा का अर्थ होता है अपना सुख बाँटना। किसी की आवश्यकता को पूरा करना तो अपने हाथ में है नहीं, अपना सुख बाँटना हाथ में है। तो हमारे पास सुख की जो वस्तु हो-शरीर का सुख है तो शरीर से सेवा करना, मन से सद्भाव रखना, बुराई-रहित होना। ये सेवा कहलाती है। मन, वाणी, कर्म से अगर हम बुराई-रहित हो जाएँ तो यह सारे विश्व की सेवा कहलाती है। और ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार दूसरों के काम आए जाएँ यह समाज-सेवा कहलाती है और यदि अचाह हो जाएँ तो यह अपनी सेवा कहलाती है। यदि हम प्रभु की प्रियता प्राप्त कर लें तो यह प्रभु की सेवा कहलाती है।

तो विश्व-सेवा भी करना है, समाज-सेवा भी करना है, अपनी सेवा भी करना है और प्रभु की सेवा भी करना है। अब प्रश्न होगा कि हमने अगर बुराई करना छोड़ दिया तो सेवा कैसे हो गई? कोई भलाई तो की नहीं। मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने का फल मिलता है कि हम भले हो जाते हैं। हम भले होते हैं पहले। बुराई छोड़ने से बुराई छोड़ने वाला भला हो जाता है। और भला होने से भलाई स्वतः होती है। तो सेवा हो गई कि नहीं? हम भले हो जाएँ और भलाई न हो यह हो ही नहीं सकता। यह बड़ी गम्भीर बात है। जैसे किसी ने कह दिया कि हम तो बड़े असमर्थ है, हम क्या सेवा करें। हमने कहा कि भैया तुम असमर्थ हो अगर तो बुराई-रहित होना सीखो। मैं मन से भी किसी की बुराई नहीं करूँगा, कर्म से भी किसी की बुराई नहीं करूँगा। किसी को बुरा नहीं समझूँगा तो बुराई-रहित होने से हम भले होते हैं और भले होने से भलाई होती है। और भलाई का फल न चाहने से; अचाह होने से अपनी सेव होती है।

अब तीन बातें हमारी सामने आई। यदि हम अचाह जो जाएँगे तो अपनी सेवा कर पाएँगे और अगर बुराई-रहि हो जाएँगे तो हम 'अहं' की सेवा कर पाएँगे और जब हम भलाई करेंगे तो निकटवर्ती प्रियजनों की सेवा कर पाएँगे। तो समाज की सेवा हुई मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने पर। मन में बुरा ख्याल नहीं है, न बुरा काम करते हैं और न बुरा ख्याल उठाते हैं तो यह 'मैं' की सेवा हुई है।

प्रश्नकर्त्ता-मैं और अहं में क्या फर्क है? स्वामी जी-फर्क यह है कि अहं जो तत्त्व हैं वह समष्टि के लिए कहते हैं, सबको मिला कर जैसे-विश्वोहम्, शिवोहं, 'जगतोहम्'। अहं के अन्दर आ जाता है जगत् और 'मैं' के अन्दर मैं हूँ। तो मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने से विश्व-सेवा हुई तो हम भले हो गये। इस प्रकार विश्व-सेवा से मैं की सेवा हो गई। और जब हम भले हो गए और भलाई होने लगी तो परिवार की सेवा हो गई, समाज की सेवा हो गई। और बदले में कुछ नहीं चाहिए तो यह अपनी सेवा हो गई।

अपनी सेवा क्या होगा कि हम स्वाधीन हो जाएँगे। हमें शान्ति मिल जाएगी। स्वाधीन होना यह अपनी सेवा है। और अगर हम प्रभु को अपना करके स्वीकार कर लेंगे तो प्रभु-प्रेमी हो जाएँगे। और प्रेमी होना प्रभु-सेवा, स्वाधीन होना अपनी सेवा, भलाई करना समाज-सेवा और बुराई-रहित होना विश्व-सेवा।

श्रोता-सेवा करने पर सफलता मिलती है? स्वामी जी-हाँ। मेरे सामने एक ऐसी स्थिति आई। मेरे पास मेरा करके तो कुछ था नहीं। जिनकी सेवा की उन्हीं की था। और वे मेरा आभार मानते हैं, यह तो बड़े दुःख की बात है। मैं क्या बताऊ? सेवा का रहस्य बड़ा विचित्र है। किसी को किसी ने घायल कर दिया। मार-पीट हो गई और वह मरणासन्न स्थिति में हो गया। पुलिस आ गई और उससे पूछा कि किसने मारा? अब उसका उत्तर सुनिये। उसने कहा कि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे मरने से मेरी विधवा माँ को बड़ा कष्ट होगा, मेरी पत्नी को बड़ा कष्ट होगा, मेरे मासूम बच्चों को बड़ा कष्ट होगा। अब मेरे मरने से यह सब कष्ट होगा क्योंकि मैं अब बच नहीं सकता। परन्तु मैं यह नहीं चाहता कि जिसने मुझे मारा है, उसकी माँ को, पत्नी को और बच्चों को कष्ट हो। क्या मानी है इसका? श्रोता-यह तो बहुत बड़ी बात है। स्वामी जी-बड़ी बात तो है न और मान लीजिए कि जिसने मारा था उसका वह नाम ले देता तो वह जिन्दा रह जाता क्या? देखा अपने?

वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा, परन्तु यह क्या है? यह सभी के प्रति सद्भाव अर्थात् विश्व-सेवा है। बुराई-रहित होना सद्भाव है न? तो विश्व-सेवा है यह।

अतः विधान क्या हुआ? बुराई के बदले में क्या करना चाहिए। देखो भलाई तो आदमी तब करेगा, जब वह भला होगा। यह बड़ी पेचीदा बात है। हमसे गलती क्या होती है कि हम बल-पूर्वक भले बनने लगते हैं और भले होते नहीं। जैसे कोई निर्लोभ होगा तो उदार होगा। तो निर्लोभ तो होते नहीं और बल-पूर्वक उदारता दिखाते हैं। तो यह पुण्यकर्म हो जाता है, सेवा नहीं होती।

जब अपना देश स्वतन्त्र हुआ तो मैंने प्रश्न पूछा था डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जी से कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि जब नेता मिनिस्टर हो जाएगा तो सेवक कहाँ से आएगा। अब सोचिए जरा अगर जय प्रकाश भाई मिनिस्टर हो जाते तो आज नेतृत्व कर सकते थे क्या? नहीं कर सकते थे। इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि भलाई आपके द्वारा हुई और आपने उसके बदले में कुछ चाहा नहीं तो आपकी इस भलाई का प्रभाव दूसरों के हृदय पर पड़ेगा कि नहीं? हमारी किसी बात से दूसरों का हृदय यदि बदले तो यह हमारे द्वारा स्थायी सेवा हुई।

विवेक और विश्वास

विवेक का अनादर मत करो अर्थात् जो आप जानते हो सो मान लो। क्या जानते हो, मेरे साथ कोई बुराई न करे। तो तुम किसी के साथ बुराई मत करो। यह साधन हो गया। मेरा कोई बुरा न चाहे, तो भाई, किसी का बुरा मत चाहो। मुझे कोई बुरा न समझे, तो किसी को बुरा मत समझो। यह जीवन का सत्य है। इसका फल क्या होगा? इसका फल यह होगा कि संसार तुमको पसन्द कर लेगा। दूसरी बात क्या है? आप जानते हो कोई ऐसी उत्पन्न वस्तु नहीं है, जो सदैव तुम्हारे साथ रह सके अथवा तुम उसके साथ रह सको। जानते हो कि नहीं? इसलिए मेरा कुछ नहीं है क्योंकि वह मेरे साथ नहीं रह सकता और मैं उसके साथ नहीं रह सकता। यह विवेक का आदर हो गया। इसका मतलब क्या हुआ? बुराई-रहित होने से संसार ने आपको पसन्द कर लिया और मेरा कुछ नहीं है इस बात से आपने संसार को नापसन्द कर दिया। मेरा है ही नहीं तो पसन्द क्या करूँ।

अब आप विचोर करो कि संसार आपको पसन्द करे और आप

संसार को नापसन्द करें, तो इसमें कैसा मजा आएगा? संसार को नापसन्द करने से आप लोभ से, मोह से, अभिमान से, दीनता से, परिच्छिन्नता से विकारों से मुक्त हो गए। आप निर्विकार हो जाएँगे। और संसार आपको इस लिए पसन्द करेगा क्योंकि आप बुराई नहीं करते हैं, किसी का बुरा नहीं चाहते हैं, आप किसी को बुरा नहीं समझते हैं। ऐसा आदमी ही संसार को पसन्द आता है।

यदि आपने यह व्रत लिया है कि मैं तो साधक हूँ। मुझे अधिकार नहीं है किसी को बुरा समझने का। कोई बुरा है या नहीं, यह मतलब नहीं है, इसकी बात नहीं कही गई। मैं साधक हूँ, मैं जानता हूँ कि मुझे कोई बुरा समझेगा तो मुझे बुरा लगेगा। अतः मैं किसी को बुरा नहीं समझूँगा।

मैं किसी का बुरा नहीं चाहूँगा, मैं किसी के साथ बुराई नहीं करूँगा। क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे साथ कोई बुराई करेगा तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा। मेरा कोई बुरा करेगा तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा। तो मैं न किसी को बुरा समझूँगा, न किसी का बुरा चाहूँगा और न किसी के साथ बुराई करूँगा। इसलिए संसार आपको पसन्द कर लेगा। और संसार आपको पसन्द कर लेगा तो तुम्हारा यह शरीर है न, उसके निर्वाह में तुमको बहुत सुविधा हो जाएगी। यानी तुम्हारा भोजन करना भी संसार को अच्छा लगेगा। तुम्हारा कपड़ा पहनना भी संसार को अच्छा लगेगा, तुम्हारा जिन्दा रहना भी संसार को अच्छा लगेगा। यह नियम है, कि संसार जिसे पसन्द कर लेता है यथाशक्ति उसकी सेवा करता है।

यह तो हुआ व्यक्तियों वाला संसार और जो मूल संसार है वह तो सब की सेवा करता ही है। जो बुराई करता है, अगर मूल संसार उसकी सेवा न करे तो वह रह ही नहीं सकता। तो संसार के दो रूप हैं-एक संसार का मूल रूप जिसको प्राकृतिक शक्तियाँ कहते हैं और एक संसार का सामान्य रूप जिसको मनुष्य-समाज कहते हैं, प्राणी-समाज कहते हैं। जो बुराई-रहित हो जाता है, उसको प्राणी-संसार भी पसन्द करता है और अव्यक्त संसार तो सभी को पसन्द करता है। नहीं तो, जो बोलना चाहे और प्रकृति बोलने की शक्ति छीन ले। समष्टि शक्तियों के बिना तो कोई काम होता ही नहीं। मनुष्य की व्यक्तिगत (पर्सनल) शक्ति कोई काम नहीं करती जब तक कि समष्टि शक्ति उसके साथ न हो। समष्टि संसार जो है, अव्यक्त संसार जो है वह तो चोर को भी सूर्य का प्रकाश देता है, चोर भी साँस ले सकता है,

चोर की भी जल प्यास बुझाता है। वह तो सबके साथ उदारता का व्यवहार करता ही है, परन्तु प्राणी-संसार जो है वह उसी के साथ उदारता का व्यवहार करता है, जो किसी के साथ बुराई नहीं करता, किसी को बुरा नहीं समझता और किसी का बुरा नहीं चाहता।

यह ज्ञान का आरम्भ समझ में आया या नहीं? इससे स्थिति क्या पैदा हुई? इसका क्या नाम रखा जाए? अगर जो किसी को बुरा नहीं समझता, किसी के साथ बुराई नहीं करता, किसी का बुरा नहीं चाहता- मैंने यह नहीं कहा कि भलाई करता है या नहीं लेकिन बुराई नहीं करता, मानव-सेवा-संघ की भाषा में वह धर्मात्मा है। धर्मात्मा वह है, जो किसी का बुरा नहीं चाहता, किसी को बुरा नहीं समझता और जो किसी के साथ बुराई नहीं करता। धर्मात्मा को बोध नहीं मिलता, योग मिलता है।

दूसरी बात जो इस बात को जानता है कि मैं सदा संसार के साथ नहीं रह सकता, संसार मेरे साथ सदैव नहीं रह सकता उसको विवेकी बताया। उसको धर्मात्मा के आगे की सीढ़ी बताई कि वह विवेकी है। उसने विवेक का आदर किया और यह जान लिया कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए उसे अपने लिए कुछ करना नहीं होता। उसके द्वारा होने वाली प्रवृत्ति संसार के लिए उपयोगी होती है। तो प्रवृत्ति का संसार के लिए उपयोगी होना यह धर्मात्मा है और मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ नहीं है, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है तो यह विवेकी हो गया। जो विवेकी होता है उसे जीवन-मुक्ति मिलती है। धर्मात्मा को योग मिलता है, विवेकी को मुक्ति मिलती है अर्थात् जीवन-मुक्ति। हालाँकि धर्मात्मा होने में ज्ञान का ही आदर है और मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है, इसमें भी ज्ञान का ही आदर है। विवके का आदर कहो, ज्ञान का आदर कहो, एक ही बात है।

ज्ञान के आदर से आप धर्मात्मा भी हो सकते हैं और ज्ञान के आदर से आप विवेकी होकर मुक्त भी हो सकते हैं। विवेकी होने से आप चिरशान्ति पा सकते हैं, निर्विकारता पा सकते हैं। निर्लोभता, निर्मोहता, निर्ममता, समता, अखण्ड प्रसन्नता यह आपको विवेक के आदर से मिल सकती है। धर्मात्मा होने से आप संसार को प्यारे लग सकते हैं और आपको योग मिल सकता है। योग कहो, मुक्ति कहो, ये दोनों चीजें आपको मिल गई।

प्रीति के लिए, इस संसार में मेरा कुछ नहीं संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए इससे संसार का सम्बन्ध टूट गया तो प्रभु के सम्बन्ध को स्वीकार करना। संसार का सम्बन्ध विवेक-विरोधी था किन्तु प्रभु के सम्बन्ध में विवेक का समर्थन नहीं है। परमात्मा है यह बात विवेक से सिद्ध नहीं है। जीवन में स्वाधीनता मिल सकती है, यह विवेक से सिद्ध है। जीवन में निर्विकारता मिल सकती है, यह विवेक से सिद्ध है, सर्वदुःखों की निवृत्ति हो सकती है, यह विवेक से सिद्ध है। जीवन में उदारता आ सकती है, यह विवेक से सिद्ध है। इन सबमें विवेक का समर्थन है लेकिन परमात्मा है इसमें विवेक का समर्थन नहीं है।

आपको विवेक के साथ-साथ एक आस्था का तत्त्व भी मिला है, एक विश्वास का तत्त्व भी मिला है। तो विश्वास के द्वारा तो यह स्वीकार करो कि परमात्मा है और विवेक के द्वारा संसार का सम्बन्ध अस्वीकार करो। संसार के सम्बन्ध की अस्वीकृति विवेक से हुई और परमात्मा की स्वीकृति विश्वास से हुई। यह बात समझ में आई न? तो परमात्मा के सम्बन्ध की स्वीकृति किस के द्वारा हुई? विश्वास के द्वारा। और संसार के सम्बन्ध की निवृत्ति किसके द्वारा हुई? विवेक के द्वारा।

अब बुराई-रहित होने के बाद जो भलाई करने की प्रवृत्ति आई; बल के सदुपयोग की जो बात आई उसके सम्बन्ध में विचार करना भी आवश्यक है। बुराई नहीं करेंगे, तो बिना कुछ किए रहा जाता है क्या? तो बिना किए रहा नहीं जाता, तब भलाई करेंगे लेकिन भलाई करेंगे किस लिए?

जैसे, मान लीजिए, कल्पना कीजिए थोड़ी देर के लिए कि एक कोई दाता हो; दानी हो और दानी होना चाहता हो, अगर कोई भिखारी न हो तो वह दानी हो सकता है क्या? तो दानी होने के पहले भिखारी हो चुका या नहीं? सोचिए, भिखारी ने दानी का उपकार किया या दानी ने भिखारी का उपकार किया? अगर भिखारी विवेकी है, अगर भिखारी धर्मात्मा है, तो वह दानी के साथ उपकार करेगा या दानी उसके साथ उपकार करेगा? बोलो-वह तो विवेकी है, अचाह है, उदार है, उसे तो नहीं चाहिए संसार। हाँ अगर दोनों विवेकी हों तो? अगर दानी हो अविवेकी और भिखारी हो विवेकी तो उपकार किसका? भिखारी का। और यदि दानी हो विवेकी और भिखारी हो अविवेकी तो सेवा किसकी? दानी

की। कहने का मतलब यह है कि विवेकी होना धर्मात्मा होना यह मनुष्य मात्र के लिए कानून है।

आज यह कहा जाता है, हमारी सरकार कहती है कि जिसके पास ज्यादा पैसा है, उससे टैक्स लगा कर छीन लो। सर्वोदय वाले कहते हैं कि समझा-बुझा कर बँटवा दो। मानव-सेवा-संघ कहता है कि अपना मत मानो। अब यह बात तो सोचो कि इसमें ज्यादा जोरदार चीज कौन-सी है? टैक्स लगा कर जब छीनती है सरकार तो इनका टैक्स-एक्ट पर क्या कानूनी सलाह तुम नहीं लेते? अच्छा सरकार द्वारा छीना हुआ रुपया, ईमानदारी से पूरा पूरा काम आ जाता है क्या? नहीं आ जाता, तो ऊँची बात क्या रही? अगर मानव-सेवा-संघ का सिद्धान्त मान लें कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए तो ज्यादा अच्छी सेवा हो सकती है या टैक्स के द्वारा ज्यादा अच्छी सेवा हो सकती है या सर्वोदय द्वारा ज्यादा अच्छी सेवा हो सकती है। सेवा करने वाला सोचे कि मैं बिना सेवा किए रह ही नहीं सकता। और सेवा जिसको लेनी है वह सोचे कि मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए लेता हूँ।

आज का जो समाजवादी (सोशलिज्म) है, उसमें दुःखी के लिए कोई जिम्मेदारी नहीं दी जाती, केवल सुखी पर ही कानून लागू किए जाते हैं। सुखियों को दुखी बनाया जाता है, दुःखियों को त्यागी नहीं बनया जाता। उसका परिणाम यह होता है कि कि आज के सोसलिज्म की प्रतिक्रिया होती है, प्रतिहिंसा होती हैं देखो शुरु के सोसालिज्म में आज कितना परिवर्तन हो गया।

मानव-सेवा-संघ ने यह बात कही कि जो मेरे पास नहीं है वह मुझको नहीं चाहिए और जो मेरे पास है वह मेरी नहीं है। देखो अगर मनुष्य विवेक का आदर करे तो उसको राष्ट्र की आवश्यकता नहीं है, उसको नेता की आवश्यकता नही; उसको बाहर के गुरु की आवश्यकता नहीं। जरा गौर करो अगर मिले हुए को अपना न मानूँ और मिले हुए का दुरुपयोग न करूँ, अप्राप्त की चाह न करूँ तो राष्ट्र की आवश्यकता है क्या? मिले हुए को अपना न मानूँ तो बाहर के गुरु की जरूरत है क्या? और अप्राप्त की कामना न करूँ तो बाहर के गुरु की जरूरत है क्या? ये जो बाहर के गुरु की हम जरूरत अनुभव करते हैं, या राष्ट्रकी जरूरत अनुभव करते हैं या नेता की जरूरत अनुभव करते हैं यह कब करते हैं जब विवेक का अनादर करते हैं। अगर मानव-समाज विवेक का आदर करने लग जाय तो राष्ट्र-मुक्त समाज बन जाए,

नेतामुक्त समाज बन जाय, गुरुमुक्त समाज बन जाए।

अच्छा अब विचार कर लो। राष्ट्र की बात, नेता की बात, गुरुओं की बात कोई ईमानदारी से मान पाता है क्या? देखो, मुहम्मद एक नेता और गुरु मिला, उसने एक बात कही कि सिवाय खुदा के और कुछ नहीं ह।। कहा है न, मैं खुदा का दोस्त हूँ और हमें सदैव ईमानदार रहना चाहिए। वर्तमान सभी मुसलमानों ने मुहम्मद की बात मान ली क्या? तो बाहर के गुरु से काम चला क्या? ईसा ने एक बात कही, उसको ईसाइयों ने मान लिया क्या? बुद्ध ने एक बात कहीं उसको बौद्धों ने मान लिया कया? हिन्दू आचार्यों ने एक कही, उसको हिन्दुओं ने मान लिया क्या? बोलो। तो ईमानदारी की बात क्या है कि बाहर के गुरु की बात, बाहर के नेता की बात, बाहर के राष्ट्र की बात मानव-समाज मान नहीं सका।

मानव-सेवा-संघ ने कहा कि भैया, तुम अपनी बात मानो। मिला हुआ मेरा नहीं है, जो मुझे नहीं मिला, सो मुझे नहीं चाहिए। अगर यह बात हम मान लेते हैं तो हमें योग की निर्विकारता की, उदारता की प्राप्ति होती है। तो मानव-सेवा-संघ ने कहा कि, हे मानव! तुम सही मानव हो जाओगे कब? जब विवेक का आदर करोगे तब, जब उदार बनोगे तब, जब प्रेमी बनोगे तब। जम धर्मात्मा बनोगे तब।

मनुष्य प्रेमी भी हो सकता है। मनुष्य उदार भी हो सकता है। मनुष्य स्वाधीन भी हो सकता है। मनुष्य धर्मात्मा भी हो सकता है। हो सकता है कि नहीं? कैसे हो सकता है? उपाय क्या है।

विवेक का आदर करो। देखो जो हमारी प्रार्थना है उसमें है- "ज्ञान गुरु मम हृदय विहारी" निज ज्ञान को ही विवेक कहते हैं। विवेक को ही ज्ञान कहते हैं। तो ज्ञान रूपी जो गुरु हैं उसकी बात मान लोगे तो शरीर रूपी गुरु की जरूरत नहीं पड़ेगी। पड़ेगी क्या?

अच्छा धर्मात्मा हो गए, योग मिल गया, मुक्त हो गए। यहाँ तक तो विवेक ने साथ दिया। अब जब मुक्त हो गए तो मुक्त होने से और धर्मात्मा होने से क्या फायदा हुआ। धर्मात्मा होने से आप संसार के काम आ गए और मुक्त होने से क्या फायदा हुआ? आपकी संसार से निवृत्ति हो गई। क्या राय है? तो बातें हो गई। धर्मात्मा होने से आप जगत् के काम आ गए, विवेकी होने से आप मुक्त हो गए।

लेकिन एक बात तो बताओ, यह ज्ञान का प्रकाश जो आपको मिला यह कहाँ से आया? यह किसी

कर्म का फल तो हो नहीं सकता क्योंकि कर्म करने की स्वाधीनता तो मनुष्य होने के बाद मिलती है न। तो आपको जिसने मानव-जीवन दिया यह मानव-जीवन किस कर्म का फल हुआ?

कर्म का फल हो सकता है? नहीं हो सकता। जिसने आपको मानव-जीवन दिया, उसको स्वीकार करने का नाम आस्था का तत्त्व कहा। मनुष्य में आस्था का तत्त्व है-मानने की शक्ति।

देखिए विवेक कहते हैं जानने की शक्ति, बल कहते है करने की शक्ति और आस्था कहते हैं मानने की शक्ति। तो मानने की शक्ति में आपने अपने रचियता को स्वीकार किया। किस लिए? किस लिए स्वीकार किया? प्रेमी होने के लिए। देखिए, मुक्ति का आनन्द अविनाशी है, योग का आनन्द अविनाशी है लेकिन प्रेम का आनन्द अनन्त है। तो मुक्त होने के बाद जो आपने यह स्वीकार किया कि, परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है इसके लिए भक्ति की आवश्यकता हुई। मुक्ति के लिए बाहर के संसार की आवश्यकता नहीं हुई, शान्ति के लिए संसार की सहायता की जरूरत नहीं हुई, धर्मात्मा होने के लिए संसार की सहायता की जरूरत नहीं हुई, लोक-संग्रह के लिए संसार की सहायता की जरूरत नहीं पड़ी, जीवन-मुक्ति के लिए संसार की सहायता की जरूरत नहीं पड़ी, जीवन-मुक्ति के लिए संसार की सहायता की जरूरत नहीं पड़ी, चिर-शान्ति के लिए संसार की सहायजा की जरूरत नहीं पड़ी। तब मुक्त होकर भक्त ने कहा कि जिसने तुझे यह मानव-जीवन दिया वह तुम्हारा अपना है, तुझमें है और अभी है। यह बात विवेक से सिद्ध नहीं है। बोलो। विवेक से सिद्ध कर तो दो। जीवन-मुक्ति भी विवेक से सिद्ध है, सर्वदुःखों की निवृत्ति भी विवेक से सिद्ध है, चिर शान्ति भी विवेक से सिद्ध है, धर्मात्मा होना विवेक से सिद्ध है, पर प्रभु अपना है, अपने में है अभी है यह प्रभु-विश्वास से सिद्ध है। और विश्वास की सामर्थ्य आप में है। विश्वास का जो तत्त्व है वह तो आपमें है ही।

अगर विश्वास का तत्त्व आपमें न हो तो संसार का काम चला तो दो। माँ बच्चे से कहे एम ए एन मैन, मैन माने आदमी, तो बच्चा माँ का विवास ही तो करता है। कहने का मेरा मतलब है कि विश्वास का जो तत्त्व है उसके लिए विश्वासी गुरु की आवश्यकता है। चाहे विश्वासी गुरु की वाणी मान लो और चहे कोई जीवित प्रभु-विश्वासी मिल जाए उसकी वाणी

मान लो। जिन सन्तों के शरीर नहीं है, उनकी वाणी मौजूद है।

ऐसे भी सन्त हो सकते हैं जिनका शरीर भी हो और वाणी भी हो। तो प्रभु-विश्वासी गुरु की आवश्यकता पड़ी केवल इस बात के लिए कि हम परमात्मा के अस्तित्व को मान लें।

मानने की शक्ति हम में है, जानने की शक्ति हम में है और करने की शक्ति हम में है। मानने की शक्ति का उपयोग है परमात्मा को स्वीकार करना। किसलिए? परमात्मा से कुछ माँगने के लिए नहीं। क्योंकि परमात्मा ने मुक्ति के लिए विवेक का प्रकाश दे दिया और धर्मात्मा होने के लिए विवेक का प्रकाश दे दिया। सेवा करने के लिए बल का तत्त्व दे दिया। बल और विवेक के द्वारा परमात्मा को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि झूठे ईश्वरवाद ने अनीश्वरवाद को जन्म दियाहै। साइन्टिस्ट (वैज्ञानिक) भी तो यह कहते हैं कि बिना ईश्वरवाद के हमारा काम चल जाता है। वास्तव में साइंस की पहुँच ईश्वर तक नहीं है। साइन्स तो केवल बल की वृद्धि करती है। जैसे, अभी मैं बोल रहा हूँ, साइंस के द्वारा यह आवाज हजारों मील तक जा सकती है। शरीर से होने वले काम में साइन्स मदद करती है। उससे आगे साइन्स मदद करती है क्या? नहीं करती न? तो साइन्स एक प्रकार का बल है। और बल के दुरुपयोग से हानि होती है, बलके सदुपयोग से सेवा होती है। तो साइन्टिसट (वैज्ञानिक) अगर विवेकी नहीं है तो नुकसान कर सकता है कि नहीं? इसलिए बल को विवेक के अधीन होना चाहिए। यहाँ तक तो आपका काम बिना परमात्मा को मान भी चल सकता है। परमात्मा को माने बिना आप शान्ति पा सकते हैं, आप मुक्ति पा सकते हैं, आप धर्मात्मा हो सकते हैं।

आप अगर इतने को ही जीवन मान लें तब तो परमात्मा को मानने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। परन्तु इससे आगे के जीवन की भी यदि माँग हो कि हमें वह जीवन चाहिए कि हमको इतना सुन्दर जिसने बनाया उस अपने बनाने वाले के लिए भी हम उपयोगी होना चाहते हैं तब प्रभुविश्वासी गुरु के द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार करो। परमात्मा को अपना मान लो, अपने में मान लो और अभी मान लो। प्रभु अपना है, अपने में हैं, अभी है यह प्रभु-विश्वासी गुरु के द्वारा आप मान लो।

तो मै। आपसे यह निवेदन कर रहा था कि प्रेमी होने के लिए प्रभु-विश्वासी की आवश्यकता होगी।

मुक्त होने के लिए विवेक का आदर काम देगा। शान्ति पाने के लिए विवेक का आदर काम देगा। धर्मात्मा होने के लिए विवेक का आदर काम देगा। क्रियात्मक सेवा के लिए बल काम देगा। क्रियात्म्क सेवा बिना बल के नहीं हो सकती। विवेक का आदर करना, विश्वास में विकल्प न करना और बल का सदुपयोग करना-इसको ही सत्संग बताया। बल के सदुपयोग से जीवन जगत् के लिए, विवेक के आदर से जीवन अपने लिए और विकल्परहित विश्वास से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। यह सत्संग की महिमा है।

साधना-पथ की बाधाएँ

(देहाभिमान और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन)

मानवमात्र को ज्ञान का प्रकाश मिला है। ज्ञान का प्रकाश उसे कहते हैं, जिसके द्वारा आप जानते हैं आप सोचिए जो शरीर आपको मिला है उसको आप 'मैं' कहते हैं क्या? मेरा शरीर कहते हैं कि मैं शरीर कहते हैं? मेरा हाथ कहते हैं कि मैं हाथ करते हैं? मेरा कान कहते हैं कि मैं कान कहते हैं? मेरी आँख कहते हैं कि मैं आँख कहते है।? जिसको यह कहते हैं, उसको मैं कह सकते हैं क्या? तो पहले आप अपने ज्ञान के प्रकाश में-ज्ञान का प्रकाश अपना है यह भ्रम है, ज्ञान किसी का नहीं है-ऐस लगता है कि शरीर को हम 'यह' करके अनुभव करते हैं। अच्छा तो जो 'यह' है, उसका नाम मैं नहीं हो सकता और जिस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, वह मेरा नहीं हो सकता। कोई भाई, कोई बहन, बड़े से बड़े वैज्ञानिक हों, बड़े से बड़े कलाकार हों यह सिद्ध कर सकते हैं कि मिले हुए शरीर पर किसी का स्वतन्त्र अधिकार है। स्वतन्त्र अधिकार है ही नहीं। तो जिस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं होता, वह मेरा नहीं होता।

तो मैं भले ही अपने को न जानता हूँ, मान लो थोड़ी देर के लिए, इतना हो जानता ही हूँ कि मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर मेरा नहीं है। इतना हम सब को ज्ञान है या नहीं कि शरीर मेरा नहीं है। मैं शरीर नहीं हूँ। अगर यह ठीक है तो यह ज्ञान टिकता क्यों नहीं? इसका प्रभाव क्यों नहीं अपनाते कि शरीर मेरा नहीं है। हमने यह बचपन में सुना था। असल में आजकल का साधक सत्संग तो करता ही नहीं, सच्चर्चा सुन लेता है। साधक कहते ही उसको हैं जिसे इस

ज्ञान की कभी विस्मृति ही नहीं होती। प्रत्येक परिस्थिति में वह उस ज्ञान के प्रकाश में सजगत रहता है। ज्ञान तो वही है जिसका सदा प्रभाव रहे।

हमने सुना था एक कोई जैण्टलमैन, सूटेड, बूटेड, सजे धजे जा रहे थे। उधर से कोई देहाभिमान से रहित निज आनन्द में मस्त महात्मा आ रहे थे। दोनों टकरा गए। सूटेड-बूटेड जो होते हैं; देहाभिमानी जो होते हैं उनको क्रोध बड़ी जल्दी आता है। इसका मतलब यह नहीं कि सूट पहनने से क्रोध आता है। यानी जो शरीर को सजाते हैं, उन देह को सजाने वालों को देहाभिमान ज्यादा रहता है। तो उनको क्रोध आ गया। कहने लगे, तुम नहीं जानते मैं कौन हूँ? महात्मा ने बड़े प्यार से कहा, 'जी हाँ।' 'क्या जी हाँ। "भली-भाँति जानता हूँ। " "क्या भली-भाँति जानते हो?" वह क्रोध से बोले जा रहे हैं किन्तु महात्मा ठण्डे होकर बोल रहे है। कि मैं जानता हूँ कि उत्पत्ति के समय आप वह हैं जिसको देखकर उल्टी आती है, वर्तमान में मल-मूत्र की थैली हैं और अन्त में खाक की ढेरी हैं। सरकार, मैं आपकी तीनों बुनियादों को जानता हूँ।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि ज्ञान के आदर से, ज्ञान के प्रभाव से देहाभिमान का नाश होता है। तप से देहाभिमान का नाश नहीं होता। योग्यता से देहाभिमान का नाश नहीं होता। जब तक आप ज्ञान का आदर नहीं करेंगे देह-अभिमान का नाश नहीं होगा। तो तप क्या निरर्थक है। निरर्थक नहीं है। तप से सामर्थ्य आती है। तप से शक्ति का सम्पाद होता है, लेकिन देहाभिमान का नाश जब कभी होगा, तब ज्ञान के आदर से होगा। और उस ज्ञान के आदर से होगा, जिस ज्ञान का प्रकाश तुम्हें आ रहा है। कहाँ से आ रहा है, कौन दे रहा है, इन बातों का तो गम्भीर विवेचन होगा कभी।

मैं आज तो यह निवेदन कर रहाँ कि इस ज्ञान के प्रकाश में हमने यह अनुभव किया, कि शरीर पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, ज्ञान के प्रकाश में हमने यह अनुभव किया कि शरीर 'मैं' नहीं है "यह" है। ज्ञान के प्रकाश में ही हमने यह अनुभव किया कि शरीर का सृष्टि से विभाजन नहीं है। शरीर का मालिक वही है, जो सृष्टि का मालिक है, मैं इस शरीर का मालिक नहीं हूँ। यह बात जिसने स्वीकार की उसका देहाभिमान नाश होगा।

अब इसमें काल की अपेक्षा नहीं है। जब आपने यह बात जान ली तो इसमें काल की अपेक्षा नहीं है। फिर किस बात की अपेक्षा है, इसमें

अपने निरीक्षण की अपेक्षा है, कि मैं कहीं ज्ञान का अनादर तो नहीं करता हूँ। अगर आकर किसी ने मुझे सम्मान दिया तो मुझे हर्ष होता है कि नहीं। अगर किसी ने मेरा अपमान किया तो मुझे क्षोभ होता है कि नहीं। अगर सम्मान से हर्ष होता है और अपमान से क्षोभ होता है तो मैं देह के साथ मिल गया, ज्ञान का अनादर मैंने कर दिया। तो अपने को सजग रहना है, अपना निरीक्षण करना है कि क्या कारण है कि सम्मान से मुझको हर्ष होता है और सम्मान से मुझको दुःख होता है। सुख मुझको पसन्द आता है और दुःख मुझको नापसन्द आता है। इसका क्या कारण है। तो साफ मालूम होगा कि ज्ञान के अनादर से होने वाला देहाभिमान इसका कारण है।

तो अपनी भूल को जानना और उसको न दोहराना यह मानव-सेवा-संघ की साधन-प्रणाली है। हमें मालूम हो गया कि सम्मान से हमको सुख मालूम होता हैं और अपमान से हमको दुःख मालूम होता है। रुचि-पूर्ति से हमको सुख होता है, रुचि-अपूर्ति से हमको दुःख होता है। अनुकूलता से हमें सुख होता है, प्रतिकूलता से हमें दुःख होता है। यह बात अगर हमें मालूम हो गई तो यह हमारी भूल है। हमें भूल का त्याग करना होगा। अपनी भूल के त्याग का बल कहाँ से आएगा? प्रभु-विश्वासी कहेगा कि हम सर्व समर्थ प्रभु से प्रार्थना करेंगे। पुरुषार्थी कहेगा कि हम दृढ़ संकल्प करते हैं कि भूल नहीं करेंगे।

मानव-सेवा-संघ का दूसरा नियम आप समझते हैं न कि 'की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना'। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि प्रार्थना और दृढ़ संकल्प यह आपका पुरुषार्थ है कि मैं की हुई भूल को कभी नहीं दोहराऊँगा, मैं ज्ञान का अनादर नहीं करूँगा। प्रार्थना के साथ दृढ़ संकल्प भी करें। दृढ़ संकल्प का मतलब है कि हम यह मनन करें कि हमारे जीवन की माँग है कि हम भूल-रहित हो जायें और कोई हमारे जीवन की माँग नहीं है। अगर इस तरह का दृढ़ संकल्प करके आप भूल-रहित होने का व्रत लेंगे और सृष्टि के मालिक से, सृष्टि के प्रकाशक से, सृष्टि के आधार से, सृष्टि के ज्ञाता से सर्व साक्षी से प्रार्थना करेंगे और स्वयं विश्वास करेंगे।

प्रार्थना का अर्थ क्या होता है? प्रार्थना माने माँग। और माँग उसे कहते हैं जो काम को खा जाए। आप किसी खास विधि-विधान से प्रार्थना करें, वह तो आप जाने, हमारा कोई

विरोध नहीं है। लेकिन प्रार्थना माने अपनी माँग को स्ट्रोंग (तीव्र) करना। अब मैं भूलरहित हुए बिना चैन से नहीं रहूँगा बल्कि किसी दूसरे काम का आरम्भ ही तब करूँगा जब मैं भूल-रहित हो जाऊँगा। इस प्रकार की दृढ़, अविचल आवश्यकता का नाम प्रार्थना है। चाहे आप ईश्वरवादी है तो भी करनी होगी, भौतिक-वादी हैं तो भी करनी होगी, अध्यात्मवादी है तो भी करनी होगी। क्योंकि माँग ही काम को खाती है। बड़ा भारी सत्य यह है कि माँग जो है वह काम का नाश कर देती है। और जिस वक्त माँग काम का नाश कर देती है उसी वक्त स्वतः पूरी हो जाती है। जिस प्रकार, जब अग्नि काष्ठ को सर्वांश में भस्म कर देती है तो अग्नि रहती है या बुझ जाती है? बुझ जाती है। इसी तरह से जिस समय हमारी वास्तविक माँग काम को भस्मीभूत कर देती है, स्वतः पूर्ण हो जाती है।

काम माने क्या? वही पराश्रय वाला सुख, वही परिश्रम वाला सुख। किसी ने कोई कठोर शब्द कह दिया तो दुःखी हो गए, सम्मान दे दिया तो खुश हो गए। तो यह जो पराश्रय और परिश्रम से होने वाला सुख है उसी को काम कहते हैं। काम जब नाश हो जाता है तब हरि-आश्रय वाला आनन्द, स्व-आश्रय वाला आनन्द, निराश्रय वाला आनन्द आपको मिल जाता है। भौतिकवादी हैं तो निराश्रय हो जाइये, अध्यात्मवादी हैं तो स्व-आश्रय लीजिए, शरणागत हैं तो हरि-आश्रय लीजिए। हरि-आश्रय से और विश्राम से , स्व-आश्रय से और विश्राम से, निराश्रय से और विश्राम से जो जीवन मिलता है वही जीवन जीवन है। क्यों? उस जीवन में अभाव नहीं है, उस जीवन में नीरसता नहीं है उस जीवन में पराधीनता नहीं है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि देहाभिमान साधक के जीवन की एक बाधा है। उसी प्रकार अप्राप्त परिस्थिति का जो चिन्तन है वह भी बड़ी बाधा है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से सभी परिस्थितियों से अतीत, अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है। तो फिर अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन हम क्यों करते हैं-इस सम्बन्ध में भी साधक महानुभावों को गंभीरता से विचार करना चाहिए। परिस्थिति एक प्रकार का प्राकृतिक न्याय है। और प्राकृतिक न्याय जो होता है, वह अपने विकास के लिए होता है, विनाश के लिए नहीं होता।

इसलिए हमें प्राप्त परिस्थिति का ठीक-ठीक सदुपयोग करना चाहिए। आगे-पीछे के चिन्तन में फँसकर कोई लाभ नहीं होगा। यह

साधक के जीवन की बाधा है। आप कहेंगे ऐसा हम क्यों सोचते हैं। ऐसा इस लिए सोचते हैं कि साधक का जो साध्य है वह अनुत्पन्न हुआ तत्त्व है, वह उत्पत्ति-विनाश-रहित है। और जो उत्पत्ति-विनाश-रहित है, उसकी प्राप्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती, जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त् है उसका ठीक सदुपयोग करें तो उत्पत्ति और विनाश पूर्ण परिस्थितियों से ऊपर उठ सकते हैं, उनसे अतीत हो सकते हैं।

किन्तु यह नहीं हो सकता कि जीवन का सत्य उसको मिलेगा, जिसका शरीर बहुत बलवान हो। यह भी नहीं हो सकता कि जीवन का सत्य उसको मिलेगा कि जिसमें बहुत योग्यता हो। अच्छा है, शरीर बलवान होगा तो बहुत लोगों की सेवा करेंगे, अधिक योग्यता है तो अयोग्यों की सेवा करेंगे। यह हो सकता है। अल्प सामर्थ्य वाला होगा, तो अल्प सामर्थ्य से सेवा करेंगे। विशेष सामर्थ्य वाला होगा तो विशेष सामर्थ्य से सेवा करेंगे। पर यह नहीं हो सकता कि विशेष सामर्थ्य होने से तो उसे जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होगी और अल्पसामर्थ्य से नहीं होगी। ऐसा नहीं हो सकता।

अतः हमें अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना चाहिए अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के लिए अथक प्रयास करना चाहिए। कल्पना करो कि एक मेरे जैसा अन्धा रोगी आदमी है और एक आप जैसा स्वस्थ और आँखों वाला आदमी है। अन्तर कहाँ पड़ेगा? अमर अन्धा आदमी देखने की वासना को छोड़ सके, तो क्या उसे वह जीवन नहीं मिलेगा, जो अगोचर है। यह तो परिस्थिति का महत्त्व केवल उन लोगों के जीवन में रहता है कि जिन लोगों को इस दृश्य से भिन्न और कोई है, इसमें आस्था नहीं होती। और आप दृश्य के भीतर भी, परिस्थिति के अन्तर्गत भी विचार करके देखें तो सबल और निर्बल दोनों का मिल कर ही संसार का काम चलता है। केवल सबल से ही नहीं चलता। जहाँ योग्य चिकित्सक चाहिए तो वहाँ रोगी भी तो चाहिए। मान लीजिए कि योग्य चिकित्सक हो और रोगी कोई न हो तो चिकित्सक का काम चलेगा? जहाँ एक सम्पत्तिशाली है वहाँ एक निर्धन भी तो चाहिए। अगर निर्धन न हो तो सम्पत्तिशाली का काम चलेगा?

तो बलवान के साथ निर्बल रहता ही है। सुख के साथ दुःख रहता ही है। ऐसा सुख-दुःख का नाम, इसी सबलता और निर्बलता का नाम परिस्थिति है। इसलिए अगर हम निर्बल हैं, तो हमको अचाह होना चाहिए। अगर हम सबल हैं, तो

हमको उदार होना चाहिए। निर्बल को जो सत्य अचाह होने से मिलता है, सबल को वह सत्य उदार होने से मिलता है। जो जीवन हमें अचाह होने से मिलता है वही जीवन हमें उदार होने से मिलता है।

इस दृष्टि से अगर देखा जाए तो सभी परिस्थितियाँ साधन-सामग्री के रूप में है। परिस्थितियाँ जीवन के रूप में नहीं हैं। क्योंकि ऐसा कोई बल है नहीं, जिसका नाश न हो। बल का नाश होता ही है। ऐसी कोई योग्यता है नहीं जिसमें क्षति न हो। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज हम वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान न देकर अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करने लगते हैं। उसमें ही फँसे रहते हैं। उसमें सुखी-दुःखी होते रहते हैं। तो मानव-सेवा-संघ ने यह बात बताई कि साधक के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करे, लेकिन किसी अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में न फँसे।

आप कहेंगे कि क्या प्रतिकूलता हमेशा प्रतिकूलता ही रहेगी। ऐसा नहीं है। प्रतिकूलता के सदुपयोग से विकास होता है और अनुकूलता के सदुपयोग से भी विकास होता है। हमसे गलती क्या होती है कि हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। हमसे अपने जीवन का मूल्यांकन परिस्थिति के आधार पर करने लगते हैं। अमुक व्यक्ति बहुत बड़े आदमी हैं, क्या बात है साहब? "कई मिल उनके पास हैं।" तो अगर मिल होने से कोई बड़ा आदमी है तो मिल बड़ा आदमी है कि आदमी बड़ा आदमी है। क्या राय है? मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यह भ्रम हम साधु-समाज में भी होता है। साधु-समाज क्या सोचता है कि चलो कैलाश की यात्रा कर आयें तो विशेषता आ जाएगी अथवा नंगे रहेंगे तो विशेषता आ जाएगी। यह तो कह सकते हैं कि कम सामान रखें तो आराम रहेगा। जिसको पराई कमाई खाना है; जिसको समाज के आश्रित रहना है उसकी जरूरतें कम से कम हो। अच्छी बात है यह, लेकिन जब तक नंगे नहीं रहेंगे तब तक जीवन का सत्य नहीं मिलेगा; जब तक वन में नहीं रहेंगे जीवन का सत्य नहीं मिलेगा यह सब भ्रम है। क्योंकि वन में भी आप हमेशा नहीं रह सकते। उसमें भी परिवर्तन आएगा। घर में भी आप हमेशा नहीं रह सकते उसमें भी परिवर्तन आएगा। कोई भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य एक सी नहीं रह सकती, उसमें परिवर्तन आएगा ही।

इसलिए हमें अपनी वर्तमान परिस्थिति का सहज और ठीक-ठीक

अध्ययन करना चाहिए और फिर उसका सदुपयोग करना चाहिए। जीवन उसे नहीं कहते, जो उत्पन्न हो और नाश हो जाए। उसका नाम जीवन नहीं है। वह हमारा साध्य नहीं है। वह हमारा लक्ष्य नहीं है। परमात्मा उसे नहीं कहते, जो किसी वस्तु विशेष द्वारा प्राप्त हो अथवा जो किसी योग्यता विशेष के द्वारा प्राप्त हो। किसी सामर्थ्य विशेष से जो चीज मिलती है, उसे परमात्मा नहीं कहते। परमात्मा उसे कहते हैं, जिसकी प्राप्ति विश्वास से होती है। शान्ति उसे कहते हैं, जिसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है। सर्वदुःखों की निवृत्ति किसी परिस्थिति से नहीं होती, अचाह होने से होती है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमारा विकास किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं है। यदि हम चाहें तो प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा सभी परिस्थितियों से अतीत जो अविनाशी-स्वाधीन जीवन है उसको प्राप्त कर सकते हैं। अगर हम पसन्द करें तो चाहे परिस्थिति कैसी भी हो। अगर हमारी समझ में यह बात आ जाती और मानव-समाज इस सत्य को मान लेता कि परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति के सदुपयोग का बड़ा महत्त्व है तो हर भाई-बहन के जीवन में एक उत्साह जगता; एक चेतना आती है कि मैं वह जीवन पा सकता हूँ, जो कभी भी किसी को मिला है। यह चेतना यदि आ जाती तो उसकी प्राप्ति में कोई विकल्प नहीं रहता, कोई संदेह नहीं रहता उसकी माँग तीव्र हो जाती। हम सब में अपने लक्ष्य की माँग तीव्र हो जाती और जब माँग तीव्र हो जाती है तो काम नाश हो जाता है। काम जब नाश हो जाता है तो माँग पूरी हो जाती है।

इस दृष्टि से अगर विचार किया जाए तो हमें वह जीवन मिल सकता है, जिस जीवन में अभाव नहीं है, अशान्ति नहीं है, नीरसता नहीं है, पराधीनता नहीं है। वह जीवन हम सब को मिल सकता है, क्योंकि हम मानव हैं।

मानव होने की क्या विशेषता है? मानव होने का अर्थ यह है कि हमें ज्ञान का प्रकाश मिला है; हमें विश्वास का तत्त्व मिला है, हमें बल का तत्त्व मिला है। जो बल का तत्त्व मिला है वह तो निर्बलों की सेवा के लिए है। सेवा में यह नहीं कहा जाता कि जिसके पास विशेष सामर्थ्य होगी उसकी सेवा का विशेष फल होगा और अल्प सामग्री से जो सेवा की जाएगी उसका अल्प फल होगा। ऐसा नहीं होता। सेवा का फल समान होता है। चाहे किसी तृषावन्त को अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक

गिलास पानी पिला दो और चाहे सम्पत्तिशाली होकर वाटर वर्क्स बना दो। चाहे एक साधारण विद्यार्थी की साधारण सेवा कर दो और चाहे एक विश्वविद्यालय बना दो। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। सेवा का अर्थ ही है कि सेवक का हृदय सुखासक्ति से रहित होकर, स्वाधीन हो जाता है। सुख की आसक्ति उसमें नहीं होती। सेवक में फल की आसक्ति भी नहीं रहती।

सेवा का फल सच पूछिए तो त्याग और प्रेम है। अगर आपके जीवन में सेवा है तो आपको त्याग और प्रेम मिलेगा ही। यह न सोच लिया जाए कि जो आदमी गद्दी पर बैठा हुआ सेवा का कार्य कर रहा है, दूसरों को आज्ञा दे रहा है, उसकी बड़ी सेवा है और जो आज्ञा मान रहा है उसकी छोटी सेवा है। ऐसा भ्रम नहीं रहना चाहिए। चैकीदार की सेवा का जो फल मिलेगा, प्राइम मिनिस्टर की सेवा का वही फल बनेगा। एक साधारण स्थिति के आदमी का जो फल बनेगा, एक असाधारण स्थिति के आदमी का भी वही फल बनेगा। क्योंकि सेवा में सेवक को कुछ लेने की बात नहीं होती, जो अपने पास है वह देने की बात होती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि क्या हम लोग इस वास्तविकता पर परस्पर विचार करने को राजी हैं? सुनने को तो राजी है, सुनने के लिए तो आप आते ही हैं। हमें विचार करना चाहिए कि हमारा शरीर यदि कमजोर हो गया है; धन का अभाव हो गया है तो क्या हमें वह जीवन नहीं मिल सकता जो वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति के आश्रित नहीं है। इस तरह से अगर हम सजग हो जाएँ; सावधान हो जाएँ तो साधक के जीवन एक बहुत बड़ी बाधा दूर हो जाए।

साधक ऐसा सोचते रहते हैं कि कुटिया अच्छी मिल जाए तो भजन बनेगा, आसन ठीक है तो भोजन बनेगा, भिक्षा ठीक मिल गई तो भजन बनेगा; यह बिल्कुल भ्रम है। क्यों? जिनको सब कुछ ठीक मिल गया उनका भजन बन गया क्या? अरे भजन तो तब बनेगा जब हम अपने सेव्य को, जिसका हमें भजन करना है, उसमें अपनी आत्मीयता स्वीकार कर लेंगे। अचाह होंगे तब भजन बनेगा, स्वाधीन होंगे तब भजन बनेगा। क्या वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से भजन बनेगा? वह नहीं बनता। स्वाधीन होने से भजन बनता है, अचाह होने से भजन बनता है, प्रेमी होने से भजन बनता है। प्रेम किसी परिस्थिति से तो बनता नहीं है। प्रेम तो मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत माँग है।

क्या आप यह नहीं जानते हैं कि अगर कोई प्रेमी होता है तो उसके प्रति आपका स्वाभाविक आकर्षण होता है। अपने-अपने प्रेमियों के प्रति लोगों का आकर्षण होता है कि नहीं? और जो सभी का प्रेमी हो; विश्व का भी और विश्वनाथ का भी तो उसके प्रति सभी का आकर्षण नहीं होगा? क्या आप और हम इस बात में पराधीन हैं कि हम सभी को प्यारभरी दृष्टि से देखें, प्यार भरी वाणी से बोलें, प्यार भरे कानों से सुने। इसमें कोई पराधीनता तो है नहीं।

प्रेमी सबको प्रिय होते हैं। ऐसे ही आप देखिए कि जो स्वाधीन होता है अचाह होता है वह भी सबको प्रिय होता है। ऐसे ही जो उदार होता है, वह भी सबको प्रिय होता है। तो उदारता, स्वाधीनता और प्रेम, ये मनुष्य के मौलिक तत्त्व हैं। इनकी प्राप्ति किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। क्या राय है? तो हमारे जीवन का जो सबसे अच्छा चित्र है, जो सर्वोकृष्ट चित्र है कि हम उदार होकर सर्वप्रिय हों, हम स्वाधीन होकर सर्वप्रिय हों, हम प्रेम से भरपूर होकर सर्वप्रिय हों यह जो जीवन का सत्य है क्या यह किसी परिस्थिति पर टिका हुआ है? नहीं टिका हुआ है। हमसे गलती यह होती है कि हम परिस्थिति के सहारे साधना के पथ में आगे बढ़ना चाहते हैं।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप सुखमय परिस्थिति को दुःखमय बना लें। ऐसा मेरा मतलब नहीं है। मेरा मतलब है कि परिस्थिति आपकी चाहे जैसी हो लेकिन उसके दो ही अर्थ होंगे-या तो आप किसी अंश में सुखमय परिस्थिति का अनुभव करेंगे अथवा किसी अंश में दुःखमय परिस्थिति का अनुभव करते होंगे। सुखमय परिस्थिति में आपको क्रियात्मक सेवा करनी चाहिए और दुःखमय परिस्थिति में आपको भावात्मक सेवा करनी चाहिए। जो क्रियात्मक सेवा का फल होता है वही भावात्मक सेवा का फल होता है। लेकिन आप यह कहें कि सुखमय परिस्थिति होगी तो हम बहुत-सा दान करेंगे, बहुत-सा काम करेंगे उससे हमें बड़ा लाभ होगा। तो बड़ा लाभ नहीं होगा। लाभ उतना ही होगा जितना अल्प से होगा। अल्प सामर्थ्य के सदुपयोग से जो लाभ होता है, विशेष सामर्थ्य के सदुपयोग से भी वही लाभ होता है। अल्प योग्यता के सदुपयोग से जो लाभ होता है, विशेष योग्यता के सदुपयोग से भी वही लाभ होता है। क्यों? मनुष्य जो सामर्थ्य में, योग्यता में, वस्तुओं में फँस गया है; उनके अधीन जो हो गया है तो उनसे

ऊपर उठने में ही उसका परम लाभ है।

ऐसा तो आपने देखा नहीं होगा दुनिया में कभी भी जो कुछ न जानता हो, कुछ न मानता हो, कुछ न करता हो। देखा है क्या? कुछ जरूर कर सकता है, कुछ जरूर करता है, कुछ जरूर जानता है, कुछ जरूर मानता है। ये जो तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं ये आंशिक रूप में हों तो क्या, कम हों तो क्या, विशेष हों तो क्या? हमसे गलती क्या होती है कि ये शक्तियाँ विशेष हों तो बहुत लाभ होगा, यह झूठा भ्रम है। और जब तक यह झूठा भ्रम नहीं मिटेगा तब तक यह कहना कि परमात्मा सभी का है; सभी को मिल सकता है, यह सिद्ध नहीं होगा। चिरशान्ति सभी को मिल सकती है, धर्मात्मा सभी हो सकते हैं। यह काल्पनिक बात नहीं है? अगर आप परिस्थिति के अधीन ये चीजें मानें तो फिर सभी धर्मात्मा भी नहीं हो सकते सब जीवनमुक्त भी नहीं हो सकते, सब भगवत्-भक्त भी नहीं हो सकते। और अगर आप परिस्थिति के आश्रित नहीं मानेंगे तो जो सत्य किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं होता, वह सब परिस्थितियों में प्राप्त होता है। किसी न किसी प्रकार की परिस्थिति हम सब को प्राप्त है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक के जीवन की यह बहुत बड़ी बाधा है कि हम अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता रहता है। और इसका परिणाम यह होता है कि वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। क्योंकि शक्ति तो उठनी ही है। जो शक्ति आपको मिली है उसे आपने अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में खो दिया तो समय घटेगा या बढ़ेगा।

इसलिए अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में जो समय हम लगा देते हैं, शक्ति लगा देते हैं वही शक्ति, वही समय यदि हम प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लगा दें तो हम सब को वह जीवन मिल जाए तो सभी परिस्थितियों से अतीत है और विलक्षण है।

लेकिन हमसे बड़ी भारी गलती यह होती है कि हम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करते और परिस्थिति के आश्रित होकर या तो सुख की दासता में बँधा रहना अथवा दुःख के भय में आबद्ध हो जाना मानव-जीवन का बहुत बड़ा अनादर है। मानव के जीवन का बहुत बड़ा अपमान है। अतः सुख है तो उसको दुःखियों में बाँट देंगे, दुःख है तो त्याग को अपना कर उससे ऊपर उठ जाएँगें। हमें सुख की दासता और

दुःख के भय में आबद्ध नहीं होना चाहिए।

आज हमसे गलती क्या होती है कि हम दुःख के प्रभाव को नहीं अपनाते और सुख का सदुपयोग नहीं करते। नतीजा यह होता है कि किसी न किसी अंश में हम सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध हो जाते हैं। जब तक हम सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध रहेंगे तब तक, आप सोचिए तो सही, वह जीवन, जो सुख-दुःख से अतीत है; जिसमें किसी प्रकार की दासता और भय का प्रवेश ही नहीं है मानव को कैसे मिलेगा? क्या सिद्ध हुआ कि हमें सुख-दुःख का सदुपयोग करना चाहिए।

जबकि सुख-दुःख दोनों ही साधन-सामग्री हैं यानी अनुकूलता और प्रतिकूलता सभी परिस्थितियाँ साधन-सामग्री हैं तब हमें इस बात की क्यों चिन्ता करनी चाहिए कि हमें प्रतिकूल परिस्थिति क्यों दे दी हैं; हमें अनुकूल परिस्थिति क्यों नहीं दी। यह चिन्तन तभी तक होता है साधक के जीवन में, जब तब साधक वास्तविक जीवन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता।

जब तक वह सुख की दासता में फँसा हुआ है तभी तक वह दुःख से भयभीत है। अगर वह सुख की दासता में न फँसे, तो दुःख के भय से भयभीत होने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः हमारी परिस्थिति चाहे कैसी भी क्यों न हों, हमें धीरज पूर्वक, उत्साह पूर्वक, श्रद्धापूर्वक सत्य का आश्रय लेकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। एक बार हमने सुना लोगों से-प° जवाहर लाल के निकटवर्ती लोगों से-उन्होंने पूछा कि "जवाहर भाई, जब आपके सामने कोई विपत्ति आती है, जैसे, पिता की मृत्य, पत्नी की मृत्यु, माता की मृत्यु, आप आत्मा-परमात्मा को तो मानते नहीं, तब क्या उपाय करते हैं?" जो जवाहर लाल जी ने बड़ा अच्छा उत्तर दिया, उन्होंने कहा कि भई देखो जब मेरे सामने जैसी कठिनाई आती है उसमें जो राह मुझे दिखाई देती है, मैं चल देता हूँ।

तो मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि आप परिस्थितियों के फेर में न पड़े। प्राप्त परिस्थिति के अनुसार सुख-दुःख का दुरुपयोग न करें। दुःख का दुरुपयोग क्या है? उसके भय में आबद्ध होना। सुख का दुरुपयोग क्या है? उसकी दासता में आबद्ध होना। सुख-दुःख का सदुपयोग करें; अनुकूलता-प्रतिकूलता का सदुपयोग करें। हर प्रकार की परिस्थिति आयेगी-कभी अनुकूल आवेगी, कभी प्रतिकूल

आवेगी, हमें उसका सदुपयोग करना चाहिए। हर परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से अतीति का जीवन मिलता है। इस बात में किसी भाई को, किसी बहन को विकल्प हो तो सोच लो। वह कौन-सा तत्त्व है, जो परिस्थिति से मिलता है। कोई बतावे तो हम जानें। लेकिन आप लोगों ने तो सुनने का शौक पैदा किया है और फिर अकेले-अकेले सब बोलना चाहते हैं। बैठकर जीवनोपयोगी विचार-विनिमय में आप सब लोग चुप हो जाते हैं। यह गलत तरीका है।

मानव-सेवा-संघ कोई प्रोपैगण्डा नहीं है। मानव-सेवा-संघ तो साधकों का संघ है। और साधक-समाज को परस्पर में विचार-विनिमय जरूर करना चाहिए। क्योंकि विचार-विनिमय करने से आपका सत्य आपके सामने आएगा। हमसे गलती क्या होती है कि हम अपने सत्य की अपने सामने न रख कर, अपने सत्य को दूसरों को समझाना चाहते हैं। हमें अपने सत्य को स्वयं अपनाना चाहिए और जैसे-जैसे हम अपने सत्य को अपनाते चले जाएँगे वैसे-वैसे हमारा विकास होता जाएगा। और जैसे-जैसे हमारा विकास होगा वैसे-वैसे समाज को एक उदाहरण देखने को मिलेगा, समझने को मिलेगा और सोचने को मिलेगा। और इससे दूसरों में उत्साह पैदा होगा।

तो सबसे बड़ा उपदेशक कौन है? जो जीवन से उपदेश करता है। वही सबसे बड़ा वक्ता है, सबसे बड़ा पंडित है और सबसे बड़ा सुधारवादी है। और सबसे घटिया कौन है? जो पर-चर्चा करके उपदेश करता रहता है। कभी परिस्थितियों की चर्चा और कभी व्यक्तियों की चर्चा ही वह करता है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक के लिए क्या उपयोगी है? प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग। क्या बाधक है अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन अथवा अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन।

अब थोड़ी देर गौर करें आप, बड़ी गम्भीर बात है कि अगर आप अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन छोड़ दें और प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करें तो आपको विश्राम मिलेगा या नहीं मिलेगा? अवश्य मिलगा। तो जब विश्राम की प्राप्ति होती है तब योग की भी प्राप्ति होती है, बोध की भी प्राप्ति होती है, प्रेम की भी प्राप्ति होती है।

प्रश्न-महाराज जी मैं अपने जीवन की एक बात कहता हूँ, इसमें आदत का भी कुछ असर है।

उत्तर-आदत तो बनती है पंडित जी, प्रमाद से।

पंडित जी-जो कुछ भी है अगर आदत पड़ गई? आजकल सुखद परिस्थितियों को देने की बड़ी चेष्टाएँ हो रही हैं।

स्वामी जी-इस विषय में तो मैंने बहुत सोचा है। जब मैं राजनैतिक काम करता था तो इसी भाव को लेकर करता था कि विदेशी सत्ता चली जाएगी तो देश सुन्दर हो जाएगा। मैं तो आपसे यह निवेदन करता हूँ कि मैं कोई आन्दोलन नहीं करना चाहता कि जैसे भी हमारी परिस्थिति है, चाहे इसका कारण कुछ भी हो-भाग्य मान लो या समाज मान लो हमें इससे कोई मतलब नहीं-लेकिन गरीबी का सदुपयोग करने पर गरीबी नहीं मिटेगी तो किसी अमीर की अमीरी छीनने से कभी नहीं मिटेगी। इसी तरह मैं सोचता हूँ कि अगर अल्प सामर्थ्य का सदुपयोग आप नहीं कर सकते तो विशेष सामर्थ्य का सदुपयोग आप कर ही नहीं सकते। अल्प सुख का अगर आप सदुपयोग नहीं कर सकते तो विशेष सुख का सदुपयोग आप कर ही नहीं सकते। इसलिए जो भी परिस्थिति आपको प्राप्त है-यह तो व्यक्तिगत बात है न किसी को दुःख प्राप्त है किसी को सुख प्राप्त है-उसके सदुपयोग में ही आपका विकास निहित है।

प्रभु-प्रेम की विलक्षणता

प्रेमी होने से साधक प्रभु के लिए उपयोगी हो जाता है। देवकी जी ने जो अन्तिम बात कही थी वह यह थी कि प्रभु को मानव-हृदय का प्रेम इतना भाता है, इतना अच्छा लगता है कि वह असीम, अनन्त, अपार, अखण्ड होते हुए भी प्यार को लेकर प्रसन्न हो जाता है और उसे कई गुना बढ़ा देता है। परमात्मा माने क्या? जिसको जो दें वह कई गुना होकर अपने पास आ जाए उसको परमात्मा कहते हैं। अगर परमात्मा खा लेते तो लोग भोग लगना बंद कर देते। परमात्मा के माने हैं कि उसको जो दिया जाए, वह कई गुना होकर अपने पास आ जाए। इस संसार का भी यही स्वरूप है। आप खेत में एक दाना डालते हैं। अगर खेत एक दाने को लेकर एक ही दाना वापस करता तो भी लोग खेत बोना छोड़ देते। खेत कई गुना करके वापस करता है तब न आप खेत को पसन्द करते हैं। जब दूसरों के साथ की हुई भलाई भी कई गुनी होकर अपने साथ होती है तो

भगवान को अर्पित किया हुआ भी कई गुना होकर अपने पास आता है। भगवान को क्या अर्पित करोगे? क्या करोगे? अपने आपको ही तो दोगे। अपने अहं को ही तो अर्पित करोगे। मम को तो अर्पित करोगे। मेरा कुछ नहीं है यही तो भगवत्-पूजा है। मुझे कुछ नहीं चाहिए यही तो भगवत्-पूजा है। प्रभु अपने हैं यही तो भगवत्-पूजा है। मैं प्रभु का हूँ, यह भगवत्-पूजा है।

अगर आप इस पूजा को कर सकते हैं, तो आपके हृदय में प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। गुरु-वाणी ने यह बताया कि प्रेमी और प्रेमास्पद की जो नित्य विहार है, वही प्रभु-विश्वासी का जीवन है। यानी आपका आपा है प्रेम, और प्रभु हैं प्रेमास्पद है। आपका प्रेम भी अविनाशी है तत्त्व है और प्रेमास्पद भी अविनाशी तत्त्व है। प्रेम भी अनन्त तत्त्व है और प्रेमास्पद भी अनन्त तत्त्व है। प्रेम भी चिन्मय तत्त्व है और प्रेमास्पद भी चिन्मय तत्त्व है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। एक ही जाति के दोनों हैं। तो जिसमें प्रेम का उदय होता है वह प्रेमी, प्रेम से अभिन्न हो जाता है और प्रेम प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ हो जाता है। यह विलक्षणता मानव-जीवन में ही हैं मानव जीवन में यह जो विलक्षणता है वह मानव की अपने द्वारा उपार्जित नहीं है। मानव के रचयिता ने ही आपको इतना सुन्दर बनाया है कि आप प्रभु को रस देकर, प्रभु का कार्य करके प्रभु-प्रेम के पात्र हो सकते हैं। प्रभु हम सब के प्रेम-पात्र हैं।

इसलिए भाई, जो सदैव है, सर्वत्र है, जो सभी का है, वही अपनाहै, वही अपने में है, वही अभी है। परमात्मा गैर हाजिर नहीं, मौजूद है। ऐसा नहीं है कि परमात्मा हमसे कहीं अलग हो गया है। जो हमसे कभी अलग न हो उसी का नाम परमात्मा है। तो परमात्मा कभी किसी से अलग होता ही नहीं है। इसलिए मेरा यह निवेदन थाकि आप इस बात की चिन्ता न करें कि हमारा अल्प जीवन है, हममें अल्प योग्यता है, अल्प सामर्थ्य है।

आप दुनिया के ठेकेदार न बनिए, दुनिया के सेवक बनिए। मालिक बनोगे तो पकड़े जाओगे। दुनिया के सहयोगी बनें, दुनिया के सहायक बनें। दुनिया के मालिक न बनें। मालिक बनोगे तो कुछ नहीं कर पाओगे। इसलिएसब कुछ प्रभु का है। मैं भी प्रभु का ही हूँ। मैं अनाथ नहीं हूँ क्योंकि प्रभु का हूँ। यह संसार अनाथ नहीं है क्योंकि प्रभु का है। सब कुछ प्रभु का है, मैं भी प्रभु का हूँ-यह

विश्वास से सिद्ध होगा। यह ज्ञान से सिद्ध नहीं होगा।

तो ज्ञान पूर्वक संसार से सम्बन्ध का त्याग करो और विश्वास पूर्वक परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करो। सम्बन्ध तोड़ना और सम्बन्ध जोड़ना दो ही काम तो तुम्हें करने हैं। संसार का सम्बन्ध तोडत्र दो ज्ञानपूर्वक और परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लो विश्वास पूर्वक। संसार से सम्बन्ध तोड़ने से तीन बातें हो जाएँगी-सर्वदुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति। ये तीन बातें तो आप परमात्मा को नहीं मानें, परमात्मा की चर्चा न करें केवल संसार का सम्बन्ध ही तोड़ दें तो भी सर्वदुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति और जीवन-मुक्ति आपको मिल जाएगी। तो भक्ति एक रस है और वह रस इतना मधुर है, इतना सुन्दर है कि इस रस के लिए निर्विशेष ब्रह्म अवतरित होता है, प्रकट होता है। और यदि यह कह दिया जाय भक्तों की भाषा में कि ब्रह्म जीव-भाव को प्राप्त हो जाता है। सर्वदुःखों से निवृत्ति, चिरशान्ति और मुक्ति का ऐसा रस है कि इसमें जीवन ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है। तो ज्ञान से जीव ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है और विश्वास से ब्रह्म जीव-भाव की प्राप्त होता है। जीव नहीं होता, जीव-भाव को प्राप्त होता है-प्रेम रस का पान करने के लिए।

विश्व-शान्ति

विश्वशान्ति का अर्थ क्या है? जब व्यक्गित शान्ति हो तो विश्वशान्ति हो सकती है। अगर परस्पर में संघर्ष न हेा तो शान्ति रह सकती है। परस्पर में संघर्ष कब न हो? जब मनुष्य इतना सुन्दर हो जाए कि उसके द्वारा किसी के अधिकार का अपहरण न हो अपितु सभी के अधिकारों की रक्षा हो। जब तक यह बात हर भाई के, हर बहन के जीवन में नहीं आती तब तक विश्व-शान्ति एक कल्पना है; वास्तविकता नहीं है।

आप विचार कीजिए मनुष्य क्या कर सकता है। तो कम से कम जो कर सकता है वह यह है कि जानी हुई बुराई न करें, की हुई न दोहराये, किसी को बुरा न समझे, किसी का बुरा न चाहे, किसी के साथ बुराई न करे। यह बात व्यक्तिगत रूप से हरेक भाई और बहन अपने जीवन में अपनाये। मैं इस सम्बन्ध में यह कहना चाहता हूँ कि बुराई-रहित जो होना है यही विश्व-सेवा है। अगर कोई यह चाहता है कि मैं सेवा करना

चाहता हूँ, तो मेरे जानते हुए, मन-वाणी-कर्म से जीवन में अपनी जानी हुई बुराई नहीं करनी चाहिए और की हुई बुराई न दोहराई जानी चाहिए। तो बुराई-रहित होना विश्व-सेवा है।

इसके बाद स्वतः अपने आप किसी न किसी अंश में भलाई होने लगती है। यह जो होने वाली भलाई है, यह समाज-सेवा है, परिवार-सेवा है। यही सही सेवा है किन्तु इस होने वाली भलाई का अभिमान और फल न चाहे तो वह अप्रयत्न हो जाता है। अप्रयत्न का अर्थ क्या है? अचाह हो जाओ। बुराई-रहित होकर विश्व की सेवा करे, भलाई करके समाज की सेवा करें और अचाह होकर अपनी सेवा करें। अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम पड़े-मेरी बात नहीं- तो इसमें जीवन का सत्य है।

अगर मैं चाहता हूँ कि मुझे कोई बुरा न समझे, तो मैं कभी किसी को बुरा नहीं समझूँगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई बुरा है या नहीं है। अगर आप शान्ति के पुजारी हैं और व्यक्तिग जीवन में शान्ति चाहते हैं, पारिवारिक जीवन में शान्ति चाहते हैं, सामाजिक जीवन में शान्ति चाहते हैं तो इसका उपाय है-हम किसी को बुरा न समझें। आप कहेंगे जो हमारे साथ बुराई करता है तो हम उसे बुरा क्यों न समझें। तो मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि बुराई कोई क्यों करता है, इस पर सोचा जाए। बुराई कोई इसलिए करता है कि उसने अपने को बुरा बना लिया है। तो जब तक कोई बुरा न बन जाए तब तक उसके द्वारा बुराई नीं होती।

आज का मानव सही रूप में अपने को मानव मानने को राजी नहीं होता। कोई अपने को जाति के साथ बताएग, कोई वर्ग के साथ बताएगा, कोई किसी मजहब के साथ बताएगा, किसी इज्म के साथ बताएगा। 'मै। मानव हूँ' यह कोई नहीं बताता। मानव होने का अर्थ क्या हैं? मानव होने का अर्थ यह है कि आपमें तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। आपमें कुछ बल का तत्त्व है, उसके द्वारा आप कुछ करते हैं। एक ज्ञान का तत्त्व है, उसके द्वारा आप कुछ जानते हैं और एक आस्था का तत्त्व है, उसके द्वारा आप कुछ मानते हैं।

मानने का तत्त्व आपमें पहले से है तभी आप मानते हैं। आप विचार करके देखिए, आपने पढ़ा एम ए एन मैन, मैन माने आदमी। मैन माने आदमी होता है। यह बात हम मानते हैं न। इसका मतलब क्या हुआ? कि प्रत्येक भाई अथवा बहन में आस्था का तत्त्व हैं; मानने का तत्त्व है। ऐसे ही जानने का तत्त्व है, ऐसे ही करने

का तत्त्व भी है। तो आप कुछ मान सकते हैं, कुछ जान सकते हैं; कुछ कर सकते हैं।

ये तीन प्रकार की शक्तियाँ प्रत्येक भाई के जीवन में है, प्रत्येक बहन के जीवन में हैं। आप पढ़े-लिखे हैं या बगैर पढ़े हैं, आप किस वर्ग के है, किस देश के हैं, किस मजहब के हैं, किस इज्म के हैं, आपका दार्शनिक दृष्टिकोण क्या है यह अलग-अलग होने पर भी ये तीन शक्तियाँ प्रत्येक मानव में हैं। यह बात हम सब मानते हैं या नहीं?

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। इन मिली हुई शक्तियों का दुरुपयोग न करें, तो शक्तियों का दुरुपयोग न करने विश्व में शान्ति होगी। विश्व में शान्ति तो हो सकती है परन्तु जो हम सोचते हैं कि विश्व-शान्ति हमारे दर्शन से हो जाए या हमारे किसी प्रोग्राम से हो जाए यह भ्रम है।

तो विश्वशान्ति कब होगी? जब प्रत्येक भाई में, प्रत्येक बहन में यह चेतना आ जाए कि मैं मानव पहले हूँ, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी, कम्युनिस्ट, सोसलिस्ट और जाने क्या-कया पीछे हूँ। मैं बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा क्योंकि मैं मानव हूँ; इन्सान हूँ। अब आप सोचिए, आप कोई भलाई करें न करें उससे समाज में अशान्ति नहीं होती लेकिन जब आप बुराई करते हैं तब अशान्ति होगी या नहीं। आप विचार कीजिए अशान्ति का कारण भलाई न करना नहीं है, बल्कि बुराई करना है।

तो अगर हम और आप इस बात को मान लें कि हम बुराई नहीं करेंगे चहे हमसे भलाई बनें या न बने लेकिन बुराई बिल्कुल नहीं करेंगे तो आप विश्वशान्ति में पूरा पूरा भाग ले रहे हैं और विश्व-शान्ति में आपका पूरा सहयोग हैं क्यों? क्योंकि आपने बुराई करना छोड दिया यों। तो बुराई करना छोड़ना जो होता है उसमें दो बातें होती हैं। करने की बात में हम स्वाधीन नहीं रहते, सामर्थ्य के अनुसार ही काम कर सकते हैं। जैसे जब तक मैं चाहूँ बोलने में स्वाधीन नहीं हूँ; न बोलने में मैं स्वाधीन हूँ कि नहीं? तो तात्पर्य क्या निकला; जीवन न बोलने में मैं स्वाधीन हूँ कि नहीं? तो तात्पर्य क्या निकला; जीवन का सत्य क्या निकला? जीवन का सत्य यह है कि हम बुराई न करें। और अगर हम यह निर्णय कर लें कि कोई चाहे भला हो या बुरा हो, हम बुराई नहीं करेंगे। क्योंकि दूसरे के सम्बन्ध में पूरी जानकारी तो होती नहीं और कोई आदमी सदैव एक-सा रहता नहीं। आज आपने मुझे बुराई करते देख और बुरा मान लिया। मान लीजिए

मैंने बुराई दोड़ दी तो आपका निर्णय गलत हो गया या नहीं। दूसरे के सम्बन्धमें जो हम लोग राय कायम करते रहते हैं यह बड़ी भ्रमात्मक धारणा है। बड़ी भारी भूल है।

यह जीवन का सत्यहै कि दूसरे के सम्बन्ध में हमको पूरी जानकारी नहीं होती इसलिए हम कोई राय कायम नहीं करेंगे। अर्थात् हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे। इसमें आपको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। इसमें आपको कोई प्रयास नहीं करने पड़ेंगे आपको अपने द्वारा अपने पर शासन करना होगा; अपने द्वारा अपने को समझना-बुझाना होगा; अपने को बताना होगा कि भई देखें दूसरों के सम्बन्धमें राय कायम करना ठीक बात नहीं है। इसलिए हम पहले यह स्वीकार करें कि हमें अधिकार नहीं है किसी को बुरा समझने का।

देखिए बुराई करने वाला बुराई से छूट जाताहै लेकिन दूसरों को बुरा समझने वाला बुराई से नहीं छूटता और उससे बराबर बुराई होती रहती है, क्योंकि वह दूसरों को बुरा समझता है। इसलिए शान्ति के लिए पहली बात क्या है? हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे। दूसरे नम्बर की बात है कि हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, तीसर नम्बर आताहै कि हम बुराई नहीं करेंगे। तो बुराई करना छोटी बुराई है, दूसरों का बुरा चाहना उससे बड़ी बुराई है और किसी को बुरा समझना सबसे बड़ी बुराई है।

तो अगर आप यह चाहते हें कि विश्वशान्ति का प्रश्न हल हो जाए; कल्पना न रहे, स्वप्न न रहे तो हम सबको इस बात का व्रत लेना होगा कि हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे। आप कहेंगे कि हमने अपने लिए यह व्रत ले लिया तेा क्या होगा, विश्वशान्ति कैसे हो जाएगी? इस सम्बन्ध में आप और विचार करें। और विचार यह है कि जो चीज हमारे आपके जीवन में आ जाती है वह चीज व्यापक हो जाती है; विभु हो जाती है; वह चीज फैल जाती है।

इसलिए जब कोई सोचता है कि बुराई नहीं करूँगा, उससे विश्व-शान्ति के लिए बहुत बड़ा काम होता है। आप विचार करके देखेंगे, जो चीज ज्यादा सूक्ष्म होती है वह ज्यादा व्यापक होती है। और जो स्थूल होती है वह सीमित होती है। जैसे जब मैं वाणी से बोलता हूँ तो जीभ की अपेक्षा मन का संकल्प सूक्ष्म है और जो सबसे ज्यादा सूक्ष्म है वह हमारा अहं है। तो मैं किसी को बुरा समझूँगा क्योंकि मैं मानव हूँ। मानव को विश्व-शान्ति में भाग लेना चाहिए अथवा अपना निर्माण करना चाहिए। अपना

निर्माण जो होता है, वह दूसरों को बुरा न समझने से होता है; दूसरों का बुरा न चाहने से होता है। उसका फल होता है, जो किसी को बुरा नहीं समझता, जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके द्वारा बुराई होना बन्द हो जाताहै। यह एक वैधानिक तथ्य है। एक कानून है यह। जब बुराई होना बन्द हो जाता है तब क्या होगा? देखिए, जब हम बुराई नहीं करेंगे तब क्या करेंगे! दो बातें होंगी-या तो आप भलाई करेंगे या नकरने की स्थिति में होंगे।

यह जो न करने की स्थिति है, यह बड़ा सूक्ष्म तत्त्व है। इससे अपना कल्याण होता है। सही करने की जो प्रवृत्ति है उससे विश्वशान्ति होती है। सही काम करने से समाज में शान्ति होती है। यानि विश्व में शान्ति होती है। और न करने से अपना कल्याण होता है। यह एक अनुपम विधान है। यह एक ऐसा अनुभूत सत्यहै कि हम सब प्रत्येक परिस्थिति में विश्वशान्ति अथवा अपने कल्याण में सहयोगी हो सकते हैं। देखिए, परिस्थिति पिता-पुत्र की एक-सी नहीं होती, सहोदर बन्धुओं की एक-सी नहीं होती, सहोदर बहनों की एक-सी नहीं होती। परिस्थिति प्रत्येक व्यक्ति की बिल्कुल व्यक्तिगत होती है। योग्यता में भेद, रुचि में भेद, परिस्थिति में भेद होता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि करने की स्थिति में बाह्य रूप अलग-अलग होगा। जैसे, कल्पना करो एक फैक्ट्री है। उस फैक्ट्री में एक इन्जीनियर भी है, एक मैनेजर भी है, एक कैमिस्ट भी है, एक ओरगेनाइजर भी है, एक क्लर्क भी है। ये इतने लोग है इन सबसे मिल कर फैक्ट्री चलती है। अगर अब कोई कहे हम तो फैक्ट्री जब चलाएँगे जब सब समान हो जाएँगे। तो यदि सब क्लर्क हो जा तब फैक्ट्री चलेगी? सभी कैमिस्ट हो जाएँ तो फैक्ट्री चलेगी? तो यह जो आप पागलपन फैला है कि दुःखी का दुःख मिटे चाहे न मिटे, पर सुखी तो दुःखी हो ही जाए कम से कम; तो सुखी को दुःखी बना कर जो एकता चाहते हैं, वह गलत है।

होना क्या चाहिए? होना यह चाहिए कि आप यह अनुभव करें कि फैक्ट्री मेरी है, लेकिन जो काम मुझे मिला है, वह इतना अच्छा करूँगा कि दूसरा कोई न कर सके। यह ही कैमिस्ट अनुभव करे, यही क्लर्क अनुभव करें, यही मैनेजर अनुभव करें। यही मिल-ओनर भी अनुभव करे कि मुझे मिलओनर का काम मिल है तो मैं इतना अच्छा काम करूँगा कि कोई दूसरा न कर सके।

और योग्यता के अनुसार सबकी अर्थ-व्यवस्था हो। जो उस अर्थव्यवस्थाके बाद बचे, वह मिल-ओनर की निज की सम्पत्ति होकर पुत्र इत्यादि में ही बँट जाए, सो नहीं। मिल चलता रहे इतना तो मिल-ओनर को चाहिए। अगर मिल की सम्पत्ति से मिल चलना बन्द हो जाए तो उसका नाम बदल जाएगा। गवर्नमैंट की तरफ से कोई न कोई मुकर्रर (नियुक्त) हो जाएगा। कानून यह है कि आदमी रहेगा तो ईमानदार रहेगा। तोहम सबको यह सोचना चाहिए कि सारी सृष्टि एक इकाई है।

जब हर आदमी यह सोचेगा कि मेरी जो डयूटी है; मुझे जो कर्त्तव्य मिला है उसे मैं पूरी ईमानदारी से निभाऊँगा और मेरा अधिकार क्या है? उस पर थोड़ा विचार करना चाहिए। मेरा अधिकार है कि मैं शान्ति पा जाऊँ। आज आप लोग इस बात को भूल गए हैं। कोई कानून आज तक ईमानदारी फैला नहीं सका। कोई मजहब आज तक शान्ति नहीं ला सका। मानव-सेवा-संघ ने यह बताया कि अगर आप विश्वशान्ति चाहते हैं तो आपके जीवन के दो भाई है- एक आपका बाह्य जीवन जिसको सत्संग के रूप में आप जी रहे हैं और एक आपका आन्तरिक जीवन जिसको आप शान्ति के रूप में देखें। अगर आपको व्यक्तिगत रूप से शान्ति मिल गई है तो आपका बाह्य सत्संग ठीक चल रहा है और अगर आप व्यक्तिगत रूप से अशान्त हैं तो सत्संग ठीक नहीं हुआ।

आजकल यह हो रहा है कि व्यक्तिगत जीवन में तो अशान्ति बढ़ती जाती है और आप विश्व-शान्ति के गीत गाते चले जाते हैं। यह कभी होने वाला नहीं है। अगर व्यक्तिगत जीवन में शान्ति आ जाए तो विश्वशान्ति की समस्या हल हो सकती है। तो व्यक्तिगत शान्ति तब बढ़ेगी जब आपको इस बात में पूरा भरोसा हो कि किसी भी काम को करने के अन्त में जो न करने की स्थिति आती है और काम को करने के पूर्व जो न करने की स्थिति आती है उस न करने की स्थिति में जो जीवन है वह मेरा अपना जीवन है। और काम करने में जो जीवन है, वह सामाजिक जीवन है। अगर आप यह नहीं मानेंगे कि मैं एक मिल का मालिक होत हुए समाज का प्रतिनिधि हूँ तो आप शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। समाज का हर आदमी विश्व-शान्ति में पूरा-पूरा भाग लेने वाला है। यानी हर आदमी इसमें भाग लेगा तब शान्ति होगी।

इसके लिए हर आदमी को सोचना होगा कि मैं अपने कर्त्तव्य से

दूसरों के अधिकार की रक्षा करूँगा। विश्व क्या है? जरा विचार कीजिए। और व्यक्ति क्या है? व्यक्ति है समाज के अधिकारों का पुंज और समाज क्या है व्यक्ति के कर्त्तव्यों का पुंज। तो जब तक व्यक्ति और समाज का जो प्राथमिक सम्बन्ध है, जो अटूट सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध जब तक आदमी अनुभव नहीं करेंगे तब तक न तो व्यक्तिगत जीवन में शान्ति होगी, न पारिवारिक शान्ति होगी, न सामाजिक शान्ति होगी और न विश्वशान्तिहोगी। आप विचार करके देखिए।

जब आप अनेक कल्पनाओं को मानते हुए भी अनेक भावनाओं को मानते हुए भी इस बात को मानेंगे कि भाई वास्तव में मूलभूत रूप में तो मैं मानव हूँ। क्यों? मैं इसलिए मानव हूँ कि मैं दूसरों के अधिकार की रक्षा करूँगा। मैं इसलिए मानव हूँ कि मैं अधिकार को समाज पर छोड़ कर अपने मेंजो अपना जीवन है उसको प्राप्त करूँगा।

देखिए, आप विचार करके देखिए कि, किसी के दान से किसी की दरिद्रता नाश नहीं होती, किसी की उदारता से किसी का दुःख नाश नहीं होता। आपके जीवन का दुःख तभी नाश होगा जब आप अपने में सन्तुष्ट होंगे। अपने में सन्तुष्ट कब होंगे? जब आप इस बात को मान लें कि कर्त्तव्य का सम्बन्ध संसार के साथ है और योग का सम्बन्ध अपने साथ है। मैं बोल-चाल की भाषा में हूँ, कि करने का सम्बन्ध संसार के साथ है और न करने का सम्बन्ध अपने साथहै। न करने में जीवन है यह बड़े रहस्य की बात है, यह बहुत ऊँचा दर्शन है। न करने में जीवन है जब तक यह सत्य आपके सामने नहीं आएगा और करने में विश्व-शान्ति है, हमारा बाह्य रूप विश्व के साथ है, तब तक विश्वशान्ति का प्रश्न हल नहीं होगा।

चाहे हम कुछ भी छोटे से छोटा काम कर रहे हो ऐसा मान कर करें कि विश्व रूपी बाटिका का एक छोटा-सा भाग, मैं भी काम कर रहा हूँ। हर आदमी को इस बात का गौरव हो कि चाहे मैं मजदूर हूँ तो क्या और कोई मिल-ओनर है तो क्या। मैं क्लर्क हूँ तो क्या मैं समाज का उतना ही बड़ा प्रतिनिधि हूँ जितना कोई भी है। लेकिन आज इस बात को भूल जाते हैं और समझने लगते हैं कि मिल-ओनर समाज का बड़ा प्रतिनिधि है और मजदूर छोटा प्रतिनिधि है।

अरे भाई, जरा विचार करके देखों, आपने किसी मशीन को देखा है? कोई पुर्जा बहुत छोटा है और कोई पुर्जा बहुत बड़ाहै। छोटे से छोटे

पुर्जे के बिना मशीन चलेगी क्या? क्या राय है? शरीर को देखों, सर सबसे ऊँचा रहता है और पैर सबसे नीचे। तो सर बहुत बड़ा हो गया और पैर छोटा हो गया?

आज मनुष्य, मनुष्य होने में जीवन का गौरवहै इस बात को भूल गया और परिस्थिति के आधार पर अपने जीवन का मूल्यांकन करने लगा। मैं बड़ा आदमी इसलिए हूँ कि मेरे पास इतना पैसा है। मैं बड़ा आदमी इसलिए हूँ कि मुझे ऐसा पद मिला है, मैं बड़ा आदमी हूँ क्योंकि मुझमें अधिक योग्यता है। केवल अधिक योग्यता होने से कोई बड़ाआदमी नहीं हो जाता है। जिन्ना साहब के उदाहर से यह बात सिद्ध होती है। जिन्ना साहब बहुत बड़े कानून के आदमी थे। किसी ने उनसे पूछा कि तुम तो इस्लाम को मानते नहीं हो। उन्होंने कहा कि मैं तो इस्लाम का वकील हूँ, इस्माल को मानता थोड़े ही हूँ। बेपढ़े लिखे लोगों ने समझ लिया कि जिन्ना साहब बहुत पढ़े-लिखे हैं। और उनकी यह बात बिल्कुल झूठी साबित हो गई कि दो मजहब के आदमी एक जगह नहीं रह सकते अथवा एक घर में दो मजहब के आदमी नहीं रह सकते। हमने तो यह देखा है कि पत्नी आर्यसमाज है और पति सनातमनधर्मी है। लड़का कबीर पंथी है और भाई कुछ और है। तोपरिवार में दो अलग-अलग मत के व्यक्ति रह सकते हैं। और ये बेसमझ आदमी कहते हैं कि एक देश में दो मजहब के आदमी नहीं रह सकते। जब पाकिस्तान में इस बेसमझी की बात को बढ़ाया गया तो लाखों घर बरबाद हुए।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि यह मजहब की प्रधानता क्यों? यह बल की प्रधानता क्यों? यह सब सत्य से दूर है और इस प्रकार हम शान्ति में भाग नहीं ले सकते। तो करने वाली बात तो यह है कि तुम भी बुराई-रहित हो जाओ और मैं भी बुराई-रहित हो जाऊँ। तुम अपनी सामर्थ्य के अनुसार भलाई करो, मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार भलाई करूँ।

जो आपका-हमारा फर्ज है उसे पूरा कर दो। आप अपनी परिस्थिति का सदुपयोग करो, मैं अपनी परिस्थिति का सदुपयोग करूँ। इसमें कोई फर्क नहीं हैं। न करने की स्थिति में हम सब एक होंगे या नहीं? गहरी नींद में जाकर हम सब एक हो जाते हैं या नही हो जाते? अन्तर्मुख हो जाते हैं या नही हो जाते? क्या हम जागृति में अन्तर्मुख हो जाएँगे, स्वप्न में अन्तर्मुख हो जाएँगे?

क्या राय है? कभी नहीं हो सकते। तो जैसे गहरी नींद में हम सब एक होते हैं वैसे ही न करने की स्थिति में हम सब एक होते हैं। पढ़ा-लिखा और बेपढ़ा-लिखा, पैसे वाला और बगैर पैसे वाला, बड़े फर्म में बैठा हुआ और छोटे फर्म में बैठा हुआ, गहरी नींद में सब बराबर होते हैं।

उस न करने की स्थिति में क्या है? न करने की स्थिति में जीवन है। जीवन में तीन बातें होती हैं-चेतना होती है, रस होताहै और वह अविनाशी होता है। उसे जीवन नहीं कहते जिसका नाश हो जाए, उसे जीवन नहीं कहते जिसमें नीरसता आ जाए, उसे भी जीवन नहीं कहते जिसमें जड़ता हो। जीवन अविनाशी, चेतन तथा रसरूप है। और वह जीवन आपको अपने में सन्तुष्ट होने से मिलता है। और अपने में सन्तुष्ट आप तब होते हैं जब सही काम करके काम-रहित हो जाएँ। इसमें अपनी-अपनी बात है। कोई तो सही काम करके कामरहित होता है और कोई काम-रहित होकर सही का काम करता है।

तो जीवन के मूल मंत्र को देखिए कि सही काम करो और आराम करो। आराम करने में जीवन है इस सत्य को भूल गए और सही काम करने से विकास होता है इस सत्य को भूल गए। काम के फल से विकास नहीं होता, विकास होता है सही काम करने से। और सही काम तभी कर सकते हैं जब इस बात को स्वीकार करें कि हमें जो काम करना है वह समाज के लिए करना है, वह विश्व के लिए करना है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति विश्व के लिए हो तब हम विश्वशान्ति को कल्पना न मान कर वास्तविकता मानेंगे।

आज यह प्रश्न ही क्यों उठा? आपके मन में यह सन्देह क्यों हुआ। जिसे देखों विश्व-शान्ति की बात करता है। शान्त होकर विश्वशान्ति की बात करो विश्वशान्ति का उपाय करो। लेकिन आप उपाय करत हैं अशान्त होकर। स्वयं अशान्त रह कर विश्वशान्ति के गीत गाते हैं-यह दम्भ है। यह अपने को धोखा देना है। यह कभी होने वाला नहीं है। हाँ, आपके सारे जीवन में यह प्रश्न हो जाए कि भई, जीवन का एक भाग ऐसा होना चाहिए जहाँ मजदूर और मिल-ओनर, पढ़ा-लिखा और बेपढ़ा, चपराश्सी और प्राइम मिनिस्टर सब एक हो जाएँ। ऐसे जीवन में परमात्मा आताहै। प्राइम मिनिस्ट को शान्ति और मजदूर को भी शान्ति, चपरासी को भी शान्ति और मिल-ओनर को भी शान्ति। तो जब तक हम उस जीवन की प्राप्ति नहीं करेंगे, जहाँ

जाकर सब एक होते हैं तब तक कभी भी न व्यक्तिगत शान्ति होगी, न पारिवारिक शान्ति होगी और न सामाजिक शान्ति होगी। और यह सब कब होगा? जब स्वयं हम यह मान लें कि सम्पूर्ण विश्व एक इकाई है; यह सारा संसार एक इकाई है।

आप विचार कीजिए। जब तक आप इतनी महानता से नहीं सोचेंगे कि 'यह' एक संसार है और 'वह' एक परमात्मा है तब तक विश्वशान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकतां आप विचार करके देखो-तीन बातें सोचना है-'मैं' हूँ 'यह' है और 'वह' है। ये तीनों मिलकर एक जीवन है। तो 'यह' की दृष्टि में संसार, 'वह' की दृष्टि में परमात्मा और 'मैं' की दृष्टि में आत्मा। जब तक आप यह न मानेंगे कि प्रत्येक मानव एक विश्व-मानव है, समस्त विश्व एक मानव की अवस्था है; एक मानव की परिस्थिति है। जब तक आप और हम इसके साथ एकता स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक विश्वशान्ति मात्र एक कल्पना होगी।

हमने एकता तो स्वीकार कर ली वर्ग के साथ, तो इससे देश गया, एकता स्वीकार कर ली देश के साथ, तो विदेश गया, एकता तो स्वीकार कर ली प्रान्त के साथ, तो दूसरा प्रान्त गया, एकता तो स्वीकार कर ली इज्म के साथ तो दूसरा इज्म गया। जब तक हम अनेकानेक कल्पनाओं में बँधे रहेगे तब तक कभी भी न व्यक्गित शान्ति होगी और न विश्व-शान्ति होगी। और अगर हम इस मान्यता पर आ जाएँ कि हम तो मानव हैं, चाहे हम परमात्मा को मानते हों या न मानते हों, संसार को मानते हों या न मानते हों, हैं मानव।

और मानव होने के नाते हमें जो कुछ करना है वह ऐसा नहीं करना है जिससे समाज में संघर्ष हो। जब आप सो कर उठें तो सोचना चाहिए कि आज मैं कोई ऐसा काम नहीं करूँगा जिससे परिवार में, समाज में संघर्ष हो जाएँ। और कोई ऐसा काम नहीं करूँगा अर्थात् न करने वाली बात नहीं करूँगा। आप देखिए कि आप विश्वशान्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे और आपको स्वयं शान्ति मिलेगी।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मनुष्य मात्र का यह अपना प्रश्न हो कि मुझे विश्व-शान्ति का प्रश्न हल करना है तब तो हल हो सकता है। अगर विश्वशान्ति का प्रश्न कोई कम्यूनिज्म से या सोशलिज्म से हल करना चाहता हो तो अब तक तो हुआ नहीं। संसार में अनेक मजहब मौजूद हैं, अनेक इज्म मौजूद हैं फिर भी विश्व में शान्ति नहीं

है। आप यह नहीं कह सकते कि कम्युनिस्ट देशों में गरीबी मिट गई, आप नहीं कह सकते कि सम्पन्न देशों का मजदूर रूप के मजदूरों से ज्यादा दुःखी है।

मैं आपसे कहता हूँ कि यह एक भ्रमात्मक धारणा है, एक भ्रम ही है कि परिस्थिति बदलने से अशान्ति मिटती है; दुःख मिटता है। परिस्थिति बदलने से दुःख नहीं मिटता भाई। मैं आपसे क्या निवेदन करूँ जब देश आजाद नहीं हुआथा तब हम लोगों को यह पूरा विश्वास था कि जब देश आजाद हो जाएता तो सारी समस्याएं हल हो जाएँगी। आप ही देश लीजिए आजाद होने पर क्या सारी समस्याएँ समाप्त हो गई?

अगर ये तीन आदमी सम्हल जाएँ तो सब सम्हल जाएँ। नेता, गुरु, और स्त्री यदि सम्भल जाएँ तो सारी सृष्टि सम्हल जाएँ। अगर स्त्री ईमानदारी से कह दे अपने पति से कि हम घटिया साड़ी पहनेंगी, बढ़िय नहीं तुम बेईमानी मत करो तो वह पति बेईमानी नहीं करेगा। यह तो मेरी विनोद की भाषा थी। अब आप मुख्य विषय पर आ जाइये। अगर सचमुच आप यह जानना चाहते हैं कि विश्वाशान्ति कल्पना है या वास्तविकता है। अगर आप इसमें भाग लेना चाहते हैं तो वास्तविकता है और अगर आप अपने को बचा कर व्याख्यानों से, मजबह और इज्म आदि से शान्ति चाहते हैं तो कल्पना है। आपके प्रश्न का उत्तर हो गया या नहीं?

अगर हर भाई, बहन के दिल में यह दर्द हो जाएं कि विश्व-शान्ति में मुझे भाग लेना है, तो यह कल्पना नहीं है। अगर आप समझते हैं कि मजबह बदलने से, इज्म बदलने से, परिस्थिति बदलने से विश्व-शान्ति हो जाएगी तो यह बिल्कुल भ्रम है क्योंकि परिस्थिति कैसी भी हो सब अभावयुक्त हैं। कोई परिस्थिति शान्ति-दायक नहीं होती। परिस्थिति का सदुपयोग ही शान्ति-दायक होता है। हर परिस्थिति में सुख भी होता है; दुःख भी होताहै, दुःख होता है तो सुख भी होता है। इस प्रकार सुख-दुःख का सदुपयोग करना अगर आ जाए तो विश्वशान्ति का प्रश्न हल हो ही जाएगा। तुम सुखी को देख प्रसन्न तो विश्वशान्ति का प्रश्न हल हो जाएगा। तुम सुखी को देख कर प्रसन्न और दुःखी को देखकर करुणित हो जाओ। आप शरीर को संसार से अलग नहीं कर सकते। शरीर संसार में ही रहा हैं, संसार में ही रहेगा, संसार से बाहर नहीं जा सकता तो अगर हम सुखी को देखकर प्रसन्न नहीं होते तो काम का नाश ही नहीं

होगा। अगर दुःखी को देख कर करुणित नहीं होते तो भोग की रुचि का नाश नहीं होगा। और भोग की रुचि का नाश नहीं होगा तो यो कैसे होगा? काम का नाश नहीं होगा तो राम मिलेगा कैसे? काम का नाश हो तब न राम मिले।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि जब मनुष्य में दुःखी को देख कर करुणा उदय होती है तब सुखी को देख कर प्रसन्नता होनी चाहिए। करुणा और प्रसन्नता से आपका मन शुद्ध हो जाएगा। करुणा से भी मन शुद्ध होता है और प्रसन्नता से भी मन शुद्ध होता है। प्रसन्नता से काम-नाश होता है इसलिए मन शुद्ध हो जाएगा और करुणा से भोग-वासना नाश हो जाएगी इसलिए मन शुद्ध हो जाएगा। और जब मन शुद्ध हो जाएगा तो आपके व्यक्तिगत जीवन में शान्ति आ जाएगी। और वह व्यक्तिगत जीवन की जो शान्ति है वह जीवन आ जाने से विभु हो जाएगी, व्यापक हो जाएगी। क्यों? अहं रूपी जो अणु है वह संसार से बहुत सूक्ष्म हैं। देखो, स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् तथा सूक्ष्म जगत् से कारण जगत् सूक्ष्म है तथा अहं सबसे ज्यादा सूक्ष्म है। इसलिए यह बात अगर आपके अहं में आ गई कि विश्व शान्ति का प्रश्न मेरा अपना प्रश्न है, उसमें मुझे भाग लेना है तो विश्वशान्ति का प्रश्न अवश्य हल हो जाएगा।

विश्वशान्ति में हम कैसे भाग ले सकते हैं इस सम्बन्ध में चार बातें बताई-पहली बात यह कि मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित हो जाएँ, फिर परिस्थिति के अनुसार भलाई करें, फिर भलाई के बदले में कुछ न चाहें और फिर प्रभु-प्रेमी होकर रहें। ये चार बातें हैं।

बुराई-रहित होना विश्व-सेवा, भलाई करना परिवार, समाज और शरीर की सेवा, अचाह होना अपनी सेवा और प्रेमी होना परमात्मा की सेवा। आप परमात्मा को मानते हैं या नहीं मानते, इससे कोई मतलब नहीं लेकिन प्रेम को तो मानते हो। प्रेम तो आपको अच्छा लगता है। आपको कोई प्यार करे तो बुरा थोड़ा ही लगता है। और प्रेम देने से कभी घटता है क्या? तो प्रेम प्रभु की सेवा है, अचाह होना अपनी सेवा है, यथाशक्ति भलाई करना समाज की सेवा है और बुराई-रहित होना विश्व की सेवा है।

तो जब आप विश्व की सेवा करेंगे तब विश्व-शान्ति होगी। परिवार की सेवा करेंगे तो परिवार में शान्ति होगी। अपनी सेवा करेंगे तो आपको व्यक्तिगत शान्ति मिलेगी और प्रेम करेंगे तो शान्ति के ऊपर का जो

जीवन है वह आपको प्राप्त होगा। यह जो परमात्मा है वह शान्ति से बहुत ऊपर का है। मुक्ति से भी ऊपर का है। वास्तव में प्रेमी-हृदय में परमात्मा की सेवा होती है, अचाह जीवन में अपनी सेवा होती है, उदार जीवन से संसार की सेवा होती है और यथाशक्ति भलाई करने में परिवार की और समाज की सेवा होती है। तो विश्वशान्ति का प्रश्न हल करना है तो विश्व की सेवा करो, व्यक्तिगत शान्ति का प्रश्न हल करना है तो व्यक्तिगत सेवा करो अर्थात् अचाह होकर रहो और सामाजिक शान्ति का प्रश्न हल करना है तो समाज की सेवा करो, यथाशक्ति भलाई करो अर्थात् जो नहीं कर सकते वह मत करो। देखो सत्संग की परिभाषा यह नहीं है कि आप वह करें जो नहीं कर सकते या आप वह करें जो नहीं करना चाहिए।

तो बल का दुरुपयोग, विवेक का अनादर, विश्वास में विकल्प यह कभी नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए वह मत करो। जो नहीं कर सकते वह मत करो। क्या नहीं कर सकते? सामर्थ्य-विरोधी बात मत करो; ज्ञान-विरोधी बात मत करो। तो ज्ञान-विरोधी बात करनी नहीं चाहिए। सामर्थ्य-विरोधी बात कर ही नहीं सकते। यदि ज्ञान-विरोधी बात नहीं करेंगे तो बुराई जीवन में नहीं जाएगी और अगर सामर्थ्य-विरोधी बात नहीं करेंगे तो आपके जीवन में निराशा नहीं आएगी। क्यों? जो कर सकते हैं कर दिया, तो करना था वह कर दिया।

उसके बाद कर्त्तव्य का उत्तर पक्ष है योग-विज्ञान। जब आदमी सही काम कर देता है तो योग की प्राप्ति होती है। योग में बोध है और बोध में प्रेम है। योग-बोध-प्रेम में जीवन है। योग से व्यक्तिगत शान्ति होती है, बोध में आत्मा की शान्ति होती है और प्रेम से प्रभु-भक्ति की अभिव्यक्ति होती है। तो हर भाई को, हर बहन को, योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति हो सकती है; भोग-मोह और आसक्ति की निवृत्ति हो सकती है। इस रीति से विश्व शान्ति यदि हमारा आपका सबका अपना प्रश्न हो जाए तब यह प्रश्न वास्तविक है। और जब तक यह प्रश्न हमारा अपना प्रश्न नहीं हो जाता तब तक अमुक परिस्थिति बदल जाएगी तो शान्ति मिल जाएगी, अमुक मजहब फैल जाएगा तो शान्ति मिल जाएगी; तो मैं तो यह मानता हूँ, कि तब तक विश्वशान्ति की बात करना कल्पना ही कल्पना है।

तो आपको खूब पता चल गया कि परिस्थिति बदलने से अशान्ति नहीं मिट सकती। परिस्थिति के सदुपयोग से अशान्ति मिटा करती

है, दुःख मिट सकता है। इसलिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से आप विश्वशान्ति में सहभागी हो सकते हैं। और आप अपने में सन्तुष्टरह कर, प्रेमी होकर रह सकते हैं आप अगर भौतिकवादी हैं तो विश्व प्रेम को पसन्द करो, अध्यात्मवादी हैं तो आत्मरति को पसन्द करो, ईश्वरवादी हैं तो प्रभु-प्रेम को पसन्द करो। तो प्रेमास्पद का नाम बदल जाएगा लेकिन प्रेम तो एक ही रहा न? प्रेम तो एक ही तत्त्व रहा न? तो मनुष्य के विकास में जो प्रेम का विकास है वह अन्तिम विकास है। स्वाधीनता यह दूसरे नम्बर का विकास है और उदारता तीसरे नम्बर का विकास है। यह तीनों प्रकार का विकास जब हो जाएगा तब व्यक्तिगत् शान्ति, सामाजिक शान्ति और विश्व-शान्ति का प्रश्न हल हो जाएगा और अगर यह विकास न हुआ तो विश्वाशान्ति का प्रश्न एक कल्पना ही है।

‘मैं’ की खोज

'मैं' क्या है?

जीवन का अध्ययन करने पर मुख्य प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि 'मैं' क्या हूँ? यद्यपि हम सभी अपने को मानते हैं, क्या वही हमारा अस्तित्व है? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक मान्यता का उद्गम स्थान 'यह' के साथ तद्रूप होने में है। 'यह' के अर्थ में शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को लेना चाहिये। अतः यदि हम 'यह' से, अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से विमुख होकर अपना पता लगाये, तो अपने में किसी मान्यता का आरोप नहीं कर सकते। मान्यता को अस्वीकार करते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। चाह रहित होते ही समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही राग-द्वेष सदा के लिये मिट जाते हैं। राग का अन्त होते ही भोग 'योग' में, मृत्यु'अमरत्व' में और द्वेष का अन्त होते ही मोह 'प्रेम' में विलीन हो जाता है। फिर कर्त्ता, कर्म और फल-ये तीनों मिटकर उसी से अभिन्न हो जाते हैं, जो सभी का सब कुछ है।

यही नहीं, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप होने पर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु सिद्ध नहीं होती; क्योंकि शरीर आदि से तद्रूप होने पर तो विश्व का दर्शन होता है। अथवा यों कहो कि शरीर उसी विश्वरूपी सागर की एक बूँद जान पड़ता है, और कुछ नहीं। शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से यही सिद्ध होता है कि शरीर से तद्रूपता होने पर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अपितु शरीर से तद्रूप होने पर 'मैं' का अर्थ समस्त विश्व हो जाता है। फिर व्यक्तिगत मान्यता के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

क्या विश्व के साथ एकता होने वाली मान्यता हमारे जीवन में कुछ अर्थ रखती है? यदि रखती है, तो कहना होगा कि जिस प्रकार हम समस्त विश्व से उपेक्षा-भाव रखते हैं, उसी प्रकार हमें शरीर से भी उपेक्षा रखनी होगी। अथवा जिस प्रकार शरीर के प्रति आत्मीयता रखते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता करनी होगी। शरीर के प्रति उपेक्षा होने पर भी मोह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता होने पर भी सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह सकती। मोह तथा सीमित प्यार का अन्त होते ही अविवेक तथा सब प्रकार के राग का

अन्त स्वतः हो जाता है। अविवेक का अन्त होते ही नित्यज्ञान से अभिन्नता और राग का अन्त होते ही नित्ययोग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

अब यदि कोई कहे कि ज्ञान तो इन्द्रिय, बुद्धि आदि में भी है। तो कहना होगा कि इन्द्रियो का ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है, अल्प ज्ञान है और बुद्धि का ज्ञान भी अनन्त ज्ञान नहीं है, सीमित है। इन्द्रिय-ज्ञान से बुद्धि-ज्ञान भले ही विशेष हो; परन्तु अविवेक का अन्त होने पर जिस ज्ञान से अभिन्नता होती है, वह तो अनन्त और नित्य ज्ञान है, सीमित तथा परिवर्तनशील नहीं। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त ज्ञान से ही प्रकाशित है, स्वतन्त्र नहीं है; परन्तु नित्यज्ञान स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं।

इन्द्रियों का ज्ञान विषयों में आसक्ति और बुद्धि का ज्ञान विषयों से अनासक्ति कराने में हेतु है। अथवा यों कहो कि बुद्धि के ज्ञान से निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो सकती है तथा इन्द्रियों के ज्ञान से भोगों में आसक्ति ही उत्पन्न होती है, और कुछ नहीं; परन्तु नित्य ज्ञान से तो नित्य योग और अमरत्व की प्राप्ति भी होती है। हाँ, इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग स्वार्थ-भाव को त्यागकर विश्व की सेवा करने में है और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग विषयों से विरक्त होने में है। इस दृष्टि से इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान भी अपने-अपने स्थान पर आदरणीय हैं। परन्तु कब तक? जब तक इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग है, विषय-लोलुपता में और बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग है, विवाद में, जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

'मैं' और 'विश्व' एक है, यह मान्यता भी साधनरूप मान्यता हो सकती है, साध्यरूप नहीं; अर्थात् निर्णयात्मक नहीं। इस साधनरूप मान्यता से हमें सीमित प्यार का अन्त करना है एवं देह के मोह से और उसकी तद्रूपता से रहित होना है। विश्व से एकता स्वीकार करते ही सामूहिक सुख-दुःख अपना सुख-दुःख हो जाता है, जो हृदय में करुणा और प्रसन्नता प्रदान करने में समर्थ है। करुणा भोग-प्रवृत्ति को और प्रसन्नता भोग-वासनाओं को खा लेती है; ऐसा होते ही समस्त कामनाओं का अन्त हो जायेगा। कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता आ जायेगी और गुणों का अभिमान गल जायेगा, जिसके गलते ही परिच्छिन्नता तथा संकीर्णता सदा के लिये मिट जायेगी। उसके मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जायेगी। फिर सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु नहीं रहेगी, अर्थात् सभी

आसक्तियाँ मिटकर उस अनन्त की प्रीति बन जायेंगी। प्रीति तथा आसक्ति में बड़ा अन्तर है। आसक्ति में जड़ता और प्रीति में चिन्मयता होती है। आसक्ति मिट सकती है, पर प्रीति नित्य होती है। आसक्ति का जन्म किसी अविवेकयुक्त प्रवृत्ति से तथा अभ्यास से होता है; परन्तु प्रीति अभ्यासजन्य नहीं है, स्वभाव है, श्रमरहित है, जीवन है। यह अविवेकसिद्ध नहीं है, अपितु विवेकसिद्ध है। आसक्ति की पूर्ति तथा निवृत्ति होती है; परन्तु प्रीति की न पूर्ति होती है, न निवृत्ति। आसक्ति घटती-बढ़ती तथा मिटती है; किन्तु प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यह घटती या मिटती नहीं है। आसक्ति वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में सीमित रहती है; परन्तु प्रीति विभु होती है। आसक्ति बन्धन उत्पन्न करती है और मृत्यु की ओर ले जाती है; परन्तु प्रीति स्वाधीन बनाती है और अमरत्व प्रदान करती है। आसक्ति एक में अनेकता का दर्शन कराती है और प्रीति अनेकता को एकता में विलीन करती है; क्योंकि प्रीति की दृष्टि में प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं रहता।

इस दृष्टि से 'मैं' का अर्थ विश्व के साथ एकता अथवा अनन्त से अभिन्नता अथवा अनन्त की प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो 'मैं' का अर्थ कुछ नहीं, या सब कुछ है, या केवल प्रीति ही है।

(-मानव सेवा संघ, वृन्दावन के ग्रन्थ "जीवन दर्शन" से साभार)

'मैं' का स्वरूप'

जीवन का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है कि मैं क्या हूँ? यह नियम है कि प्रश्न की उत्पत्ति अधूरी जानकारी में ही होती है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, अथवा पूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में प्रश्न की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि 'मैं' क्या हूँ", इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह जानना विवेकपूर्वक न हो, अपितु विश्वास के आधार पर हो; क्योंकि विवेकपूर्वक जान लेने पर तो निस्संदेहता आ जाती है, फिर प्रश्न की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

विकल्परहित विश्वास ज्ञान न होने पर भी ज्ञान-जैसा प्रतीत होता है। उसी विश्वास के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'मैं' क्या हूँ? क्योंकि 'मैं' की अस्वीकृति किसी को नहीं है। यद्यपि केवल स्वीकृति को 'मैं' नहीं

कह सकते, तो भी हम स्वीकृति के स्वरूप में अपने को मानते हैं। कभी-कभी तो दृश्य के साथ मिलकर अपने को मान लेते हैं और कभी श्रवण की हुई स्वीकृति को भी 'मैं' मान लेते हैं। जब हम दृश्य के साथ मिलकर अपने को मानते हैं, तब कामनाओं का उदय होता है और वे सभी कामनाएँ इन्द्रियजन्य स्वभाव के अनुरूप होती है; अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कराने वाली होती हैं। यद्यपि विषय-प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ नहीं होती, अपितु शक्तिहीनता, जड़ता एवं परतंत्रता की अनुभूति होती है। उस अनुभूति के आधार पर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'मैं' क्या हूँ? अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, चिन्मयता एवं स्वाधीनता की माँग उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से 'मैं' का अर्थ हो जाता है, उसकी लालसा, जिसमें जीवन है, सामर्थ्य है, स्वाधीनता है। जब तक भोग प्रवृत्ति के परिणाम की वेदना नहीं होती, तब तक तो 'मैं' का अर्थ रहता है, भोगवासनाओं का समूह। यद्यपि भोग-वासनाएँ जिज्ञासा को मिटा नहीं पातीं, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है। उसी स्थिति में प्राणी को कभी भोगवासनाएँ और कभी जिज्ञासा, दोनों ही अपने में प्रतीत होती हैं, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा और भोगवासनाओं का द्वन्द्व रहता है। उस द्वन्द्व का अन्त करने के लिये ही प्राणी अपने को साधक मानता है, अथवा यों कहो कि उसमें साधन की रुचि जाग्रत होती है। साधन की रुचि जाग्रत होने पर सर्वप्रथम 'मैं' दृश्य नहीं हूँ, यह विचार उदित होता है। उसका उदय होते ही 'मैं' क्या हूँ?' यह समस्या सामने आती है।

देह के साथ अपने को मिला लेना ही दृश्य के साथ मिल जाना है, पर उस देह के प्रति भी अनेक मान्यताएँ होती हैं, जो साधन-रूप हैं। जैसे 'मैं' हिन्दुस्तानी हूँ', अतः हिन्दुस्तान का ह्रास-विकास मेरा ह्रास-विकास है। उसी प्रकार देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्यक्षेत्र के अनुरूप अनेक मान्यताओं के साथ हम अपने को मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओं की भूमि केवल देह है। इस दृष्टि से देह साधन का क्षेत्र है; परन्तु अन्तर यह हो जाता है कि केवल देह के साथ मिले रहने से तो पशुता के समान केवल भोग की ही रुचि उत्पन्न होती है, पर साधनरूप मान्यताओं के साथ मिलने से भोग-प्रवृत्ति में भी एक मर्यादा आती है और उसके साथ-साथ भोग-निवृत्ति की लालसा भी जाग्रत हो जाती है; क्योंकि भोग-प्रवृत्ति का परिणाम किसी को अभीष्ट नहीं है।

साधनरूप समस्त मान्यताएँ दो भागों में विभाजित हैं। एक भाग तो वह है, जिसमें अपने को सुन्दर बनाने वाली मान्यताएँ हैं और दूसरा वह भाग है, जिसमें दूसरों के अधिकार की रक्षा करने वाली मान्यताएँ हैं। अथवा यों कहो कि अपने को सुन्दर बनाकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से जब राग की निवृत्ति हो जाती है, तब स्वतः समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप हो जाती है। फिर यह प्रश्न कि 'मैं क्या हूँ'? हल हो जाता है।

साधनरूप'मैं' यद्यपि तीन भागों में विभाजित है-विषयी, जिज्ञासु तथा भक्त। उनमें से विषयी भाव की मान्यता तो दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती; किंतु जिज्ञासा तथा भक्तभाव की मान्यताएँ दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने में समर्थ हैं। अपने को विषयी मान लेने में उत्कृष्ट भोगों की ही रुचि दृढ़ होती है, जो दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है। दृश्य से सम्बन्ध रहते हुए 'मैं' क्या हूँ'? यह प्रश्न हल नहीं हो सकता।

ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा परिवर्तनशील जीवन को सुन्दर बनाने का अर्थ यह है कि उस व्यक्तित्व की आवश्यकता समाज को हो जाय और उसे समाज की आवश्यकता न रहे। अथवा यों कहो कि उसकी आवश्यकता को समाज अपनी ही आवश्यकता समझने लगे। यदि समाज की उदारता, सेवा एवं स्नेह के आधार पर व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहा, तो भी यह प्रश्न हल नहीं होगा कि 'मैं' क्या हूँ?' 'मैं' क्या हूँ'? इस प्रश्न को वही साधक हल कर सकता है, जो समाज का ऋणी न हो और समाज की उदारता की दासता में आबद्ध न हो। समाज का ऋणी न रहने पर व्यक्ति का मूल्य समाज से अधिक हो जाता है और समाज की उदारता का भोग न करने पर वह व्यक्तित्व के मोह से रहित हो जाता है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही तीव्र जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो 'मैं' क्या हूँ'? इस समस्या को हल करने में समर्थ है। जिस काल में जिज्ञासा माने हुए सभी सम्बन्धो को खा लेती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। तब 'मैं' नित्य जीवन से अभिन्न हो जाता है।

अनित्य जीवन का और नित्य जीवन का आश्रय बिना लिये 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अनित्य जीवन के साथ मिलाने से 'मैं' अनेक मान्यताओं के रूप में प्रतीत होता है और मान्यता के अनुरूप ही

कर्त्तव्य तथा राग का जन्म होता है। कर्त्तव्य राग-निवृत्ति का साधन है। अतः जिस प्रकार औषधि की आवश्यकता रोग-काल में होती है, अरोग्य-काल में नहीं, उसी प्रकार कर्त्तव्य की प्रेरणा राग-निवृत्ति के लिये ही होती है। राग-रहित होते ही अनित्य जीवन से तो सम्बन्ध टूट जाता है और नित्य जीवन से अभिन्नता हो जाती है; क्योंकि अनित्य जीवन और नित्य जीवन में देश-काल की दूरी नहीं है। अनित्य जीवन की भिन्नता और नित्य जीवन की अभिन्नता के मध्य में 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु कभी देखने में नहीं आती। हाँ, यह अवश्य है कि अनित्य जीवन के सम्बन्ध से जो आसक्ति उत्पन्न हो गयी थी, वह नित्य जीवन से अभिन्नता होते ही प्रीति के रूप में बदल जाती है। जिस प्रकार पहले अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति प्रतीत होती थी, उसी प्रकार तब नित्य जीवन और उसकी प्रीति ही रह जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति तो विनाशी है तथा नित्य जीवन और उसकी प्रीति अविनाशी है। जिज्ञासा के उदय में साधक अकाम होता है और पूर्ति में आप्तकाम हो जाता है, यही वास्तविक जीवन है। अब यदि कोई कहे कि जिज्ञासापूर्ति के लिये साधक को किस साधन की अपेक्षा है? तो कहना होगा कि भोग के परिणाम की अनुभूति के आधार पर तो जिज्ञासा जाग्रत होती है और समस्त दृश्य से विमुख होने पर जिज्ञासा की पूर्ति होती है। समस्त दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त होती है, जो स्वभाव से ही सभी का परम सुहृद् है। अथवा यों कहो कि जो उत्पत्ति, विनाश और देश-काल की दूरी से रहित है, उसी की अहैतुकी कृपा से दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य जिज्ञासु को प्राप्त होती है। अतः दृश्य की विमुखता ही जिज्ञासा की पूर्ति का सुगम और अन्तिम साधन है। जब किसी कारण से जिज्ञासु मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता, तब वही कृपा सद्गुरु के स्वरूप में मूर्तिमान् होकर जिज्ञासा की पूर्ति कर देती है।

जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान जीवन का प्रश्न है, भविष्य का नहीं। अतः जिज्ञासा जाग्रत होने पर जब तक हल न हो जाय, तब तक किसी अन्य प्रवृत्ति का जन्म नहीं होना चाहिये। यदि किसी की जिज्ञासा इतनी सबल तथा स्थायी नहीं है, जो वर्तमान की वस्तु हो, तो ऐसे जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे जिज्ञासा को सबल और स्थायी बनाने के लिये

निरन्तर इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि को लगाये रखें। उन्हें इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धिज्ञान से विजय प्राप्त करनी होगी। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान को खा लेगा, उसी काल में जिज्ञासा वर्तमान जीवन की वस्तु हो जायेगी। फिर 'मैं' क्या हूँ'? यह प्रश्न स्वतः हल हो जायेगा। बुद्धि के ज्ञान का अनादर होने पर जिज्ञासा की जागृति नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि के ज्ञान के अनादर से इन्द्रिय-ज्ञान का आदर होने लगता है, जो राग को उत्पन्न करने में हेतु है। राग की उत्पत्ति हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों के अधीन, मन इन्द्रियों के अधीन और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है। इससे बेचारा प्राणी जड़ता में आबद्ध हो जाता है; परन्तु बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। उससे जिज्ञासा की पूर्ण जागृति और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर दृश्य के स्वरूप का और अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान हो जाता है, अर्थात् बुद्धि के ज्ञान में कर्त्तव्य का तथा दृश्य के स्वरूप का ज्ञान भी निहित है। जो साधक दृश्य के स्वरूप को भलीभाँति जान लेते हैं, वे रागरहित होकर प्रत्येक दशा में जिज्ञासु हो सकते हैं, अर्थात् उनके लिये कोई प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं रहती। किंतु जो साधक दृश्य के स्वरूप को पूर्णरूप से नहीं जान पाते, वे पहले कर्त्तव्यनिष्ठ होकर पीछे जिज्ञासु होते हैं। जिज्ञासा की जागृति के लिए रागरहित होना अनिवार्य है, चाहे प्रवृत्ति द्वारा हो अथवा दृश्य के वास्तविक स्वरूप को जानकर। जो साधक सरल विश्वास के आधार पर अपने को भक्त मान लेता है, वह स्वभाव से ही समस्त विश्व से सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है और अपने प्रभु से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। उसमें न तो अपना कोई बल रहता है और न किसी प्रकार का संदेह ही रहता है। जिनसे उसने सम्बन्ध स्वीकार किया है, उनके विश्वास और उनकी प्रीति को ही वह अपना जीवन मानता है। देह, गेह आदि किसी से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। वह प्रत्येक कार्य अपने प्रभु के नाते ही स्वीकार करता है। कार्य के अन्त में स्वभाव से ही प्रभु की वह स्मृति उदित होती है, जो प्रीति के स्वरूप में बदलकर उसे प्रियता से अभिन्न कर देती है।

जिज्ञासु और भक्त में अन्तर केवला इतना है कि जिज्ञासु दृश्य के

स्वरूप को जानकर दृश्य से विमुख होता है और भक्त उसे अपना न मानकर। दृश्य से विमुख होने में दोनों समान है। जिज्ञासु जानने के पश्चात् किसी की सत्ता स्वीकार करता है और भक्त बिना ही जाने, विश्वास के आधार पर ही अपने प्रभु की सत्ता स्वीकार कर लेता है।

जिज्ञासु जिज्ञासा होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है जिसकी वह जिज्ञासा थी और भक्त भक्ति होकर अपने प्रभु से अभिन्न हो जता है। जिज्ञासु जिज्ञासापूर्ति होने पर अमरत्व को प्राप्त करता है और भक्त भक्ति होकर अपने प्रेमास्पद के प्रेम को प्राप्त करता है। जिज्ञासु का 'मैं' अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का 'मैं' प्रेमास्पद का प्रेम हो जाता है।

विषयी का 'मैं' एकमात्र विषयों की आसक्ति के रूप में ही प्रतीत होता है, जिज्ञासु का 'मैं' अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का 'मैं' प्रेम हो जाता है। जो 'मैं' विषयों की आसक्ति के रूप में प्रतीत होता है, वह अभावरूप है, क्योंकि विषयासक्ति में जीवन नहीं है। जिज्ञासु का 'मैं' जिज्ञासाकाल में केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासा की पूर्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्त का 'मैं' आरम्भ में तो प्रभु का विश्वास और प्रभु के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है, पर अन्त में प्रभु का प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। इस दृष्टि से 'मैं' अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

(- मानव सेवा संघ के ग्रन्थ 'जीवन दर्शन ' से साभार)

'मैं' का विवेचन

'मैं' का भास तथा 'यह' की प्रतीति मानव-मात्र को स्वभाव से होती है, पर उसका अर्थ यह नहीं है कि भास-मात्र से ही 'मैं' की वास्तविकता का परिचय होता है। 'मैं' का भास होने पर भी 'मैं' क्या है? यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है। अपने सम्बन्ध में दूसरों के द्वारा जो कुछ सुना है, वह 'मैं' की वास्तविकता का परिचय नहीं है। ऐसी दशा में अपने सम्बन्ध में अपना क्या निर्णय है, इसका स्पष्टीकरण करना अनिवार्य है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में 'मैं' का भास है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' कोई ऐसी वस्तु है, जो अवस्थाओं से विलक्षण है। अवस्थाओं की प्रतीति है और 'मैं' का भास है। अवस्थाओं से

तादात्म्य रखते हुए 'मैं' का बोध सम्भव नहीं है। अवस्थाओं से असंग होने पर ही 'मैं' का वास्तविक परिचय सम्भव है। जाग्रत और स्वप्न के सम्बन्ध से मानव अपने को सुखी और दुखी अनुभव करता है। इससे यह विदित होता है कि सुख-दुःख का भोग दृश्य के सम्बन्ध से सिद्ध होता है। सुषुप्ति में सुख-दुःख का भास नहीं है।

इससे यह मानना ही पड़ता है कि प्रतीति अर्थात् दृश्य से असंग होने पर ही 'मैं' की वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, अर्थात् जब तक जाग्रत में सुषुप्तिवत् न हो जायँ, तब तक 'मैं' के सम्बन्ध में कुछ भी अनुभव सम्भव नहीं है। जाग्रत में सुषुप्तिवत् होने के लिए क्रियाशीलता तथा चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब जिज्ञासा पूर्ति के लिए वर्तमान कर्त्तव्यकर्म विधिवत्, फलासक्ति रहित पूरा कर दिया जाय। ऐसा करने से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग करने की सामर्थ्य आ जायगी। आवश्यक संकल्प की पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग उत्पन्न न हो, तब मानव राग-रहित होकर जाग्रत में ही सुषुप्ति का अनुभव कर सकता है। जाग्रत-सुषुप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता और सुषप्ति के समान दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। जाग्रत में जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तब स्वतः 'मैं' क्या हूँ? यह प्रश्न हल हो जाता है। 'मैं' का वर्णन किसी कारण अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है; कारण, कि यह सब तो दृश्य ही हैं। दृश्य के सहयोग से उसका वर्णन नहीं हो सकता, जिसको दृश्य की प्रतीति है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही अपने द्वारा अपना परिचय होता है। बस, यही 'मैं' क्या हूँ? इस प्रश्न को हल करने का उपाय है।

'यह' करके जिसको सम्बोधन करते हैं, उसे 'मैं' नहीं कह सकते। इस दृष्टि से कोई भी दृश्य 'मैं' नहीं है। 'वह' करके जिसमें आस्था करते हैं, उसे भी 'मैं' कहना भूल है। 'यह' और 'वह' से विलक्षण 'मैं' हो सकता है। यह भी अनुमान मात्र है, अनुभव नहीं। अब विचार यह करना है कि 'यह' की ममता तथा 'तत्त्व' की जिज्ञासा क्या 'यह' में हो सकती है? कदापि नहीं। 'यह' की ममता तथा 'तत्त्व' की जिज्ञासा जिसमें है, क्या उसे 'वह' कह सकते हैं? नहीं। इस दृष्टि से 'यह' और 'वह' से रहित 'मैं' होना चाहिये। पर अब भी स्पष्ट बोध

नहीं हुआ कि 'मैं' क्या है, आस्था और बोध में भेद है। आस्था में बोध का आरोप करना ज्ञान नहीं है और बोध में आस्था करना आस्था नहीं है। आस्था उसमें होती है, जिसका बोध नहीं है। अर्थात् सुने हुए में आस्था होती है, जाने हुये में नहीं। जाने हुए में न तो आस्था ही होती है और न सन्देह ही। सन्देह देखे हुए में होता है, बोध जाने हुए का होता है और आस्था सुने हुए में होती है। 'मैं' देखा हुआ नहीं है और न जाना हुआ है। अतः 'मैं' के प्रति सन्देह भी नहीं होता और उसका बोध भी नहीं। 'मैं' किसी अन्य के द्वारा सुना भी नहीं है, उसका तो भास है। इस दृष्टि से किसी आस्था के आधार पर 'मैं' का निर्णय देना 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है और प्रतीति का आश्रय लेकर 'मैं' का विवेचन करना 'मैं' का बोध नहीं है। 'मैं' के ही द्वारा 'मैं' की खोज करना, 'मैं' के परिचय में हेतु है।

प्रतीत होने वाला 'यह' और सुना हुआ'वह', इन दोनों का सम्बन्ध किसमें है? जिसमें है, क्या उसे 'मैं' नहीं कह सकते? परन्तु ऐसा कहने से भी तो 'मैं' के कार्य का परिचय होता है, स्वरूप का नहीं। कार्य कर्त्ता का विशेषण भले ही हो, पर स्वरूप नहीं है। 'यह' की प्रतीति में 'यह' का राग हेतु है और 'वह' की आस्था में 'वह' की माँग हेतु है। राग-रहित होने पर 'यह' से असंगता स्वतः होती है, जिसके होते ही 'वह' से अभिन्नता भी होती है। जिसने रागपूर्वक 'यह' से तादात्म्य स्वीकार किया था, उसी ने असंगतापूर्वक 'वह' से अभिन्नता प्राप्त की। 'यह' की आसक्ति और 'वह' की अनुरक्ति किसी एक ही में है। क्या उसी का नाम 'मैं' है? यदि यह मान लिया जाय, तो आसक्ति की तो निवृत्ति होती है और अनुरक्ति की जाग्रति। आसक्ति रहते हुए अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती और अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति नहीं रहती। आसक्ति के रहते हुए अनुरक्ति की माँग भले ही रहे, पर अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती। अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति का लेश भी नहीं रहता, अर्थात् आसक्ति के अभाव में ही अनुरक्ति की जाग्रति है। क्या अनुरक्ति आसक्ति के समान नाशवान है? क्या अनुरक्ति में भी आसक्ति के समान पराधीनता, जड़ता तथा अभाव है? कदापि नहीं। अनुरक्ति अविनाशी है और जड़ता, पराधीनता, अभाव से रहित है। आसक्ति का परिणाम किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। इस कारण आसक्ति के नाश का प्रश्न मानव-मात्र में है। आसक्ति का मूल, दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार कर, उसमें सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना है। दृश्य में सत्यता तथा

सुन्दरता का आरोप करना अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय होते ही दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर आसक्ति विरक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

आसक्ति दृश्य की रुचि को जीवित रखती है और विरक्ति दृश्य से अरुचि उत्पन्न करती है। अरुचि रुचि को खाकर स्वतः अनुरक्ति से अभिन्न कर देती है। रुचि और अरुचि द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को भस्मी-भूत कर स्वतः शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विरक्ति आसक्ति का अत्यन्त अभाव कर स्वयं अनुरक्ति से अभिन्न हो जाती है। अनुरक्ति द्वन्द्वात्मक नहीं है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही सीमित अहम् भाव को जीवित रखती है, जिसके रहते हुए यह समस्या हल नहीं होती कि 'मैं' क्या है? अनुरक्ति के प्रादुर्भाव में ही द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश है, जिसके होते ही 'मैं' क्या है? यह प्रश्न स्वतः हल हो जाता है। 'यह' से परे 'मैं' है-यह 'मैं' का परिचय नहीं है। 'मैं' के प्रति इतना मोह हो गया है कि उसको अस्वीकार करना बड़ा ही भय उत्पन्न करता है। इस भय से बचने के लिए मानव यह स्वीकार कर लेता है कि 'मैं शरीर आदि दृश्य से अतीत हूँ।'

किसी की वास्तविकता का बोध तभी सम्भव होगा, जब उसके प्रति राग तथा द्वेष लेश-मात्र भी न हो। 'मैं' के न होने की बात सुनकर जो भय उत्पन्न होता है, यह 'मैं' का राग है और इस प्रश्न को हल किये बिना चैन से रहना, 'मैं' के प्रति द्वेष है। राग और द्वेष दोनों ही सम्बन्ध पुष्ट करते हैं। सम्बन्ध के रहते हुए बोध सम्भव नहीं है। कारण, कि सम्बन्ध स्वयं अस्तित्व के रूप में भासित होने लगता है। इसी कारण 'यह' के सम्बन्ध से 'मैं' 'यह' जैसा प्रतीत होता है और 'मैं' अपने में 'यह' की आसक्ति अनुभव करता है। और 'वह' से सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'मैं', 'वह' जैसा तथा 'वह' की अनुरक्ति अनुभव करता है। 'यह' और 'वह', दोनों में यदि एकता स्वीकार की जाय, तो दो स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकते। 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय, तो स्वीकृति के कारण 'यह' की प्रतीति भले ही हो, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसका न तो स्वतन्त्र अस्तित्व ही होता है और न वह अपने को अपने आप प्रकाशित ही करता है। इस दृष्टि से 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार करना 'यह' की आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आसक्ति जीवन नहीं है, अपितु

पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की जननी है, जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अतः 'यह' की सत्ता स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यदि आस्था के आधार पर 'वह' की सत्ता स्वीकार कर ली जाय, तो 'यह' की आसक्ति का अन्त होते ही 'वह' की अनुरक्ति स्वतः जाग्रत होती है। आसक्ति और अनुरक्ति में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जन्म देती है और अनुरक्ति जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस-रूप होती है। इस दृष्टि से अनुरक्ति का बड़ा ही महत्त्व है। आसक्ति का अत्यन्त अभाव बिना हुए अनुरक्ति के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। इस कारण आसक्ति का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र विरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति घृणा नहीं है, अपितु पराधीनता का अन्त करने में साधनरूप है। इस दृष्टि से विरक्तिपूर्वक ही अनुरक्ति प्राप्त होती है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति- इनसे जिसका सम्बन्ध है वह 'यह' और 'वह' से रहित है। संकेत भाषा में आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति 'मैं' का कार्य है, 'मैं' नहीं; कारण, कि आसक्ति और विरक्ति दोनों ही अनुरक्ति से अभिन्न होती हैं। अनुरक्ति ने उससे भिन्न का अनुभव ही नहीं किया, जिसकी वह अनुरक्ति है। अतः 'मैं' अनुरक्ति से अभिन्न हो, अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार 'मैं' आसक्ति से युक्त होकर पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध होता है, उसी प्रकार 'मैं' विरक्ति से अभिन्न होकर अपने ही में सन्तुष्ट होता है और अनुरक्ति से अभिन्न होने पर 'मैं' अनन्त को रस प्रदान करता है। इस दृष्टि से 'मैं' के सम्बन्ध में जितना कहा, जाय, कम है, जो 'कुछ नहीं' होकर 'सब कुछ' है और 'सब कुछ' होकर 'कुछ नहीं' है। यही 'मैं' की विलक्षणता है।

यह नियम है कि जो, कुछ नहीं होता, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की सीमा, नाप-तौल नहीं है, वह सभी से अभिन्न हो सकता है और उसमें सभी की स्थापना हो सकती है। इसी कारण अहम् में शरीर-भाव, जीव-भाव, ब्रह्म-भाव आदि की स्थापना हो सकती है; क्योंकि यदि 'मैं' कोई ऐसा पदार्थ होता, जिसका विवेचन बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव होता, तो उसमें किसी और की स्थापना सम्भव न होती। किन्तु अहम् में ही जगत् का बीज, तत्त्व की जिज्ञासा और अनन्त की प्रियता विद्यमान है। ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त होने पर अहम् में ही जगत् का बीज शेष नहीं रहता, अर्थात् अहम् का दृश्य से सम्बन्ध नहीं

रहता। इतना ही नहीं, दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है और फिर तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रीति की जाग्रति स्वतः हो जाती है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। दूरी के नाश में ही योग, की और भेद के नाश में ही बोध की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से योग बोध और प्रेम अहम् के ही रूपान्तर हैं। अर्थात् अहम् योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है। अहम् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु ममता, जिज्ञासा एवं आस्था की स्वीकृति जिसमें भासित होती है वही अहम् है।

ममता का नाश, जिज्ञासा की पूर्ति और आस्था में आत्मीयता होने पर एक-मात्र प्रेम-तत्त्व ही शेष रहता है। प्रीति में अस्तित्व उसी का है, जिसकी वह प्रीति है। प्रीति सतत् गतिशील तत्त्व है;'यह' की ओर गति होने पर आसक्ति के रूप में भासती है, 'यह' से विमुख होने पर विरक्ति तथा 'वह' की ओर गतिशील होने पर अनुरक्ति होती है। यदि प्रतीति का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो आसक्ति विरक्ति में परिणत न होती और यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता न होती, तो विरक्ति अनुरक्ति में परिणत न होती। पर मानव-दर्शन से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति विरक्ति में और विरक्ति अनुरक्ति में परिणत होती है। सर्वांश में आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति का भास होता है और विरक्ति की पूर्णता होते ही अनुरक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति उसी समय तक अलग-अलग प्रतीत होती हैं, जिस समय तक सर्वांश में आसक्ति का नाश नहीं होता। पराधीनताजनित वेदना आसक्ति के नाश में हेतु है।

आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वाधीनता की जननी है। विरक्ति की पूर्णता स्वाधीनता-जनित रस में सन्तुष्ट नहीं रहने देती। बस, उसी काल में विरक्ति स्वतः अनन्त की अनुरक्ति हो, अनन्त को रस प्रदान करती है। आसक्ति सुख-लोलुपता और विरक्ति स्वाधीनता में परिणत होती है। किन्तु स्वाधीनता-जनित रस अखण्ड होने पर भी नित-नव नहीं है।

नित-नव रस की भूख ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाधीनता-जनित रस से असंगता होती जाती है। असंगता की पूर्णत स्वतः प्रीति में परिणत होती है। इस दृष्टि से मानव की पूर्णता एकमात्र प्रीति से अभिनन होने में ही है। आसक्ति का नाश होते ही शान्ति, शक्ति, मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है। किन्तु शक्ति, मुक्ति आदि का आश्रय अहम् को परिच्छिन्नता के रूप में जीवित रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश

नहीं होता और उसके नाश हुए बिना नित-नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। यद्यपि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय हैं, पर प्रियता का रस ऐसा विलक्षण है कि उसके लिए स्वाधीनता आदि का न्यौछावर करना सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। अशान्ति की व्यथा मिटाने में शान्ति और असमर्थता की वेदना को मिटाने में शक्ति एवं पराधीनता की पीड़ा के नाश में स्वाधीनता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। मानव बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि से अपने को अशान्ति, असमर्थता एवं पराधीनता में आबद्ध पाता है। इस कारण शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता को महत्त्व देता है। वास्तव में तो शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता स्वतः प्रीति में परिणत होती है; कारण, कि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता में 'निज-रस' है। निज-रस में सन्तुष्ट हो जाना, अपनेपन को जीवित रखना है। अपनापन कितना ही महान् क्यों न हो, किन्तु उसमें किसी न किसी रूप में परिच्छिन्नता रहती है। जो यह अनुभव करता था कि 'मैं अशान्त हूँ', 'मैं असमर्थ हूँ', पराधीन हूँ', वही अनुभव करता है कि 'मैं शान्त हूँ', 'समर्थ हूँ', 'स्वाधीन हूँ'। पराधीनता आदि दोषों की अपेक्षा स्वाधीनता आदि बड़े ही महत्त्व की वस्तुएँ हैं, परन्तु 'मैं' स्वाधीन हूँ', इस प्रकार की सीमा तो रहती ही है। परिच्छिन्नता रहते हुए किसी न किसी प्रकार की माँग रहती ही है, जिसके रहते हुए पूर्णता कैसी? प्रीति का प्रादुर्भाव होने पर माँग का अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव की पूर्णता है। यह मानव का अपना दर्शन हैं

अपने में ब्रह्मभाव की स्थापना साधन-रूप है; किन्तु क्या ब्रह्म ने ब्रह्मभाव की स्थापना की? यह भ्रम है कि 'मैं' पहले ब्रह्म था, अब नहीं हूँ, किन्तु जब मुझे किसी ने स्मरण दिलाया, तब मुझे यह अनुभव हुआ कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। तो क्या ब्रह्म में ब्रह्म की विस्मृति हुई और फिर ब्रह्म ने ही मुझसे भिनन होकर मुझे ब्रह्म की स्मृति दिलाई? यदि ब्रह्म का यह अपमान अभीष्ट है, तब तो यह मानना उचित ही है कि मैं ब्रह्म हूँ, पर भूल से अपने को जीव मानता था। माया और अविद्या ने मुझे भुला दिया, अर्थात् माया और अविद्या ब्रह्म से सबल हो गई। 'मैं' क्या हूँ? इसका उत्तर आस्था के आधार पर देना दर्शन नहीं है। दर्शन में आस्था अपेक्षित नहीं है। दर्शन का प्रादुर्भाव सन्देह की वेदना से होता है। सन्देह की वेदना जिसमें होती है, वह मानव है और उसी में आसक्ति, जिज्ञासा तथा आस्था है। आसक्ति प्रमाद-जनित है। इस कारण उसका नाश होता है और

जिज्ञासा की पूर्ति विचार-सिद्ध है, इस कारण उसकी पूर्ति होती है। सन्देह की वेदना को देख, जिज्ञासा की पूर्ति के लिए विचार के स्वरूप में किसी की अहैतुकी कृपा अवतरित होती है, जो अविचार का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान कर स्वतः विलीन हो जाती है। निस्सन्देहता की प्राप्ति में ही दर्शन की पूर्णता है। निस्सन्देहता स्वतः प्रीति प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है। सन्देह के रहते हुए प्रीति जाग्रत नहीं होती। सन्देह अपनी ही भूल से होता है। भूल अविवेक सिद्ध है। अतः जाने हुए का अनादर करने से भूल उत्पन्न होती है। मानव-दर्शन यह प्रेरणा देता है कि अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अपना लेना अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभव न तो प्रतीत होने वाले दृश्य में अहम्-बुद्धि को जन्म देता है और न स्वीकृतियों में ही अहम्-बुद्धि होने देता है। जाने हुए का प्रभाव प्रतीति से असंग कर, जो 'है' उससे अभिन्न करता है। अभिन्नता में ही अगाध, अनन्त प्रियता है। प्रतीति की आसक्ति जिसमें भासित है उसी में अगाध प्रियता की माँग है। आसक्ति के नाश में माँग की पूर्ति स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही 'मैं' का वास्तविक स्वरूप है। प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है, अर्थात् स्थान भेद से प्रीति ही सेवा, त्याग तथा प्रेम के रूप में है। सेवा जगत् के लिए, त्याग अपने लिए एवं प्रेम अनन्त के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

अनन्त से अभेद-भाव स्वीकार करने पर भी अनन्त की प्रियता ही वास्तविक एकता प्रदान करती है। प्रतीति से असंगता विचार-साध्य है। सन्देह की वेदना से विचार स्वतः अवतरित होता है। 'यह' जिसकी कृपा है, 'मैं' उसी की प्रीति है और उसी की स्वतन्त्र सत्ता है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उसी में आस्था करनी है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस पर विचार करना है। प्रतीति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतः उस पर विचार करना है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त कर दिया जाय। ममता के नाश से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निष्कामता असंगता की जननी है और असंगता से तादात्म्य स्वतः नष्ट होता है, जिसके होते ही असत् की निवृत्ति एवं सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

जिसका बोध नहीं है, अपितु सुना है, उसकी आस्था यद्यपि दर्शन नहीं है, परन्तु साधन रूप अवश्य है। जो जाना हुआ नहीं है उसी से आस्था,

श्रद्धा, विश्वासपूर्वक भेद अथवा अभेद भाव से सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति बोध प्राप्ति तथा प्रियता प्रदान करती है। विस्मृति से दूरी, भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है। सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्मृति उदित होती है और विस्मृति नष्ट होती है। प्रतीतिजनित सुख-लोलुपता के रहते हुए 'है' से सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नहीं है; कारण, कि 'नहीं' में 'है'-बुद्धि स्वीकार करने से ही, 'है' से विमुखता होती है। 'नहीं' को 'नहीं' जान लेने पर 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' में आत्मीयता बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाग्रत होती है, जो स्मृति में हेतु है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक की हुई स्वीकृति साधन-रूप होने से मान्य है। किन्तु उसे बोध मानना आस्था को ही बोध कहना है। बोध किसी की अपेक्षा से नहीं होता; कारण, कि बोध जिसका होता है और जिसे होता है, उसमें भेद नहीं रहता, अर्थात् बोध के लिए जाने हुए का आदर ही एकमात्र सहयोगी साधन है।

मानव में बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा देखे हुए का प्रभाव अंकित है। उस प्रभाव के रहते हुए सुने हुए में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। अतः जाने हुए के प्रभाव से जब देखे हुए का प्रभाव नाश हो जाता है, तब स्वभाव से ही निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता आ जाती है जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में ही दर्शन निहित है।

जिस प्रवृत्ति तथा स्वीकृति के मूल में दार्शनिक भित्ति नहीं होती, वह प्रवृत्ति तथा स्वीकृति साधन-रूप नहीं है। अतः प्रत्येक मानव को निज-विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करना अनिवार्य है कि प्रवृत्तियों तथा स्वीकृतियों के मूल में जाने हुए का अनादर तो नहीं है। जाने हुए का अनादर करने पर वास्तविकता से परिचय होना सम्भव नहीं है, जिसके बिना हुए निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति नहीं होती। सन्देह-युक्त दशा में मानव न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर पाता है और न परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न ही होता है। इस कारण निस्सन्देहता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब किसी भी प्रकार जाने हुए का अनादर न किया जाय। जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

देखा हुआ यद्यपि ज्ञान जैसा प्रतीत होता है, परन्तु यह ज्ञान नहीं है; कारण, कि देखने में करण की अपेक्षा होता है। किसी करण द्वारा 'मैं' का बोध नहीं होता। करण के द्वारा तो

केवल 'यह' के सम्बन्ध में ही खोज होती है। 'मैं' का अनुभव करने के लिए 'यह' से असहयोग करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता से ही साध्य है। निर्ममता, निष्कामता किसी प्रवृत्ति से साध्य नहीं है; कारण, कि प्रत्येक प्रवृत्ति मिले हुए के सहयोग से ही सम्भव है। जिससे निर्मम तथा निष्काम होना है, उसके सहयोग का त्याग आवश्यक है। इस दृष्टि से निर्ममता तथा निष्कामता विचार से ही साध्य है। विचार-पूर्वक ममता तथा कामनाओं का त्याग करने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही तादात्म्य का अन्त हो जाता है। तादात्म्य के नाश में ही वास्तविक बोध की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण बोध विचार से ही साध्य है, आस्था से नहीं। आस्था स्वयं स्वतंत्र पथ है, उसके लिए विचार अपेक्षित नहीं है। और विचार स्वतंत्र पथ है। इसके लिए आस्था अपेक्षित नहीं है। इन दोनों का मिलाना दोनों की वास्तविकता से अपरिचित होना है। विचार असत् की निवृत्ति में हेतु है; कारण, कि असत् की प्रतीति अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय अविचार का अन्त कर स्वतः अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से विचार वास्तविकता के बोध के लिए साधन-रूप है। बोध होने पर अविचार की उत्पत्ति नहीं होती और विचार का भास नहीं होता। विचार का भास अविचार के रहते हुए ही है। 'मैं' विचारक हूँ, यह भास अविचार काल में ही है। वास्तव में तो 'मैं'-रहित विचार ही विचार है, जो अविचार का अन्त करने में समर्थ है। श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने पर तो एकमात्र प्रियता ही शेष रहती है। परन्तु मुझमें आस्था है, यह भास तभी तक होता है, जब तक प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

आत्मीयता की प्राप्ति के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वास साधन-रूप हैं। आत्मीयता में ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास विलीन हो जाते हैं और आत्मीयता अगाध प्रियता में। जब तक आस्था श्रद्धा में, श्रद्धा विश्वास में और विश्वास आत्मीयता में एवं आत्मीयता प्रियता में परिणत नहीं होती, तब तक यह भास होता है कि मुझमें आस्था है; मैं विश्वास पथ का साधक हूँ। परन्तु जब प्रियता से भिन्न कुछ नहीं रहता, तब मुझमें प्रेम है, यह भास भी नहीं होता। पर प्रेम है-यह शेष रहता है। बोध और प्रेम, इन दोनों में स्वरूप की एकता है, किन्तु रस में भेद है। बोध का रस अखण्ड और प्रेम का अनन्त है। जीवन की माँग अनन्त रस की है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। साधन-रूप प्रेम

बोध में विलीन होता है। साध्य-रूप बोध और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः बोध में प्रेम और प्रेम में बोध ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था से प्रियता और विचार से बोध प्राप्त किया है। साधन की ममता भी साधन में आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधन की आसक्ति अन्य साधन की विरोधी है। इस दृष्टि से साधन जीवन हो, किन्तु साधन की आसक्ति न हो। साधन की आसक्ति का नाश एकमात्र वास्तविकता से परिचित होने में ही निहित है। इस कारण मानव-दर्शन का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

अपना वास्तविक परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। पराश्रय का त्याग होने पर अपने द्वारा अपना परिचय स्वतः हो जाता है। पराश्रय से तादात्म्य होने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनाओं की उत्पत्ति प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है और फिर मानव 'अपने' को अथवा 'पर' को वास्तविक रूप से जान नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि देखे हुए में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, जो किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। इस दृष्टि से पराश्रय के त्याग में ही वास्तविकता का बोध सम्भव है। पराश्रय का त्याग तभी सम्भव होगा, जब पराधीनता जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर दिया जाय और पराधीनता असह्य हो जाय, अर्थात् स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार न रह सके। स्वाधीनता की उत्कट लालसा स्वतः निर्ममता, निष्कामता प्रदान करती है। निष्कामता-जनित शान्ति में और निर्ममता-जनित निर्विकारता में भी आबद्ध नहीं होना है, अर्थात् शान्ति में रमण नहीं करना है और न व्यक्तिगत गुणों का भोग करना है। शान्ति में रमण तथा गुणों का भोग न करने से स्वतः स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। यद्यपि शान्ति बड़ी ही मधुर है, परन्तु उसमें रमण करने से असंगता प्राप्त नहीं होती और असंगता के बिना वास्तविकता से अभिन्नत सम्भव नहीं है। निर्विकारता के समान और कोई सौन्दर्य नहीं है, किन्तु निर्विकारता को अपने में आरोप करने से व्यक्तित्व का मोह पोषित होता है, जो असीम अनन्त जीवन से अभिन्न नहीं होने देता। यद्यपि सुन्दर व्यक्तित्व की माँग सभी को रहती है, परन्तु व्यक्तित्व का अभिमान भेद तथा भिन्नता उत्पन्न करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से पराश्रय का त्याग वही कर सकता है, जिसने अपने को शान्ति तथा निर्विकारता से असंगकरने का प्रयास किया है। असंगता सीमित,

परिवर्तनशील, सौन्दर्य से आकर्षित न होने पर ही सम्भव होती है, अर्थात् अनन्त-नित्य सौन्दर्य की उत्कट लालसा में ही असंगता निहित है। असंगता प्राप्त करने के लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की लेश-मात्र भी अपेक्षा नहीं है; अपितु इनसे असहयोग करने पर अपने आप अपने में असंगता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक असंग हो सकता है और असंगता ही एकमात्र अपने वास्तविक परिचय में समर्थ है। असत् से असंग होने पर ही असत् का परिचय तथा उसकी निवृत्ति एवं सत् से अभिन्नता होती है। स्वाधीनता की तीव्र लालसा असत् के संग-जनित कामनओं का नाश कर देती है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असत् की असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जाग्रति में ही अपना वास्तविक परिचय निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जाने पाते हैं, जिन्होंने अपने सम्बन्ध में अपने ही द्वारा खोज की है। अपने द्वारा अपनी खोज न करने के समान और कोई असावधानी नहीं है। असावधानी बनाये रखना अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान करना है। अतः 'मैं' क्या हूँ? इस सम्बन्ध में अपने ही को खोज करना है। 'मैं' की खोज करने में जब प्राप्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि निकटवर्ती ही समर्थ नहीं हैं, तो फिर किसी अन्य के द्वारा 'मैं' की खोज हो सकती है, ऐसा सोचने के समान और कोई भूल नहीं है।

'पर' के द्वारा 'स्व' का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। 'स्व' के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। 'पर' से विमुख होते ही 'स्व' के द्वारा 'स्व' की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। 'पर' के सहयोग से एकमात्र 'पर' के सम्बन्ध में ही प्रयास हो सकता है। इन्द्रिय-जन्य प्रतीति पर बुद्धि-जन्य दृष्टि का प्रभाव हो सकता है; किन्तु 'स्व' की ओर गतिशील होते ही बेचारी बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही स्वंय 'स्व' में विचार का उदय होता है, जो 'मैं' की वास्तविकता के परिचय में हेतु है। बुद्धि-दृष्टि का प्रयोग एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के नाश में है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही दृश्य की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर इन्द्रिय-दृष्टि स्वतः मन में और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि की समता यद्यपि सामर्थ्य की प्रतीक है; कारण, कि बुद्धि के सम होने पर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव होता

है। परन्तु बुद्धि बेचारी 'स्व' के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती, इस कारण अपना परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। 'पर' के द्वारा अपने सम्बन्ध में अनेक स्वीकृतियाँ स्वीकार कीं और प्रत्येक स्वीकृति ने किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति को जन्म दिया। वह सभी को मान्य होगा कि प्रवृत्ति में प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता की दासता और परिणाम में अभाव ही सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से प्रवृत्ति द्वारा न तो मानव अपने को ही जान सका और न पराधीनता, अभाव एंव असमर्थता से भिन्न कुछ पा सका। इस दृष्टि से स्वीकृति 'स्वरूप' नहीं है, अपितु किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है।

स्वीकृतियों में सन्देह होने पर ही जिज्ञासा की जाग्रति होती है। जिज्ञासा की जाग्रति समस्त स्वीकृतियों का अन्त कर सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वतः 'स्व' में ही विचार का उदय होता है, जो जिज्ञासा-पूर्ति में समर्थ है।

जो स्वीकृतियाँ प्रतीति, अर्थात् दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती हैं वे या तो काम की जननी हैं अथवा कर्त्तव्य की प्रतीक हैं। कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। किन्तु यदि 'पर' से सुख की आशा की, तो पुनः नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली स्वीकृतियों का कर्त्तव्य-निष्ठहोकर अन्त करना अनिवार्य है। अपने को शरीर मानने वाली स्वीकृति काम की जननी है। अतः अपने में से देह-भाव का अन्त कर निष्काम होना अनिवार्य है। निष्काम बिना हुए 'पर' से सुख की आशा का नाश नहीं होता है और उसका नाश हुए बिना नवीन राग की निवृत्ति नहीं होती। राग-रहित होने पर ही स्वीकृतियों से रहित होने की सामर्थ्य आती है, अर्थात् स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि नहीं रहती। राग की एकमात्र स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि जीवित रखता है। राग भूल से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि भूल है। भूल-जनित वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जाग्रति भूल-जनित सुख-लोलुपता के मिटाने में समर्थ है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा स्वतः तीव्र हो जाती है। तीव्र जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जिज्ञासा-पूर्ति में काल अपेक्षित नहीं है।

जब तक सर्वांश में जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती, तभी तक वास्तविकता से अभिन्न होने में भविष्य की आशा रहती है। वास्तविकता के परिचय के लिए भविष्य की आशा जिज्ञासा को शिथिल करती है। जिज्ञासा की शिथिलता जिज्ञासापूर्ति में

विघ्न है। जिज्ञासा जो 'है' उसका बोध कराती है, किसी अप्राप्त की प्राप्ति में हेतु नहीं है। जो प्राप्त है, उसके परिचय के लिए, क्या भविष्य की आशा भारी भूल नहीं है? अवश्य है। 'है' का परिचय किसी श्रम से भी साध्य नहीं है; कारण, कि श्रम के द्वारा उसी को जाना जाता है, जिससे देश, काल आदि की दूरी हो। जो देश, काल आदि की दूरी से रहित है, उसका परिचय श्रम-रहित होने पर ही सम्भव है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम भले ही अपेक्षित हो, किन्तु वास्तविकता से परिचित होने के लिए श्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तीव्र जिज्ञासा से जब कामनाओं का नाश हो जाता है, तब स्वतः मानव श्रम-रहित होता है। विश्राम की भूमि में स्वतः विचार का अवतरण होता है, जो वास्तविकता के बोध में समर्थ है।

श्रम-रहित होने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु सहज निवृत्ति है। यह सभी को मान्य है कि प्रवृत्ति से सामर्थ्य का व्यय और निवृत्ति से सामर्थ्य का सम्पादन होता है। अतः श्रम-रहित होते ही सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कामनाओं के रहते हुए प्राप्त सामर्थ्य की गति दृश्य की ओर होती है और निष्काम होते ही गति 'स्व' की ओर होती है, जो 'स्व' के बोध में हेतु है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त दृश्य को 'मैं' नहीं कह सकते; कारण, कि जिसको 'यह' कहकर जानते तथा सम्बोधन करते हैं, उसको 'मैं' मान लेना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसे न तो इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा है और न अपने द्वारा अनुभव किया है, अपितु सुना है, उसको भी 'मैं' नहीं कह सकते। अर्थात् सुना हुआ आत्मा और परमात्मा तथा देखा हुआ शरीर और जगत्, इन दोनों को ही 'मैं' नहीं कह सकते। पर अपने में शरीर आदि की ममता, आत्मा की जिज्ञासा एवं परमात्मा की लालसा अवश्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'मैं' न तो पर-प्रकाश्य जड़ है और न चेतन। पर यह ऐसा विलक्षण है कि जिससे मिला दो, उस-जैसा ही प्रतीत होने लगता है। किसी की वास्तविकता को जानने के लिए उसे सभी से अलग करना अनिवार्य है। अतः अपने को यदि जड़, चेतन से न मिलाया जाय, तभी अपना वास्तविक परिचय हो सकता है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के त्याग से जड़ से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जड़ से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर 'मैं' जड़ नहीं हूँ'-यह अनुभव स्वतः हो जाता है, पर 'मैं' क्या हूँ?, यह स्पष्ट नहीं होता। इस दशा में मानव अधीर

होकर श्रवण के आधार पर अपने को आत्मा, ब्रह्म आदि मान लेता है। अविचल आस्था होने से यह अनुभव होता है कि यह मेरा ज्ञान है। एक बार मान लेने पर भी बार-बार मनन करना इस कारण अपेक्षित हो जाता है कि कहीं पूर्व स्वीकृति पुनः आ जाय। अब विचार यह करना है कि सुने हुए का मनन, क्या आस्था की दृढ़ता के अतिरिक्त कुछ और है? अर्थात् कुछ नहीं। जो आस्था से साध्य है, क्या वह बोध है? यदि बोध है, तो आत्मा ने अपने में अनात्म-भाव को क्यों स्वीकार किया? क्या चिन्मय तत्त्व में भी विस्मृति का दोष हो सकता है? यदि हो सकता है, तो चिन्मय कैसा? पर अपने से अपने को इतना मोह हो गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि मैं जड़ नहीं हूँ, तो चेतन हूँ। चेतन सदैव चेतन है, और जड़ सदैव जड़ है। जड़ और चेतन का मिलन सम्भव नहीं है; कारण कि दो विरोधी सत्तायें आपस में कभी नहीं मिलती। अतः यह मान लेना भी भ्रममूलक ही है कि जड़-चेतन के मिलने से ऐसी जो चीज उत्पन्न हुई, जो न जड़ है और न चेतन, वही 'मैं' है।

जब जड़-चेतन का मिलन ही नहीं है, तब उसके मिलने से जो उत्पन्न हुआ वह 'मैं' है, यह भी भूल ही है। 'मैं' जड़ नहीं है, यह विवेक-सिद्ध है। 'मैं' चेतन है, यह आस्थापूर्वक भले ही मान लिया जाय, पर बोध नहीं है। किसी का बोध किसी की आस्था हो सकती है, पर यह विचार-पथ नहीं है। विचार-पथ की दृष्टि से 'मैं' का अर्थ न तो देखा हुआ 'यह' है और न सुना हुआ 'वह'। 'यह' की आसक्ति और तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रियता जिसमें है, वही 'मैं' है। आसक्ति का नाश तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर एकमात्र अगाध प्रियता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से 'मैं' का वास्तविक स्वरूप एकमात्र अगाध, अनन्त नितनव प्रियता है।

'मैं' की अन्तिम परिणति अगाधप्रियता में ही होती है। यह मानव का अपना दर्शन है; कारण, कि 'यह' की ममता करके जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, वह स्वाधीनता की लालसा के आधार पर नाश हो गई, जिसके होते ही पराधीनता मिट गई और 'मैं' स्वाधीन हूँ, यह बोध हो गया। पर जिसकी अहैतुकी कृपा से आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य मिली थी, उसको भूल जाना और उसके स्थान पर 'मैं' की ही स्थापना कर लेना, यह कहाँ तक युक्तियुक्त है? 'है' की उदारता के दुरुपयोग के अतिरिक्त इसे और क्या कहेंगे? कि जिसने स्वाधीनता प्रदान की, उसको भूल गए और 'है' के स्थान पर 'मैं' की स्थापना कर दी। 'है' की तो यह महिमा है कि वह सभी को सत्ता देता

है और अपनाता है। इसी कारण 'मैं' को स्वीकार करने पर 'मैं' ही सत्य मालूम होता है और 'यह' को स्वीकार करने पर 'यह' सत्य मालूम होता है। जिससे 'यह' और 'मैं' की सत्यता प्रकाशित होती है, उसमें प्रियता ही 'मैं' की वास्तविकता है। परन्तु प्रियता स्वयं अपने ही में 'है' को विलीन कर ले, इससे 'है' में कोई क्षति नहीं होती; क्योंकि 'है' स्वभाव से ही अनन्त है। परन्तु 'है' की प्रियता होकर 'मैं' का अन्त हो जाय, तो अनन्त रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जो मानव की वास्तविक माँग है।

यदि कोई यह स्वीकार करे कि 'यह' और 'वह' को अपने में विलीन करना है, अर्थात् 'यह' और 'वह' 'मैं' की ही अभिव्यक्ति है, तो इसमें भी 'है' को कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु 'मैं' और 'यह' की परिच्छिन्नता को स्पष्ट ही विदित है। क्या परिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति अनन्त हो सकती है? कदापि नहीं। परिच्छिन्नता 'है' की ही एक अवस्था मात्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं; कारण, कि 'है' अपने और अपने से भिन्न के प्रकाशन में समर्थ है। पर-प्रकाश्य की अभिव्यक्ति स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकती। स्वयं-प्रकाश की एक अवस्था पर-प्रकाश्य भी हो सकती है। अतः 'यह' और 'मैं' को 'है' में विलीन करना अधिक युक्ति-युक्त तथा स्पष्ट है, जो एकमात्र विरक्ति तथा अनुरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति 'यह' को 'मैं' से और अनुरक्ति 'मैं' को 'है' से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही 'मैं' की अन्तिम परिणात है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जगत् को 'मैं' की आवश्यकता नहीं है और 'मैं' को जगत् की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मानव विवेकपूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर यह सिद्ध नहीं कर सकता कि उसे जगत् की माँग है और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप में प्राप्त हैं, उसी की जगत् आवश्यकता अनुभव करता है। वस्तु आदि से रहित 'मैं' की आवश्यकता जगत् को नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' की जातीय एकता 'वह' के साथ और मानी हुई एकता के साथ है। यदि मानव जगत् से मिली हुई वस्तु को जगत् को भेंट कर दे, तो जगत् को फिर और कुछ नहीं चाहिए। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, रहित जो 'मैं' का भास है, वह तो एकमात्र 'वह' जो देखा हुआ नहीं है, उसी की प्रीति है। इसी कारण अगाधप्रियता ही 'मैं' का स्वरूप है।

'यह' की ममता के कारण 'मैं' पराधीनता में आबद्ध होता है और निष्कामता, निर्ममता आदि के द्वारा 'मैं' पराधीनता-रहित होता है और 'वह' की आत्मीयता-पूर्वक 'मैं' अगाधप्रियता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि अभिन्नता उसी से होती है, जिससे स्वरूप की एकता हो; आसक्ति से अभिन्नता कभी नहीं होती। इससे यह स्पष्ट विदित है कि 'यह' से 'मैं' की केवल मानी हुई एकता है जो भूल-जनित है। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीनता की लालसा आसक्ति को विरक्ति में परिणत करती है, परन्तु केवल विरक्ति मात्र से संतुष्टि नहीं होती। इससे यह विदित होता है कि विरक्ति जब तक अनुरक्ति से अभिन्न नहीं होती, तब तक मानव कृत-कृत्य नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि अगाधप्रियता से ही 'मैं' की वास्तविक एकता है।

आसक्ति, परिच्छिन्नता और प्रियता के अतिरिक्त 'मैं' के सम्बन्ध में किसी की कोई अनुभूति ही नहीं है। 'यह' की ममता, कामना करके-'मैं' पराधीन हूँ, मुझमें अनेक आसक्तियाँ हैं-यही अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण नाश होने पर, अर्थात् निर्ममता, निष्कामता अपना लेने पर-'मैं पराधीन हूँ, मुझ में लोभ, मोह आदि विकार हैं',-यह अनुभूति शेष नहीं रहती। पराधीनता आदि का आरोप अपने में एकमात्र भूल-जनित है। भूल-जनित प्रतीति को वास्तविकता नहीं कह सकते। अतः आसक्ति 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है। निर्ममता, निष्कामता से उदित शान्ति, निर्विकारता तथा स्वाधीनता, यह साधनजनित अनुभूति है। साधन-जनित अनुभूति का महत्त्व उसी समय तक जीवित रहता है, जिस समय तक किसी न किसी अंश में असाधन है। जिस प्रकार काष्ठ का अत्यन्त अभाव होने पर प्रज्ज्वलित अग्नि शेष नहीं रहती, उसी प्रकार असाधन का अत्यन्त अभाव होने पर साधन-जनित निर्विकारता, समता, स्वाधीनता आदि की अनुभूति तथा भास शेष नहीं रहता, अर्थात् दोष का नाश और गुणों का अभिमान गल जाने पर एकमात्र अनन्त की प्रियता ही शेष रहती है, जो अनन्त से अभिन्न ही है। अतः 'मैं' की वास्तविकता का परिचय अगाध, अनन्त नितनव प्रियता से भिन्न नहीं है।

भोग में आबद्ध मानव मोक्ष के महत्त्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मुक्ति भुक्ति की पीड़ा से बचाने का उपाय है और कुछ नहीं। भुक्ति की सुख-लोलुपता पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध करती है। इस कारण सुख-लोलुपता त्याज्य है और मुक्ति मानव को शान्ति,

स्वाधीनता आदि में आबद्ध करती है। अतः सुख-लोलुपता की दासता से रहित होने के लिए मुक्ति की महिमा है। वास्तव में तो मुक्ति प्रीति की जननी है; कारण, कि जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं है, अर्थात् जिसकी शरीर आदि वस्तुओं में ममता नहीं है, वही अनन्त में आत्मीयता स्वीकार कर सकता है। आत्मीयता से ही अगाधप्रियता जाग्रत होती है, जो अनन्त को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से 'मैं' अनन्त की भोग्य सामग्री है और कुछ नहीं। किन्तु जब 'मैं' स्वयं अपने को भोग-वासनाओं में आबद्ध कर लेता है, तब पराधीनता की पीड़ा से रहित होने के लिए मोक्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। मुमुक्षता भोग-वासनाओं का अन्त कर पराधीनता से रहित करने में समर्थ है। पराधीनता का नाश होने पर ही 'मैं' अनन्त की भोग्य वस्तु ही रह जाता है, जो एकमात्र अगाधप्रियता से भिन्न कुछ नहीं है।

अपना अनुभव अपने लिए हितकर है। पर यदि उसका आदर न किया जाय, तो अपने विकास के लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु अन्त में वही स्वीकार करना पड़ता है, जो अपना अनुभव है। इस दृष्टि से मानवमात्र को मानव-दर्शन का आदर करना अनिवार्य है। अपनी दशा और अपनी माँग अपने से अपरिचित नहीं है। अपनी दशा पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नहीं, जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानव के बिना न रह सके। यह नियम है कि जिसके बिना अल्प से अल्प काल रह सकते हैं, उसके बिना सदैव रह सकते हैं। सदैव उसी के साथ रह सकते हैं, जो सदैव है। जो कभी है और कभी नहीं है, उसके साथ सदैव रहने का निर्णय अपने आप को धोखा देना है, अर्थात् अपने अनुभव का अनादर करना है, जो विनाश का मूल है। जो कभी है, कभी नहीं है, उसकका सदुपयोग कर सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं; किन्तु उसको अपना नहीं मान सकते। अतः प्राप्त वस्तुओं का ममता-रहित सद्व्यय और प्राणियों की सेवा सम्भव है और यही सृष्टि में रहने की सर्वोत्कृष्ट कला है। इस कला से मानव में यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह उनके बिना रह सकता है, जो उसके बिना रह सकते हैं। इस दर्शन के आधार पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्तिपूर्वक उस वास्तविकता का बोध होता है, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, अर्थात् जो उसका अपना है

और अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। मानव अपने दर्शन का अनादर करने से ही अपने प्रिय से विमुख हो, अपने प्रकार की नीरसताओं में आबद्ध हो जाता है। यह उसकी अपनी ही भूल का परिणाम है। दर्शन की परावधि भूल के अभाव में है।

'मैं' स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है, पर प्रमादवश असत् की ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव-जनित वेदना से पीड़ित मानव अपने जाने हुए असत् से विमुख होता है। विमुख होते ही सत्-पथ में प्रगति स्वतः होती है। इस राह में श्रम की गंध भी नहीं है और बे-साथी और बे-सामान के ही इस पथ में गमन होता हैं यह कैसी अलौकिक बात है कि गति है, पर श्रम नहीं, अर्थात् श्रम-रहित होते ही 'मैं' स्वयं उस वास्तविकता से अभिन्न होता है, जिससे अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' की कितनी महिमा है। पर बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर, अपनी महिमा को भूल जाता है। इसके भूलते ही उसमें उत्पन्न हुई उन वस्तुओं की, जिनमें स्थायित्व की गन्ध भी नहीं है, अपितु सतत् परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है। राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियों में आबद्ध हो जाता है। पर वास्तविकता से जातीय एकता होने के कारण आपत्तियों में आबद्ध होने पर भी वास्तविकता की लालसा बीज रूप में विद्यमान रहती ही है। ज्यों-ज्यों आपत्ति-जनित पीड़ा सबल होती जाती है, त्यों-त्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वह माँग वर्तमान की माँग हो जाती है, तब असत् के संग का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही सत् का पथ स्वतः खुल जाता है और फिर वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

ममता तथ जिज्ञासा दोनों ही मानव में विद्यमान हैं और इन दोनों के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव का भास है। मानव-दर्शन ममता के नाश में समर्थ है। ममता का नाश होने पर जिज्ञासा की पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से ममता और जिज्ञासा, दोनों ही शेष नहीं रहतीं। ममता के नाश से निर्विकारता और जिज्ञासा-पूर्ति से निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है। सन्देह-रहित निर्विकार जीवन की प्राप्ति मानवमात्र के लिये सम्भव है। उससे निराश

होना अपनी ही भूल है। अपनी भूल से ही अपना विनाश है। इस कारण मानव-जीवन में भूल को बनाये रखने का कोई स्थान ही नहीं है। भूल का अन्त करने के लिये भूल को 'भूल' जान लेना अनिवार्य है, जो एकमात्र निज-अनुभव के आदर में ही निहित है। भूल का ज्ञान किसी अन्य के ज्ञान से नहीं होता, अपितु निज-ज्ञान से ही मानव अपनी भूल को जानता है। भूल का ज्ञान और उसका नाश युगपत् हैं।

शरीर आदि उत्पन्न हुई वस्तुओं में ममता भूल जनित है। पर यह भूल क्यों हुई? इस प्रश्न का उत्तर भूल का अन्त होने पर ही सम्भव है। जिसकी उत्पत्ति का अपने को ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा, जब उत्पत्ति अपने कारण में लीन हो जाय। अर्थात् उत्पत्ति का नाश होने पर ही उत्पत्ति के कारण का बोध होगा। अतः भूल का नाश होने पर ही, भूल क्यों उत्पन्न हुई, इसका बोध होगा। कार्य के रहते हुए कारण की स्वीकृति तो होती है, किन्तु कारण का परिचय नहीं होता। यही कारण है कि भूल के रहते हुए मानव यह अनुभव नहीं कर पाता की भूल क्यों हुई। भूल को 'भूल' जानने के लिये ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से वर्तमान वस्तुस्थिति को देखता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य वास्तविक नहीं हैं, अपितु भूल-जनित हैं। जो वास्तविक नहीं है, उसका त्याग तथा नाश सम्भव है। ममता तथा कामना का त्याग करने पर तादात्म्य स्वतः नाश होता है। तादात्म्य का नाश होते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य और सीमित अहम्-भाव में आरोपित स्वीकृतियाँ 'मैं' नहीं है। जब प्रतीति और स्वीकृतियों से 'मैं' का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब 'मैं' एकमात्र किसी की माँग, किसी की खोज अथवा किसी की प्रियता के रूप में ही भासित होता है। दुःख-निवृत्ति, परमशान्ति एवं स्वाधीनता की माँग तथा वास्तविकता की खोज और जो 'है' उसी की प्रियता 'मैं' के स्वरूप में शेष रहती है। निर्ममता तथा निष्कामता से दुःख-निवृत्ति, शान्ति तथा स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है और तादात्म्य का नाश हाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि असीम अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन है और अन्त में 'मैं' उसी 'है' की अगाधप्रियता है।

यह मानव-मात्र को विदित है कि सर्वप्रथम भास अहम् के रूप में ही होता है और फिर मम का। अहम् और मम, इन दोनों में किसी-न-किसी प्रकार की एकता तथा

भिन्नता अवश्य है। यदि ऐसा न होता, तो अहम् की प्रवृत्ति मम की ओर न होती; कारण, कि एकता तथा भिन्नता के बिना पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं होता। मम करके जिसे सम्बोधन करते हैं, उससे अहम् की किसी-न-किसी अंश में एकता अवश्य है। परन्तु मम की ओर गति होने पर परिणाम में अभाव ही अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उस दृश्य का-जिसको अपना माना था, अथवा जिसकी कामना की थी-कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। प्रतीति हो, प्रवृत्ति हो; किन्तु प्राप्ति न हो, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पर फिर भी प्रतीति होती है। यदि अहम् अर्थात् अपने में मम की जाति की कोई भी वस्तु न होती, तो मम का आकर्षण ही न होता। मम का आकर्षण यह सिद्ध करता है कि अहम् में कोई-न-कोई तथ्य मम की जाति का है। इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जब मानव अपने को मिले हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, तब उसे अपने में देह-भाव भासित होता है। उसी भास के कारण प्रतीति का आकर्षण होता है। प्रवृत्ति के अन्त में अभाव-जनित अनुभूति प्रवृत्ति को निवृत्ति में परिणत कर देती है। सहज-निवृत्ति स्वतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहम्-बुद्धि नहीं रहने देती और जब यह स्पष्ट अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अहम् नहीं है, तब प्रतीति का आकर्षण नहीं रहता, अर्थात् निष्कामता उदित होती है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर एकमात्र 'यह' से अतीत की खोज जाग्रत होती है, जो 'उससे', जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, अभिन्न कर देती है।

मम का आकर्षण और वास्तविकता की खोज अहम् रूपी अणु में ही विद्यमान है। प्रतीति के आकर्षण का अन्त होते ही अहंता वास्तविकता की खोज होकर वास्तविकता से अभिन्न होती है। अर्थात् प्रतीति की कामना मिटकर सत् की जिज्ञासा में परिणत होती है। सत् की जिज्ञासा स्वतः सत् से अभिन्न होती है। सत् की अभिन्नता सत् में प्रियता प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रतीति की ममता ही सत् की जिज्ञासा और सत् की जिज्ञासा ही सत् की अभिन्नता और सत् की अभिन्नता ही सत् की प्रियता में परिणत होती है। प्रतीति की ममता उसी समय तक जीवित रहती है, जिस समय तक मानव प्रवृत्ति के परिणाम से प्रभावित

नहीं होता। प्रवृत्ति का आरम्भ काल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो अभाव ही शेष रहता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम अपने में देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक का अनादर ही अविवेक है। इस दृष्टि से अपनी भूल ही एकमात्र प्रवृत्तियों का स्त्रोत है। प्रवृत्तियों का परिणाम असह्य होने से अपने में स्वयं वास्तविकता की खोज जाग्रत होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविकता से भी 'मैं' की एकता है। प्रतीति से अहम् की भूल-जनित एकता है और वास्तविकता से वास्तविक एकता है। जिससे वास्तविक एकता है, उसमें आत्मीयता स्वतः सिद्ध है और जिससे भूल-जनित एकता है, उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। ममता के त्याग से आत्मीयता में सजीवता आती है। ममता के रहते हुए आत्मीयता सजीव नहीं होती, जिसके बिना हुए प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती। ममता-जनित आसक्ति पराधीनता में आबद्ध करती है और आत्मीयता से उदित प्रियता पराधीनता की तो कौन कहे, स्वाधीनता में भी रमण नहीं करने देती, अपितु जो 'है' उसके लिए रसरूप सिद्ध होती है। यह आत्मीयता की महिमा है। परन्तु जब तक ममता-जनित आसक्ति का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक आत्मीयता की महिमा का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से अहम् में से ममता का मिटा देना अनिवार्य है।

मम का अन्त होते ही अहम् स्वतः तत्त्व की जिज्ञासा तथा वास्तविकता की प्रियता में परिणत हो जाता है, अर्थात् अहम् और मम मिटकर प्रेम और प्रेमास्पद ही शेष रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। प्रेमी-रहित प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। प्रेम का प्रादर्भाव ही सर्वतोमुखी विकास है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेम ही प्रेमास्पर है। प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और मानव की माँग है। अहंता और ममता-जनित परिच्छिन्नता तथा आसक्ति का अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादर्भाव होता है। प्रेम किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता, इस कारण प्रेम में पराधीनता नहीं है। प्रेम का प्रादर्भाव होने पर कुछ भी करना तथा पाना शेष नहीं रहता। इस कारण प्रेम की अभिव्यक्ति में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता है। पर प्रेम-तत्त्व विश्राम तथा स्वाधीनता में आबद्ध नहीं होता। जिस प्रकार फल की वाटिका का मूल्य चुकाने पर वाटिका की छाया, सुगंधि स्वतः प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। प्रेम प्रेमास्पद को

रस प्रदान करता है और विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी होती है; किन्तु प्रेम के पुजारी में अपने लिए कुछ भी पाना नहीं रहता। इस कारण विश्राम, तथा स्वाधीनता स्वतः प्रेम से अभिन्न होती है। विश्राम तथा स्वाधीनता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है। प्रेम में ही प्रेमास्पद का नित्य वास है और प्रेमा प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

जब यह स्पष्ट विदित ही है कि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु एक गति है, जो प्रतीति के रूप में भासती है; तो प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही प्रतीति स्वयं उसमें विलीन हो जाती है, जिसकी वह प्रतीति है। जब प्रतीति अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब अहम् स्वयं गति होकर उससे अभिन्न होता है, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है और उसके नाश में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रतीति का आकर्षण शेष नहीं रहता। प्रतीति का आकर्षण रहने पर तो उसी की ओर गति रहती है, जिसका अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति के आकर्षण में ही अभाव की अनुभूति है। अभाव स्वभाव से किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अभाव की भूमि में ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है।

'नहीं' को 'नही' अनुभव करने पर ही 'है' की माँग और असत् को 'असत्' जाने लेने पर ही सत् की जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं, जब देखे हुए का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, तब सुने हुए में आस्था होती है। बस, यही आस्तिक-दर्शन का उद्गम है।

यद्यपि आस्था की माँग मानवमात्र में स्वभाव-सिद्ध है, किन्तु इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के आधार पर मानव सृष्टि में आस्था स्वीकार करता है। परन्तु प्रवृत्तियों के परिणाम पर जब विचार करता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसकी ओर दौड़ते हों, और न पकड़ पाते हों और अन्त में असमर्थता का अनुभव करते हों, वही संसार है। जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसकी आस्था कुछ अर्थ नहीं रखती, अर्थात् सृष्टि की सत्ता को स्वीकार करना भ्रममूलक ही है। पर जब मानव दृश्य से विमुख हो, अपने ही में सन्तुष्ट होता है, तब वह अपनी आस्था स्वीकार करता है और फिर उसे समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था भासित होती है, अर्थात् जो सभी अवस्थाओं से अतीत है, वही

सभी अवस्थाओं में है। पर अवस्था-जनित तादात्म्य परिच्छिन्नता में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। भेद भय को और भिन्नता संघर्ष को जन्म देती है, अर्थात् भिन्नता से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष में आबद्ध मानव पराधीनता एवं क्षोभ में आबद्ध रहता है। पराधीनता चिन्मय जीवन से और क्षोभ समता से अभिन्न नहीं होने देता। इस दृष्टि से राग-द्वेष युक्त वस्तु-स्थिति किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। परन्तु भेद और भिन्नता के रहते हुए राग-द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, उसका अन्त करना अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश निराश्रय तथा अप्रयत्न के बिना सम्भव नहीं है। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय मिटने पर निष्कामता तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है और फिर अप्रयत्न होने पर ही परिच्छिन्नता का नाश होता है। इस दृष्टि से अहम् से अतीत की आस्था ही वास्तविक आस्था है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध हो। इन दोनों में से किसी एक की वास्तविकता का परिचय होने पर दोनों ही का स्पष्ट बोध हो जाता है।

दृश्य का राग जिसमें है, वह 'मैं' दृश्य की ही जाति का है। राग-रहित होने पर समस्त दृश्य अपने अधिष्ठान से अभिन्न हो जाता है; कारण, कि राग के होते हुए दृष्टि दृश्य से विमुख नहीं होती और उसके बिना हुए दृष्टि अपने उद्गम में विलीन नहीं होती। जब दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब उसकी गति उसकी ओर होती है, जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है, उसे कोई भले ही अहम् के रूप में अनुभव करे, किन्तु अहम् भी वास्तव में उसी की एक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से सभी में सत्ता रूप से वही है, जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में किसी प्रकार की एक देशीयता तथा परिच्छिन्नता नहीं हो सकती। उसमें एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता का आरोप करना कर्त्ता का ही चमत्कार है। वह वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता का परिचय तो अहम् और मम के नाश में ही निहित है। राग-रहित भूमि में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है; कारण, कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति राग-रहित होने से स्वतः होती है। अपने में अपना करके कुछ भी मानने पर कोई भी मानव किसी भी प्रकार राग-रहित नहीं हो सकता और उसके बिना हुए वास्तविकता का बोध नहीं होता। इस

कारण राग का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र दृश्य के यथार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। दृश्य की वास्तविकता का परिचय दृश्य से विमुख होने पर ही होता है। दृश्य की विमुखता एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

देखे हुए और किए हुए का प्रभाव जब तक अंकित है, तब तक स्वाभाविकता में प्रतिष्ठा नहीं होती और उसके बिना हुए वास्तविकता का परिचय नहीं होता, अर्थात् निस्सन्देहता नहीं आती। देखा हुआ मिला नहीं, किया हुआ रहा नहीं; किन्तु उसकी स्मृति-मात्र अंकित है। यदि कुछ काल के लिए देखना और करना बन्द कर दिया जाय, अर्थात् न देखने और न करने को अपना लिया जाये, तो भूतकाल से देखे हुए और किए हुए का जो प्रभाव अंकित है, वह स्वतः प्रकट होगा। उस दृश्य से सहयोग तथा तादात्म्य स्वीकार न करने पर उत्पन्न हुआ चिन्तन अपने आप मिट जायेगा और फिर स्वतः स्वाभाविकता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। जिसके होते ही वास्तविकता से अभिन्नत प्राप्त होती है और फिर मानव स्वतः निस्सन्देह हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किए हुए का परिणाम जो कुछ भी हो, पर वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह जीवन नहीं है, अर्थात् वह लक्ष्य नहीं है। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में 'किया हुआ' हेतु नहीं है। करने का सम्बन्ध परहित में भले ही हो पर उससे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। पर फिर भी मानव में करने का राग है। करने के राग-निवृत्ति मात्र के लिए ही करना है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब कर्म-सामग्री तथा कार्य-क्षेत्र में ममता न रहे और न फलासक्ति ही। निर्ममता तथा फलासक्ति-रहित प्रवृत्ति से ही सहज-निवृत्ति आती है, जो स्वाभाविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। अस्वाभाविकता ने ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में मानव को आबद्ध किया है। इस कारण से अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र अचाह तथा अप्रयत्न से ही साध्य है। चाह-रहित होते ही स्वतः वर्तमान कार्य पूरा करने की सामर्थ्य आती है। चाह-युक्त मानव वर्तमान कार्य को विधिवत् नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कार्य करते रहने पर भी करने का राग नाश नहीं होता, जो अवनति का मूल है। करने का राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नहीं है। और अप्रयत्न हुए बिना सीमित अहम्-भाव का नाश नहीं होता; उसके बिना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। भेद तथा भिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से

अभिन्नता नहीं होती। वास्तविकता से अभिन्नता बिना हुए वास्तविकता का बोध सम्भव नहीं है; कारण, कि प्रतीति से विमुख हुए बिना दृश्य की यथार्थता स्पष्ट नहीं होती और 'है' से अभिन्न हुए बिना 'है' का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से 'यह' के परिचय में ही 'मैं' का परिचय और 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता के अनुभ्ज्ञव में ही 'है' की प्राप्ति, 'है' का बोध और 'है' की प्रियता निहित है।

अस्वाभाविकता सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का भास कराती है। इस दृष्टि से अस्वाभाविकता के रहते हुए जो सम्भव है, उसमें आस्था नहीं होती और जो असम्भव है, उससे मानव निराश नहीं होता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि न तो अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर होता है और न सुने हुए में अविचल आस्था ही होती है और न जो कर सकते हैं और करना चाहिए, उसे कर ही पाते हैं। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है। 'है' की प्राप्ति और 'नहीं' की निवृत्ति सम्भव है। 'नहीं' की प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं और जो 'है' उसकी प्राप्ति होती है, प्रतीति नहीं। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि दृश्य से विमुख हुए बिना नित्य-प्राप्त में आस्था ही नहीं होती। जिसमें आस्था नहीं होती, उसमें आत्मीयता नहीं होती, और जिससे आत्मीयता नहीं होती, उसकी प्रियता जाग्रत नहीं होती और प्रियता के बिना दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। दूरी के नाश में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति आत्मीयता से ही साध्य है।

दृश्य का राग, जो दृश्य से विमुख नहीं होने देता, किसमें है? पर समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दृश्य का राग दृश्य में नहीं हो सकता और न दृश्य के प्रकाशक में। दृश्य का राग उसी में है, जिसने दृश्य में ममता और दृश्य की कामना स्वीकार की है। उसका नाम अहम् हो सकता है; कारण, कि अहम् के बिना मम और मम के बिना कामना उत्पन्न नहीं होती। इस दृष्टि से अहम् और मम की वास्तविकता का दर्शन किए बिना दृश्य से विमुख होना सम्भव नहीं है। जिसमें दृश्य की ममता तथा कामना है, उसी में जिज्ञासा भी है और उसी की कोई माँग भी है। ममता, कामना, जिज्ञासा और माँग जिसमें हैं, वही अपने को 'मैं' कह कर सम्बोधित करता है। ममता, कामना के नाश में ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य है और निस्सन्देह होने में ही अविचल आस्था तथा आत्मीयता है। आत्मीयता में ही

अगाध, अनन्त, नित, नव प्रियता की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'मैं' वही है, जो दायित्व पूरा कर सकता है और जिसकी माँग पूरी होती है। ममता, कामना के त्याग का दायित्व उस पर है। दायित्व पूरा करते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है, अर्थात् काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति जिसको होती है, वही 'मैं' है।

अब यदि कोई यह कहे कि मुझे दृश्य का राग अभीष्ट नहीं है, अतः ममता, कामना, तादात्म्य के त्याग से निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छिन्नता से अभिन्न होना है। क्या जिससे अभिन्न होना है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? यदि है, तो 'मैं' क्या उसकी प्रियता से भिन्न कुछ और है? प्रियता में अस्तित्व किसका होता है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रियता जिसकी है, उसमें अस्तित्व उसी का है। अपना अस्तित्व स्वीकार करके प्रियता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, अपितु जिसने निर्विकारता आदि से, अर्थात् अपनी माँग से भिन्न अपना अस्तित्व स्वीकार किया, उसमें आसक्ति हो सकती है, प्रियता नहीं। आसक्त आसक्ति से भिन्न भी रहता है। किन्तु प्रियता जिसमें होती है, उसका अस्तित्व प्रियता नहीं है। आसक्ति और प्रियता में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति उसको अपने से अभिन्न नहीं कर पाती, जिसमें आसक्ति है और जिसके प्रति आसक्ति होती है उसके काम नहीं आ पाती; कारण, कि आसक्ति भोग की जननी है। कोई भी भोक्त भोग्य वस्तु के काम नहीं आता, अपितु भोक्ता के द्वारा भोग्य वस्तु का विनाश ही होता है। किन्तु प्रियता जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस-रूप होती है और उसका विनाश नहीं करती, अपितु प्रियता अपने को ही प्रियतम से अभिन्न करती है। अतः आसक्ति और प्रियता का भेद स्पष्ट होने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सर्वांश में आसक्ति का नाश होने पर भोक्ता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, अपितु जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसकी प्रियता रहती है। स्वतन्त्र तथा अविनाशी एवं अनन्त और चिन्मय की प्रियता भी उसी की जाति की है, पर उसका कोई अपना करके अस्तित्व नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि समस्त दृश्य की ममता, कामना एवं तादात्म्य के कारण मुझमें जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि दोषों की उत्पत्ति हो गई थी, पर जब विवेकपूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य का अन्त कर दिया, तब 'मैं' स्वंय निर्विकार, शान्त, स्वाधीन तथा

अपरिच्छिन्न हो गया। अब विचार यह करना है कि यदि निर्विकारता, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता आदि तुम्हीं सब थे, तो तुमने ममता, कामना आदि विकारों को क्यों स्वीकार किया? क्या यह कभी सम्भव है कि कोई स्वाधीन होते हुए पराधीनता, चिन्मय होते हुए जड़ता, पूर्ण होते हुए अभाव, परमशान्त होते हुए अशान्ति और अपरिच्छिन्न होते हुए परिच्छिन्नता को अपनाये? कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसमें आसक्ति आदि दोष हैं, वह उसकी जाति का है, जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की थी। आसक्ति और आसक्त-पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतः आसक्ति और आसक्त, इन दोनों का ही अभाव है। यदि यह स्वीकार न किया जाय, तो आसक्ति आदि दोषों की किसी को माँग नहीं होती। अतः स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है, जिसकी माँग है। उसको स्वीकार न करने पर भी उसी की प्राप्ति है-यह उसकी महिमा है और जिसकी आसक्ति है, उनके अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं है-यह उनकी महिमा है। अतः आसक्ति का अन्त कर निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता, अगाध प्रियता आदि से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। 'है' को अस्वीकार करने पर भी उसकी निवृत्ति नहीं होती और 'नही' को स्वीकार करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं, उसी को 'यह', अर्थात् 'नहीं' करके सम्बोधन करते हैं। 'नहीं' की ममता और 'है' की माँग जिसमें है, उसी को 'मैं' करके सम्बोधन करते हैं। ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भासित नहीं होता। ममता आदि दोषों के रहते हुए ही अहम् का भास होता है। 'यह' कुछ नहीं, 'मैं' कुछ नहीं-यह मानव-दर्शन से सिद्ध है। अब यदि कोई कहे कि 'यह' कुछ नहीं, 'मैं' कुछ नहीं और इन दोनों से भिन्न 'है' भी कुछ नहीं। तो यह अहम् की आवाज है, अर्थात् उसकी आवाज है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। 'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करते ही, 'है' की प्राप्ति स्वतः होती है। 'है' का मानना तथा जानना उतना आवश्यक नहीं है। जितना प्राप्त करना। मानने और जानने की बात साधन-रूप चर्चा है, जो न मानने तथा न जानने पर भी ज्यों का त्यों है, उसी की प्राप्ति मानव को अभीष्ट है।

उपसंहार

'नहीं' की ममता और 'है' की माँग जिसमें है, उसी को 'मैं' करके सम्बोधन करते हैं। ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भासित नहीं होता। ममता आदि दोषों के रहते हुए ही अहम् का भास होता है। 'यह' कुछ नहीं, 'मैं' कुछ नहीं-यह मानव-दर्शन से सिद्ध है।

अब यदि कोई कहे कि 'यह' कुछ नहीं, 'मैं' कुछ नहीं और इन दोनों से भिन्न 'है' भी कुछ नहीं। तो यह अहम् की आवाज है, अर्थात् उसकी आवाज है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। 'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करते ही, 'है' की प्राप्ति स्वतः होती है।

विषयी का 'मैं' एकमात्र विषयों की आसक्ति के रूप में ही प्रतीत होता है, जिज्ञासु का 'मैं' अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का 'मैं' प्रेम हो जाता है। जो 'मैं' विषयों की आसक्ति के रूप में प्रतीत होता है, वह अभावरूप है; क्योंकि विषयासक्ति में जीवन नहीं है। जिज्ञासु का 'मैं' जिज्ञासाकाल में केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासा की पूर्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्त का 'मैं' आरम्भ में तो प्रभु का विश्वास और प्रभु के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है, पर अन्त में प्रभु का प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। इस दृष्टि से 'मैं' अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

इस दृष्टि से 'मैं' का अर्थ विश्व के साथ एकता अथवा अनन्त से अभिन्नता अथवा अनन्त की प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो 'मैं' का अर्थ कुछ नहीं, या सब कुछ है, या केवल प्रीति ही है।

पथ प्रदीप

जीवन कला

मानव-सेवा-संघ जीवन कला है। कैसे जियें, जिससे जीना सार्थक हो जाय? संघ की विचारधारा इसी प्रश्न का उत्तर है। किसी के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ। जीवन की शोध हुई और उत्तर मिला।

वह उत्तर सार्वभौम हो जाय, इसी उद्देश्य से उसे संघ के माध्यम से प्रकट किया गया है। अतः जो कुछ बताया गया है, वह कोरा सिद्धान्त नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।

हम कैसे जी रहे हैं, कैसे जीना चाहिए :

अब तक हमने बहुत कुछ किया, पर करने का अन्त नहीं हुआ। बहुत कुछ जाना, पर निःसन्देह नहीं हुए। बहुतों को अपना माना, पर हृदय की भूख नहीं मिटी। कभी वस्तुओं का अभाव, कभी पराधीनता का दुःख, कभी नीरसता की पीड़ा, कभी लोक की और कभी परलौक की चिन्ता सताती ही रहती है। अतः हमें जीना नहीं आया।

इस दशा में यदि हम जीवन का मूल्यांकन बदल डालें तो हमें जीने की कला आ जायेगी। शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) का पोषण-मात्र जीवन नहीं है। यह तो सृष्टि का एक स्थूल भाग है। जो कुछ सत्य और मधुर है, उसकी उपलब्धि में ही जीवन है। अतः शरीरों के पोषण की क्रिया में से अपना संवेगात्मक सम्बन हटा लें। प्रेरकों (Motives) की उत्पत्ति से उत्पन्न तनाव (Tension) और पूर्ति से प्राप्त आराम (Relief) के परिणाम स्वरूप भासित होने वाले सुख में-से महत्व-बुद्धि निकाल दें।

सत्य, शाश्वत और मधुर से मिलने के लिए यह पहला कदम है। यह कठिन बात नहीं है और यदि इसे कठिन मानेंगे तो दूसरा उपाय भी नहीं है। जीवन चाहिए, तो इतना करना ही होगा और हम सभी कर सकते हैं। हम जीते तो हैं, पर मृत्यु की राह पर। अब इस ढंग से जियें कि जिन्दगी की राह पर आ जायें।

शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के अनुसार स्थूल ओर सूक्ष्म शरीरों की रचना ही इस प्रकार की है कि उन्हें बनाये रखने के लिए समय-समय पर अनेक प्रकार के प्रेरक (Motive) उत्पन्न होते रहते हैं और उनकी पूर्ति भी अनिवार्य होती है। परन्तु यह हमारी भूल है कि हम उसी क्रम को जीवन स्वीकार कर लेते हैं। इस भूल को मिटाना है।

शरीरों का पोषण केवल इनकी सुरक्षा की दृष्टि से करें तो हमारा आहार-विहार अपने आप संयमित हो जायेगा। शरीर जीवन नहीं है, जीवन प्राप्ति के लिये साधन-सामग्री है। अतः इसको आवश्यक वस्तुओं के द्वारा पोषित कर इसे परिवार और समाज की सेवा में लगा दें। शरीरों की आसक्ति से रहित हो जाने पर आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं रह जाता।

तन, धन, कुल, परिवार आदि पर से अपने ममत्व का भार हटा लेने पर सबका स्वतः प्राकृतिक विकास होता है। यह लोक को सुन्दर बनाने की उत्तम कला है। आज तन में, मन में, परिवार में और समाज में जो कुरूपता दिखाई देती है, वह हमारे ममत्व का ही दुष्परिणाम है। हम जगत के साथ रहने की कला सीखलें, तो हमारा इनका सम्पर्क सार्थक हो जाय, अर्थात् आसक्ति-रहित व्यक्तियों की सेवा पाकर जगत आनन्द से फूले-फले और जगत की सेवा करके उससे मुक्त होकर व्यक्ति सत्य एवं मधुर से मिल कर कृत-कृत्य हो जाय,

उपर्युक्त रीति से सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति का नम्बर आता है। सेवा की परिणति शान्ति में होती है। इच्छाओं की चहल-पहल से मुक्त होने पर श्रम-रहित होकर हम 'स्व' में प्रतिष्ठित होते हैं। मैं क्या हूँ? जीवन क्या हैं? जगत क्या है? आदि-आदि प्रश्नों का सही उत्तर पाकर निस्सन्देह होना साधनयुक्त जीवन का फल है।

हमने भूगोल और खगोल का बड़ा अध्ययन किया, परन्तु अपने को नहीं जाना, इसलिये निस्सन्देह नहीं हो सके, क्योंकि जब हम अपने से भिन्न किसी को जानने का प्रयास करते हैं, तो हमें शरीरों का सहरा लेना ही पड़ता है; इन्द्रिय-दृष्टि एवं बुद्धि-दृष्टि से ही देखना पड़ता है। ये स्वयं ही सीमित हैं, अनेक प्रतिबन्धों से परिच्छिन्न किये हुए हैं। इनकी पृष्ठ-भूमि पक्षपातपूर्ण है। इनका निर्णय सत्य नहीं हो सकता।

अतः उसके आधार पर प्राप्त की हुई जानकारी निस्सन्देह नहीं हो सकती। अब तक यही होता रहा है। जिन्होंने 'स्व' में प्रतिष्ठित होकर अपने को जान लिया, वे निस्सन्देह हो गये। उन्होंने सारी सृष्टि का रहस्य पा लिया। परन्तु हम इन्द्रिय-दृष्टि एवं बुद्धि-दृष्टि को सत्य मानकर बार-बार धोखा खाते रहते हैं। असत्य के माध्यम से सत्य नहीं जाना जा सकता। इनके माध्यम से जो जानने में आता है, उसका उपयोग-मात्र हम कर सकते हैं। प्यास और जल दिखाई दे तो जल ले,

प्यास बुझा लें। बस, इतना ही कर सकते हैं।

इन दृष्टियों से जो सत्य और सुन्दर भासित होता है, उसके पीछे दौड़ते रहे, परन्तु श्रम, शक्तिहीनता एवं मृत्यु के सिवाय हाथ कुछ न लगा। अतः हम जानना ही चाहते हैं, तो अपने को जानें। यह सम्भव है, यही आवश्यक है। केवल यही जाना जा सकता है और यही जानना पूर्ण जानना है। इतना जान लेने के बाद फिर और कुछ जानना शेष नहीं रहता।

अपने को कैसे जानें? श्रम-रहित होकर। मैं देह नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है-विवेक के प्रकाश में विवेचन के आधार पर ऐसा अनुभव किया जाय और उसी के अनुरूप निर्णय लिया जाय तो विश्राम मिलेगा। शरीरों से असंगता प्राप्त होती। असंगता की शान्ति में जीवनी-शक्ति स्वतः अपने अविनाशी उद्गम की ओर प्रवाहित हो जाती है। अविनाशी से अविनाशी योग हो जाता है। तत्व-बोध हो जाता है। अभाव का पूर्ण अभाव हो जाता है।

सन्त-वाणी में मैंने सुना है कि इसे निजानन्द कहते हैं। बड़ा भारी आनन्द होता है। हम जिस स्तर पर खड़े हैं वहाँ से उस आनन्द का अनुमान नहीं कर सकते। महर्षि रमण जी को असंगता का आनन्द प्राप्त हुआ था, तो वे कई महीने उसी मस्ती में पड़े रहें। महात्मा बुद्ध को निर्वाण का आनन्द प्राप्त हुआ था, तो वे भी बहुत दिनों तक उसी मस्ती में जंगलों में घूमते ही रहे। जन्म-जन्मान्तर का बंधा हुआ, थका हुआ, तापित, पीड़ित मानव जब विश्राम पाता है, तो उसके आनन्द का क्या कहना!

अज्ञान का घना अन्धकार यकायक जब ज्ञान के प्रकाश से सदा के लिए नष्ट होता है और साधक का सीमित अहं गल कर निज-स्वरूप में समाहित हो जाता है, तो केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है। जिसको संभाल न सकने पर साधक स्वयं आनन्द-स्वरूप हो जाता है।

ज्ञान की अन्तिम परिणति है-निज स्वरूप से अभिन्न हो जाना। जिसने अपने को जाना, उसने सब कुछ जान लिया। जिसने मरकर जीना सीख लिया, वह अमर हो गया। उसका लोक-परलोक सब उसी में समा गया। स्वामी रामतीर्थ ने मस्त होकर कहा था-"राम मुझ में, मैं राम में हूँ।" यह उनकी स्वानुभूति है।

वह आज भी जन-जीवन में गूंज रही है। युग-युगान्त तक गूंजती रहेगी। यह जीवन का सत्य है। यह

अमरत्व है। इससे अभिन्न होने की कला जीवन की कला है। उनसे भिन्न प्रकार का जीना जिन्दगी नहीं, मौत का ही रूपान्तर है। मानव-सेवा-संघ ने मानव-मात्र को अमरपद का जन्मजात अधिकारी माना है।

जो सत्य और शाश्वत है, उसका एक अविभाज्य पहलू है- मधुर। जो सत्य है, वह शाश्वत है, वही मधुर भी है। हम सबकी रचना इन्हीं मूलतत्वों से हुई है। इसलिये हममें जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहां प्रियता की लालसा भी है। लेखिका को स्वयं ही अपने निजी जीवन में ऐसे दीन-हीन क्षणों का अनुभव हुआ है कि जिनमें हृदय के अन्तर्तम से यही करुण-कराह उठती थीः-

'हे मेरे रचयिता! लम्बी नीरस और शुष्क अवधि के बदले मुझे क्षणभर का रसपूर्ण जीवन दे दो। ज्ञान के प्रकाश में प्रेम का अनन्त सागर लहराता रहे!'

रसमय जीवन ही सत्य और शाश्वत जीवन है। यही जीवन है। इसकी उपलब्धि की कला ही जीवन की सर्वोत्तम कला है।

मानव की महिमा

मानव जीवन की प्राप्ति किसी पुण्य-कर्म का फल नहीं है, रचयिता की देन है। यह स्वतः सिद्ध सत्य है। चूँकि मानवेतर योनियों में पुण्यकर्म करने की स्वाधीनता नहीं है, इसलिए मानव का निर्ताण उसके कर्म फल पर नहीं, रचयिता की स्वेच्छा पर निर्भर है। इस सत्य से यह प्रकाश मिलता है कि जो किसी की देन है, वह अपने लिए नहीं है। परन्तु बड़े ही दुःख की बात है कि व्यक्ति इस सत्य को उपेक्षा करके यह सोचने लगता है कि मैं संसार में आया हूँ, तो मुझे सुख मिलना ही चाहिए।

सुख की कामना से प्रेरित होकर व्यक्ति शरीर के मोह एवं वस्तुओं के लोभ से आक्रान्त हो जाता है। जड़ता, पराधीनता एवं अभाव से ग्रसित होकर स्वयं दुःखी होता है और सामाजिक जीवन में दुःख फैलाता है। फिर भी मानव के जीवन में शान्ति, स्वाधीनता एवं परम प्रेम की मौलिक मांग विद्यमान रहती है। उस मांग का नाश कभी नहीं होता, क्योंकि यह अविनाशी तत्त्व है।

अतः व्यक्तिगत जीवन की मौलिक माँग की पूर्ति तथा सामूहिक जीवन की विषमता एवं संघर्ष का अन्त करना जिसे अभीष्ट है, उसे इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानव-जीवन अपने लिए नहीं है। तब यह प्रश्न उठता है कि जीवन किसके

लिए है? इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि मानव का जीवन जगत् और जगत्पति के लिए है।

विचार करने पर यह साफ दिखाई देता है कि शरीर है संसार में और मैं हूँ अनन्त में अनन्त से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है और संसार से भिन्न शरीर का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि शरीर संसार के बाहर नहीं जा सकता और मैं अनन्त की सत्ता के बिना नहीं रह सकता। अतः अनन्त हैं, और उनका संसार है। इस सत्य को स्वीकार करते ही न मैं रहा और न मेरा शरीर रहा अर्थात् इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से शरीर विश्व के काम आ जाय और अहम् गल कर अनन्त की प्रीति हो जाय, तो यह मानव की पूर्णता है।

इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व में जितना भौतिक पहलू है (तीनों शरीर), उतने अंश में सभी को भौतिकवादी होना चाहिए। इसका व्यावहारिक दृष्टि के अर्थ (Practical implication) यह है कि शरीर और संसार की सजातीयता के आधार पर शरीर को संसार की सेवा में लगा देना चाहिए।

सेवा से भिन्न शरीरों का मानव के जीवन में कोई महत्व नहीं है। पर यह रहस्य तभी समझ में आता है, जब इस बात पर ध्यान रहे के शरीर अपना नहीं है और अपने लिये नहीं है। तब साधक कर्तृत्व के अभिमान और कर्मों की फलासक्ति से मुक्त हो जाता है। उदारतायुक्त कर्तव्य-परायणता उसके लिए सहज स्वाभाविक हो जाती है, जो विश्व-शान्ति का मूलमन्त्र है। आज मानव-समाज में चारों ओर हा-हा-कार क्यों मचा है? कर्तव्य-परायणता की अवहेलना और अधिकार लिप्सा की प्रबलता से।

आज राष्ट्रीय जीवन के आगे निराशा का घना अन्धकार क्यों छाया है? क्योंकि आज हम इस सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि मानव-जीवन में महत्त्व कर्तव्य-पालन का है, अधिकार-लिप्सा का नहीं। अधिकार-लिप्सा से रहित कर्तव्य-निष्ठा से मानव का जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। कर्तव्य-परायणता योग का पूर्व-पक्ष है और योग कर्तव्य-परायणता का **उत्तर-**पक्ष है। कर्तव्यनिष्ठ साधक योग-युक्त हो जाता है।

'मानव के जीवन में अपना कुछ नहीं है।' इस सत्य के आधार पर शरीरों पर से जब अपने ममत्व का भार हटा लिया जाता है और उनको जगत् की ही वस्तु मानकर जगत् की ही सेवा में लगा दिया जाता है, तो

शरीर का जगत् से योग हो जाता है। अहम् और मम के बन्धन से मुक्त स्थूल शरीर की क्रियात्मक सेवा से स्थूल जगत् का, सूक्ष्म शरीर की भावात्मक सेवा से सूक्ष्म जगत् का और कारण शरीर की व्यापकता से कारण जगत् का अद्‌भुत योग हो जाता है। यह योग-युक्त सेवा विभु होती है।

व्यष्टि और समष्टि, शरीर और जगत् के बीच योग हो जाने से शरीरों में अपार भौतिक शक्तियाँ आ जाती हैं। अनेक दिव्यताओं की अभिव्यक्ति होने लगती है। फिर भी ये सारे विकास और सभी उपलब्धियाँ अपने लिये नहीं हैं। शुभ कर्म, सार्थक चिन्तन एवं निर्विकल्प स्थिति से प्राप्त सामर्थ्य-सब कुछ मानव-जीवन के भौतिक पहलू का ही विस्तार है।

अतः यह सब कुछ जगत् की सेवा के लिए ही है; अपने लिए नहीं। इतनी सावधानी रखते हुए जब साधक सही प्रवृत्ति द्वारा रागमुक्त होकर योगयुक्त होता है और उस योग का भी भोग जब नहीं करता तब 'स्व' का विकास आरम्भ होता है अर्थात् वास्तविक जीवन, जो स्वयं अपने ही में है, उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है, जिसकी परिणति आत्म-रति एवं प्रभु-प्रेम है। सही प्रवृत्ति के बाद जो सहज निवृत्ति आती है उस निवृत्ति की शान्ति में भी रमण न किया जाय, तो सम्पूर्ण जीवन-शक्ति अपने आप अपने उद्गम की ओर प्रवाहित हो जाती है। यह अविनाशी से अविनाशी योग है।

उसी शान्ति में उस विचार का उदय होता है जो निज स्वरूप का बोध कराता है और उसी शान्ति में से उस भाव की अभिव्यक्ति होती है जो अनन्त के लिए रस-रूप है। इस रस के प्रवाह में सीमित अहम्-भाव समाहित होता है। ऐसा अहम्-शून्य प्रेम-पूर्ण जीवन जगत्पति को रस प्रदान करता है और यही मानव जीवन का चरम उत्कर्ष है। यही पूर्ण जीवन है। यही मानव जीवन का परम लाभ है। विकास का यह सुन्दरतम एवं मधुरतम रूप सर्वोत्कृष्ट है, जो अनन्त सौन्दर्यवान् एवं अनन्त माधुर्यवान् को भी रस प्रदान करता है।

धन्य है मानव-जीवन और धन्य हैं इसके रचियता! मानव इतना स्वाधीन है कि उसे अपने लिए किसी से कुछ नहीं चाहिये; वह इतना उदार है कि अखिल विश्व की सेवा कर सकता है और इतना मधुर, इतना प्रेमी है कि प्रेम-सिन्धु को रस से तरंगित कर सकता है। अतः ऐसी रचना और उसके रचयिता पर बलि-बलि जाऊँ।

'मैं' का परिचय

हम क्या जानते हैं? अपनी सीमित सत्ता को, अर्थात् जन्म-मरण की सीमा से बंधी हुई अपनी सत्ता हमारी जानकारी में हैं, अभी वर्तमान में अपना होनापन अपने को भासित होता है। जन्म से पहले मैं क्या था? याद नहीं है। मरने के बाद क्या होऊँगा ?-पता नहीं है। इस समय, इस वर्तमान में मुझे मालूम होता है कि 'मैं' हूँ मैं कौन हूँ? क्या हूँ? क्यों हूँ? इन प्रश्नों का कोई स्पष्ट उत्तर मालूम नहीं है। फिर भी 'मैं' हूं। यह भास स्पष्ट है।

इसी सीमित सत्ता के भास से 'यह' का विस्तार आरम्भ होता है। जिसको अपने सीमित अहम् का भास होता है, उसे अपने से भिन्न 'यह' की प्रतीति होती है। जिसको 'मैं' और 'यह'-ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, उसको अपने में 'यह' के प्रति आकर्षण मालूम होता है।

इसी सीमित सौन्दर्य के आकर्षण का नाम है-काम-वासना। यही सर्व दुःखों की जननी है। प्रतीति अपने आप में आकर्षक या विकर्षक नहीं है कि इसको जब देखा जायगा तो आसक्ति या विरक्ति पैदा होगी। सीमित अहम्-भाव में संसार का आकर्षण है, जिससे संसार की प्रतीति होती है। संसार के संयोग-जनित सुख की प्रवृत्ति में पड़कर यह पता चलता है कि सुख की तृष्णा बढ़ गयी, पर सुख चला गया। अपने को केवल अभाव मिला। अपनी इस बेवशी की पीड़ा को हम जानते हैं।

जिस सीमित अहम्-भाव में 'यह' का आकर्षण है, उसी में सत्य की खोज भी है। जिज्ञासा से प्रेरित व्यक्ति विवेक के प्रकाश में देख लेता है कि पराश्रय-जन्य सभी सुख सीमित हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों पर आश्रित कर्म, चिन्तन एवं स्थिति जन्य सुख सीमित हैं। यह सब 'यह' का ही विस्तार है। इसमें विचरने वाला कभी स्वाधीन नहींहो सकता। अतः सीमित सुख जीवन नहीं है। यह जानकर साधक दृश्य-मात्र से विरक्त हो जाता है। वह शरीर और संसार का नाश नहीं करता। शरीर और संसार का उपयोग करता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं रहता।

जिस अहम् में सुख का आकर्षण और सत्य की खोज है, उसी में प्रियता की लालसा भी है। 'मुझे दुःख-रहित, स्वाधीन और सरस जीवन चाहिये', यह मौलिक माँग प्रत्येक साधक में रहती है। यह उसकी अपनी विशेषता है। इसी

कारण नीचे-से-नीचे गिरा हुआ व्यक्ति भी अपने उत्थान की आवश्यकता अनुभव करता है। मौलिक मांग कभी मिटती नहीं है। इसकी पूर्ति होती है, क्योंकि इसकी पूर्ति में ही वास्तविक जीवन है। इस माँग से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने को साधन युक्त बनाने का प्रयास करता है। फिर भी उसके प्रयासअधूरे क्यों पड़ते हैं? जिस दुःख-रहित, स्वाधीन एवं सरस जीवन की आवश्यकता वह अनुभव कर रहा है, उससे अभिन्न होने में देर क्यों लगती है? यह साधक समाज का एक सजीव प्रश्न है।

विचार करने पर साधक के जीवन की इस समस्या का एक खास कारण मालूम होता है। वह कारण यह है कि जिस जीवन की आवश्यकता हम अनुभव करते हैं, उसकी सत्ता में जब तक आस्था नहीं रखते, तब तक हमारे सब प्रयास निर्जीव होते हैं। साध्य की सत्ता में ही सन्देह हो तो फिर साधन कैसा?

सामान्यतः साधकों के लिये यह बात कठिन पड़ती है कि वे वास्तविक जीवन की आवश्यकता को अनुभव करते हैं, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों से उसे देख नहीं पाते और बुद्धि से समझ नहीं पाते। उस अगम अगोचर को बिना देखे, बिना जाने कैसे स्वीकार करें कि वह 'है'। मुझे इस कठिनाई का अनुभव हुआ था। इसने साधन पर मेरे प्रथम-कदम को ही रोक रखा था। मुझे याद है-जीवन का सत्य मेरा व्रत बन कर मेरे सामने आया। मुझे परामर्श मिला कि स्वीकार करो-

१.मेरा कुछ नहीं है।

२.मुझे कुछ नहीं चाहिये।

३.सर्व समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं। इससे तुम्हें शान्ति स्वाधीनता और परम-प्रेम मिल जायगा।

सत्य को मैंने सुना, स्वीकार भी करना चाहा, परन्तु डरते-डरते, संशकित हृदय से, -फलस्वरूप मेरा विकास रुका रहा; साधन में सजीवता आई नहीं।

'मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है।' यह जीवन के भौतिक पहलू का वैज्ञानिक तथ्य है।

'मुझे कुछ नहीं चाहिये' यह दार्शनिक सत्य है। 'सर्व समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं' यह आस्तिक-भाव है। ये वाक्य मुझे पसन्द आये, यथार्थ मालूम हुए अपने लिए इनको बहुत बार मैंने दुहराया। परन्तु मेरे सब प्रयास निष्प्राण रहे, किसी का कोई सजीव प्रभाव मुझ पर नहीं हुआ। दुःख नहीं मिटा, हलकापन नहीं आया; जीवन सरस नहीं बना।

असफलता की पीड़ा जब घनीभूत हुई तब अपनी भूल का पता

चला कि 'चिर-शान्ति, परम स्वाधीनता और अनन्त रस से भरपूर जीवन है'-इसी में मेरी आस्था दुबल है। इसी कारण साधन में सजीवता नहीं है। इस व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर साधक-समाज की सेवा में यह नम्र निवेदन है कि साधक-मात्र का यह परम-पुरुषार्थ है कि वह दुःख रहित, परम-स्वाधीन रस-रूप जीवन को सत्ता में दृढ़ आस्था रखें-सफलता अवश्यम्भावी है। साध्य की सत्ता में दृढ़ आस्था से ही माँग तीव्र होती है।

मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त के अनुसार माँग की तीव्र जागृति और उसकी पूर्ति युगपत है। माँग उसे नहीं कहते जिसकी पूर्ति न हो। माँग पूरी होती ही है। माँग की पूर्ति में ही वास्तविक जीवन है। वह दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन है।' उसका होनापन ही मानव की माँग के रूप में विद्यमान है और जो असाधन के मिटने पर प्राप्ति के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव बन जाता है। उसके होनेपर में विकल्प के लिये कोई स्थान ही नहीं है। अतः जीवन की वह माँग जो किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखती, अवश्य पूरी होती है। यह आस्था बड़ी विलक्षण है। इस आस्था से ही सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति साधना में लग जाती है, जीवन और साधन की एकता हो जाती है। साध्य की सत्ता में दृढ़ आस्था-साधक की सफलता का मूल आधार है।

अचाह-मानव का परम पुरुषार्थ

मानव का जगत् तथा जगत् के प्रकाशक से अविभाज्य सम्बन्ध है। अपनी माँग को लेकर परमात्मा से तथा काम को लेकर जगत् के साथ वह सम्बद्ध है। उसकी मांग है बोध एवं प्रेम की, जिसकी पूर्ति योग के बिना नहीं होती। उसमें रुचि है सुख भोग की, जिसके कारण वह शरीर से तादात्म्य किये बिना एवं संसार की दासता में आबद्ध हुए बिना रह नहीं सकता। यह तादात्म्य और संसार की दासता ही उसे योग से विमुख रखती है।

काम की उत्पत्ति भूल-जनित है, इस कारण इसकी पूर्ति नहीं होती, निवृत्ति होती है और माँग स्वतः सिद्ध है, इसलिए इसकी पूर्ति होती है। परन्तु जीवन का यह एक अनुभव सिद्ध सत्य है कि काम की निवृत्ति के बिना माँग की पूर्ति नहीं होती। इस दृष्टि से काम की निवृत्ति मानव जीवन का पहला और अन्तिम पुरुषार्थ है,

क्योंकि उसके बाद माँग की पूर्ति स्वतः होती है, साधक को और कुछ करना शेष नहीं रह जाता।

पूर्व में यह कहा गया है कि मानव का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, वह भोग की रुचि को लेकर है। भोग की रुचि के कारण ही जगत् प्रतीत होता है, उसमें सत्यता एवं सुख रूपता भासित होती है, परन्तु उसकी कभी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उसके साथ मानव की स्वरूप की एकता तथा उससे नित्य सम्बन्ध नहीं है। इस कारण जगत् के साथ जो भूल से सम्बन्ध माना गया है उसकी निवृत्ति अनिवार्य है। चूँकि भोग की रुचि अर्थात् चाह के कारण ही यह सम्बन्ध बनता है, इसलिए चाह-रहित होना ही इस सम्बन्ध की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है।

चाह-रहित होने के लिए चाह के स्वरूप पर विचार किया जाय। चाह के उत्पन्न होते ही व्यक्ति अभाव-जनित नीरसता से पीड़ित होकर चाह-पूर्ति के लिए जगत् में प्रवृत्त होता है, परन्तु मानव-जीवन का यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि उसे कभी तृप्ति नहीं मिलती। चाह-पूर्ति के सुख का प्रभाव राग के रूप में अहम् में अंकित होता रहता है। उसी सुखाभास की पुनरावृत्ति के लिए बारम्बार चाहों की उत्पत्ति होती रहती है, जिससे व्यक्ति श्रमित रहता है। चाहयुक्त दशा में कभी किसी को चैन नहीं मिलता। अनुकूल परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, भोग की शक्ति का ह्रास हो जाता है, पर चाहों का अन्त नहीं होता। इस दृष्टि से चाह-पूर्ति मानव का जीवन नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि चाह के उत्पन्न होते ही मानसिक संतुलन (Mental Equilibrium) भंग होता है। एक अस्वाभाविक तनाव उत्पन्न होता है। जिसके कारण व्यक्ति स्वस्थित नहीं रह सकता। स्वस्थित रहने में जो जीवन हैं, उससे वंचित हो जाने के कारण योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता नहीं हो पाती, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से चाह-रहित होना अनिवार्य है।

योगयुक्त होने के लिए अचाह अचूक उपाय है। अचाह होने से, जिससे नित्य सम्बन्ध है, उससे दूरी तथा भेद नहीं रहता और जिससे केवल काल्पनिक सम्बन्ध है उसकी निवृत्ति हो जाती है। काल्पनिक सम्बन्ध के आधार पर जगत् प्रतीत होता है। जब तक जगत् की प्रतीति होती रहती है, तब तक जिससे नित्य सम्बन्ध है उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता भी प्रतीत होती रहती है। सब प्रकार की चाह से रहित होने पर साधक को उसकी प्राप्ति हो जाती है,

जिससे उसका नित्य सम्बन्ध तथा स्वरूप की एकता है और वह जगत् के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। जगत् के प्रभाव से मुक्त होना ही योगयुक्त होना है। योगयुक्त होकर ही बोध एवं प्रेम से अभिन्नता होती है।

अब चाह-रहित होने के लिए शरीर एवं विश्व के सम्बन्ध पर विचार करें। शरीर और विश्व की स्वरूप से एकता है, क्योंकि दोनों एक ही धातु से निर्मित हैं। शरीर का विश्व से विभाजन नहीं हो सकता, अपितु एकता ही होती है। शरीर विश्वरूपी बाटिका की खाद हो सकता है, इसी में उसकी स्वाभाविकता एवं सार्थकता है। इसके विपरीत शरीर को विश्व की सहायता से बनाये रखने की अभिरूचि भारी भूल है। इसी भूल से संसार में भेद एवं संघर्ष का जन्म होता है और व्यक्ति मोह तथा आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाता। मानव जब तक शरीर को अपना मानता है और जगत् को अपने लिए मानता है, तब तक उसकी भोग की रुचि का नाश नहीं होता, जो योग में बाधक है। अतः काम की निवृत्ति एवं योग की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि शरीर को व्यक्तिगत सम्पत्ति न माना जाय और उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख सम्पादन न किया जाए, प्रत्युत शरीर का सदुपयोग जगत् की सेवा में कर दिया जाय।

सेवा-भाव से की गई प्रवृत्ति से नये राग अप्रित नहीं होते और पुराने राग निवृत्त हो जाते हैं। स्वयं अधिकार लालसा से रहित होने पर जगत् के अधिकारों की रक्षा की सामर्थ्य आ जाती है, जिसके शरीर और जगत् की एकता सिद्ध होती है। शरीर के द्वारा विश्व की सेवा एकमात्र उदार होने से ही सम्भव है। उदार होने का अर्थ है सुखियों को देखकर प्रसन्न और दुखियों को देखकर करुणार्द्र होना। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होने पर काम की उत्पत्ति ही नहीं होती, अर्थात् प्रसन्नता काम के नाश में हेतु है। करुणा से प्रभावित होने पर सुख-भोग की रुचि शेष नहीं रहती, साधक राग-रहित हो जाता है।

समस्त सृष्टि में सुख और दुःख का ही दर्शन होता है। इस दृष्टि से उदार मानव बड़ी ही सुगमता पूर्वक विश्व-जीवन के साथ एक हो जाता है और विश्व के प्रकाशक से अभिन्न हो जाता है। यह स्पष्ट है कि भोग की रुचि के कारण व्यक्ति का जगत् से जो सम्बन्ध है, वह भूल-जनित है, परन्तु उदारता और सेवा के आधार पर जगत् से जो सम्बन्ध है, वह प्राकृतिक है। भूल-जनित सम्बन्ध

के प्रभाव से मुक्त होकर प्राकृतिक सम्बन्ध का निर्वाह विकास में हेतु है।

उदारता मानव को विराट से अभिन्न कर देती है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं, यह जीवन का तथ्य है। इस तथ्य को अपना लेने पर संकीर्णता मिट जाती है, जो कर्त्तव्य-परायणता में हेतु है। कर्त्तव्य परायणता योग का पूर्व पक्ष है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव राग तथा क्रोध से रहित होकर योगयुक्त हो जाता है। योगयुक्त साधक सही काम करता है और सही काम करने से उसमें योगयुक्त होने की सामर्थ्य आती है। यह कर्त्तव्य विज्ञान है। सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति स्वतः आती है, जिससे वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति होती है।

इस दृष्टि से उदारता के द्वारा मानव-जीवन में दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ होती हैं-एक तो यह कि शरीर की विश्व के साथ एकता सिद्ध होती है, जो दोनों के लिए ही कल्याणकारिणी है और दूसरी यह कि उदारता में जो रस है, वह साधक को काम-रहित कर देता है, जिससे उसकी विश्वातीत जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है।

जगत् की दासता से मुक्त होना और परमात्मा से अभिन्न होना मानव-जीवन का लक्ष्य है। चाह-रहित होकर साधक जगत् की दासता से मुक्त हो जाता है। उदार होकर वह कर्त्तव्य पालन करता है। सही प्रवृत्ति के बाद सहज विश्राम आता है। विश्राम की शान्ति में रमण न करने पर शरीरों से असंग होकर 'स्व' में प्रतिष्ठित होने की सामर्थ्य साधक में आती है, जो योग है। योगयुक्त होना परमात्मा की महिमा से अभिन्न होना है। योगयुक्त होने पर उस विचार का उदय होता है जो तत्त्व के बोध में हेतु हैं। तत्त्व काबोध होना परमात्मा के स्वरूप से अभिन्न होना है। उसके बाद प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जिससे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहम् गल कर प्रेम-तत्त्व में बदल जाता है। यह परमात्मा के स्वभाव से अभिन्न होना है। योग से दूरी, बोध से भेद एवं प्रेम से भिन्नता का नाश होता है। योग, बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

राग निवृत्ति-नित्ययोग

समस्त सृष्टि के मूल में जो एक अद्वितीय अनुपम परम तत्व है, वही मानव के जीवन का उद्गम है। वही सबका आधार एवं प्रकाशक है। उसी एक से मानव का नित्य सम्बन्ध है। जब मानव अपनी ही भूल से

कामनायुक्त होकर उस एक से विमुख होकर अनेक से सम्बन्ध मान लेता है, तब वह अपने उद्गम से दूर हो जाता है।

इस दशा में वह अपने में अभाव और नीरसता पाता है, जो अभीष्ट नहीं है। यह कैसी विचित्र दशा है कि अभाव और नीरसता से पीड़ित होकर बार-बार कामनापूर्ति के ही सुख-द्वारा वह अपने को बहलाना चाहता है, परन्तु यह अनुभूत सत्य है कि इस प्रयास में कभी भी किसी को सफलता नहीं मिलती।

उद्गम में नित्यता है। जिसमें नित्यता है उसमें अखण्ड आनन्द और अनन्त रस भी है। उसमें प्रबल आकर्षण है। उस आकर्षण शक्ति के कारण ही उसकी विमुखता की दशा में कोई ठहर नहीं पाता। अतः उससे नित्य योग की माँग सभी में रहती है।

कामना से प्रेरित होकर प्रतीति के अनेक दृश्यों से सम्बन्ध मानने के कारण अहं की शक्ति अनेक भागों में विभाजित हो जाती है। चित्त-वृत्तियों के अनेक केन्द्र बन जाते हैं। चित्त बहुत ही द्रुत-गति से विभिन्न केन्द्रों पर लगता और हटता रहता है। परन्तु उसे कहीं ठहराव नहीं मिलता।

मानव अपनी इस अस्वाभाविकता से बहुत ही श्रमित होता है, जिसकी अन्तिम परिणति शक्ति-हीनता और मृत्यु है। इस दशा से मुक्त होकर परम स्वाधीन रसरूप जीवन से अभिन्न होने के लिए शक्ति को अनेक केन्द्रों को ओर से समेट कर एक अविनाशी उद्गम की ओर प्रवाहित होने देना अनिवार्य है। इसी का नाम है योग।

योग-युक्त होने के लिए पराश्रय एवं परिश्रम से रहित होना अनिवार्य है। जैस 'पर' (शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि) की सहायता से भोग में प्रवृत्ति होती है, वैसे 'पर' की सहायता से योग-सिद्ध नहीं होता। परन्तु भोग की रुचि के रहते हुए, पराश्रम एवं परिश्रम से बचना सम्भव नहीं है। इस कारण योग-युक्त होने के लिए भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है।

विश्राम के सम्पादन के लिए श्रम के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। श्रमित होने का मूल कारण अहंकृति है। क्रिया-मात्र में श्रम नहीं है। अहंकृति-युक्त क्रिया में श्रम है। देह को "मैं" या उसे "मेरा" मानना मूल भूल है। इसी भूल से काम की उत्पत्ति होती है। अहं के काम युक्त रूप का नाम अहंकृति है।

अहंकृति सूक्ष्मातिसूक्ष्म से लेकर स्थूल-से-स्थूल श्रम की जननी है। अहंकृति वह बोज है जो कर्तृत्व के अभियान, क्रिया-जनित सुख के

भोग और कर्म के फल में आसक्ति को जन्म देता है। अतः विश्राम पाने के लिए अहंकृति का नाश अनिवार्य है।

अंशुभ कर्म, व्यर्थ चिन्तन एवं जड़ता-युक्त सुषुप्ति का त्याग तो अनिवार्य ही है। शुभ-कर्म, सार्थक चिन्तन एवं निर्विकल्प स्थिति से भी तादात्म्य रखने पर अहंकृति का नाश नहीं होता। फलतः श्रम का अन्त नहीं होता और श्रम-रहित हुए बिना योग नहीं होता। अहंकृति का नाश होने के बाद भी आवश्यक कार्य सम्पादित होते हैं; पर वे श्रमोत्पादक नहीं होते, विश्राम के सम्पादन में साधनरूप होते हैं।

अहंरूपी अणु सूक्ष्म होने के कारण सभी अवस्थाओं से तादात्म्य भी कर लेता है और सभी से अतीत में भी प्रवेश पाता है। अहंकृति-युक्त दशा में यह कर्म, चिन्तन एवं स्थिति के आश्रित जीवित रहता है। इन अवस्थाओं से तादात्म्य होने के कारण वह परिच्छिन्नता में आबद्ध रहता है, जो नित्य योग में बाधा है।

ठीक इसके विपरीत अचाह होने पर जब अहंकृति का नाश हो जाता है, तब अवस्थाओं से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाती है और अहं-रूपी अणु अवस्थातीत जीवन से अभिन्न हो जाता है, जो नित्य-योग है।

चाह-रहित होने के कई आधार हो सकते हैं:-

१. 'चाह पूर्ति जीवन नहीं है'- इस अनुभव के आधार पर चाह की निवृत्ति सहज है।

२. नित्य-योग की मांग प्रबल होने पर चाह का अन्त करना स्वाभाविक हो जाता है।

३. विवेक के प्रकाश में जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उससे माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद कर लेने पर काम नष्ट हो जाता है।

४. अनेक विश्वासों को एक प्रभु-विश्वास में बदलकर प्रेम की प्राप्ति के लिए अचाह होना सहज हो जाता है।

५. 'श्रम में मृत्यु और विश्राम में जीवन है।' इस तथ्य को जानकर श्रम-रहित होने के लिए चाह का त्याग सहज, स्वाभाविक हो जाता है।

६. 'कुछ न चाहने पर सर्व-श्रेष्ठ जीवन मिलता है।' इस सिद्धान्त में आस्था करने से अचाह होना होता है।

७. 'कुछ न करने पर जो अपने आप होता है, वह वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देने में हेतु है।' इस तथ्य की आस्था से भी अचाह होकर अप्रयत्न होना सहज स्वाभाविक होता है।

चाह-रहित होते ही साधक स्वभाव से ही श्रम-रहित हो जाता है, जो योग की भूमि है। साधक स्वयं अचाह होता है। चाह-रहित होने से साधक में परिवर्तन होता है। फिर उसका प्रभाव साधक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर पड़ता है।

काम-रहित होने पर मन निर्विकल्प हो जाता है। साधक के सूक्ष्म शरीर की जगत् की सूक्ष्म शक्तियों से एकता हो जाती है। ज्यों-ज्यों मन की निर्विकल्पता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों उसका प्रभाव स्थूल शरीर पर भी होता जाता है। भोग के प्रभाव से उत्पन्न शारीरिक विकृतियों का नाश हो जाता है, योग के प्रभाव से उत्पन्न शुद्धता और स्वस्थता आती है। शरीर सात्विक हो जाता है। बुद्धि समता में स्थित हो जाती है, जिसके होने से कारण-शरीर और कारण-जगत् से एकता हो जाती है। इन्द्रियों की विषय-विमुखता, मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता की अवस्था में आवश्यक एवं अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है।

महर्षि पंतजलि कृत 'योगदर्शन' के विभूतिपाद में उपर्युक्त सिद्धियों का बहुत ही क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवरण दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योग-युक्त होने का प्रभाव भौतिक पहलू पर भी कितना चमत्कार पूर्ण होता है। फिर भी साधक को बड़ी ही सावधानी पूर्वक उन शक्तियों का उपभोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह सब भौतिक विकास की सीमा के भीतर ही हैं। कारण-जगत् के साथ एकता से उत्पन्न यह भी एक अवस्था विशेष है। इस अवस्था में दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। विषमता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से समाधि का बहुत ही महत्व है।

फिर भी जब सजग साधक इस समता में सन्तुष्ट नहीं होता, तब अपने आप उसमें एक अद्‌भुत गति होती है, जो उसे उद्गम से मिला देती है। अविनाशी से नित्ययोग हो जाता है, जो उसको बोध और प्रेम से अभिन्न करने में समर्थ है। जैसे भोग से उत्पन्न दुःखमय अवस्थाओं से मुक्त होने के लिए साधक तत्पर हो जाता है, वैसे ही योग से उत्पन्न अलौकिक चमत्कारपूर्ण दिव्यताओं से भी असंग रहने के लिए तत्परता अनिवार्य है, अन्यथा इन दिव्यताओं का सुख लेने लगने पर योग का भोग होने लगता है, जो अवस्थातीत जीवन में प्रवेश नहीं होने देता।

जैसे क्रिया का सुख स्थूल शरीर एवं चिन्तन का सुख सूक्ष्म शरीर के आश्रित ही भासता है, उसी

प्रकार निर्विकल्पता के सुख में कारण-शरीर का आश्रय रहता है। इस कारण निर्विकल्प स्थिति में रमण भी राग है।

राग के रहते हुए नित्य-योग नहीं होता और नित्य-योग के बिना बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण सर्वांश में राग-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सब प्रकार की पराधीनताओं से रहित होने से ही साध्य है।

अपने लिए लेश-मात्र भी पराश्रय एवं परिश्रम अपेक्षित नहीं है, क्योंकि अपनें में ही अपना जीवन है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। जीवन-धन जीवन में हैं और कहीं नहीं। अतः सब ओर से विमुख होकर अपने में प्रेमास्पद को पाकर प्रत्येक साधक कृत-कृत्य हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

दुःख-एक विवेचन

समस्त सृष्टि सुख-दुःख से युक्त है। इसी कारण कोई भी प्राणी सुख-दुःख से रहित नहीं है। फिर भी दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, किसी को अच्छा नहीं लगता। दुःख बहुत बुरा लगता है। फिर भी वह बिना बुलाये, अनिवार्यतः सभी के जीवन में किसी-न-किसी रूप में आता ही है। मानव-समाज में दुःख के सम्बन्ध में युगों-युगों से अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। आइये, हम विचारें, विचार करें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है, जिससे आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुतः बुरा है भयावह है, निन्दनीय है, दुष्कर्मों का परिणाम है, भाग्यविधाता का दण्ड-विधान है या कि सृष्टि-कर्त्ता की भूल है? सामान्य दृष्टि से दुःख के सम्बन्ध में उपुर्यक्त सब बातें सही मालूम होती हैं। परन्तु यह सोचने की बात है कि यदि दुःख वस्तुतः बुरा होता, तो जीवन में आता क्यों! तब, फिर दुःख को क्या कहा जाय?

मानव सेवा संघ के प्रणेता ने दुःख के महत्त्वपूर्ण तत्व पर अनोखा प्रकाश डाला है। दुःख के दुःख स्वरूप और उसके कारण तथा निवारण के विभिन्न उपायों की चर्चा मानव समाज के इतिहास में प्रारम्भ से ही होती आयी है, परन्तु मानव सेवा संघ ने दुःख को एक अनुपम उपयोगी एवं अनिवार्य तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण में दुःख के प्रति मानव सेवा संघ का

अनुशीलन (Approach) अनूठा है। तदनुसार दुःख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं है, कृपा-पूरित विधान की अनुपम देन है। जो दुःख जीवन का अभिशाप मालूम होता है, उसको कृपा-प्रसाद मानना विचित्र-सा लगता है, लेकिन है सत्य। जिन सन्त-शिरोमणि को जीवन के अनुभव पर संघ का चिन्तन आधारित है उन्होंने दुःख के मांगलिक पक्ष को 'दुःख का प्रभाव' कहकर सम्बोधित किया है।

इस दृष्टिकोण को समझने के लिए दुःख और उसके प्रभाव के स्वरूप पर विचार कर लें। कामना-अपूर्ति दुःख है। उससे विकल होना दुःख का भोग है, और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य छिपा है। दुःख स्वयं अपने में न प्रशंसनीय है और न निन्दनीय है। प्रश्न सिर्फ इतना है कि आप दुःख को भोगते हैं या उसके प्रभाव से प्रभावित होकर सचेत होते हैं। यदि आप दुःख के भोगी हैं तो दुःख अभिशाप है। वह कभी आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप दुःख से प्रभावित हैं तो दुःख वरदान है। वह आपको दुःख-रहित जीवन से अभिन्न करा देगा।

दुःख क्या है? दृश्य मात्र उत्पत्ति-विनाश का अनवरत क्रम है। इस दृष्टि से दुःख सृष्टि का अनिवार्य स्वरूप है। मनुष्य इस प्राकृतिक तथ्य को जानते हुए भी जब किसी दृश्य में आसक्त हो जाता है तब उस दृश्य को विनाश उसे दुःख प्रतीत होता है। अतः दुःख दुःखी की भूल का परिणाम है।

किसी भी रूप में आने वाले दुःख को रोक सकने में असमर्थ होने पर, आये हुए दुःख को दूर करने में घोर असमर्थता अनुभव करने पर व्यक्ति के अहं का अभिमान गलता है। अहं की कठोरता गलने से हृदय कोमल होता है, सर्व दुःख-निवृत्ति के लिए चेतना जगती है, दृश्य के प्रति सुख-बुद्धि का अन्त होता है। इन क्षणों में जीवन का सत्य प्रत्यक्ष होता है। सत्य की आवाज व्यक्ति पर अपनी गहरी छाप लगाती है। परिणाम-स्वरूप दुःख-रहित परम शान्त जीवन की ओर अपूर्व प्रगति होती है। यह दुःख की देन है।

तत्त्व-दृष्टि से सत्य एक है। वह एक ही अलख, अगोचर, अव्यक्त तत्त्व विराट् दृश्य जगत् के रूप में व्यक्त होता है। वह एक दिव्य, चिन्मय, रसरूप प्राणिमात्र के लिए मंगलकारी है। अतः मंगलकारी के मंगलमय विधान से जितनी परिस्थितियाँ बनती हैं, वे स्वरूप से सबके लिए मंगलकारिणी है। सुखद परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से भावित उदारता एवं

सहृदयता का व्यवहार करता हुआ स्वयं सुख-भोग से अलिप्त रहकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं होता है, तो उसका परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय जो एकमात्र अपना है-दुःखद परिस्थिति का रूप धारण करता है। दुःख आते ही व्यक्ति सचेत होकर त्याग को अपनाता है और दुःख-रहित जीवन पाता है। दुःख के आते ही व्यक्ति अधीर होकर दुःखहारी हरि को पुकारता है और उनके प्रेम-प्रसाद से सदा के लिए दुःख से छूट जाता है। दुःख के रूप में दूसरा और कोई नहीं है, स्वयं अपने वे ही हैं, यह पहचान होते ही दुःखद परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है-यह स्पष्ट हो जाता है। दुःख के बिना जीवन की वास्तविकता का ऐसा प्रत्यक्ष बोध सम्भव नहीं है।

मंगलकारी सृष्टिकर्ता के मंगलमय विधान के द्रष्टा संत के मुख से ऐसा भी सुना गया है कि जब व्यक्ति सुख आने पर उदारतापूर्वक सेवा नहीं रकता, तब प्राकृतिक विधान से उसके विकास के लिये दुःखद परिस्थितियाँ आती हैं। यदि वह प्रमादवश दुःखद परिस्थितियों में त्याग को नहीं अपनाता और दुःखहारी हरि का आश्रय नहीं लेता-किसी भी प्रकार से सचेत होकर अविनाशी जीवन की ओर आगे नहीं बढ़ता, तब विधानानुसार उसे चिरकाल के लिए जड़ता में ग्रस्त रहना पड़ता है। जब जड़ता घनीभूत हो जाती है, तब केवल सुख-दुःख की बाध्यता ही शेष रह जाती है। परन्तु, इसके विपरीत, जब व्यक्ति दुःख का भोगी न बनकर गये हुए सुख को वापस लाने के लिए व्यग्र न होकर दुःख-काल में ही दुःख के प्रभाव को अपना लेता है, दुःख-निवृत्ति का पुरुषार्थ-'त्याग-व्रत' को धारण कर लेता है, तब वह सदा-सदा के लिए त्रिविध दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परमानन्द की अभिव्यक्ति में हेतु होने से मंगलमय विधान से निर्मित मंगलकारी तत्त्व है।

अतः मानव सेवा संघ ने मानव-मात्र को यह परामर्श दिया है कि दुःख के आने पर किसी को भी घबराना नहीं चाहिये, दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिये और अपने को दीन एवं भाग्यहीन मानकर दुःख का भोगी भी नहीं बनना चाहिये, प्रत्युत दुःख के महत्त्व को जानकर, उसके प्रभाव को अपनाकर सदा के लिए दुःख-रहित आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहिये। इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ द्वारा प्रस्तुत

निम्नलिखित कुछ सूत्र बहुत ही उपयोगीहैः-

- दुःख से बचने के लिए सुख-काल में सुख की वासना का त्याग अनिवार्य है। जो सुख का दास नहीं है वह दुःखी नहीं होता।
- सर्वात्मभाव से भावित होकर दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना महान् साधन हैं। जो हृदय परपीड़ा से पीड़ित होता है, जिस हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है, उस पर व्यक्तिगत दुःख का आक्रमण नहीं होता। पर-पीड़ा से पीड़ित पर-हित में निरत सेवापरायण व्यक्ति का दुःख सारा समाज बाँट लेता है और सेवक निर्द्वन्द्व शान्ति में निवास करता है।
- दुःख आने पर दुःख के प्रभाव को अपनाओ और खूब हृदय-मन्थन होने दो। ऐसा करने से प्राकृतिक विधान से प्राप्त दुःख के प्रभाव से दीर्घकाल की दुष्कृतियों का परिणाम नष्ट हो जाता है, दीर्घकालीन वासनाओं की जड़ कट जाती है, स्मृति-लाभ हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परम कल्याणकारी है। निष्कामता, निर्वासना, असंगता एवं शरणागति तत्वों का जितना विकास दुःख के प्रभाव को अपनाने से अल्प-काल में हो सकता है, उतना विकास अन्य साधनों से दीर्घकाल में भी कठिन है। अतः आये हुये दुःख का स्वागत करो।
- दुःख आने पर हार स्वीकार मत करो। लक्ष्य से निराश मत होओ। दुःखद घटनाओं के अर्थ पर विचार करो और उनके विकासात्मक पहलू को अपनाकर परिस्थितियों को पार कर जाओ।
- दुःख स्वयं उतना हानिकारक नहीं है जितना दुःख का भय। भयभीत होकर व्यक्ति भीतर से शक्तिहीन हो जाता है। भयभीत होने के कारण वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद भूल जाता है। बिना सोचे-विचारे घबराहट की प्रतिक्रिया से दुःखद परिस्थिति अधिकाधिक जटिल हो जाती है। मानव सेवा संघ की भाषा में "डरने से दुःख दूना हो जाता है और नहीं डरने से आधा रह जाता है, उसका सदुपयोग करने से वह सदा के लिये मिट जाता है।"अतः दुःख से कभी भयभीत मत होओ।
- संघ के प्रणेता, क्रान्त-द्रष्टा सन्त ने दुःख के प्रति अपना मानव-मात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं

अभिनव दृष्टिकोण दिया है, उसका विशेष परिचय मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित 'दुःख का प्रभाव' नामक पुस्तक में मिलता है। इस पुस्तक में दुःख तत्त्व का रचनात्मक प्रस्तुतीकरण सर्वथा मौलिक, मार्मिक एवं हृदयग्राही है, क्योंकि वह श्री महाराजजी का अनुभूत सत्य है। जैसा कि हम लोगों ने श्री महाराजजी के श्रीमुख से ही सुना है कि उनके सामने बाल्यकाल में ही दुःख विकट रूप में आया। असाधारण मेधावी बालक के अरमानों को गहरी ठेस लगी और जीवन की खोज आरम्भ हो गई।

- उस दुःख ने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया जहाँ दुःख का लेश नहीं हैं-जहाँ चिर-विश्राम, पूर्ण-स्वधीनता और नित-नव प्रेम का रस परिपूर्ण है। अतः दुःख तत्त्व के कल्याणकारी स्वरूप का जो चित्रण है वह श्री महाराजजी का जीवन ही है। एक बार एक सन्त-प्रेमी मित्र ने श्री महाराजजी से निवेदन किया था कि महाराजजी! मैं आपकी जीवनी लिखना चाहता हूँ, आपकी जीवनी क्या है, मुझे बताइये। श्री महाराजजी ने उत्तर दिया-मेरी जीवनी लिखोगे? लिख लो, "दुःख का प्रभाव।"

सन्तुलन

वर्तमान युग में व्यक्तित्व को संतुलित रखने का प्रश्न जटिल होता जा रहा है। मानसिक तनाव (Mental-tension) से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। इसके निराकरण का उपाय ढूँढ़ना आवश्यक हो गया है। यह सभी का अनुभव है कि संकल्पों की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़ने से मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार संकल्प-पूर्ति में आने वाली बाधाओं के कई पहलू हैं-(1) कभी परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है। (2) कभी व्यक्ति में भोगने की शक्ति घट जाती है। (3) कभी विवेक का समर्थन नहीं मिला और (4) कभी-कभी एक ही समय में समान बलशाली, किन्तु परस्पर विरोधी, कई संकल्प उठ जाते हैं, जिससे कि उनकी पूर्ति असम्भव हो जाती है। प्रथम दो दशाओं में मानसिक-तनाव रहता है, और अन्तिम दो दशाओं में घोर अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो सभी

प्रकार के मानसिक रोगों का जन्मदाता है।

शारीरिक एवं मानसिक प्रेरकों तथा तज्जनित संकल्पों की उत्पत्ति को प्राकृतिक मानकर आधुनिक मनोविज्ञान ने मानसिक तनाव तथा अन्तर्द्वन्द्व का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक माना है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे तनाव कम करने की बात (Tesnion Reduction) कहते हैं। इसको मिटाने का उपाय वे नहीं बताते। अधिक-से-अधिक वे अहम् (Ego) को सबल बनाने की बात कहते हैं, जिससे कि संकल्प अपूर्ति-जनित क्षोभ की दशा का सामना किया जा सके, वातावरण के साथ अपने को अभियोजित करते हुए यथासम्भव संकल्पों को पूरा किया जा सके और विवेक तथा सामर्थ्यविरोधी संकल्पों को समुचति ढंगसे दमित किया जा सके।

अर्थशास्त्री अर्थ-व्यवस्था और समाजशास्त्री समाज व्यवस्था की बात कहते हैं, जिससे कि व्यक्तियों के जीवन के मुख्य प्रेरकों एवं तज्जनित संकल्पों को पूर्ति की सामग्री अधिकाधिक सुलभ बनाकर जन-समाज को सन्तुष्ट किया जा सके।

इस दिशा में किये गये उपायों का उलट परिणाम दिखाई दे रहा है। आधुनिक युग में जिन-जिन देशों में जन-समाज के संकल्पों की पूर्ति की सामग्रियां बहुतायत से उपलब्ध हैं, उन-उन देशों में मानसिक तनाव से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या दिन-दूनी, रात-चैगुनी बढ़ती जा रही है। इनका अर्थ यह नहीं है कि वस्तुओं की बहुलता मानसिक असंतुलन का कारण है। मानसिक असन्तुलन का कारण है वस्तुओं की सुख-रूपता में विश्वास, जिससे कि अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना बढ़ती है। यही बढ़ते हुए मानसिक तनाव का कारण है।

संकल्पों को पूरा करना अथवा उन्हें दबाना, ये दोनों ही उपाय व्यक्ति को मानसिक तनाव से न केवल मुक्त करने में सर्वथा अनुपयुक्त हैं, प्रत्युत उसकी वृद्धि का कारण बन जाते हैं। संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रभाव अहम् में अंकित होता है। फलतः उस सुखद अनुभूति की पुनरावृत्ति के लिए पुनः-पुनः संकल्प उठते ही रहते हैं। व्यक्ति की तृष्णा बढ़ती चली जाती है। आराम नहीं मिलता। उसी प्रकार दमित संकल्पों का भी अन्त नहीं होता। उनको दबाये रखने में सूक्ष्म शक्ति का निरन्तर

ह्रास होता रहता है। जब कभी उद्दोपन मिलता है, तब वे दमित संकल्प प्रबल वेग से उठ जाते हैं और व्यक्ति को अस्त-व्यस्त कर देते हैं।

एक और रहस्य की बात यह है कि संकल्प-पूर्ति में जो सुखाभास होता है, वह पूर्ति के उपादानों में नहीं है। वह मानसिक तनाव के ढीले पड़ने का आराम है। इसी प्रकार अपूर्ति का जो दुःख है, वह वस्तुओं आदि के अभाव के कारण नहीं है, मानसिक क्षोभजनित असन्तुलन के कारण है। इस दृष्टि से संकल्प पूर्ति-अपूर्ति से उत्पन्न आराम तथा क्षोभ अहम् की दशाएं हैं। किन्हीं बाहरी उपादानों से इनका निराकरण नहीं हो सकता। अपने व्यक्तित्व को सन्तुलित रखने के लिए जितना ही हम बाहरी उपायों पर निर्भर रहते हैं, उतना ही मानसिक तनाव एवं द्वन्द्व के कारण शक्तिहीन होते जा रहे हैं।

बढ़ती हुई अशान्ति एवं असमर्थता से पीड़ित मानव-समाज की दुर्दशा इसलिये हो रही है कि आधुनिक युग ने व्यक्तियों के जीवन में संकल्प-पूर्ति के सुख का अकारण ही अत्यांकन (Over-Estimation) कर रखा है। अतः हमें इस समस्या पर मौलिक ढंगसे विचार करना है। निज विवेक के प्रकाश में विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि यह जीवन संकल्प पूर्ति-अपूर्ति के सुख एवं दुःख को भोगने के लिए नहीं है। वह संकल्प की निवृत्ति की शान्ति का सम्पादन करने के लिए है। शान्ति से ही व्यक्ति सामर्थ्यवान् होकर अपना कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है। संकल्प-पूर्ति के सुख में आसक्ति अपनी भूल है। संकल्प निवृत्ति की शान्ति स्वाभाविक है।

मानव-दर्शन का सुझाव यह है कि जीवन की मूल्यांकन बदलना चाहिये। सुख और दुःख के द्वन्द्व से अतीत शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए जीना चाहिए, क्योंकि यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति के बाद फिर कोई अभाव नहीं रह जाता। इस दृष्टि से मानव-जीवन में संकल्प-पूर्ति की सुखासक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

जीवन के प्रति इस मौलिक दृष्टिकोण को अपनाते ही संकल्पों की उत्पत्ति की बाढ़ रुक जाती है। उत्तम बात तो यह होती है कि अशुद्ध एवं अनावश्यक संकल्पों का उठना ही बन्द हो जाता है और यदि वे कभी उठते भी हैं, तो साधक त्याग कर देता है। उसके बाद शुद्ध एवं आवश्यक अर्थात् विवेक एवं सामर्थ्य के अनुरूप जो संकल्प उठते हैं, वे स्वयं ही पूरे हो जाते हैं। जिन संकल्पों की पूर्ति में

रुकावट नहीं पड़ती है, उनसे मानसिक असन्तुलन उत्पन्न नहीं होता। फिर साधक संकल्प निवृत्ति की शान्ति में निवास करता हुआ अमरत्व एवं परम प्रेम से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से भौतिक-विज्ञान का उपयोग मानव-दर्शन के प्रकाश में करना अनिवार्य है। दर्शन विहीन विज्ञान के बल पर हम आराम पाना चाहते हैं। इससे हमारी निर्बलता एवं अशान्ति बढ़ती जा रही है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि हमें उपरोक्त समस्या का समुचित समाधान करना है तो संकल्प-पूर्ति के लिए नहीं, अपितु संकल्प निवृत्ति के लिए जाना सीखें। तभी हमारा व्यक्तित्व स्वस्थ, सन्तुलित एवं विकासीन्सुख होगा।

सेवा का महात्म्य

जब कभी साधक स्वधर्म को अभ्यास-सिद्ध मानने लगता है, तो उसके जीवन में बड़ी उलझन उत्पन्न हो जाती है। 'विचार', 'विश्वास' और 'अभ्यास'-ये तीनों एक ही जीवन के तीन तथ्य है। मानव-सेवा-संघ के अनुसार विचार-पूर्वक अनित्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर देना और विश्वासपूर्वक प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार कर लेना स्वधर्म है और यही सत्संग है। जो 'स्व' के द्वारा सिद्ध है उसमें अभ्यास अपेक्षित नहीं है। अभ्यास के अपेक्षा केवल कर्त्तव्य के क्षेत्र में है, जहाँ साधक प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता एवं परिस्थिति के सदुपयोग के लिए सेवा-कार्य में निपुणता प्राप्त करना चाहता है। कार्य-निपुणता अभ्यास-साध्य है। बिना अभ्यास के किसी भी कार्य को विधिवत् सम्पन्न करना सम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से साधक के जीवन में पराश्रय एवं परिश्रम-पूर्वक किया गया अभ्यास केवल सेवा के क्षेत्र में उपयोगी है। अतः विचार तथा विश्वास अपने लिए है और अभ्यास से साध्य सर्व-हितकारी प्रवृत्ति जगत् के लिए है। इस धारणा के स्पष्ट हो जाने पर अपना कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण सहज स्वाभावित हो जाता है। इस तथ्य पर विचार नहीं करने से यह बड़ा भारी भ्रम हो जाता है कि साधक साधन को भी अभ्यास-सिद्ध मान लेता है। श्रमयुक्त अभ्यास के द्वारा किया गया साधन अखण्ड नहीं होता। परिणामस्वरूप सफलता नहीं मिलती।

मानव सेवा-संघ सफलता की कुन्जी है। अतः साधक मात्र के साधन-पथ की बाधाओं को दूर करने के लिए यह सत्य प्रकाशित किया जा

रहा है। मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली में स्वधर्म से अभ्यास को बिल्कुल पृथक करके दोनों का उपयोग अलग-अलग क्षेत्रों में करने का परामर्श दिया जाता है। इससे साधन-पथ की उलझन समाप्त हो जाती है।

यद्यपि क्रियात्मक सेवा का सम्बन्ध सदैव 'पर' से रहता है, फिर भी साधन-युक्त जीवन का यह एक मुख्य अंग है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'स्व' के द्वारा सत्संग कर लेने पर किसी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता, नवीन रागों की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु पुराने रागों की निवृत्ति के लिए तथा प्राप्त क्रिया-शक्ति के उपयोग के लिए एक-मात्र माध्यम रह जाती है-पर-सेवा। सेवा अध्यात्मवाद की दृष्टि से राग की निवृत्ति का क्रियात्मक प्रयोग है; भौतिकवाद की दृष्टि से विश्व जीवन के साथ ऐक्य का प्रतीक है और ईश्वर की दृष्टि से प्रभु-प्रेम के लिए पूजा का क्रियात्मक रूप है। अतः सेवा सब प्रकार के साधकों के जीवन का अभिन्न अंगहै। यद्यपि सेवा के लिए पराश्रय एवं परिश्रम की अपेक्षा रहती है, परन्तु राग-निवृत्ति, चित्त-शुद्धि, विश्व-प्रेम तथा प्रभु-प्रेम के लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए। पर-पीड़ा से पीड़ित होकर, पवित्र भाव से की गई प्रवृत्ति साधक को देहासक्ति में बाँधती नहीं है, प्रत्युत देहासक्ति से मुक्त कर अविनाशी जीवन की ओर गतिशील होने में सहायक होती है।

सेवा-तत्त्व साधक के जीवन का एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है कि जिसके बाह्य-क्रियात्मक सिरे से सुन्दर समाज का निर्माण और भीतरी भावात्मक सिरे से अपना कल्याण सुलभ हो जाता है। मानव-सेवा संघ ने इस अनिवार्य तत्व को अपनी साधन-प्रणाली में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सर्व-हितकारी प्रवृत्तियों में विशेष अभिरूचि रखने वाले अनेक ऐसे साधक हो गये हैं जिनके जीवन में मुख्य साधना सेवा ही रही है और उसी से उनका बड़ा विकास हुआ है। आइये, इस सेवा के माहात्म्य को भक्त-जीवन की झाँकियों में देखें।

नीचे कुल में जन्मी हुई, धनजन, विद्या-बुद्धि, पति-पुत्रादिक से विहीन गँवारी शबरी का जीवन किस साधन से राम-चरित-मानस का उल्लेखनीय अंगबन गया, युग-युगान्तर के भक्तों के लिए वन्दनीय एवं अनुसरणीय बन गया, कोमल-चित्त श्रीरघुनाथजी की भक्तवत्सलता को प्रकट करने का माध्यम बन गया? सोचने से हृदय आह्यदित हो उठता है। उस दीन साधक को यह सब कुछ मिला था भक्तियुक्त-सन्त-सेवा से।

शबरी कुछ जानती नहीं थी। उसके जीवन की एक मात्र दिनचर्या थी दण्डकारण्य में रहने वाले बनवासी सन्तों की भक्तियुक्त सेवा। इसमें उसकी अभिरुचि थी। सन्तों की सेवा उसे अच्छी लगती थी, बस। सेवा के बदले में न सन्तों से कुछ लेना था और न सन्त-सेवा के बदले में भगवान् से कुछ मांगना था। सेवा उसके लिए साधन नहीं, जीवन का साध्य ही थी। देखिये-कितना सुन्दर संयोग बना।

नीच जाति की होने के कारणऋषियों के पास जाने का साहस नहीं था। दूर-दूर से छिपे-छिपे लकड़ियाँ तोड़करऋषियों की कुटिया में रख आती। किसी प्रकार शबरी का श्रमऋषियों के काम आ जाय, इसका आनन्द था 'स्वान्तः सुखाय' जैसा, अभिमान की गन्ध तो आ ही कैसे सकती थी। जिस रास्तेऋषिगण पंपासर में स्नान करने जाते थे उस रास्ते को बुहारना और कंकड़ आदि चुनकर फेंक देना शबरी का अत्यन्त प्रिय-कार्य था।

"ऋषियों के चरणों में कंकड़ चुभ न जाँय", कितना कोमल भाव है उस सेवाव्रती का! शबरी की निस्पृह निरहंकार, भक्ति-युक्त सेवा ने उसके हृदय को शुद्ध कर दिया। उस निरीह महिला में नीच जाति की होने का जो संप्रोच रह गया था, प्रभु की प्रेरणा से उसके भी मिटने का समय आ गया।

आश्रमवासी, भगवत्-अनुरागी मतंगऋषि के हृदय में मूक-सेवा द्वारा सब सन्तों को सुख पहुँचाने वाले के प्रिय दर्शन की लालसा जाग उठी। उन्होंने शिष्यों सहित रात्रि जागरण किया और सेवा में रत शबरी को देख लिया। उसके दर्शन सेऋषि को तो बड़ा आनन्द आया, परन्तु शबरी अपनी तुच्छता का ध्यान कर संकोच से गड़ी जाती थीं। उसे यह भी नहीं मालूम था कि सन्त-भक्ति की गंगा में नहाकर वह परम पुनीता हो चुकी थी।

भगवत अनुरागी मतंगऋषि ने उसका महत्व आँक लिया-उसे अपने आश्रम में रख लिया, मन्त्र-दीक्षा दे दी और साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि भगवान श्रीरामचन्द्र जब दण्डकारण्य में आयेंगे, तो उसके आश्रम में पधार कर स्वयं उसे दर्शन देंगे। सेवा का माहात्म्य था कि उस पर सन्त कृपा की अपार वृष्टि हो गई और गुरु-कृपा का यह फल हुआ कि वह प्रभु-मिलन का आश्वासन पा गई।

मतंगऋषि ने शबरी को प्रभु-मिलन की बात अपने दृढ़ विश्वास के आधार पर कह दी, क्योंकि वे जानते थे कि तप के अभिमानी भले

ही पिछड़ जायँ, पर सन्तों की सेवा करने वाली शबरी से मिलने प्रभु अवश्य आयेंगे। भक्तों की सेवा-भक्ति करने वाले साधक प्रभु को अत्यन्त प्रिय लगते हैं। भोली भाली शबरी को पता नहीं था कि वह प्रभु को कितनी प्यारी लगती है। परन्तु गुरु-वाक्य के आधार पर उसने यह मान लिया कि प्रभु बड़े कृपालु हैं और मुझ पर कृपा करके दर्शन देने आयेंगे। प्रभु आयेंगे, प्रभु आयेंगे, बस, एक प्रभु-आवन की मधुमयी अखण्ड प्रतीक्षा में शबरी सराबोर हो गई।

क्रियात्मक सेवा की स्वाभाविक परिणति यह है कि सेवक भावात्मक पूजा का अधिकारी बन जाता है और भावात्मक पूजा पुजारी को प्रेमास्पद से अभिन्न कराती है। यही हुआ। उसके भक्ति-रस से आस्वादन के लिए भक्त-परवश भगवान् दण्डकारण्य में पहुंचते ही शबरी के आश्रम पर आ ही गये।

निरभिमान भक्त के प्रेम-रस का स्वाद प्रभु को इतना आनन्ददायक लगता है कि वे उस रस को चखने में स्वयं अपनी प्रभुता भूल जाते हैं। प्रभु को ऐसा नहीं मालूम हुआ कि उन्होंने शबरी को दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया; इसके विपरीत उन्होंने यह कहा कि क्या कहूँ, आज तुमने ऐसे मीठे फल खिलाकर रास्ते की मेरी सब थकान दूर कर दी।

व्यक्तिगत सत्संग

सत्संग वस्तुतः व्यक्तिगत ही होता है। सामूहिक रूप में सत्संग के नाम से हम जो कुछ करते हैं, वह सत् चर्चा है। सत् चर्चा में जो कुछ सुना जाय और समझा जाय उसमें से कोई भी बात जो अपने लिए सही और सम्भव मालूम पड़े, उसको अपने द्वारा स्वीकार करना सत्संग कहलाता है। यह स्वीकृति अपने द्वारा की जाती है। इस दृष्टि से सत्संग स्वधर्म है। इसमें पराश्रय अपेक्षित नहीं है। यह पुरुषार्थ व्यक्ति स्वयं ही करता है।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में साधकों की सहायता के लिए इस व्यक्तिगत सत्संग की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, जिसमें यह परामर्श दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने दैनिक कार्यक्रम को इस प्रकार बनाना चाहिए कि उसे प्रतिदिन अपने द्वारा अपने साथ सत्संग करने का अवसर मिल सके। प्रातःकाल सोकर जगते ही सबसे पहले, और रात्रि में सब काम हो जाने के बाद अन्त में सोने से पहले आत्म-निरीक्षण करना

चाहिए। थोड़ी-थोड़ी देर के लिये व्यक्ति यदि अपनी ओर देखने का स्वभाव बना ले, तो उसे स्पष्ट ही इन बातों का पता चल जायेगाः-

- अपनी वर्तमान दशा क्या है?
- अपनी वास्तविक मांग क्या है?
- उस माँग की पूर्ति के लिए अपने पर दायित्व क्या है?

वर्तमान दशा प्रत्येक साधक की भिन्न-भिन्न होती है; फिर भी एक बात सभी में समान रूप से मिलेगी कि कोई भी दशा जीवन नहीं है, क्योंकि किसी भी दशा में न सन्तोष होता है और न स्थिरता रहती है। इस बात का स्पष्ट परिचय होते ही व्यक्ति को अपनी माँग का पता चलता है। साधक को यह सोचने का अवसर मिलता है कि वह क्या चाहता है? कभी किसी को ऐसा भी मालूम होगा कि वह चाहता है सुख-सुविधा की अच्छी व्यवस्था हो जाय, बच्चों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो जाय, रोगी शरीर की चिकित्सा ठीक हो जाय इत्यादि-इस प्रकार की बातें सामने आ सकती है। परन्तु ये माँग नहीं है। ये इच्छायें हैं।

इच्छा और माँग में भेद है। जो बातें, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति के आश्रित हैं वे इच्छायें हैं। माँग पराश्रित नहीं है, स्वाश्रित है। माँग की जागृति ही माँग की पूर्ति मे मुख्य हेतु हैं। इसमें किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। दूसरा अन्तर यह भी है कि इच्छायें बार-बार पूरी होती है और बार-बार उत्पन्न होती हैं, उनका अन्त नहीं होता। इच्छा-पूर्ति से किसी की तृप्ति नहीं होती।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह पता चलता है कि इच्छा-पूर्ति में जो सुखद अनुभव होता है उसको बारम्बार दोहराने के लिये नयी-नयी इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं, अतृप्ति ही शेष रह जाती है। परन्तु माँग जब एक बार पूरी हो जाती है तो सदा के लिये अभाव मिट जाता है, जीवन पूर्ण हो जाता है। साधक को इन तथ्यों को जानना चाहिए और अपनी माँग का पता लगाना चाहिये। शान्त रह कर अकेले में विचार करने पर उसे पता चल जायेगा कि उसे चिरशान्ति, परम स्वाधीनता और परम प्रेम की माँग है। माँग का स्पष्ट परिचय मिलने पर यह देखना होगा कि माँग की पूर्ति के लिये साधक पर दायित्व क्या है? साधक अपने द्वारा क्या कर सकता है, जिससे कि उसकी माँग पूरी हो जाय? उसके सामने दो बातें आयेंगीः-

- जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे माना हुआ सम्बन्ध अस्वीकार कर लो।

- जिससे सदा-सदा का सम्बन्ध है, उसको अपना मान लो।

विवेक के आधार पर असत् के संग का त्याग और विश्वास के आधार पर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति साधक को स्वयं करनी होगी। यही दायित्व उस पर है। कोई साधक विवेक को प्रधानता देगा, कोई विश्वास को प्रधानता देगा, कोई दोनों को साथ-साथ आरम्भ करेगा। यह साधक की अपनी-अपनी बनावट पर निर्भर है।

परन्तु जीवन का जो सत्य है, उसे सभी साधकों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। साधक पर जो दायित्व है उसको पूरा किये बिना माँग की पूर्ति हो ही नहीं सकती।

शान्ति-मुक्ति-भक्ति मुझे चाहिये और इसके लिए अचाह, अप्रयत्न एवं शरणागत होना है। इन बातों को प्रायः सभी साधक जानते हैं। अपनी माँग एवं अपने दायित्व से बिल्कुल अनजान कोई साधक नहीं रहता है, परन्तु जब वह प्रतिदिन व्यक्तिगत सत्संग करने लगता है, तब ये सब तथ्य उसके जीवन में सबल एवं सजीव हो जाते हैं।

हाँ, एक बात हो सकती है कि कोई साधक ऐसा कह सकता है कि मुझे सत्य तो दिखाई देता है, परन्तु उस पर चला नहीं जाता। अपनी इस दुर्बलता से परिचित होना भी आवश्यक है। व्यक्तिगत सत्संग में साधक को अपनी असमर्थता का परिचय मिलता है। अपनी असमर्थता से पीड़ित होते ही उसमें आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। यह साधक के जीवन का मंगलमय विधान है। आवश्यक सामर्थ्य पाकर साधक अपना दायित्व पूरा करता है और उसकी माँग पूरी होती है।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अपना दायित्व पूरा करने के लिए तैयार न हो, तो एक गुरु की तो कौन कहे, सारे संसार के सभी गुरुजन मिलकर भी उसका उद्धार नहीं कर सकते। यह मानव-जीवन का सत्य है।

एक बार मन में प्रश्न उठा कि इतना दायित्व भी साधक पर क्यों हैं? सन्त-वाणी में मुझे सुनने को मिला कि यदि इतना दायित्व भी उस पर न हो, तो उसका अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का भास भी नहीं रहेगा। मानवेतर योनियों में जिस प्रकार प्राकृतिक नियमानुसार सुख-दुःख के भोग की बाध्यता रहती है, उसी प्रकार मानव भी हो जायेगा।

आज उसमें इतनी चेतना है कि वह सुख और दुःख दोनों ही दशाओं को देख सकता है और वह अपने को इस बात में स्वाधीन पाता है

कि वह चाहे तो दोनों दशाओं से ऊपर उठ सकता है। उसकी चेतना और स्वाधीनता को बनाये रखने के लिये उस पर परम पुरुषार्थ का दायित्व अनन्त के मंगमलय विधान से दिया गया है। इस दायित्व को वहन करना मानव-जीवन का गौरव है।

अपनी निष्ठा के अनुसार मुझे यह मालूम होता है कि परम सुन्दर, परम मधुर एवं परम स्वाधीन ने अपने ही में-से मानव का निर्माण किया है। वे परम स्वाधीन सारे विश्व पर शासन करते हैं, परन्तु मानव जो जन्मजात साधक है, उस पर शासन नहीं करते।

साधक जब देख हुये सुहावने-लुभावने संसार को नापसन्द कर देता है और बे-साथी, बे-सामान का होकर अपने आप में स्थित रहता है, अथवा केवल प्रेम-भाव से प्रेरित होकर बिना देखे, बिना जाने पर अपने को न्यौछावर कर देता है, तो प्यारे प्रभु बड़े ही आनन्दित होते हैं। सब कुछ उन्हीं का दिया हुआ है। ज्ञान का प्रकाश वहीं से आ रहा है, प्रेम का रस वहीं से आ रहा है, फिर भी मानव अपनी स्वाधीनता से ज्ञान और प्रेम के अविनाशी तत्त्वों का आदर करता है, तो मानव के रचयिता आनन्दित होते हैं। उसके त्यागमय और प्रेममय जीवन को देखकर संसार में साधक की जय-जयकार होती है, तो साध्य को आनन्द आता है। अपनी बुराई करने वालों के लिए करुणित होकर जब ईसा ने प्रभु से क्षमा-प्रार्थना की, तो संसार उस महापुरुष की क्षमाशीलता पर मुग्ध हुआ और परमपिता को अपने प्यारे की कीर्ति देखकर आनन्द हुआ।

वे परमस्नेही, परम कृपालु प्रभु मानव-जीवन को गौरवान्वित करने के लिए उस पर सत्संग के रूप में पुरुषार्थ करने का दायित्व डालते हैं। साधक को अपने दायित्व के प्रति स्वयं सतत् जागरूक रहना परम आवश्यक है। इसके लिए व्यक्तिगत सत्संग बहुत उपयोगी है।

विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि

अपनेपन का भास, जगत् की प्रतीति एवं एक अव्यक्त सत्ता की स्वीकृति मनुष्य के व्यक्तित्व में प्रारम्भ से ही होती है, क्योंकि उसकी रचना में जगत् का बीज अर्थात् उसका आकर्षण है, सत्य की जिज्ञासा है एवं प्रियता की लालसा है। जगत् का बीज भूल-जनित है, इस कारण इसका नाश अनिवार्य है। सत्य की जिज्ञासा तथा प्रियता की लालसा

अविनाशी तत्व हैं, इस कारण जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रियता की प्राप्ति होती है, जो मानव-जीवन की सार्थकता है। इस दृष्टि से मानव का एकमात्र लक्ष्य है भूल का नाश करना और सत्य एवं प्रेम से अभिन्न होना।

मनुष्य के व्यक्तित्व में भोग की जो रुचि है वही है जगत् का बीज, अर्थात् अपने सुख के लिये पराश्रय एवं परिश्रम की आवश्यकता का अनुभव करना, जो भूल है। इसी भूल के कारण व्यक्ति शरीर तथा जगत् की दासता में आबद्ध हो जाता है। भोग की रुचि से प्रेरित होकर व्यक्ति अपनी रुचि-पूर्ति के सुख के लिये जगत् से भी कुछ लेना चाहता है और जगत्पति से भी कुछ पाना चाहता है। इससे उसकी बहुत भारी क्षति यह होती है कि वह अभाव में आबद्ध हो पराधीनता तथा बेवशी की पीड़ासे पीड़ित रहता है, जो उसे अभीष्ट नहीं है, क्योंकि पराधीन मनुष्य सबके लिये अनुपयोगी हो जाता है। पराधीनता और अभाव से पीड़ित व्यक्ति अपने आप में असन्तुष्ट, जगत् के प्रति अनुदार और जगत्पति से विमुख रहने के कारण अपार दुःख पाता है। सारांश यह है कि मानव के जीवन में भोग की रुचि को रखना ही समसत अनर्थों का मूल है। ठीक इससे विपरीत भोग की रुचि का अन्त करके योगयुक्त होना ही समस्त विकास की भूमि है।

यह अनुभव-सिद्ध सत्य है कि भोग में जीवन नहीं है, योग में जीवन है, क्योंकि योग उसी से होता है जो अपना है, अपने में है और सदैव है, इसलिये अभी भी है। अपने में जो अपना है वह कभी भी किसी को भी श्रम-साध्य उपाय से उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि श्रम पराश्रय के बिना सम्भव नहीं है और पराश्रय के द्वारा उससे योग हो ही नहीं सकता, जो अपने में है। अतः पराश्रय एवं परिश्रम से रहित विश्राम में योग है और योग से बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

योग विश्राम में हैं। विश्राम स्वतः सिद्ध अविनाशी तत्व है। समस्त श्रमों का आश्रम्भ और अन्त विश्राम में ही होता है। इतना ही नहीं, विश्राम के बिना आवश्यक श्रम सम्भव ही नहीं है। समष्टि शक्तियों के कार्य में भी उनकी गति के आरम्भ तथा अन्त में मूल-सिद्धान्त के रूप में विराम विद्यमान रहता है। मनुष्य के स्नायु-मण्डल के कार्यों के निरीक्षण से यह पाया गया है कि किसी उत्तेजना से उत्पन्न प्रभाव से कोई स्नायु जब एक बार क्रियाशील हो चुकता है, तो पुनः उसमें क्रियाशीलता उत्पन्न होने से

पहले विराम की एक छोटी अवधि होती है, जिसे सर्वथा निष्क्रिय कालावधि (Absolute refractory Period) कहते हैं। इस अवधि में वह स्नायु-विराम भी उत्तेजना के प्रभाव से उत्तेजित नहीं होता है।

इस विराम की अवधि में शक्ति संचित होती है, तब फिर उसमें संक्षोभ उत्पन्न होने की क्षमता आती है और वह स्नायु क्रियाशील होता है। इस विराम और गति का क्रम स्वतः संचालित है। शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान के अध्ययन में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह जाना जाता है कि प्राकृतिक शक्तियों के कार्य में मूल में विराम अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। उसके बिना किसी गति का सम्पादन सम्भव नहीं है। यह विराम विश्राम ही का एक रूप है।

अतः यह स्पष्ट है कि आवश्यक सामर्थ्य के लिए विश्राम अनिवार्य है। यहाँ तक कि परिश्रम और पराश्रय में जो जीवन-सा प्रतीत होता है, उसको भी सत्ता योग से ही मिलती है। कोई भी श्रम विश्राम के बिना और कोई भी पराश्रय 'स्व' के बिना सत्ता नहीं पाता। 'स्व' ही 'पर' को स्वीकार कर अपनी ही सत्ता से उसे सत्ता देता है। जिसे वह स्वीकार नहीं करता उसका उसे भास नहीं होता।

साधक अपनी दी हुई सत्ता के अधीन होकर अपने को विवश बनाता है। यदि पराश्रय से रहित होकर साधक 'स्व' में प्रतिष्ठित हो जाय, तो यह रहस्य स्वतः स्पष्ट हो जाय। 'स्व' में प्रतिष्ठित होने में विश्राम से प्राप्त योग ही हेतु है।

योग व्यक्ति को अकर्मण्य एवं निष्क्रिय नहीं बनाता, अपितु आवश्यक और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति तथा अनावश्य एवं अशुद्ध संकल्पों की निवृत्ति में हेतु बनता है। संकल्प-पूर्ति के सुख को पराधीनता में आबद्ध होने पर ही अशुद्ध एवं अनावश्यक संकल्पों की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है।

आवश्यक एवं शुद्ध संकल्पों की पूर्ति कर्त्तव्य विज्ञान है। योग को अपना लेने पर कर्त्तव्य परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। क्योंकि योग से प्राप्त जीवन स्वाधीनता से अभिन्न कर देता है। मानव-जीवन के भौतिक पहलू की पूर्णता कर्त्तव्यपरायण होने में है, जिसके लिये सामर्थ्य और स्वाधीनता योग से ही साध्य है। अतः मानव-जीवन की सभी मौलिक समस्याओं का समाधान योग में है।

सामर्थ्य-सम्पन्न स्वाधीन जीवन की मांग मानव की स्वाभावित मांग है। योग समस्त शक्तियों का स्त्रोत है। अतः जीवन की मांग की पूर्ति योग से ही सम्भव है। योग में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है, अपितु वह सहज तथा स्वाभावित है। इस कारण वह नित्य एवं शान्त-रस से पूर्ण है। योग में आस्था होने से योग की मांग सबल तथा स्थायी होती है। योग से अभिन्न होकर जब साधक अपने ही में अपने नित्य जीवन को पाता है तब उसे अपने लिए और कुछ पाना शेष नहीं रहता। जिसे अपने लिए कुछ भी नहीं पाना है, उसी में प्रेम-तत्प का प्रादुर्भाव होता है।

योगयुक्त होने के लिये चाह-रहित होना मूल उपाय है। चाह-रहित होते ही जो अविनाशी नहीं है उससे असंगता और जो अविनाशी है, उससे एकता स्वतः होती है। बड़े ही रहस्य का तथ्य है कि अचाह होने में जो गति है वह किसी और में नहीं है। कामना के आधार पर जो गतिशीलता आती है वह सूक्ष्म से स्थूलता की ओर ले जाती है और अन्त में शक्तिहीनता में परिणत हो जाती है, किन्तु अचाह में जो गति है वह सृष्टि के उद्गम से अभिन्न कर देती है। यही साधक का अविनाशी से अविनाशी योग है, जो जीवन को पूर्ण बनाता है।

चाह-रहित होने की स्वाधीनता मानव मात्र-को स्वतः प्राप्त है। इस कारण योग जीवन का अत्यन्त सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। चाह-रहित होने पर जिससे माना हुआ सम्बन्ध था, उसकी निवृत्ति और जिससे स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई साधक आत्मा और परमात्मा को स्वीकार न भी करे, तो भी चाह-रहित होने पर वह स्वतः योगयुक्त, आत्मवित् एवं ब्रह्मवित् हो जाता है।

विश्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं

विश्रान्ति की सीमा कहाँ है? जहाँ साधक का सब बल, पौरुष और प्रयास समाप्त हो जाता है, वहीं उसकी श्रान्ति की सीमा है। वहीं उसके साध्य मिलते हैं। वहाँ पहुँचने से पहले कोई अन्दाज नहीं लगा सकता कि वह कितनी दूरी है; क्योंकि उसकी कोई निश्चित रेखा नहीं है। अधिक सामर्थ्यवान् के लिए अधिक दूर, कम सामर्थ्यवान के लिए कम दूर और नितान्त असमर्थ के लिए अति निकट हैं। जिसकी दृष्टि की सीमा जहां है, वहीं उसके क्षितिज की

नीलिमा है। कोन नाप सकता है कि दूरी कितनी है?

अहा, कैसा अनुपम विधान है! साध्य से मिलने का मूल्य सब के लिए समान हैं। साधक-समाज के लिये बड़ी ही आशाजनक बात है। अविनाशी जीवन की आवश्यकता अनुभव करें, उसकी पूर्ति के लिए अपने पर जो दायित्व है, उसको स्पष्ट रूप से जान लें, फिर उस दायित्व को पूरा करने के लिये जो कर सकते हैं, कर डालें। जहाँ अपना करना समाप्त होगा, वहीं आवश्यकता की पूर्ति हो जायेगी। जरा भी देर नहीं लगतीं। ऐसा होना इस कारण सम्भव है कि जो 'है' वह सर्वत्र-सर्वदा ज्यों का त्यों विद्यमान है। वहीं सर्वाधार एवं सर्व का प्रकाशक है। वह घट-घटवासी एवं सर्वान्तर्यामी है। उसी से मानव मात्र का नित्य सम्बन्ध है।

योगियों का नित्य सम्बन्ध, विचारकों का जातीय सम्बन्ध एवं भक्तों का आत्मीय सम्बन्ध एक उसी से है। योग उसकी महिला है, ज्ञान उसका स्वरूप है और प्रेम उसका स्वभाव है। साधक योग, बोध और प्रेम होकर ही उससे अभिन्न होता है। योगी के जीवन में चिर-शान्ति, विचारक के जीवन में बोध एवं भक्त के जीवन में प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति अप्रयत्न होने पर ही होती है, यह सभी महापुरुषों का अनुभव-सिद्ध सत्य है। दूसरों शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति प्रयत्न-साध्य नहीं है, स्वतः सिद्ध है।

जो 'है' उससे विमुख होने के कारण मनुष्य घोर असमर्थता, पराधीनता एवं अभाव से पीड़ित रहता है। 'है' से अभिन्न होने की आवश्यकता अनुभव करना ही साधन युक्त जीवन का आरम्भ है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयास की पराकाष्ठा ही श्रान्ति की सीमा है, जहाँ साध्य मिलते हैं।

यह तथ्य मैं पहले जानती नहीं थी। तभी तो अपनी बेबसी देख-देखकर आश्चर्य-चकित होती रहती थी कि इस दुःख भरे संसार में मैं क्यों आ गई? इससे निकलूँ कैसे? निकलकर जाऊँ कहां? मेरे बिना जाने, बिना चाहे किसने मुझे बना दिया और दुःख सागर में गोते खाते रहने का विवश करके छोड़ दिया है? भला यह भीं कोई बात है? जो देखते में आता है वह ठहरता ही नहीं, उससे भिन्न कुछ दीखता ही नहीं, मंजिल का पता नहीं है, फिर भी चलना ही पड़ता है; दुःख भरा जीवन पसन्द नहीं है, फिर भी जोना ही पड़ता है। मैंने क्या अपराध किया है? कौन न्यायाधीश है? किस धर्म-संहित (code) से उसने मेरे लिए

यह दण्ड निर्धारित किया है? मैं जानना चाहती हूँ.....कौन मेरे जीवन के लिए जिम्मेदार है?

मेरे प्रश्न पर प्रश्न मूक वायुमण्डल में चीत्कार करते रहते..... परन्तु कहीं से कुछ उत्तर नहीं मिलता.....शून्य.....शून्य.....चारों ओर साँय .....सांय.....शून्य। झुंझला कर प्रश्न करते-करते,.....घटना चक्र-चालक पर क्षुब्ध होते-होते; अधिकार पूर्वक कैफियत मांगते-मांगते जब थक गई, तब अधिकार की अकड़ कृपा की याचना में बदल गई। फिर क्या..... एक-एक करके सभी प्रश्नों के उत्तर मिल गये। अब मैं देखती हूँ कि जिन्होंने मुझे बनाया, उन्होंने मुझको दुःख-सागर में डूबने के लिए विवश करके छोड़ नहीं दिया। वे तो परम कल्याणमयी माँग की तरह हम शिशुओं पर निरन्तर दृष्टि रखते हैं।

हम दृश्य-जगत में खेलना चाहते हैं, तो वे हमें खेलने देते हैं और फिर उसके दुर्निवार फलों को भी सामने आने देते हैं। परन्तु जिस क्षण हम खेल छोड़कर उनकी परम शांत, परम मधुर गोद में अनन्त-विश्राम चाहते हैं, तो उसी क्षण वे ललक कर हमें अपनी गोद में उठा भी लेते हैं, क्योंकि कभी साथ न छोड़ने वाली छाया की तरह वे निरन्तर सबके साथ ही लगे रहते हैं।

उन्होंने हमें संसार में भेजा, तो बता भी दिया-'देखो, संसार का कर्त्ता-धर्त्ता मैं हूँ। उस संसार में तुम्हारा कुछ नहीं है। तुम उसकी ममता-कामना मत करना। वह तुम्हारा यज्ञ-क्षेत्र है। तुम केवल वस्तुओं के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना। संसार के किसी प्राणी को कष्ट मत देना। निर्लिप्त होकर विचरना संसार में और निर्विघ्न आनन्द में वापस चले आना।" फिर न जाने कब क्या हो गया.... अपने निर्माता का वह निर्देश मैं भूल गई और यहाँ आकर जो जी में आया सो किया। फिर क्या था! संसार का लालच और भय मुझ पर ऐसा हावी हो गया कि रुला-रुला कर मारा।

हां, हमारे जीवन की पूरी जिम्मेदारी अपने समर्थ हाथों में लेने वाले परम उदार ने यह भी कहा है कि संसार से डरने की कोई बात नहीं है। यदि वहाँ जाकर अपनी ही भूल से कोई संकट में फँस जाता है और अपने उद्धार के लिए मेरी सहायता का अनुभव करता है, तो मैं उसे तत्काल उबार लेता हूँ। परन्तु हायरे, मैं हतभागनी! उन परम कारुणिक-परम हितैषी-परम सुहृद् की इस अमृतवाणी को भी भूल गई। तभी तो उनकी दुनियां में एक अपना चर बना कर, उस पर अपना आधिपत्य जमा

कर सुख और अभिमानपूर्वक जीना चाहती थी और कभी न शान्त होने वाली मृग-तृष्णा को ज्वाला में जलती थी।

फिर भी धन्य हैं सृष्टि-कर्त्ता और धन्य है उनका मंगलमय विधान! बलिहारी है उनके अपनेपन के व्यवहार की! कब का बिछड़ा हुआ, भूला भटका मानव..... वापस आना चाहता है, तो झट रास्त दिखा देते हैं और चलते-चलते थक जाता है, तो स्वयं आकर मिल लेते हैं। जिस किसी को मिले हैं, चाहे जिस रूप में, सभी को उसी श्रान्ति की सीमान्तरेखा पर।

1956 में यह सुसम्वाद एक साधक को मिला था। स्वप्न में उसने देखा-सन्ध्या हो गई है। ऊँचो चढ़ाई का निर्जन वन-मार्ग है। बादल घिर आए हैं। बूँदे पड़ने लगी हैं और आँधी भी बड़ी तेजी से चलने लगती है। साथ में कोई साथ नहीं है। फिर भी साधक ने ठान लिया कि उसे जाना है जरूर। उस दुर्गम मार्ग पर उसने कदम बढ़ाया ही था कि वन में-से एक सन्त आए और साधक से कहने लगे-"आगे मत बढ़ो। कठिन पंथ है। उस पर तुम नहीं चल सकतीं, इसलिये तुम जिसके पास जाना चाहती हो, वे स्वयं यही आकर तुमसे मिलेंगे।" बात बहुत साफ थी। सन्त का दिया हुआ आश्वासन बिल्कुल सत्य और सनातन है। परन्तु क्या कहूँ अपनी हृदय-हीनता की हद है.... करुणामय के उस प्रेम-सन्देश को एक निरर्थक स्वप्न माना और साधन-सम्पन्न होने के अहयुक्त प्रयास को नहीं छोड़ा। फलतः असफलता ही पल्ले पड़ती रही।

मानव-जीवन के इस वैधानिक तथ्य में एक दार्शनिक रहस्य मालूम होता है। कुप्रवृत्तियों एवं व्यर्थ चेष्टाओं के लिये तो मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, शुभप्रवृत्तियों एवं श्रम-साध्य साधन के आधार पर भी जब तक कर्त्तापन शेष रहता है, तब तक सीमित अहंभाव का नाश नहीं होता। कर्म-चिन्तन-स्थिति किसी भी स्तर पर जब साधक निरा निरुपाय होकर चुक हो जाता है, जब कर्त्तापन की गंध भी नहीं रह जाती, केवल मांग रह जाती है। तब उसका अहंभाव गल जाता है तथा लक्ष्य से अभिन्नता हो जाती है। महापुरुषों का यह अनुभूत सत्य है। इसमें सन्देह करना अपनी ही राह में रोड़े अटकाना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि साधन-सम्पन्न होने का प्रयत्न न किया जाय, प्रत्युत इस दिशा में अपना जो दायित्व हो, उसे पूरा करने में कसर न रखी जाय। जितनी तत्परता से हम अपना दायित्व पूरा करेंगे, उतनी ही

शीघ्रता से उस बिन्दु पर पहुँचेंगे, जिसके आगे अपने किये कुछ होगा नहीं और साध्य से मिले बिना रहा जायेगा नहीं। तब? ....मैंने सन्तवाणी में सुना है कि इस बिन्दु पर पहुँचने का भास पीछे होता है और ज्ञान का प्रकाश तथा प्रभु का प्रेम पहले मिलता है।

शुद्ध विचारक राजकुमार सिद्धार्थ के जीवन में यही हुआ था। सुना जाता है कि अध्ययन-मनन-तप सब कुछ कर चुकने के बाद भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें कुछ और करना शेष नहीं रहा, केवल जीवन की माँग रह गई, तब उन्हें निर्वाण मिल गया और वे शुद्ध-बुद्ध भगवान् हो गए।

अनन्य भक्त सुतीक्ष्ण जी प्रभु-आगमन की बात सुन कर बड़ी उतावली से भगवान् के पास चले। मन में संकोच था कि जप-जप-साधन-भजन कुछ नहीं किया है, क्या प्रभु मिलेंगे? जब तक सुतीक्ष्ण जी अपनी ओर देखते रहे, तब तक संशकित रहे। जब प्रभु की शरणागत वत्सलता की याद आई, तब हर्ष से ऐसे उन्मत हो गए कि रास्ता भी भूल गए। तब प्रभु वहीं बीच राह में ही प्रकट हो गए और उनको मिल गए।

ऐसी घटनाओं से सफल साधकों का जीवन भरा पड़ा है। इसमें दो महत्वपूर्ण तथ्य मालूम होते हैं। एक तो यह कि जीवन में जब केवल एक माँग रह जाती है, तो वह स्वतः पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में एक निष्ठा का बड़ा महत्व है। अपने साध्य से भिन्न किसी भी अंश में कोई दूसरी बात पसन्द है, तो एक निष्ठा नहीं बनती। जीवनी-शक्ति का प्रवाह विभाजित रहता है, फलतः शिथिलता रहती है। जब केवल एक माँग रह जाती है, तब सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति तीव्र गति से उद्गम की ओर प्रवाहित होकर उससे अभिन्न हो जाती है।

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहम् जीवित है, तब तक साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। जब यह असफलता साधक से सही भी नहीं जाती और अपने में कुछ करने की सामर्थ्य भी नहीं रह जातीं, तब वह श्रान्ति की सीमा पर पहुँच जाता है। वहीं सही अर्थ में शरणागति आती है, जिसके आते ही अहम्रूपी अणु टूट जाता है और साधक योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

साध्य से दूरी, भेद तथा भिन्नता के नाश के बाद की बात तो मैं नहीं जानती, परन्तु साधन के पथ में विभिन्न स्तर पर आई हुई कठिनाइयों के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट होती

रहती है कि सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए कर्त्तापन का नितान्त अभाव अनिवार्य है। इसी कारण निर्माता इसबात का बहुत ध्यान रखते हैं कि साधक में कर्त्तापन का अभिमान न बढ़ने पावे। विचार-साध्य प्रगति को भी कृपा-साध्य बनाते रहते हैं। जितना-जितना अपने प्रति उनकी हितैषिता का दर्शन होता है, उतना ही हृदय उनके प्रति कृतज्ञता से उमड़ता है। धन्य है मानव-जीवन और धन्य हैं इसके निर्माता!

साधन-भजन-पूजन

मनुष्य के पास तीन दृष्टियाँ हैं-इन्द्रिय दृष्टि, बुद्धि दृष्टि और विवेकरूपी प्रकाश।

इन्द्रिय-दृष्टि से जगत् दिखाई देता है। धरती, आकाश, पवन, पानी और तेज तथा इनके द्वारा निर्मित सब ठोस अस्तित्व वाले मालूम होते हैं। व्यक्ति कहता है-'जगत है'।

बुद्धि-दृष्टि से प्रस्तुत दृश्य जगत् में निरन्तर परिवर्तन दिखाई देता है। दिन का उजियाला रात्रि के निविड़ तम में बदलता में। शैशव की पुनीत कोमलता युवावस्था की मादकता में और वह मादकता वृद्धावस्था की जर्जरता में बदलती जाती है। बुद्धि-दृष्टि के इस अनुभव के आधार पर व्यक्ति कहता है-'जगत् परिवर्तनशील है।'

विवेक का प्रकाश दर्शाता है कि परिवर्तनशीलता का अनुभव करने वाला अपरिवर्तित है। यह सब कुछ बदलता जा रहा है। मैं वही हूँ, जिसने 'यह' को बदलते हुए अनुभव किया है। विवेक-जनित इस ज्ञान के आधार पर व्यक्ति जानता है कि-'जगत् से मेरा सम्बन्ध असत्य है।' परिवर्तनशील के साथ अपरिवर्तित का सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। तीनों ही दृष्टियाँ व्यक्ति के जीवन में काम आती है।

इन्द्रिय-दृष्टि को अपनाने का प्रभाव है कि दृश्य जगत् को सत्य, सुन्दर एवं सुखरूप मान कर हम उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। बुद्धि-दृष्टि को अपनाने का प्रभाव है कि हमें जगत् की सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता में सन्देह होता है। विवेक का आदर करने का यह प्रभाव है कि हम दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेत हैं।

मानव के जीवन में विवेक के आदर का मुख्य स्थान है। इसके बिना जीवन का द्वन्द्व नहीं मिटता। दृश्य का आकर्षण व्यक्ति को देहभाव से ऊपर नहीं उठने देता। यद्यपि देह में अहम्-बुद्धि स्वीकार

कर मानव जन्म-मरण की असह्य यन्त्रणाएँ भोगता है, पर दृश्य के संयोग-जनित सुखद कल्पनाओं को छोड़ता नहीं है। विवेक के प्रकाश में बुद्धि से काम नहीं लेता। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को अपनाकर विषय-सुख-सम्पादन-हेतु बुद्धि खर्च करने लगता है। सुख उसे विवश होकर छोड़ना पड़ता है, परन्तु सुख की आशा को वह स्वेच्छापूर्वक नहीं छोड़ता। यही प्रमाद है, यही दुःखों का मूल है।

विवेकपूर्वक असत् सम्बन्ध को छोड़ना और भावपूर्वक सत् सम्बन्ध जोड़ना ही सत्संग है। इतना कर चुकने के बाद आस्तिक साधक का सम्पूर्ण जीवन साधन, भजन और पूजन हो जाता है। (1) जानी हुई बुराई न करना साधन है। (2) प्रभु की प्रसन्नता के हेतु मिले हुए का ठीक उपयोग करना पूजन है, और (3) प्यारे प्रभु की स्मृति जगाना भजन है।

जानी हुई बुराई न करने का अर्थ है-स्वयं बुराई-रहित होना। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में स्वयं बुराई-रहित होना ही एक-मात्र सार्व-भौम साधन माना गया है। शरीरों की सहायता से किये जाने वाले विविध अनुष्ठानादि व्यक्ति की बनावट के अनुरूप शुभ-कर्म हो सकते हैं, जो अन्तर्भाव को जगाने अथवा क्रिया-शक्ति के वेग का उपयोग करा कर व्यक्ति को राग से रहित करने में सहायक हो सकते हैं। उनको साधन मान लेने में एक भूल यह होती है कि उन साधनों को अपनाने में व्यक्ति की स्वाधीनता नहीं रह जाती; रुचि, योग्यता और सामर्थ्य-भेद होने के कारण सब के लिये उनको समान रूप से अपनाना सम्भव नहीं होता।

दूसरी भारी क्षति यह हो जाती है कि शरीरों के माध्यम से किये जाने वाले अनुष्ठानों में व्यक्ति इतना उलझ जाता है कि उस स्तर से ऊपर उठने में बड़ी देर लग जाती है। स्वयं अपने में, अर्थात् अहम् रूपी अणु में परिवर्तन लाने की बात गौण हो जाती है, इस कारण जीवन बदलता नहीं है। दैनिक समय-तालिका (Daily routine) बदल जाती है, मौलिक परिवर्तन नहीं होता, जिसके बिना अपेक्षित शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

अतः मानव जीवन के इस वैज्ञानिक सत्य पर आधारित एक-मात्र सार्व-भौम साधन है-जानी हुई बुराई न करना। इसे अपनाने में मानव-मात्र स्वाधीन है। इसे अपनाते ही अहम् में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है, जो साधन का सहज परिणाम है।

बुराई-रहित होना आस्तिक के जीवन को पूजन और भजन से युक्त बनाने में सहायक होता है। जब

-नहीं' से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है, तब 'है' की स्मृति अति तीव्र हो जाती है। परम मधुर की स्मृति इतनी मधुर है कि उसकी मधुरिमा भक्त और भगवान् दोनों के लिए रस रूपा है। पल-पल में प्रभु की याद आती रहे, वह याद प्रिय को भाती रहे-इसी का नाम है 'भजन।' इसमें शरीरों की सहयता नहीं लेनी पड़ती, प्रत्युत भजनानन्दी प्यारे की याद में शरीरों की सुध-बुध खोता चला जाता है। शरीरों के परिधि-बन्ध के पार पहुँचकर भाव-जगत् में प्रीतम के नित्य-विहार में समाहित होता है। सीमित व्यक्तित्व की सीमा टूट जाती है और अहम्-रूपी अणु प्रेम की धातु में बदल जाता है। मानव जीवन का यही परम लाभ है, सर्वोच्च विकास है, सान्त का अनन्त से मिलन हैं, संसृति का सृजन के पार हो जाना है।

भक्ति – योग

मानव के जीवन में सुख-दुःख का द्वन्द्व है। सुख पसन्द आता है, दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है। यह विवशता किसी को अच्छी नहीं लगती। सजग मानव-जीवन का अध्ययन करता है और निष्कर्ष में यह पाता है कि सुख-दुःख का भोग मानव-जीवन की स्वाभाविकता नहीं है। सुख-दुःख का भोग मानव-जीवन की स्वाभाविकता नहीं है। सुख-दुःख से अतीत के दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन की माँग की पूर्ति उसका लक्ष्य है। विवेक के प्रकाश में वह अनुभव करता है कि सुख-भोग की रुचि का नाश किये बिना दुःख की निवृत्ति एवं असमर्थता का अन्त नहीं होगा।

मानव जीवन का यह एक दार्शनिक तथ्य है कि सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं परम प्रेम से परिपूर्ण जिस नित्य जीवन की माँग उसको है, वह जीवन अपने में है। जो अपने में है, उसकी अभिव्यक्ति किसी श्रम-साध्य उपाय से नहीं होती। सुख की कामना का त्याग कर पराश्रय एवं परिश्रम से रहित होने पर ही उस जीवन की ओर प्रगति आरम्भ होती है। इस दृष्टि से कामना-रहित होना साधक-मात्र के लिए अनिवार्य है।

मानव-जीवन के विकास के लिए उसकी तीन प्रकार की शक्तियों के आधार पर तीन साधन-प्रणालियाँ या पथ हैं-क्रिया-शक्ति के आधार पर कर्त्तव्य-पथ, विवेक-शक्ति के आधार पर विचार-पथ तथा भाव-शक्ति के आधार पर विश्वास-पथ। साधक अपनी रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार अपने साधन का निर्माण उपर्युक्त किसी भी एक साधन-

प्रणाली के अनुसार कर सकता है। परन्तु एक बात सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। वह यह कि ममता और कामना का त्याग सभी को करना पड़ता है।

निर्मम और निष्काम हुए बिना कर्त्तव्य-परायणता, असंगता अथवा प्रभु की आत्मीयता सम्भव नहीं होती, जिसके बिना विश्राम नहीं मिलता और विश्राम के बिना वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से साधक-मात्र के लिए श्रम-रहित होना अनिवार्य है। विश्राम की प्राप्ति होती सभी पंथों से है। जो विश्राम मिले हुए के सदुपयोग से तथा जाने हुए के प्रभाव से प्राप्त होता है, वही विश्राम सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास-पूर्वक अपने को समर्पित करने पर भी प्राप्त होता है।

श्रद्धा का पथ मानव-जीवन के विकास का एक स्वतन्त्र-पथ है। इसका भी एक दर्शन है। प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। अतः सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रतीति जिससे हुई है, वह आश्रय तथा प्रकाशक समस्त विश्व का है। हम सबका जो आश्रम तथा प्रकाशक है, उसे हम भले ही इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देख नहीं पाते; किन्तु उसकी आवश्यकता का अनुभव करते ही हैं। जो सबका है, सर्वत्र है, सदैव है, समर्थ और अद्वितीय है, वह अपना भी है, अपने में है और सभी है। उसको बुद्धि की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, अपितु उसकी आवश्यकता का अनुभव होता है, इस कारण अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्वीकार करना, उसके प्रेम को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि शरीरादि वस्तुओं को अपना मान लेना भूल है; क्योंकि इनसे साधक का नित्य सम्बन्ध नहीं है; परन्तु जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है और प्रकाशित है, उसे अपना न मानना भी भारी भूल है।

आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक अपने प्रकाशक से अपनापन मान लेने के बाद उसकी आस्था में अन्य सभी आस्थाएँ, उसके विश्वास में अन्य सभी विश्वास और उसकी आत्मीयता में अन्य सभी सम्बन्ध विलीन हो जाते हैं। इतना ही नहीं विश्वासी साधक की अनेक इच्छाएँ एक प्रभु-प्रेम की आवश्यकता में विलीन हो जाती हैं और उसकी समस्त प्रवृत्तियां एक पूजा-भाव से भवित हो जाती है अर्थात् उसके अन्तरंग-बहिरंग

सम्पूर्ण जीवन में एक भागवती निष्ठा प्रतिष्ठित हो जाती है, जो उसे अखंड योग का अधिकारी बना देती हैं; क्योंकि विश्वासी साधक में इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि आदि में द्वन्द्व नहीं रह जाता। सब-के-सब एक ही भाव से भावित एक ही लक्ष्य की प्राप्ति में एक ही केन्द्र पर केन्द्रित हो जाते हैं। इस दृष्टि से विश्वासी साधक का अपने श्रद्धास्पद के साथ नित्य-योग रहता है।

अनेक इच्छाएँ उसी की आवश्यकता में विलीन हो सकती हैं, जो अविनाशी हो और पूर्ण हो। वस्तु-व्यक्ति आदि की किसी भी इच्छा में अनेक इच्छाएँ विलीन नहीं होती, प्रत्युत एक-एक इच्छा से अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिससे व्यक्ति व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है और योग से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से जो 'है' उसकी आवश्यकता का अनुभव करना विकास में हेतु हैं।

प्रभु-विश्वास प्रभु से सम्बन्ध जोड़ देता है और सम्बन्ध से स्वतः स्मृति जागृत होती है। स्मृति जिसमें जागृत होती है, उसे उससे अभिन्न कर देती है, जिसकी स्मृति है। स्मृति जागृत होते ही व्यर्थ-चिन्तन का स्वतः नाश हो जाता है, जो योग है।

संसार की याद से साधक अभाव-ग्रस्त होता है; क्योंकि संसार अप्राप्त है। प्रभु की स्मृति साधक के जीवन में-से अभाव का नाश करती है; क्योंकि प्रभु नित्य प्राप्त हैं, केवल विस्मृति के कारण ही उनसे दूरी, भेद और भिन्नता भासित होती है। उनकी स्मृति के जागृत होते ही दूरी, भेद और भिन्नता का नाश होने लगता है, जो नित्य योग है।

स्मृति अभ्यास नहीं है, अपितु प्रभु-विश्वास का फल है। विश्वासी साधक के जीवन में पूर्ण निश्चितता, निर्भयता स्वतः आ जाती है, क्योंकि सर्वांश में प्रभु-विश्वास अपना लेने पर विश्वासी का सारा दायित्व श्रद्धास्पद पर आ जाता है। इस दृष्टि में विश्वासी साधक भी चिर-विश्राम पाता है, प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा से स्वतः साधन का निर्माण भी हो जाता है और साधन तथा जीवन में एकता भी हो जाती है। इतना ही नहीं, साध्य की अगाध, अनन्त प्रियता से भिन्न उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। प्रियता से प्रियतम को रस मिलता है। यही शरणागत साधक का सर्वस्व है। जो जीवन प्रेमास्पद के लिए रसरूप हो जाय, यही जीवन का सुन्दरतम चित्र है।

प्रभु-विश्वास को अपना लेने पर साधक को कुछ भी करना शेष

नहीं रहता; क्योंकि विश्वासी में किसी प्रकार का अभिमान नहीं रहता, अर्थात् निरभिमानता आ जाने पर चिर-विश्राम सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु बड़ी ही सजगतापूर्वक यह देखते रहना आवश्यकता होता है कि कहीं निरभिमानता का अभिमान न हो जाय। निरभिमानता समस्त अभिमानों को खाकर स्वतः सदा के लिए समाप्त हो जाय, तभी समता और प्रियता से अभिन्नता होती है। यह सारा दायित्व प्रेमास्पद का है और वे अपनी अहैतुकी कृपा से उसे पूरा करते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। शरणागत के सभी कार्य शरण्य के द्वारा होते रहते हैं। शरणागत हो जाना ही शरणागत के प्रयास की परावधि है। प्रयासों का अन्त होते ही शरणागत चिर-विश्राम पाता है और उसमें शरण्य की अगाध प्रियता स्वतः जागृत होती है। प्रियता की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

अहैतुकी कृपा

कृपा सदैव अहैतुकी ही होती है, उसका कोई हेतु नहीं होता। मानव-जीवन का निर्माण परम कृपालु की अहैतुकी कृपा से हुआ है। ऐसा मानने का आधार यह है कि यह जीवन किसी पुरुषार्थ का फल नहीं है। सबसे पहले पुरुषार्थ की सामर्थ्य से सम्पन्न यह जीवन मिला है, बाद में पुरुषार्थ का दायित्व आया है।

मानव सृष्टि की सर्व-श्रेष्ठ रचना है। ऐसा इस कारण माना जाता है कि इस योनी में आकर मनुष्य देखे हुए जगत् के प्रलोभनों को ठुकरा कर बिना देखे हुए वास्तविक जीवन की ओर अग्रसर होता है। मानवेतर योनियों में प्राणी सुख-दुःख भोगने को बाध्य है। केवल मानव-जीवन ऐसा है, जिसमें सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश पाने की स्वाधीनता मिली है। मानव के जीवन की ऐसी अनुपम रचना रचयिता की अहैतुकी कृपा का प्रसाद है।

सुना जाता है कि अहैतुकी कृपा को धारण करने वाले परम कृपालु में अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य एवं अनन्त सौन्दर्य है। अनन्त ऐश्वर्य का अर्थ है अजेय होना, अर्थात् जिस पर कोई विजयी न हो सके। अनन्त माधुर्य का अर्थ है असीम अपनापन, जिसमें सारी सृष्टि समा सके, अर्थात् जो प्राणी-मात्र को अपना सके। अनन्त सौन्दर्य का अर्थ है असीम आकर्षण, जो सभी को आकर्षित कर सके। ऐसी दिव्य विभूतियों से

विभूषित सत्ता से मानव की रचना हुई है और उसको स्वाधीनता दी गई है कि यदि वह दिव्य-चिन्मय जीवन पसन्द करे, तो अचाह होकर ऐश्वर्य से, निर्विकार होकर सौन्दर्य से तथा आत्मीयता के द्वारा माधुर्य से सम्पन्न हो सकता है। रचयिता अपनी रचना को अपना ही रूप दे दे-यह उसकी अहैतुकी कृपा नहीं, तो और क्या है? मैंने पाश्चात्य दर्शन में पढ़ा था-ईश्वर ने मानव का सृजन अपनी ही प्रतिरूप जैसा किया ("God created man in His own image")। दर्शनकार की क्या धारणा थी, सो तो मैं नहीं कह सकती, पर मेरी धारणा के अनुसार यह बात अक्षरशः सत्य है।

चाह-रहित एवं विकार-रहित होने के लिए विवेक का प्रकाश बिना मांगे ही सभी को मिला हुआ है। अनन्त से आत्मीयता स्वीकार करने के लिए हृदयशीलता बिना मांगे ही मिली है। मानव-जीवन की यही सबसे बड़ी विशेषता है, जो कृपा-साध्य है। सत्य की खोज और प्रियता की लालसा मानव-जीवन की मौलिक माँग है। यह माँग जन्म-जात है किसी भी दशा में यह मिटती नहीं है। इसकी पूर्ति से पहले अभाव का अन्त नहीं होता। संसार का ऊँचे-से-ऊँचे भोग पाकर भी व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता। एक समय था जब कि यह असन्तोष मुझे काँटों की तरह चुभता था, जीवन का अभिशाप मालूम होता था। अब वह जीवन का वरदान मालूम होता है। जो मानव अमर जीवन का अधिकारी है, परम प्रेम का अभिलाषी है, उसे भला जड़ जगत् कैसे सन्तुष्ट कर सकता है? धन्य है रचयिता की कारीगरी।

दिखाई देने वाले जगत् के प्रलोभनों का संवरण करते ही मानव-जीवन की दिव्यताओं की अभिव्यक्ति होने लगती है, जिसे देखकर जगत् चकित होने लगता है। सब प्रकार की चाहों से रहित हुए त्रिगुणातीत, परम स्वाधीन पुरुश को सारा जगत चाहने लगता है। सुने हुए प्रभु पर भोग और मोक्ष न्यौछावर करने वाले भक्त पर जगत् और जगत्पति दोनों मुग्ध होते हैं। अपनी रचना को इतनी सुन्दरता प्रदान करना कि स्वयं ही उस पर मुग्ध हो जायँ-यह उनकी अहैतुकी कृपा नहीं, तो और क्या है?

यह तो हुई सही मानव की बात, मानवता से विभूषित जीवन की बात। मुझे तो जीवन के प्रत्येक स्तर पर, प्रत्येक पहलू में कृपा ही कृपा दिखाई देती है। जन्म-काल से शरीर-पात तक इसके संरक्षण का सब प्रबन्ध सभी के लिये समान रूप से रहता है। जल, वायु, धरती, आकाश और प्रकाश सभी को बिना मूल्य

मिलता ही है। शरीर का हम दुरुपयोग कर रहे हैं कि सदुपयोग, इसका भेद रखे बिना ही आवश्यक भौतिक तत्व सभी को समान रूप से मिलते ही हैं। इतना ही नहीं, हमें सर्वांग सुन्दर बनाया गया है। ऊँचे-से-ऊँचे जीवन को पाने की स्वाधीनता और सामर्थ्य भी दी गई। परन्तु हम निज-विवेक का अनादर, मिले हुए का दुरुपयोग एवं दृश्य जगत् की कामना करके अपने को मोह, लोभ, भोग, रोग और शोक में आबद्ध कर लेते हैं। फिर भी विवेक का दीपक बुझता नहीं, प्रकाश आता ही रहता है। परम कृपालु से हम विमुख हो जायँ, तब भी कृपा-दृष्टि हटयी नहीं। इतना ही नहीं, विरोध-काल में भी उन्हें संरक्षण एवं पथ-प्रदर्शन करते हुए पाया गया है। यह अहैतुकी विशेषण की सार्थकता है।

असंख्य भूले कर चुकने के बाद भी यदि हम निर्दोष जीवन के लिये तड़पते हैं, तो जन्म-जन्मान्तर के असंख्य दोष निर्दोषता की मांग की तीव्रता से धुल जाते हैं। शक्ति का स्त्रोत निरन्तर बह रहा है। करुणा और कृपालुता निरन्तर बरस रही है, कभी घटती नहीं है। इसलिए घोर असमर्थता-काल में भी जब सत्य एवं प्रेम से अभिन्न होने की मांग जगती है, तो आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आती है और साधक सिद्धि पाकर कृतकृत्य होता है। धन्य हैं कृपालु और और धन्य है उनकी अहैतुकी कृपा!

इतना ही नहीं, परम कृपालु को जो साधक मानते हैं और जो नहीं मानते हैं;कृपा की भिक्षा जो मांगते हैं और जो नहीं मांगते हैं, सभी पर कृपा-दृष्टि होती हैं। अन्तर केवल इतना रहता है कि कृपा का दर्शन करने वाला उस अनुभव के आनन्द में विभोर रहता है। वह कृपालु का आश्रय लेकर सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो जाता है। चिन्ताकुल को निश्चिन्त, बुद्ध को मुक्त और अनाथ को सनाथ करने वाली एकमात्र परम कृपालु की अहैतुकी कृपा ही है।

प्रभु की प्रियता

पू.पा. श्रीस्वामीशरणानन्दजी महाराज के वृन्दावन में दिये हुए एक प्रवचन का संक्षेप

अभी यह कहा गया कि 'वह' अपने में है, अभी हैं, अपना है, समर्थ है। और यह बात आपने स्वीकार की। अब प्रश्न यह आता है कि जो परमात्मा अद्वितीय है, समर्थ है, अपने में है, अपना है, अभी है,

उसके साथ हमारा कर्त्तव्य क्याहै? 'वह' कहीं दूर नहीं है, कोई गैर नहीं है; अपने में है, अपना है अभी है। ऐसा नहीं कि 'वह' भविष्य में मिलेगा या हमें कोई भूतकाल की ओर जाना पड़ेगा। इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयास तो समाप्त हो गया, यदि हमने इस बात को मान लिया कि प्रभु अपने में हैं, अपने हैं, अभी हैं। समर्थ और अद्वितीय तो मानते ही हैं। तो अपने में जो चीज होती है, वह अभी मौजूद है। और अपनी जो चीज होती है, स्वाभाविक है कि उसका मनन भी होना ही चाहिए।

क्योंकि अपने में है, अभी है, इसलिये भविष्य की आशा की तो बात ही नहीं है और कोई प्रयास भी अपेक्षित नहीं। शरीर को लेकर अपने से दूर होती, तो उसके लिये प्रयास चलता। अतः प्रयास भी समाप्त हो गया, क्योंकि अपने में है। क्योंकि अपना है, इसलिये प्रियता स्वभाव से होनी चाहिये। अपना होने से हमको प्यारा लगाना चाहिये और अभी होने से भविष्य की आशा नहीं होनी चाहिये। तो, अपने में होने से श्रम गया, अभी होने से भविष्य की आशा गई, और अपना होने से प्रियता आ गई।

यदि हममें प्रियता का उदय हो जाय, तो फिर और कुछ करना शेष नहीं रह जायगा। ये तीन बातें हैं- 'वह' अपने में है, इसलिए तो प्रयास गया, श्रम गया! अभी है, तो भविष्य की आशा गई, और अपना है, तो प्रियता होनी चाहिये। तो, प्रियता का उदय होना अपनी स्वीकृति का फल हुआ। पुनः समझ लीजिये कि यदि आपने यह मान लिया कि प्रभु अपने में है, अभी है, और अपना है, तो अपने में होने से परिश्रम गया। अभी है, तो भविष्य में मिलेगा-यह धारणा गयी। लेकिन साथ-साथ 'वह' अपना भी है, इसलिये केवल प्रियता ही प्रियता की बात रह गई और बाकी तो अन्य कोई प्रयास रहा ही नहीं।

यदि परमात्मा की प्रियता हममें उदय हो जाय इस भाव से कि प्रभु अपना है, और भविष्य की आशा मिट जाय-इस बात से कि 'वह' अभी है और परिश्रम इस बात से कि 'वह' अपने में है, तो परिश्रम-रहित होना, भविष्य की आशा से रहित होना और प्रियता का उदय होना-यह अपनी स्वीकृति का फल होना चाहिये, अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। और मान लो प्रियता नहीं है, तो बात की व्यथा तो रहनी चाहिए जीवन में, कि अपने प्रभु अपने को प्यारे नहीं लगते!

बहुत सारा समय तो साधकों का इसमें ही चला जाता है कि वे यह

समझते रहते हैं कि अभी हमने इतने घण्टे ध्यान नहीं किया, इतना चिन्तन नहीं किया, इतना जप नहीं किया, फिर हमारा और परमात्मा का मिलन कैस हो सकता है? तो, परमात्मा आपके इस परिश्रम के अधीन तो है नहीं। इस सत्य से यह बात तो खतम हो गई। अब यह सुना कि 'वह' तो अपने में है तो, बाहर की खोज मिट गई, क्योंकि जो चीज अपने में होती है, उसके लिए बुद्धि अपेक्षित नहीं है।

जब शरीर की अपेक्षा नहीं है, तो प्रयास गया। क्योंकि 'वह' अपने में है और अभी है, इसलिये भविष्य में मिलेगा, यह भ्रम भी गया। अतः जो अपना है, उसकी प्रियता उदय होनी चाहिए।

प्रीति में प्रियतम का नित्य वास है और प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है। इसलिये अपनत्व के नाते प्रियता जगनी चाहिये। अब यदि अपने परमात्मा से कुछ चाहते हैं, तो इसका मतलब है कि आप अपने परमात्मा से कुछ लेना चाहते हैं। और जब कुछ लेना है, तो परमात्मा में प्रियता कहाँ हुई? परमात्मा हमको स्वभाव से प्यारा लगना चाहिये। यह एक यूनीवर्सलट्रुथ है कि जो चीज प्यारी लगती है, उसमें मन स्वतः लगा रहता है। हम नहीं जानते कि परमात्मा कैसा है, पर मन जानता है कि परमात्मा कैसा है। इसलिये जब 'वह' हमें प्यारा लगेगा, तो मन परमात्मा में चला जायगा, अपने-आप चला जायगा। हमारा काम खतम हो गया, अब यह हमारा काम नहीं रहा।

परमात्मा अपने में होने से हमें परिश्रम अपेक्षित नहीं, पराश्रय लेना जरूरी नहीं। अभी होने से उसके लिए भविष्य की आशा करना विवेक से सिद्ध नहीं। और अपना होने से 'वह' हमको प्यारा लगना ही चाहिए। तो, परमात्मा का प्यार हममें उदय हो। प्यार में वह शक्ति है-एक सन्त के कथन के अनुसार-कि मन रूपी पक्षी तभी तक उड़ता फिरता है, जब तक प्रेम जाग्रत नहीं होता। वह तक तक ही भटकता है। जब उसमें प्रियता जाग्रत हो जाएगी, तो वह सदा के लिए भगवान् में चला जाएगा। ईमानदारी की बात तो यह है कि वह बेचैन होना चाहिए इस बात के लिये, कि 'वह' हमसे मिला नहीं। उसको (मन को) प्यारा लगता है, फिर भी मिला नहीं। मैंने उसे अपने में स्वीकार किया है, अब मैं इससे भेद कैसे रख सकता हूँ!

परन्तु हम लोग तो परमात्मा का भोग करना चाहते हैं और इसीलिए हमको जिमनाष्टिक करनी पड़ती है-ऐसे ध्यान लगाओ, इस प्रकार चिन्तन करो। क्यों? क्योंकि

परमात्मा आयेगा तो हमको बड़ा सुख मिलेगा। उसके समीपता का, उसके दर्शन का, उसके वैभव का मजा लेंगे। तो, ये जो वैभव का मजा लेने वाले लोग हैं, वे परमात्मा को अपनी सुख-सामग्री बनाने वाले हैं। वे तो कभी प्रेमी होने के नहीं। इसलिये यही विचार कीजिये कि प्रभु हमें प्यारा लगे। और परमात्मा भी तड़पता है हमसे मिलने के लिये। जिसे प्रभु प्यारा लगता है, उसे तो फुरसत ही नहीं मिलने के लिये।

राम के वन गमन का प्रसंगउपस्थित है। श्रीलक्ष्मणजी साथ चलने की प्रार्थना करते हैं। श्रीराम कहते हैं, 'तुम यहाँ रहो।' उत्तर में वे कहते हैं-'धर्म-नीति उपदेशिय ताही'-प्रभु। धर्म-नीति का उपदेश तो उसे करो, जिसे कुछ चाहिये। सीधी बात यह है, कि उन्हें और कुछ चाहिये ही नहीं। वे तो अपनी दशा बताते हैं, अपनी व्यथा बताते हैं-मन-क्रम-वचन-मन से, कर्म से, वाणी से। मन-क्रम-वचन, चरण-रत होई। कृपासिन्धु परिहरिअ कि सोई।'

अब भगवान् राम का मुँह बन्द हो गया। कहा-जाओ, माता सुमित्रा से आज्ञा ले जाओ। सुमित्रा ने कहा-'जहाँ राम, तहाँ अवध निवासू।' 'भैया लखन, ... तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो तुम्हें आज राम की सेवा का अवसर मिला है। तुम बड़े भाग्यशाली हो। सीता तुम्हारी मैया हैं, राम तुम्हारे पिता हैं, तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं; जाओ, जाओ जरूर जाओ।'

महाराज! जिस पातिव्रत-धर्म को लेकर महारानी सीता राम के साथ वन जती हैं. वहीं वियोग की व्यथा श्री उर्मिला जी के सामने मौजूद है। वहीं व्यथा उनके साथ है। पर वे कहती हैं-मेरा पति सेवक है और सेवक को स्त्री रखने का अधिकार नहीं है। मेरे पति का संकल्प राम की सेवा में जाने का है, तो मैं मूक होकर, शान्त होकर, वियोग की व्यथा सहूंगी, पर पति के स्वधर्म-पालन में मैं बाधक नहीं बनूँगी।' यह प्रेम है।

महाराज! आज के युग में बिल्कुल ऐसा ही प्रेम दो देवियों के जीवन में नजर आता है-यशोधरा और विष्णुप्रिया के जीवन में। एक बार-मुझे शब्दावली स्मरण नहीं है-यशोधरा ने कहा कि 'हे नाथ! तुमने कैसे यह समझ लिया कि मैं आपके विकास में बाधक बनूँगी? आप मुझसे बिना कहे चले गये। मैं आपके मन में नहीं आई?' बुद्ध देव ने क्षमा माँगी और कहा,-'देवी, तुम ठीक कहती हो।'

यह बात भी नहीं कि प्रेम त्रेता में ही था। विष्णु-प्रिया की व्यथा देखो, उसकी दशा देखो। महाराज!

13-14 वर्ष की लड़की है। पति संन्यास लेने जा रहा है। दोनों में अगाध प्रेम है। क्या कहा जाय! प्रेमियों की दशा विचित्र होती है।

मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि एक नहीं, अनेक प्रेमियों के जीवन पर आप विचार करके देख लीजिये। प्रेमियों में केवल एक ही सत्य दिखाई देता है-प्रिय को रस देने में स्वधर्म है, सही धर्म है। यह हमें मालूम है। इसी बात को समझाने के लिऐ गोपियों के जीवन में बड़ी सुन्दर बात आती है। श्रीकृष्ण जब मथुरा जाने लगे, तब गोपियाँ उनके रथ से लिपट गईं। कहने लगीं-'नहीं जाने देंगीं।' श्रीकृष्ण ने जल्दी ही लौट आने का आश्वासन दिया, परन्तु परसों में बरसों बीत गये, पर लौटने का नाम न लिया। गोपियाँ कभी कदम के वृक्ष से लिपट कर, कभी कुञ्जों में झाँक-झाँक कर श्रीकृष्ण को पुकारती हैं। उनके वियोग में गोपियाँ अधीर हैं, व्याकुल हैं, बेचैन है। महाराज! यह दशा हो गई उनकी कि उन्हें जड़-चेतन का भान न रहा। अगर दृष्टि पड़ती है वन पर तो कहती हैं-'वृक्ष, तुम क्यों हरे हो!'

'बिनु गोपाल, वैरिन भई कुञ्जें।' सारा ब्रज सूना हो गया। वह उन्हें विरहाग्नि से जलता दिख रहा है। उसी समय एक बुद्धिमान सज्जन पहुँचे गोपियों के पास और कहने लगे-'अरी गोपियों, तुम बड़ी बाबरी हो। दिन-रात हाय श्याम सुन्दर, हाय श्यामसुन्दर रटती रहती हो, बेचैन हो, व्याकुल हो। मथुरा कितनी दूर है? चली क्यों नहीं जातीं?' उन्होंने उत्तर दिया-'यह आप ठीक कहते हैं। हम भी भली-भाँति जानती हैं कि मथुरा ज्यादा दूर नहीं है। यह बात भी बिल्कुल ठीक है कि यदि प्यारे श्यामसुन्दर आ जाँय, तो बड़े ही आनन्द की बात है। पर एक बात तो बताओ-जब उनके मन में अलग रहने की है, तब हम कैसे जाँय?

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमियों के जीवन में जीवन-धन को रस देने के अतिरिक्त निज सुख-भोग की गन्ध भी नहीं रहती। और इस प्रकार का भाव उनमें सहज रूप से विद्यमान रहता है। उसको जगाने के लिये उन्हें कोई क्रिया, कोई परिश्रम, कोई पराश्रय अपेक्षित नहीं होता। इसलिये प्रभु की प्रियता को जगाने के लिये उनको अपना मानना ही एक-मात्र उपाय है, अन्य कोई भी क्रिया, अभ्यास अथवा परिश्रम अपेक्षित नहीं। इसलिये, महानुभाव! यदि आप चाहते हैं कि प्रभु आपको प्यारे लगे, तो उन्हें अपना मान लीजिये। वे अद्वितीय हैं, अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं और सर्व-समर्थ हैं-ऐसा

स्वीकार करते ही आपका काम बन जायगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

जिनकी अहैतुकी कृपा जीवन तथा सामर्थ्य देने वाली एवं पवित्र करने वाली हैं, उनसे यदि सर्वहितकारी सद्भाव को अपनाकर बल के सदुपयोग, विवेक के आदर तथा राग-द्वेष की निवृत्ति एवं सेवा-त्याग-प्रेम की प्राप्ति के लिए मांग की जाय, तो उसकी पूर्ति अवश्य होती है।

प्रश्नोतरी संतवाणी

प्रश्न- महाराज जी! शिक्षक का क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर-शिक्षक का काम है, अपनी योग्यता का सदुपयोग एवं शिक्षार्थी का चरित्र-निर्माण।

प्रश्न- स्वामी जी! भगवान् हमारी चाह पूरी क्यों नहीं करते?

उत्तर-चाह तो उन्होंने अपने बाप दशरथ की भी पूरी नहीं की। फिर तुम्हारी कैसे कर दें? जो सीता ने चाहा, नहीं हुआ। जो कौशल्या ने चाहा, नहीं हुआ। फिर तुम्हारे चाहने से क्या होगा?

प्रश्न- स्वामी जी! आपके कथन के अनुसार जब दुःख मानव को कुछ सिखाने के लिए आता है, तो फिर बच्चों के जीवन में दुःख क्यों आता है?

उत्तर-बच्चे प्राणी हैं। प्राणी के जीवन में तो सुख-दुःख का भोग ही होता है। जब वे मानव बनेंगे, तभी न दुःख उन्हें कुछ सिखाएगा?

प्रश्न- स्वामी जी! समाज का दुःख कैसे दूर हो सकता है?

उत्तर-आप अपना दुःख दूर कर सकते हैं। समाज चाहेगा, तो उसका दुःख दूर होगा। कोई बाप अपने बेटे का, कोई पति अपनी पत्नी का दुःख दूर नहीं कर सकता, तो समाज का कैसे कर लेगा? हाँ, इतना आप कर सकते हैं कि अपना दुःख-रहित जीवन समाज के सामने रख सकते हैं, जिसको देखकर समाज के मन में दुःख दूर करने की रुचि पैदा हो सकती है।

प्रश्न-महाराज जी! सृष्टि की सेवा करने वाला प्रभु को कैसे प्यारा लगता है।

उत्तर-जैसे तुम्हारे लड़के की सेवा करने वाला तुम्हें प्यारा लगता है।

प्रश्न-स्वामी जी! भगवान् का दर्शन कैसे हो सकता है?

उत्तर-भगवत्-प्रेम का महत्त्व है, भगवत्-दर्शन का कोई महत्त्व नहीं। भगवान् रोज दिखें और प्यारे न लगे, तो तुम्हारा विकास नहीं होगा। भगवत्-विश्वास, भगवत्-सम्बन्ध और भगवत्-प्रेम का महत्त्व है।

प्रश्न-स्वाधीनता का स्वरूप क्या है?

उत्तर-स्वाधीनता का अर्थ है, अपने में सन्तुष्ट होना, न कि किसी वस्तु या परिस्थिति में आबद्ध होना।

प्रश्न-महाराज जी! ईसाई लोग ईसा की बात क्यों नहीं मानते हैं?

उत्तर-नकली ईसाई ईसा की चर्चा करेगा और सही ईसाई ईसा की बात मानेगा। यह बात न सिर्फ ईसाईयों के लिए सत्य है; बल्कि हिन्दू,

मुसलमान, पारसी, सिक्ख, जैन और बौद्ध आदि सभी के लिए सत्य है।

प्रश्न-महाराज जी! भौतिक उन्नति का साधन क्या है?

उत्तर-योग्यता, परिश्रम, ईमानदारी और उदारता।

प्रश्न-महाराज जी! जीवनमुक्त कौन है?

उत्तर-जो ईमानदार है, और ईमानदार वही है जो संसार की किसी भी चीज को अपनी नहीं मानता।

प्रश्न-जीवनमुक्ति का स्वरूप क्या है?

उत्तर-इच्छाएँ रहते हुए प्राण चले जाएँ तो मृत्यु हो गई। फिर जन्म लेना पड़ेगा और प्राण रहते इच्छाएँ समाप्त हो जाएँ, तो मुक्ति हो गई। जैसे बाजार गए, पर पैसे समाप्त हो गए और जरूरत बनी रही, तो फिर बाजार जाना पड़ेगा। और यदि पैसे रहते जरूरत समाप्त हो जाए, तो बाजार काहे को जाना पड़ेगा?

प्रश्न-पढ़ाई-लिखाई बढ़ रही है, फिर भी दोष कम क्यों नहीं हो रहे?

उत्तर-कोई दोष तब करता है, जब अपनी ही बात नहीं मानता। पढ़ाई-लिखाई तो एक प्रकार की योग्यता है। योग्यता जब निज विवेक के अधीन नहीं रहती है, तो बड़े-बड़े अनर्थ कर डालती है।

प्रश्न-महाराज जी! क्या भगवत्-प्रेम भी कामी और कामिनी वाले प्रेम की तरह होता है?

उत्तर-कामी कामिनी को प्रेम नहीं करता। वे एक-दूसरे को नष्ट करते हैं, खा जाते हैं। भगवत्-प्रेम तो प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों को आह्लदित करता है।

प्रश्न-दुःख का आना मानव के पतित अथवा पापी होने का परिचय है क्या?

उत्तर-दुःख का आना पतित होने का फल नहीं है। दुःख तो सुख-भोग की आसक्ति को मिटाने के लिए आता है।

प्रश्न-महाराज जी! धर्मात्मा कौन होता है?

उत्तर-जिसकी समाज को आवश्यकता हो जाए।

प्रश्न-व्यर्थ-चिन्तन से कैसे बचा जाए?

उत्तर-व्यर्थ-चिन्तन भुक्त-अभुक्त का प्रभाव है। आप उससे असहयोग करें। न उसे दबाएं, न उससे सुख लें, न भयभीत हों और न तादात्म्य रखें। तो व्यर्थ-चिन्तन प्रकट होकर नाश हो जाएगा।

प्रश्न- स्वामी जी! हम क्या करें?

उत्तर-सेवा, त्याग और आस्था। सेवा का अर्थ है उदारता,

सुखियों को देखकर प्रसन्न होना और दुखियों को देखकर करुणित होना। त्याग का अर्थ है कि मिला हुआ अपना नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उसकी कामना का त्याग। प्राप्त में ममता नहीं और अप्राप्त की कामना नहीं। प्रभु में आस्था और विश्वास करो।

सेवा, आदमी को समाज के लिए, त्याग अपने लिए और आस्था प्रभु के लिए उपयोगी बनाती है।

प्रश्न-स्वामी जी! आज तक तो मेरी आँखें बिल्कुल ठीक रही हैं। परन्तु अब 75 वर्ष के बाद रोशनी कम होने पर अभाव खटकने लगता है।

उत्तर-आँख तो भैया पहले भी अपनी नहीं थीं। परन्तु इसका पता अभी चला है। गहरी नींद में हर रोज आँखों के रहते हुए भी अन्धे हो जाते हैं। इस पर विचार ही नहीं किया।

प्रश्न-क्या संकल्प-पूर्ति का कोई स्थान जीवन में है?

उत्तर-दूसरों की संकल्प-पूर्ति का है, अपनी संकल्प-पूर्ति का नहीं।

प्रश्न-भक्ति कैसे हो?

उत्तर-संसार को अपने लिए अस्वीकार करने और केवल भगवान् को ही अपना मानने से भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न-स्वप्न का क्या कोई अस्तित्व है?

उत्तर-स्वप्न तो एक अवस्था है। अवस्था का कोई अस्तित्व नहीं होता।

प्रश्न-दुःख विधान का फल है क्या?

उत्तर-दुःख तो सुख की दासता मिटाने के लिए विधान से आता है। दुःख हमारी भूल का परिणाम है।

प्रश्न-दुःखी होना और करुणित होना एक बात है क्या?

उत्तर-नहीं, दुःख में जड़ता आती है। करुणा में चेतना आती है, संसार से सम्बन्ध टूटता है।

प्रश्न-शारीरिक रोग आने पर दुःख क्यों होता है?

उत्तर-'मैं शरीर हूँ' या 'शरीर मेरा है'-ऐसा समझने से दुःख होता है।

प्रश्न-रोगी को दुःख न सताए, इसके लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर-रोग प्राकृतिक तप है, ऐसा मान कर उसे हर्षपूर्वक सहन कर लेना चाहिए।

प्रश्न-रोगी व्यक्ति को रोगावस्था में क्या करना चाहिए?

उत्तर-प्रत्येक अवस्था में प्रभु की अहैतुकी कृपा का अनुभव

होता रहे और हृदय उनकी प्रीति से भरा रहे। शरीर के रहने, न रहने से साधकों को कोई लाभ-हानि नहीं होती। शरीर को बनाए रखने की कामना का त्याग आवश्यक है।

प्रश्न-दुःख क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर-सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है, ऐसा नियम ही है। सुख-भोग की रुचि के नाश के लिए रोग आता है।

प्रश्न-बीमारी से क्यों डर लगता है?

उत्तर-रोग शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिए आता है। उससे साधकों को डरना नहीं चाहिए, अपितु उसका सदुपयोग करना चाहिए।

प्रश्न-रोग का सदुपयोग क्या है?

उत्तर-दुःख का प्रभाव होना चाहिए। रोग देह की वास्तविकता का अनुभव करा देता है। शरीर से व्यक्ति को असंग करने में रोग सहायता देता है।

प्रश्न-रोग का निदान या दवा क्या है?

उत्तर-शरीर के राग से निवृत्त होना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य का यथा-शक्ति ध्यान रख कर, शरीर की सेवा करनी चाहिए-ऐसा करने से शरीर के रोग का अन्त हो जाता है। शरीर सेवा-सामग्री है। साधक की प्रार्थना होनी चाहिए-"हे प्रभु! यह शरीर विश्व के काम आ जाए, अहम् अभिमान-शून्य हो जाए एवं हृदय प्रेम से भर जाए।"

प्रश्न-सच्चा सुख मनुष्य को कब और कैसे मिल सकता है?

उत्तर-वास्तव में मानव-जीवन की यही सबसे बड़ी समस्या है। इसके हल करने में प्राणी सदा स्वतन्त्र है। इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार न करना बड़ी भारी भूल है।

मानवता प्राप्त होने पर मनुष्य को वह सुख मिल जाता है जिमसें दुःख नहीं होता अर्थात् सच्चा सुख मिल जाता है।

सहज भाव से मूक भाषा में प्रेम पात्र से प्रार्थना करो-"हे नाथ! इस हृदय को अपनी प्रीति से भर दो। इस शरीर को दुखियों की सेवा में लगा दो। बुद्धि को विवेकवती बना दो। इस जगत् रूपी वाटिका में मुझे एक सुन्दर पुष्प बना दो। मैं सदा आपकी कृपा की प्रतीक्षा में रहूँ।" ऐसी प्रार्थना करने से प्रेम-पात्र तुम्हें अपनी सेवा करने के योग्य अवश्य बना लेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रश्न-शारीरिक कष्टों को कैसे भूला जाए?

उत्तर-भूला न जाए, सहा जाए-चिंता, विलाप से रहित होकर। यह तप है। तप से शक्ति बढ़ती है। भूलने से तो जड़ता आवेगी। शरीर से तितिक्ष होनी चाहिए। तितिक्ष का अर्थ है, हर्षपूर्वक कष्ट को सहना करना।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ की पहली प्रार्थना में यह कहा जाता है कि दुखियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करें। दुःखी बेचारा क्या त्याग करेगा?

उत्तर-जब मनुष्य कुछ चाहता है और उसका चाहा हुआ नहीं होता है, तो वह दुःख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख का कारण 'चाह' है। अतः दुखी दुःख से छुट्टी पाना चाहता है, तो उसे चाह का त्याग कर देना चाहिए। चाह का त्याग करने में मानव मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न-आसक्ति-रहित होकर कार्य करने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर-जिस कार्य को करने में अपना सुख निहित नहीं होता, जो सर्वहितकारी दृष्टि से किया जाता है, वह आसक्ति-रहित कार्य कहलाता है।

प्रश्न-हम दूसरों के दोष क्यों देखते हैं?

उत्तर-क्योंकि हम अपने दोषों को नहीं देखते।

प्रश्न-पूजा का क्या अर्थ है?

उत्तर-संसार को भगवान् का मानकर उन्हीं की प्रसन्नतार्थ संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार की सेवा में लगा देना ही पूजा है।

प्रश्न-स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना का क्या अर्थ है?

उत्तर-प्रभु के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार करना ही स्तुति है। प्रभु से अपनत्व का सम्बन्ध स्वीकार करना उपासना है और प्रभु-प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना प्रार्थना है।

प्रश्न-भगवत्प्राप्ति में विघ्न क्या है?

उत्तर-संसार को पसन्द करना ही सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न-दुःख क्यों होता है?

उत्तर-सुख-भोग से ही दुःख रूप वृक्ष उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जिसका जन्म सुख-भोग से न हुआ हो।

प्रश्न-दुःख और सुख का परिणाम क्या है?

उत्तर-जो सुख किसी का दुःख बनकर मिलता है वह मिट कर कभी न कभी बहुत बड़ा दुःख हो जाता है और जो दुःख किसी का सुख बन कर मिलता है वह मिट कर कभी

न कभी आनन्द प्रदान करता है। प्राणी सुख से बँधता और दुःख से छूट जाता है। सुख से दुःख और दुःख से आनन्द मिलता है।

प्रश्न-त्याग क्या है?

उत्तर-संसार की अनुकूलता व प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है। क्योंकि अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष का जन्म होता है। राग-द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है। जिस प्रकार लड़की पिता के घर कन्या, ससुराल में बहू और पुत्रवती होने पर माता कहलाती है, उसी प्रकार त्याग ही प्रेम और प्रेम ही ज्ञान कहलाता है। त्याग होने पर आस्तिकता आ जाती है, तब त्याग प्रेम में बदल जाता है और आस्तिकता का यथार्थ अनुभव होने पर प्रेम ही ज्ञान में बदल जाता है।

प्रश्न-कर्म से स्थाई प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती है?

उत्तर-कर्म, शरीर, व संसार-इन तीनों का स्वरूप एक ही है। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उससे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। स्वतन्त्रता के बिना प्रसन्नता कहाँ? अतः कर्मादि से प्रसन्नता नहीं मिल सकती।

प्रश्न-कर्म किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर-कर्म विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिए। ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भोगों का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप होता है। फिर कर्म करने में रुचि नहीं रहती। करने के राग की निवृत्ति हो जाती है और योग प्राप्त होता है।

प्रश्न-मनुष्य को शान्ति क्यों नहीं मिलती?

उत्तर-कामना पूरी करने के लिए कर्म करने से शान्ति नहीं मिलती। साधक यदि चित्त-शुद्धि का प्रयत्न करें, तो शान्ति अपने आप आ जाती है।

प्रश्न-भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, यह कैसे मालूम हो?

उत्तर-भगवान् पर विश्वास हो और उनसे हमारा सम्बन्ध हो, तब मालूम हो सकता है। जैसे माता अपने बच्चे के लिए तरसती है, वैसे ही भगवान् अपने भक्त के लिए तरसते हैं। बच्चा काला-कलूटा, गूँगा-बहरा, लूला-लँगड़ा कैसा भी हो, माता उससे प्रेम करती है। बच्चा भी यह बात समझता है। भगवान् में तो माता से अनेक गुना वात्सल्य है। फिर वे भक्त से प्रेम करें, इसमें कहना ही क्या? अतः जो एकमात्र भगवान् को ही

मानते हैं, उनको भगवान् का प्रेम मिलता है। इसमें सन्देह नहीं है। यह भक्तों का अनुभव है। ईश्वर प्रेमीभक्त को ढूँढ़ता है। विचारशील साधक ईश्वर को ढूँढ़ता है।

प्रश्न-अपने दोष कैसे देखें और उनको कैसे मिटाएँ?

उत्तर-गुण और दोषों को देखने की शक्ति प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है। जिस योग्यता से हम दूसरों के दोषों को देखते हैं, उसी योग्यता से अपने दोषों को देखें। अपने दोषों को ठीक-ठीक देख लेने पर गहरा दुःख होता है। गहरा दुःख होने से दोष दूर हो जाते हैं। दूसरों के दोष और अपने गुण देखने से मनुष्य का विकास रुक जाता है और अभिमान पुष्ट होता है।

प्रश्न-माँग कैसे पूरी हो सकती है?

उत्तर-माँग तीन प्रकार की होती है। कामना को लेकर, लालसा को लेकर तथा जिज्ञासा को लेकर। भोगों की कामना, सत्य की जिज्ञासा ओर प्रभु-प्रेम की लालसा। जिज्ञासा कहते हैं जानने की इच्छा को। लालसा कहते हैं प्रभु पाने की इच्छा को और कामना कहते हैं भोगों की इच्छा को। जिसमें भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा-ये तीनों बातें होती हैं, उसे "मैं"कहते हैं। कामना भूल से उत्पन्न होती है, उसकी निवृत्ति हो सकती है। जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। फिर प्रभु की प्राप्ति हो जाती है। अतः कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को हो सकती है।

प्रश्न-दुःख की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर-वासनाओं की निवृत्ति होने से दुःखों की निवृत्ति होती है। जब साधक विवेक का आदर करके यह समझ लेता है कि "मैं शरीर नहीं हूँ", तब वासनाओं और संकल्पों का अभाव हो जाता है। इसके होते ही दुःख मिट जाते हैं। इन्द्रियों और मन के क्रिया-रहित हो जाने पर वासनाओं का अन्त अपने आप हो जाता है।

प्रश्न-मुझे क्या करना चाहिए?

उत्तर-यदि बिना किए रह सको, तो कुछ भी नहीं करना चाहिए। बिना किए न रह सको, तो सब कुछ करना चाहिए। भोगों के बाद शोक की प्राप्ति निश्चित है। प्रत्येक कर्म के दो फल होते हैं। एक दृश्य जो अपने आप मिट जाता है। दूसरा अदृश्य जो फल की कामना न होने पर मिट जाता है। अतः जो कुछ करो, चाह-रहित, चिन्तन-रहित और फल की आशा से रहित होकर करो। जिस

साधन से प्रभु से सम्बन्ध जुड़े वही करना चाहिए। अतः करना हो तो सेवा करो अथवा त्याग करो।

प्रश्न-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि हृदय में प्रेम है और कभी ऐसा मालूम होता है कि हृदय सूना-सा है, प्रेम नहीं है। यह क्या है?

उत्तर-आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य संसार पर जितना भरोसा करता है, उतना भगवान् पर नहीं करता। संसार पर भरोसा करके बहुत बार धोखा खाया है। भगवान् पर भरोसा करने वाले को कभी धोखा नहीं हुआ।

मनुष्य स्वयं अलग रह कर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को भगवान् में लगाना चाहता है। भूल यहीं से होती है। प्रेम का सम्बन्ध साधक से है। उसकी बुद्धि, मन व इन्द्रियों से नहीं है।

परम प्रियतम प्रभु को ही अपना मानें, उसी पर विश्वास करें और उसी से प्रेम करें। मनुष्य अनित्य वस्तुओं से सुख की आशा करके उनमें आसक्त हो गया है। इससे ही वह ईश्वर-प्रेम से विमुख हो गया है।

प्रश्न-विवेक और बुद्धि में क्या अन्तर है?

उत्तर-विवेक प्रकाश है, बुद्धि दृष्टि है। जैसे दृष्टि प्रकाश में काम करती है, वैसे ही बुद्धि विवेक के प्रकाश में काम करती है। विवेक का आदर करने से बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि की बड़ी महिमा है।

प्रश्न-जिज्ञासा तीव्र क्यों नहीं होती?

उत्तर-क्योंकि सन्देह की वेदना निर्जीव है।

प्रश्न-कैसे समझें कि ममता का नाश हो गया?

उत्तर-पेट भरने पर क्या आपने परोसने वाले से पूछा कि मेरा पेट भरा या नहीं? ममता का त्याग होने पर आपको स्वतः विदित हो जाएगा।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ के दर्शन में सेवा, त्याग और प्रेम की बात कहीं जाती है। इनमें से किसी एक को लेकर चला जाए या तीनों को?

उत्तर-हर मानव को तीन शक्तियाँ विधान से मिली हैं-

करने की शक्ति (कर्त्तव्य-पथ)

जानने की शक्ति (ज्ञान-पथ)

मानने की शक्ति (विश्वास-पथ)

इन तीनों शक्तियों में से किसी एक शक्ति की प्रधानता होती है। अतः साधक में जिस शक्ति की प्रधानता हो, उसी को लेकर चलना चाहिए। शेष दो शक्तियों का विकास

और सदुपयोग अपने आप हो जाएगा। साधक चाहे तो तीनों को साथ-साथ लेकर भी चल सकता है।

प्रश्न-यह जानते हुए भी कि ममता और कामना जीवन में नहीं रखनी चाहिए, जब हमारे ऊपर कोई दुःख आता है तो दुःखी विचलित हो जाते हैं। इससे छुटकारा पाने का उपाय क्या है?

उत्तर-जिन वस्तुओं और व्यक्तियों द्वारा हम सुख भोगने की आशा करते हैं, उनके वियोग से अवश्य ही दुःखी होना पड़ेगा। अतः यदि हम चाहें कि दुःख से छुटकारा मिले, तो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्था से हमें सुख भोगना अथवा सुख की आशा करना छोड़ देना चाहिए। तब जीवन से दुःख अवश्य ही चला जाएगा।

प्रश्न-बेईमान दुनियाँ में ईमानदार आदमी कैसे जिए?

उत्तर-बेईमानी का कारण लोभ है। निर्लोभता में दरिद्रता का नाश है।

प्रश्न-महाराज जी! सत्य की प्राप्ति में कितना समय लगता है?

उत्तर-जिसकी जितनी तीव्र जिज्ञासा होती है, उसे उतना ही कम समय लगता है। जब आप सत्य के बिना चैन से न रहेंगे, वह उसी समय मिल जाएगा।

प्रश्न-स्वामी जी, यदि घर की प्रतिकूलता के कारण साधन न हो सके, तो क्या साधक को घर छोड़ देना चाहिए?

उत्तर-सच्चा मानव-सेवा-संघी कभी घर नहीं छोड़ता, बल्कि ममता, कामना और अपना अधिकार छोड़ता है।

प्रश्न-महाराज जी, क्या मैं घरबार छोड़कर आश्रम में रह सकता हूँ?

उत्तर-मानव-सेवा-संघ किसी का घर बर्बाद करके आश्रम को आबाद नहीं करना चाहता। परन्तु यदि आपका परिवार आप पर निर्भर न हो और घर में आप सुख-दुःख का सदुपयोग न कर सकें, तो आ जाएं।

प्रश्न-महाराज जी! धन का अभाव क्यों सताता है?

उत्तर-तुम धन को अधिक महत्त्व देते हो।

प्रश्न-महाराज जी! जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ, तो कभी तो खूब शान्ति रहती है और कभी ऐसा लगता है कि क्रिया-शक्ति का वेग अभी बाकी है?

उत्तर-करने का राग अभी निवृत्त नहीं हुआ।

प्रश्न-स्वामी जी! साधन में सफलता नहीं मिल रही है।

उत्तर-अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप साधन-निर्माण नहीं किया।

प्रश्न-स्वामी जी! भगवान् छिपे क्यों रहते है?

उत्तर-भगवान् के प्रति आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता और प्रियता जाग्रत नहीं हुई।

प्रश्न-स्वामी जी, मन में बहुत विकार पैदा होते रहते हैं, क्या करूँ?

उत्तर-गहरी वेदना होनी चाहिए।

प्रश्न-स्वामी जी! होली का क्या महत्त्व है?

उत्तर-राग-देष को अग्नि में जला दो, देहाभिमान को मिट्टी में मिला दो और प्रेम के रंग में रँग जाओ।

प्रश्न-क्या व्यक्तिगत सम्पति होनी चाहिए?

उत्तर-व्यक्तिगत सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिए, परन्तु उसे अपनी और अपने लिए नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न-स्वामी जी! बोध किसे कहते हैं?

उत्तर-सभी के मूल में एक अनुत्पन्न नित्य तत्त्व है। उसी की स्वतन्त्र सत्ता है। इसका ज्ञान होना ही बोध है।

प्रश्न-स्वामी जी! समाज के संघर्ष का क्या कारण है?

उत्तर-हम दूसरों को क्षति पहुँचाकर जीना चाहते हैं। यही कारण है समाज में संघर्ष का।

प्रश्न-महाराज जी! मोह को बड़ा बलवान कहा जाता है, क्यों?

उत्तर-देखो! मायिक पदार्थ और ऐहिक सुख-यह सब नाशवान है। इनमें ममता करना तथा इनकी कामना करना-यह मनुष्य की भूल ही है। इनका वियोग तो एक दिन होगा ही। अगर इनमें ममता होगी, तो इनके वियोग-काल में दुःख ही होगा। इसलिए इनको दुःख रूप भी कहा है। अतः इन नाशवान और दुःखरूप पदार्थों के लिए अपना परलोक बिगाड़ देना बड़ी भारी भूल है।

सच्चा बुद्धिमानी तो वही है, जिसने सुख-भोग की आसक्ति को त्याग कर भगवान् में आत्मीयता करके शरणागत होकर अपना लोक व परलोक बना लिया एवं अपना कल्याण कर लिया। भोगों की आसक्ति त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण करो। यही कल्याण का सही व सच्चा मार्ग है। इसी में मानव-जीवन की सफलता व सार्थकता है।

प्रश्न-पता चलता है कि संसार है और आगे भी रहेगा। क्या यह सत्य है?

उत्तर-यह जो मानते हो संसार है, यह गलत है। जो दिख रहा है उसकी स्थिति नहीं है। उसे क्यों मानते हो?

प्रश्न-मार खाना भी उदारता है क्या?

उत्तर-कमजोर हमेशा पिटता रहता है। उदारता आत्मीय सम्बन्ध से होती है। उदारता मानें, विश्व-जीवन से एकता। बलवान बनिए। करुणित होइए।

प्रश्न-हनुमान जी के चित्र में हृदय में रामजी की फोटो बनी है। क्या यह सही है?

उत्तर-अरे! भाव पर फोटो बनी है, चित्र में नहीं।

दिल का हुजरा साफ कर,
आने वाले के लिए।
ख्याल गैरों का उठा, उसके
बैठाने के लिए।।

पहले दिल की सफाई करनी है?

प्रश्न-प्राण क्या है?

उत्तर-प्राण कहते हैं, जिससे शरीर काम करे। प्राण जीवनी-शक्ति है।

प्रश्न-स्वामी जी! साधन करने में स्वस्थ शरीर की भी जरूरत है क्या?

उत्तर-साधन में वास्तव में तो स्वस्थ शरीर की जरूरत नहीं है। शरीर का स्वस्थ अथवा रोगी रहना, यह तो एक परिस्थिति है। परिस्थिति चाहे कैसी भी हो, साधन-सामग्री से भिन्न कुछ है ही नहीं। शरीर चाहे स्वस्थ रहे, अथवा रोगी। साधक इसे महत्व न दें। फिर भी यदि शरीर स्वस्थ रहे, तो अच्छी बात है। साधन का निर्माण तो सत्संग से होता है। सत्संग स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं। उसमें तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है।

प्रश्न-प्रत्यक्ष जगत् की तरह भगवत् सत्ता पर किस प्रकार विश्वास हो? इसका कोई सुगम उपाय बताने की कृपा करें।

उत्तर-इन्द्रियों के ज्ञान में सद्भाव एवं विषयों की वासना तथा शरीर में अहं-बुद्धि, इन तीनों कारणों से जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। इन तीनों कारणों के मिट जाने पर भगवत् सत्ता पर विश्वास हो जाता है।

प्रश्न-मुझे साधन करते हुए एक अर्सा हो गया, किन्तु अभी तक सफलता के दर्शन नहीं हुए, क्या कारण है?

उत्तर-जो मनुष्य असाधन को बनाए रखकर साधन करते हैं, उनको बहुत दिनों तक साधन करने पर भी वर्तमान में सिद्धि नहीं मिल सकती।

जो मनुष्य वस्तु और व्यक्ति का आश्रय लेकर साधन करना चाहते हैं, उनको भी सफलता नहीं मिलती। इसलिए भगवान् का आश्रम लेकर साधन करो, सफलता अवश्य मिलेगी।

जो साधक देशकाल, परिस्थिति, वस्तु व व्यक्ति का आश्रय छोड़ कर साधन करता है, उसको शीघ्र सफलता मिलती है।

'स्व' में सन्तुष्ट रहो, मानवता को महत्त्व दो और प्रभु पर विश्वास करो-यही साधन है और इसी का नाम जीवन है। जिसके जीवन में ये बातें आ जाती हैं, उसको सफलता अवश्य मिलती है।

प्रश्न-स्वामी जी! वैराग्य का क्या स्वरूप है और वह कैसे होता है?

उत्तर-देखो, मनुष्य को जब वैराग्य होता है, तब सत्य की खोज के अलावा और कोई बात उसे नहीं सूझती। वह तो सब कुछ त्याग करके तत्परता से सत्य की खोज में लग जाता है। वह किसी की कुछ परवाह नहीं करता। वह अपने शारीरिक सुखों का त्याग कर देता है। जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह किसी भी हालत में चैन से नहीं रहता। जब मनुष्य संसार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है, उससे मिलने वाले सुखों को ठुकरा देता है तथा सब का परित्याग करके सत्य की खोज के लिए निकल पड़ता है, तब संसार के प्रति उसका कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है।

अब प्रश्न यह है कि वैराग्य की प्राप्ति कैसे हो? जब तक जीवन में राग है, जब तक वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैराग्य की प्राप्ति का अचूक साधन तो अपने विवेक का आदर करना है।

प्रश्न-शिवलिंग की पूजा क्यों की जाती है?

उत्तर-लिंग की नहीं, शिव की पूजा की जाती है। जिसकी स्वयं की कोई आकृति नहीं होती, उसमें प्रतीक की स्थापना की जाती है। "मैं"भी तो एक लिंग है। अपने में ही निराकार की स्थापन कर लो। मनुष्य तीन गुणों से बना है। कोई सत् प्रधान है, कोई रज प्रधान, तो कोई तम प्रधान है। भगवान् राम में राजसी स्वभाव है। श्रीकृष्ण में अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य है। श्रीशिव वैराग्य प्रधान है, आशुतोष हैं, विचारक और गुणातीत हैं।

प्रश्न-'स्वधर्म' का मतलब क्या है?

उत्तर-'स्वधर्म' सर्वश्रेष्ठ है। स्वधर्म पालन से व्यक्ति साधन-निष्ठ हो जाता है। ज्ञानपूर्वक अनुभव करें

कि सृष्टि में मेरा कुछ नहीं है। सृष्टि से सम्बन्ध तोड़ने की प्रेरणा और परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा 'स्वधर्म' देता है। 'स्वधर्म' का मतलब है, 'स्व' का धर्म। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि सर्व धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आजा।

प्रश्न-आज कल आदमी धर्म पर क्यों नहीं चलते?

उत्तर-भोग में रुचि रखते हैं, योग में नहीं।

प्रश्न-आत्मा क्या है?

उत्तर-अपने को जो अनुभव करे वह है आत्मा। आत्मा में जो बैठा हुआ है वह है परमात्मा। जो देखा जाए, वह है अनात्मा। जो माना जाए वह है परमात्मा। अतः जो अनात्मा से भिन्न है, वह है आत्मा।

प्रश्न-निश्चिंतता कैसे आती है?

उत्तर-(1) सभी को परमात्मा को सौंपने से,

(2) सभी के प्रति सद्भाव रखने से,

(3) अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने प्रियतम को अपने में स्वीकार करने से निश्चिन्तता आ जाएगी।

प्रश्न-जीवन की पूर्णता से आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर-ज्ञान के प्रकाश से स्वाधीन व अमर होते हैं। प्रेम के रस से नीरसता का अभाव हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश व प्रेम के रस से जीवन पूर्ण होता है।

प्रश्न-विश्वास कैसा होना चाहिए और वह कैसे हो?

उत्तर-हमने साधारण तौर पर यह सुन रखा है कि विष खाने से आदमी मर जाता है। इतनी सी बात पर यह दृढ़ विश्वास हो गया कि किसी भी स्थिति में विष नहीं खाना है।

कोई अत्यन्त लोभी हो, दरिद्र हो, दर-दर भटकता फिरता हो उसे भी यदि कहा जाए कि तुमको एक हजार रुपया देंगे, तुम एक तोला विष खा लो। तो भी वह मनुष्य विष खाना स्वीकार नहीं करेगा। कारण स्पष्ट है कि उसे विश्वास है कि विषपान से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है

विषयों के लिए सारे शास्त्र व सन्त कहते हैं कि यह महान विष है। इसका सेवन करने से मनुष्य बार-बार जन्मता, मरता है। विष को खाने से तो एक बार ही मृत्यु होती है, परन्तु विषयों के भोगने वाले को अनेकों बार मरना पड़ता है। विष को खाकर तो मनुष्य बच भी सकता है, परन्तु भोगी को तो लाख-चौरासी में जाना ही पड़ेगा। इस बात को हमने ग्रन्थों में

पढ़ा है, सन्तों के मुख से बार-बार सुना है और आँखों से भी देखा है कि विषयी पुरुष की क्या दुर्दशा हो जाती है। फिर भी मन भोगों से नहीं हटता। तो बताओ, इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी?

भगवान् का स्मरण करने से जीव का कल्याण होता है। यह बात भी हम अच्छी तरह से जानते हैं। फिर भी मन भगवान् में नहीं लगता, तो इससे बढ़कर और नास्तिकता क्या होगी? आश्चर्य इस बात है कि हम महामूर्ख व नास्तिक होकर भी स्वयं को आस्तिक व बुद्धिमान मानते हैं।

प्रश्न-महाराज जी! इच्छाएँ कैसे मरें?

उत्तर-आपकी इच्छाएँ अपने सुख को लेकर न उठें, पर-पीड़ा को लेकर उठें। "हे भगवान्! तुमने मुझे आँखें दी हैं, मैं अन्धे के काम आ जाऊँ। हे भगवान्! तुमने मुझे बल दिया है, मैं निर्बल के काम आ जाऊँ।"

आप इच्छाओं का रुख बदल दीजिए, इच्छाएँ मिट जाएंगी। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि आपको जो कुछ मिलता है, आप उसी से सुख लेना चाहते हैं। आप समाज व परिवार को कुछ देना नहीं चाहते, उनसे सुख की अपेक्षा करते हैं।

इच्छा यह उठे कि मैं दूसरों के काम आ जाऊँ। जब आपकी यह माँग सबल हो जाएगी, इच्छायं मिट जाएँगी। भगवान् ने आपको इतना सुन्दर बनाया है कि आप चाहो, तो सारे संसार के काम आ जाओगे।

आप कहें कि कैसे काम आ जाएँ? मानव-सेवा-संघ कहता है कि मन, वाणी व कर्म से बुराई-रहित हो जाओ, तो संसार के काम आ जाओगे। बुराई मत करो, भलाई करो या न करो।

यदि अपनी ओर से पूरा प्रयास करने पर भी हम सुख के भोग और उसके आकर्षण को छोड़ने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं, तो सरल विश्वास पूर्वक दुखी हृदय से सर्व समर्थ प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। दुःख अवश्य मिट जाएगा।

प्रश्न-मूक-सत्संग क्या है?

उत्तर-'जाग्रत-सुषुप्ति'। मूक होकर चिंतन-अचिंतन से असहयोग करना है। द्वेष करना नहीं है, बल्कि उनकी सत्ता को अस्वीकार करना है। यह शरीर धर्म नहीं, अपितु स्वधर्म है। असहयोग करने से वे सर्वथा मिट जावेंगे और फिर अचाह, असंगता और प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने की सामर्थ्य आ जावेगी। करने, पाने और जीने की आशा को त्याग कर शान्त होना ही मूक-सत्संग है।

प्रश्न-मानव का पुरुषार्थ क्या है?

उत्तर-सत् के संग को सुरक्षित रखना। हर काम के आदि व अन्त में स्वभाव से ही सत्य का संग है। उस संग को हम पसन्द करें और सुरक्षित रखें। यही मानव का पुरुषार्थ है, जिसके करने में मानव मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न-मानव का सबसे काला समय कौन-सा है?

उत्तर-मानव का सबसे काला समय है-

(१) कि वह जीना चाहे, पर मरना पड़े।

(२) कि वह खाना चाहे, पर खाने की शक्ति न रह जाए।

(३) कि वह बोलना चाहे, पर बोल न सके।

(४) कि वह सुनना चाहे, पर सुन न सके।

(५) कि वह सत्संग से विमुख रहे।

प्रश्न-स्वामी जी! सब शास्त्र और उपदेशों का सार समझाने की कृपा करें।

उत्तर-सभी शास्त्रों व उपदेशों का सार है-भगवान् का भजन, और भजन बनता है, जीवन में सेवा, त्याग और प्रेम आने से। यदि मनुष्य के जीवन में सेवा, त्याग और प्रेम आ गया, तो समझ लो कि उसने सब शास्त्रों का सार समझ लिया। यदि मनुष्य के जीवन में सेवा, त्याग और प्रेम नहीं आया, तो उसने सब कुछ जान कर भी कुछ नहीं जाना। कारण कि सेवा, त्याग व प्रेम का आ जाना ही सच्चा भजन है।

देखो! जप, तप, कथा, कीर्तन आदि जो मुक्ति की प्राप्ति के साधन बताए हैं, भोगी मनुष्य के लिए ये सब जीविका के ही साधन बन जाते हैं। कोई मनुष्य बहुत जप-तप करके आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त कर ले, पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त कर लें, मुर्दे को जीवित और जीवित को शाप देकर भस्म करने की शक्ति भी प्राप्त कर ले। परन्तु निर्दोष, निष्काम, असंग और शरणागत हुए बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। इसकी प्राप्ति में किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न-ध्यान किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर-ध्येय के ज्ञान के बिना किसी प्रकार का ध्यान नहीं हो सकता। क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता, उसका ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञान से संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार ज्ञान होने पर ध्यान स्वतः हो जाता है।

प्रश्न-त्याग व कर्म क्या है?

उत्तर-त्याग संसार के चढ़ाव की ओर ले जाता है और कर्म संसार के बहाव की ओर ले जाता है। जिस प्रकार नदी के चढ़ाव की ओर चलने वाला नदी का अन्त करके नदी के उद्गम को जान लेता है, उसी प्रकार त्याग करने वाला संसार के कारण को जान लेता है। जिस प्रकार नदी के बहाव की ओर जाने वाला महासागर में डूब कर बार-बार उसी पानी में चक्कर लगाता है, उसी प्रकार कर्म करने वाला घोर संसार में चक्कर लगाता है, परन्तु संसार के कारण को नहीं जान पाता।

प्रश्न-राग मिटाने पर वैराग्य कैसे मिट जाता है?

उत्तर-वैराग्य अग्नि के समान है। लकड़ी का अभाव होने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार राग का अभाव होने पर वैराग्य अनुराग में बदल जाता है।

प्रश्न-राग क्यों होता है?

उत्तर-सुख से राग का जन्म होता है। यदि विषयों में सुख न मालूम पड़े, तो राग नहीं हो सकता। अपने को शरीर समझने पर इन्द्रिय-ज्ञान में सद्भाव और इन्द्रिय-ज्ञान में सद्भाव से अविचार, अविचार से विषयों में सुख-भाव मालूम होता है। विषयों में सुख-भाव मालूम पड़ने से राग होता है।

प्रश्न-राग-द्वेष क्या है?

उत्तर-दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना राग है। गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना द्वेष है। राग त्याग नहीं होने देता और द्वेष प्रेम नहीं होने देता। त्याग व प्रेम से राग-द्वेष मिट जाते हैं। सारी बुराइयाँ राग-द्वेष से होती हैं और सारी अच्छाइयाँ त्याग और प्रेम से होती है।

प्रश्न-श्रम और विश्राम क्या है?

उत्तर-श्रम और विश्राम जीवन के दो पहलू हैं। श्रम है संसार के लिए, विश्राम है अपने लिए। दूसरों के हित के लिए श्रम करो और अपने लिए विश्राम करो। विश्राम में अमर जीवन है, सरस जीवन है, स्वाधीन जीवन है। भोग योनियों में श्रम के अतिरिक्त विश्राम है ही नहीं। पर मनुष्य योनि में सेवा और योग है। विश्राम का अर्थ है, काम-रहित होना। विश्राम सहज व स्वाभाविक है। सही काम करने से मनुष्य काम-रहित हो जाता है।

प्रश्न-संकल्प-विकल्प क्या है?

उत्तर-संकल्प तो भुक्त इच्छाओं का प्रभाव है। पहले जो भोग चुके हैं, उसी के प्रभाव से उठता है। यदि एक संकल्प पूरा हो गया और उसका सुख भोगा, तो उसी के प्रभाव

से दूसरा संकल्प उठेगा। संकल्प-पूर्ति का सुख नए संकल्प को जन्म देता है।

संकल्प-अपूर्ति से जब दुखी होते हैं, तो विकल्प उठते हैं। यदि संकल्प-पूर्ति का सुख न भोगो, अपूर्ति से दुखी न हो, तो संकल्प-विकल्प बन्द हो जाएंगे। वे हमारी किसी क्रिया का परिणाम हैं।

भोजन करने के बाद बिना कुछ किए स्वतः ही पचता है, वह प्राकृतिक शक्तियों से होता है। एक होता है 'होना', जो अपने आप होता है। 'करना' जो होता है, वह अपने अभिमान द्वारा होता है। अतः होने वाली बात कर्म नहीं है।

संसार से सम्बन्ध है सेवा के लिए और परमात्मा से सम्बन्ध है प्रेम करने के लिए। न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए। सम्बन्ध के अनुरूप संसार की सेवा करो, परमात्मा के प्रेमी बनो। न कुछ संसार से चाहो, न कुछ परमात्मा से माँगों। ऐसा होने पर संकल्प उठना बन्द हो जाएंगे।

प्रश्न-भजन क्या है?

उत्तर-सेवा, त्याग और प्रेम-तीनों इकट्ठे हो गए, भजन हो गया। भजन में सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। कर्म से सेवा करो, अचाह होकर त्याग करो, भगवान् को अपना मानकर प्रेमी हो जाओ।

जब तक भगवान् को अपना नहीं मानोगे, भगवान् प्यारा लगेगा नहीं। और जब तक भगवान् प्यारा नहीं लगेगा, तब तक उसकी याद आएगी नहीं और जब तक याद नहीं आएगी, भजन होगा नहीं।

प्रभु की महिमा स्वीकार करो, स्तुति हो गई। प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार करो, उपासना हो गई। प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो, प्रार्थना हो गई।

प्रश्न-भजन का स्वरूप व विधि क्या है? कैसे बने?

उत्तर-भजन का वास्तविक स्वरूप है-सेवा, त्याग और प्रेम! भजन करने की विधि और उपाय है-प्रभु में आस्था, श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता का होना। ये चारों बातें जीवन में आ जाने पर भजन स्वतः होता है। यानी प्रभु हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, सुख और सौन्दर्य के भण्डार हैं और मेरे हैं-ये चारों बातें मान लेने पर ही वास्तविक भजन होता है।

अपने में प्रीति स्वयं होती है और जिससे प्रीति होती है, उसकी स्मृति भी स्वतः होती है। अतः स्वतः स्मृति का होना ही सच्चा भजन है। जब तक ममता, कामना और आसक्ति का त्याग नहीं करोगे, भजन

होगा ही नहीं। इनका त्याग किए बिना प्रभु में आस्था ही नहीं होती। इनका त्याग होने पर ही सेवा, त्याग व प्रेम की प्राप्ति होती है।

सेवा का अर्थ है, अपने को जो मिला है वह सब प्रभु के नाते दूसरों की सेवा में लगा दें और सबके साथ भलाई करें, अच्छा व्यवहार करें। अतः वह सेवा ही प्रभु की पूजा है। इसलिए सेवा का नाम भजन है। संसार में जो कुछ है वह मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए-यह त्याग है। मानव के जीवन में त्याग आने पर असंगता होती है। इसलिए त्याग का नाम भजन है।

सेवा से जगत् प्रसन्न होता है। त्याग से अपने में प्रसन्नता आती है। प्रेम से प्रभु प्रसन्न होते हैं। दुराचारी व भोगी मनुष्य हृदयहीन होता है, निर्दयी व हिंसक होता है। अतः वह सेवा, त्याग और प्रेम का अधिकारी नहीं होता। इसलिए सदाचारी और संयमी बनो। तभी सेवा, त्याग, प्रेम पाने के लिए अधिकारी तथा मानव बनोगे। फिर भजन होने लगेगा। सेवा और त्याग के बिना प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होता और प्रेम के बिना प्रभु नहीं मिलते।

इसलिए सेवा, त्याग और प्रेम प्राप्त करो-यही सच्चा भजन है।

प्रश्न-स्वामी जी! कोई कहते हैं गीता पढ़ो। कोई कहते हैं रामायण पढ़ो। कोई कहते हैं-मन्दिर जाओ, जप करो, यज्ञ करो, दान दो, तप करो। समझ में नहीं आता, क्या करें? कृपया आप बतलाइए क्या करूँ?

उत्तर-जानी हुई बुराई छोड़ दो, कि हुई बुराई दोहराओ मत।

प्रश्न-बुराई को छोड़ने के बाद क्या करूँ?

उत्तर-सबके प्रति सद्भाव रखो और यथाशक्ति क्रियात्मक सहयोग दो।

प्रश्न-महाराज जी! इसके बाद क्या करूँ?

उत्तर-सद्भाव और सहयोग के बदले में किसी से कुछ मत चाहो। न अभी, न कभी।

प्रश्न-फिर इसके बाद क्या करूँ?

उत्तर-पहले ये तीन कर लो, चौथी बात स्वयं मालूम हो जाएगी।

प्रश्न-स्वतः ही?

उत्तर-हाँ, स्वयं ही। अरे तुम यह क्यों चाहते हो कि हम यहाँ से तुम्हारे घर तक बिजली के खम्भे लगा दें? इतनी मेहनत मत करवाओ यार! अरे भैया! हमने तुम्हें टार्च दे दी है। इसकी रोशनी जहाँ तक जाती है वहाँ तक जाओ, आगे स्वतः मार्ग मिल जाएगा। अगर तुम केवल पहली बात

कर लो, अर्थात् जानी हुई बुराई को छोड़ दो, तो तुम्हें सब कुछ मिलेगा- शान्ति, मुक्ति, भक्ति। इससे जीवन बुराई-रहित होगा, तो स्वतः ही सारे काम होंगे।

प्रश्न-असत् के संग से भी सुख की प्राप्ति होती है क्या?

उत्तर-हाँ, क्षणिक सुख प्राप्त होता है। जैसे किसी ने झूठ बोला, धन मिल गया। इस प्रकार असत् के द्वारा सुख मिला और उसके प्रलोभनों में फँस गए, तो फिर असत् का त्याग कभी नहीं हो सकेगा। असत् का परिणाम तो दुःख देने वाला ही है।

यदि हम उसके उस भयंकर परिणाम पर अपनी दृष्टि रखें, तो असत् का त्याग सुगमतापूर्वक कर सकेंगे। जैसे हम विष के परिणाम को जानते हैं, तो विष मिली मिठाई चाहे कितनी ही स्वादिष्ट हो, लेना पसन्द नहीं करोगे। इसी तरह असत् के परिणाम को जान लेने पर असत् का त्याग कर सकेंगे।

प्रश्न-लोभ कैसे दूर हो?

उत्तर-लोभ अकेला नहीं आता, मोह के साथ ही आता है। फिर काम भी आता है, और क्रोध भी। कोई दोष अकेला नहीं आता। समस्त दोषों का मूल है- भूल। परिणाम है- जड़ता, पराधीनता। अपने ज्ञान का अनादर करना ही मूल भूल है।

प्रश्न-मोह-निवृत्ति का उपाय बताइए।

उत्तर-मोह-निवृत्ति कई प्रकार से होती है-

१. आस्था के आधार पर- केवल प्रभु मेरे अपने हैं।

२. ज्ञान के आधार पर- आसक्ति छोड़ने से।

३. सेवा के आधार पर-सेवा करें, कुछ न चाहें।

प्रश्न-शारीरिक कष्ट पापों के परिणाम हैं क्या? सुना है भगवान् का नाम लेने से पाप नाश होते हैं?

उत्तर-शारीरिक कष्ट पापों का फल नहीं है। वह इसलिए कि अगर पाप का फल होता, तो कोई तो पुण्यात्मा ऐसा होता, जिसे शारीरिक कष्ट नहीं होता। नाम की महिमा तो भक्ति में प्रगाढ़ता लाने के लिए है। नाम प्यार लगना चाहिए।

प्रश्न-जीवन में भय क्यों होता है?

उत्तर-जीवन में तीन प्रकार का भय होता है-

१. वियोग का भय। इस भय का कारण व्यक्ति-मोह है। जो वास्तव में अपना है उसे अगर अपना करके अनुभव कर लेते हैं, तो वियोग का भय नहीं होता।

२. हानि का भय। इस भय का कारण वस्तु की ममता है। जो

अपनी नहीं है, उसे अपनी मान लिया है।

३. अपमान का भय। इस भय का कारण देह-अभिमान है। शरीर को बनाए रखना पसन्द करते हैं, जो कभी रहने वाला नहीं है। हमें देह से मोह हो गया है।

प्रश्न-व्यर्थ-चिन्तन और सार्थक चिन्तन क्या है?

उत्तर-अनित्य का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन और नित्य का चिन्तन सार्थक चिन्तन। वस्तु-व्यक्ति का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन और आत्मा-परमात्मा का चिन्तन सार्थक चिन्तन।

प्रश्न-सम्मान के सुख नुकसान क्या है?

उत्तर-सम्मान का सुख इतना भयंकर विष है कि विष खाने से तो मनुष्य एक ही बार मरता है, परन्तु सम्मान का सुख भोगने से कई बार जीना-मरना पड़ता है।

प्रश्न-बुराई क्या है?

उत्तर-हमारे स्वाधीन होने में जो बाधक होवे, हमारे उदार होने में जो बाधा डाले, वही बुराई है।

प्रश्न-बन्धन क्या है और कैसे टूटे?

उत्तर-लेना बन्धन है। लेना बन्द करके, देना दे डालने पर बन्धन जैसी चीज रह ही नहीं जाती।

प्रश्न-लेने में क्या बुराई है?

उत्तर-लेने की रुचि ही नए राग की जननी है, जो पूरी न होने पर क्रोधित कर देती है। क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति हो जाती है।

प्रश्न-प्रभु की विस्मृति क्यों हो जाती है और कैसे मिटे?

उत्तर-प्रभु की विस्मृति मिटानी हो, तो आसक्तियाँ मिटानी होंगी।

प्रश्न-प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

उत्तर-सब ममताओं को त्याग कर केवल प्रभु को अपना मानो, इसी से प्रेम की प्राप्ति होगी। एक मात्र प्रभु को अपना मानना और कुछ नहीं चाहता-यही प्रेम प्राप्त करने का उत्तम साधन है। बहुत तप तथा यज्ञ करने से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। तप तो हिरण्यकश्यप और रावण ने भी बहुत किए थे, परन्तु उनको प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई। एक सहस्त्रयज्ञ करके इन्द्र बन कर स्वर्ग का राज्य करता है, किन्तु उसे भी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान और चिन्तन से भी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इससे तो चित्त की शुद्धि होती है।

प्रेम-प्राप्ति का मुख्य साधन प्रभु से अपनी आत्मीयता का होना है। आत्मीयता होती है, अन्य सभी ममताओं के त्याग से। धन भी मेरा और प्रभु भी मेरा-दोनों बातें एक साथ

नहीं हो सकती। अपना मान लेने पर प्रीति का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। सब इस बात को जानते हैं। अपना शरीर रोगी हो, तब भी प्यारा लगता है। अपना पुत्र काना हो, तब भी प्यारा लगता है। जीर्ण-शीर्ण मकान भी प्यारा लगता है। फिर प्रभु तो सर्वगुण-सम्पन्न, सुख के भण्डार और सौन्दर्य की निधि हैं। हम भगवान् को अपना मान लें और प्रीति जाग्रत न हो-यह बात कैसे हो सकती है।

प्रश्न-प्रभु का हर विधान मेंगलमय है-यह बात कैसे समझ में आए?

उत्तर-यह श्रद्धा का विषय है। साधक को आस्था और पूर्ण विश्वास हो जाने से एक बड़ा लाभ यह होता है कि उसे प्रभु का बल मिलता है। प्रभु परम दयालु हैं, क्रूर नहीं; परम शान्त हैं, क्रोधी नहीं। प्रभु सदा सजग हैं, वहाँ भूल नहीं होगी। हमारी भलाई का जितना हमें ज्ञान है उन्हें उससे अधिक ज्ञान है। जो काम नहीं करना है, उसे भी हम कर लेते हैं और चाहते यह हैं कि ईश्वर से सब प्रकार की सुविधा मिले। जैसे-सूर्य का प्रकाश, स्वाँस लेने के लिए वायु, पीने के लिए जल और धरती माता का आश्रय हमें निरन्तर मिल रहा है। जो उतने उदार व कृपालु हैं, वे हमारे लिए कठोर विधान कैसे बना सकते हैं?

इस प्रकार चिन्तन करते रहने से उनके मेंगलमय विधान में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। विधान में तीन बातें होती हैं-जानना, मिलना और होना। यदि हम जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग करने लग जाएं, तो जो होने वाला है, वह मेंगलमय ही होगा। 'करने' में सावधान रहने से 'होने' में प्रसन्न रहने की योग्यता आ जाती है।

प्रश्न-हमारी माँग क्या है और वह कैसे पूरी हो?

उत्तर-मानव की माँग है-दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति। माँग पूरी होने का उपाय है-भगवत् शरणागति। इसके लिए हमें तीनों शरीरों से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा। स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर अनिष्ट चिन्तन मिट जाता है। कारण शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर सब प्रकार की वासना और गुणों का अभिमान मिट जाता है।

इस प्रकार शरणागति होने पर साधक के दुःखों की निवृत्ति हो जाती है और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न-भगवान् को पाने के लिए क्या करें?

उत्तर-भगवान् से मिलने में भगवान् से आत्मीय सम्बन्ध ही हेतु है। उनको अपना मान लो, भगवान् मिल जाएंगे। भगवत् सम्बन्ध में संसार का सम्बन्ध बाधक है, संसार बाधक नहीं है। अतः संसार का सम्बन्ध छोड़ दो।

प्रश्न-संसार से सम्बन्ध तोड़ना और प्रभु को अपना मानना, यह कैसे हो?

उत्तर-घर के लोगों की सेवा करो, सम्बन्ध मत मानो। केवल प्रभु से सम्बन्ध मानो।

प्रश्न-मन भटकता रहता है।

उत्तर-मन कहीं नहीं भटकता। तुम संसार को चाहते हो, उनकी याद आती है। यह दोष अपना है।

प्रश्न-सुख और आनन्द में क्या अन्तर है?

उत्तर-सुख से दुःख दब जाता है, आनन्द से दुःख मिट जाता है।

प्रश्न-विचार क्या है?

उत्तर-'यह'-संसार, 'वह'-परमात्मा, 'मैं'-शरीर का अभिमानी-इन तीनों का ज्ञान हो जाना ही विचार है। सूरज-'वह', धूप-'यह', किरण-'मैं' के समान हैं। किसी एक का ज्ञान हो जाए, तो तीनों का ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न-जड़ क्या है?

उत्तर-जो दूसरों की सत्ता से प्रकाशित हो, जो स्वाधीन न हो, और जो पराधीन हो, वह जड़ है।

प्रश्न-चेतना क्या है?

उत्तर-चेतना सूर्य के समान है, जो स्वयं प्रकाशित है और जिससे जड़ पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

प्रश्न-आनन्द क्या है?

उत्तर-जो होकर कभी मिटे नहीं। जिसके मिलने पर फिर कुछ और पाने की इच्छा न रहे, वही आनन्द है।

प्रश्न-मन क्या है?

उत्तर-वासनाओं के समूह का नाम ही मन है। सभी वासनाओं का अन्त करने पर मन मिट जाता है और फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार शेष नहीं रहते। वासनाओं का अन्त यथार्थ ज्ञान से होता है। ज्ञान हृदय शुद्ध होने पर होता है। हृदय त्याग और प्रेम से शुद्ध होता है। शरीरादि किसी वस्तु को अपना न समझना त्याग है और परमात्मा से किसी प्रकार की दूरी न रहना प्रेम है। त्याग होने पर प्रेम आपने आप आ जाता है।

प्रश्न-संसार क्या है?

उत्तर-भगवान् से मिलने की ट्रेनिंग। जो संसार में ठीक से रह लेता है, वह भगवान् से अच्छी तरह मिल सकता है। अगर वह भूल भी जाता है, तो भगवान् आकर मिल लेते हैं। अगर आप परिस्थितियों का ठीक उपयोग कर सकते हैं, तो आपको भगवान् की याद नहीं करनी पड़गी, भगवान् आपको याद करेंगे। सिद्धि आपका वरण करेगी, धर्म का आप में अवतरण होगा।

प्रश्न-जीवन में मृत्यु का अनुभव करना और जीते जी मरने से क्या अभिप्राय है?

उत्तर-जीवन में मृत्यु का अनुभव करने और जीते जी मरने से ही अमर जीवन की प्राप्ति होती है। वर्तमान परिवर्तनशील जीवन को ही जीवन मानना मृत्यु के मुख में जाना है। कारण यह है कि जिसका सतत परिवर्तन हो रहा है, वह जीवन नहीं है। जो नित्य एकरस बना रहे, वस्तुतः वही जीवन है। उस एकरस जीवन में स्थित रहना ही जीते जी मुक्त होना है।

प्रश्न-स्वाधीन जीवन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर-जिस व्यक्ति को अपनी प्रसन्नता के लिए दूसरों की ओर देखना नहीं पड़ता, उसी का जीवन स्वाधीन जीवन है।

प्रश्न-स्वाधीनता कैसे प्राप्त करें?

उत्तर-"कुछ न चाहो, काम आ जाओ"। कुछ न चाहने से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती और दूसरों के काम आ जाने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है।

प्रश्न-यदि हम कुछ न चाहें, तो जीवन-निर्वाह कैसे होगा?

उत्तर-शरीर को संसार के हवाले करने से।

प्रश्न-सरस जीवन का क्या स्वरूप है?

उत्तर-अभाव-रहित तथा सदैव आनन्दमग्न जीवन ही सरस जीवन है।

प्रश्न-इसे प्राप्त करने का उपाय?

उत्तर-अपने को भगवान् के हवाले कर दो।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ की बातें कहने और सुनने में बहुत अच्छी लगती हैं, किन्तु जीवन में नहीं उतरतीं। क्यों?

उत्तर-क्योंकि हम शरीर आदि वस्तुओं से सुख लेना चाहते हैं तथा आगे भी इसके आकर्षण को छोड़ना नहीं चाहते। यदि यह समझ में आ जाए कि हर सुख किसी न किसी का दुःख है, तो सुख भोग के आकर्षण का स्वतः नाश हो जाएगा।

यह आकर्षण यदि न रहे, तो मानव-सेवा-संघ की सभी बातें जीवन में स्वतः उतर आवेंगी।

प्रश्न-साधन क्या है?

उत्तर-साधन की अभिव्यक्ति सत्संग के द्वारा होती है।

प्रश्न-साधन में विघ्न क्या है?

उत्तर-अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना साधन का सबसे बड़ा विघ्न है। जिसको हम अपने सुख का कारण मान लेते हैं, उससे राग हो जाता है और जिसको दुःख का कारण मान लेते हैं, उससे द्वेष हो जाता है। राग-द्वेष के रहते हुए साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

प्रश्न-उपासना क्या है?

उत्तर-साध्य में अगाध प्रियता ही सच्ची उपासना है

प्रश्न-उपासना की सिद्धि कैसे हो?

उत्तर-"है"से (प्रभु से) नित्य एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से उपासना की अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न-उपासना में विघ्न क्या है?

उत्तर-साधन में साध्य-बुद्धि स्वीकार करना ही उपासना का सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न-ध्यान क्या है?

उत्तर-"है"की प्रियता में डूब जाना ही सच्चा ध्यान है।

प्रश्न-ध्यान की सिद्धि कैसे हो?

उत्तर-अपने को सभी विषयों से हटा लेने से ही ध्यान की सिद्धि होती है।

प्रश्न-ध्यान में विघ्न क्या है?

उत्तर-व्यर्थ-चिन्तन ध्यान का सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न-भजन क्या है?

उत्तर-"है"की अखण्ड स्मृति ही सच्चा भजन है। अखण्ड स्मृति जिसमें पैदा होती है और जिसके प्रति पैदा होती है, दोनों के लिए रस रूप होती है।

प्रश्न-भूल-जनित सुख का भोग नहीं किया जाए, तो क्या भूतकाल में की गई भूलों के आधार पर भूल जनित-प्रवृत्तियों की आवृत्ति नहीं होती रहेगी?

उत्तर-नहीं, भूल मानव का स्वभाव नहीं है। संघ के सिद्धान्त में वर्तमान सभी का निर्दोष है। भुक्त-अभुक्त के प्रभाव के कारण पिछले संस्कार सामने आएंगे, किन्तु उनका विरोध, समर्थन एवं उनसे तादात्म्य न करने से नाश हो जाएंगे और की हुई भूल पर पश्चात्ताप कर भविष्य में न दोहराने से वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित रहेगी।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ के सूत्र में कहा गया है कि "उस सुख का त्याग करो, जो किसी का दुःख हो।" अब प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा भी सुख है, जो किसी का दुःख न हो?

उत्तर-नहीं। ऐसा कोई सुख नहीं हो सकता, जो किसी का दुःख न हो। अतः साधक के जीवन में सुख-भोग का कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न-गृहस्थ जीवन में रहते हुए साधन सम्बन्धी बातें बहुत कठिन मालूम पड़ती हैं। क्या किया जाए?

उत्तर-गृहस्थ जीवन वास्तविक जीवन की प्राप्ति की एक प्रयोगशाला है। यदि हम दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए, अपने अधिकार का त्याग कर दें, तो पूरा गृहस्थ जीवन साधनयुक्त हो जाएगा और किसी प्रकार की कठिनाई मालूम नहीं पड़ेगी। परन्तु हम भूल के कारण अपने अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। फलतः गृहस्थ जीवन में कठिनाई मालूम पड़ती है।

प्रश्न-मानव-जीवन की पूर्णता से क्या तात्पर्य है?

उत्तर-मानव-जीवन के तीन पहलुओं अर्थात् भौतिक, आध्यात्मिक और आस्तिक को पूर्ण रूप से विकसित करना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। भौतिक विकास का तात्पर्य है, सबको किसी न किसी नाते (विश्व के नाते, आत्मा के नाते अथवा परमात्मा के नाते) अपना मान कर सहयोग करना। आध्यात्मिक विकास का तात्पर्य है कि अकिंचन अचाह होकर अपने में सन्तुष्ट रहना। आस्तिक विकास का तात्पर्य है कि भौतिक विकास से प्राप्त शान्ति एवं आध्यात्मिक विकास से प्राप्त स्वाधीनता को प्रभु की प्रसन्नता के लिए उन पर न्योछावर कर देना। इन पहलुओं के पूर्ण विकास में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

प्रश्न-विवेकी एवं भक्त होने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर-हर समय निज स्वरूप की याद बनी रहना विवेकी एवं हर समय प्रभु की याद में डूबे रहना भक्त होने के अर्थ में आता है।

प्रश्न-भजन सिद्ध कैसे होता है?

उत्तर-"है"को ही अपना मानने से भजन सिद्ध होता है।

प्रश्न-भजन में विघ्न क्या है?

उत्तर-संसार की याद आना।

प्रश्न-पूजन सिद्ध कैसे हो?

उत्तर-शरीर में ममत्व-बुद्धि तथा अपनत्व-बुद्धि न रख कर वर्तमान का सदुपयोग करने से पूजन की सिद्धि होती है।

प्रश्न-पूजन में विघ्न क्या है?

उत्तर-कर्त्तव्य का अभिमान और उसके फल की इच्छा रखना पूजन का सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न-अप्रयत्न होने से क्या तात्पर्य है? हमें किन-किन बातों में अप्रयत्न रहना चाहिए और किन-किन बातों के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तर-अपने को हर प्रकार से भगवान् के हवाले कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना ही अप्रयत्न होना है। इसके बाद कुछ करना शेष नहीं रहता, बल्कि करना "होने" में एवं होना "है" में विलीन हो जाता है। अप्रयत्न होने के बार हर चेष्टा प्रभु की प्रसन्नता के लिए होती रहती है।

प्रश्न-जीवन की प्राप्ति का सरल और अचूक उपाय क्या है?

उत्तर-सभी विश्वासों को एक विश्वास में, सभी सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में तथा सभी इच्छाआं को एक आवश्यकता में विलीन कर देना जीवन-प्राप्ति का सरल एवं अचूक उपाय है।

प्रश्न-अपने को साधक स्वीकार करने पर भी कभी-कभी दूसरों के प्रति द्वेष का भाव आ जाता है। ऐसी दशा में क्या किया जाए?

उत्तर-अपने को साधक स्वीकार करने के बाद दूसरों के प्रति द्वेष की भावना आती है, तो अपनी स्वीकृति की दृढ़ता में कमी है। ऐसी दशा में साधक को सर्तक होकर अपनी निष्ठा को दृढ़ करना चाहिए। साधक के जीवन में अपने जाने हुए असत् का संग नहीं रहना चाहिए और व्यथित हृदय से प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। सफलता अनिवार्य है।

प्रश्न-क्या प्रभु हैं? यदि हैं तो उनके होने का क्या प्रमाण है?

उत्तर-भक्त-वाणी, सन्त-वाणी व ग्रन्थां के आधार पर हम मानते हैं कि प्रभु हैं। उनके होने का प्रमाण यह है कि वे शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की माँग के रूप में मानव में विद्यमान हैं। प्रभु परम उदार, परम शान्त, परम प्रेमी और परम स्वाधीन हैं। ये सब बातें माँग के रूप में हर मानव में विद्यमान हैं। इस माँग का होना ही प्रभु के होने का प्रमाण है।

प्रश्न-भगवान् के अपने में मौजूद होते हुए भी हम उन्हें क्यों नहीं देख पाते हैं?

उत्तर-चूँकि हम भगवान् की आवश्यकता अपने जीवन में महसूस नहीं करते, इसलिए वे हमें दिखाई नहीं देते।

प्रश्न-हम भगवान् की आवश्यकता कैसे महसूस करें?

उत्तर-अपने जाने हुए असत् का त्याग करने से हम अपने जीवन में भगवान् की आवश्यकता अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न-जब सभी परिस्थितियाँ भाग्य से निर्मित हैं, तो मानव-जीवन में कुछ करने का महत्त्व क्या है?

उत्तर-यह सही है कि सभी परिस्थितियां का निर्माण भाग्य से होता है, परन्तु उनका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की स्वाधीनता मानव मात्र को मिली है। दूसरी बात, हम किए बिना रह नहीं पाते, क्योंकि करने का राग हममें विद्यमान है। इस विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए आवश्यक कार्य सद्भावना पूर्वक, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, पूरी शक्ति लगाकर, शुद्ध भाव से करना चाहिए, जिससे करने के राग की निवृत्ति हो जाए। अतः करने के सम्बन्ध में दो बातें हुई वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और दूसरी ओर करने से राग की निवृत्ति होने से अपना कल्याण होता है, जो मानव का लक्ष्य है।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ में यह कहा जाता है कि या तो किसी को अपना मत मानो या सबको अपना मानो। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर-किसी को अपना न मानने से राग की उत्पत्ति नहीं होती और सबको अपना मानने से द्वेष उत्पन्न नहीं होता। इस तरह दोनों मान्यताओं से राग-द्वेष से छूट्टी हो जाती है, जो मानव के विकास में सहायक है।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य क्या है?

उत्तर-मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य मानव का अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण है। अपने कल्याण का अर्थ है, अपनी प्रसन्नता के लिए 'पर' की आवश्यकता न रहे। सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ है कि ऐसे समाज का निर्माण, जिसमें सभी के अधिकार सुरक्षित हों, किसी के अधिकार का अपहरण न होता हो। इस उद्देश्य की पूर्ति दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग से होती है। दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से सुन्दर समाज का निर्माण और विद्यमान राग की निवृत्ति होती है, और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती।

प्रश्न-असंगता कैसे प्राप्त की जाए?

उत्तर-अकिंचन और अचाह होने से असंगता प्राप्त होती है।

प्रश्न-अचाह एवं अप्रयत्न होने के बाद क्या दशा होती है?

उत्तर-इसके बाद दशा नहीं होती, अपितु जीवन की प्राप्ति होती है। जीवन उसको कहते हैं, जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, दुःख न हो एवं समस्त जीवन अगाध, अनन्त, नित-नव-रस से भरा हो।

प्रश्न-क्या साधन करने के लिए घर-गृहस्थी आदि छोड़ना आवश्यक है?

उत्तर-साधन के निर्माण के लिए सत्संग करना आवश्यक है, किसी परिस्थिति विशेष का कोई अर्थ नहीं है। सत्संग करने में मानव मात्र हर परिस्थिति में समान रूप से स्वाधीन है।

प्रश्न-बुराई को छोड़ना चाहने पर भी यदि न छूट पाए, तो क्या किया जाए?

उत्तर-व्यथित हृदय से सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना की जाए।

प्रश्न-विवेक और सत्य में क्या अन्तर है?

उत्तर-विवेक साधन-सामग्री है और सत्य साध्य है।

प्रश्न-व्रत, तप, प्रायश्चित व प्रार्थना का क्या अर्थ है?

उत्तर-लक्ष्य की प्राप्ति का संकल्प व्रत है, उसमें आने वाले कष्टों को हर्षपूर्वक सहन करना तप है, की हुई भूल को न दोहराना प्रायश्चित है तथा लक्ष्य की अपूर्ति के दुःख से दुखी होकर व्यथित हृदय की पुकार प्रार्थना है।

प्रश्न-क्रोध और मोह से कैसे छुटकारा पाया जाए?

उत्तर-अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से क्रोध और मोह से छूटकारा मिल सकता है।

प्रश्न-परिस्थिति का क्या अर्थ है?

उत्तर-व्यक्तिगत विकास की साधन-सामग्री का नाम परिस्थिति है।

प्रश्न-भौतिक विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर-सुखियों को देख प्रसन्न होना और दुखियों को देखकर करुणित होना।

प्रश्न-आध्यात्मिक विकास क्या है?

उत्तर-अपनी प्रसन्नता के लिए 'पर' की आवश्यकता अनुभव न करने में ही आध्यात्मिक विकास है।

प्रश्न-आस्तिक विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर-प्रभु से प्रेम करना आस्तिक विकास है।

प्रश्न-राग-द्वेष का क्या अर्थ है?

उत्तर-भूल को भूल जानकर भी करना अर्थात् यह जानते हुए भी कि कोई भी संसार में अपना नहीं है, फिर भी किसी को अपना करके मानना राग है और जो वास्तव में अपना है, उसे अपना न मानना द्वेष है।

प्रश्न-संकल्प किस कहते हैं?

उत्तर-जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति व अवस्था में सम्बन्ध जोड़ दे, उसे संकल्प कहते हैं।

प्रश्न-अभाव का क्या अर्थ है?

उत्तर-कुछ करना चाहें, न कर सकें, पाना चाहें, न पा सकें-उसे अभाव कहते हैं।

प्रश्न-जब हम गृहस्थी के कार्यों में लग जाते हैं, तो हमारी चेतना बनी नहीं रहती। क्या उपाय करें कि हमारी चेतना बनी रहे?

उत्तर-हर समय चेतना बनाए रखने के लिए सत्संग ही एक मात्र उपाय है। अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के पश्चात् हमें निश्चिन्तता और निर्भयता प्राप्त हो जानी चाहिए। जब करने में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेते हैं, तो परिणाम स्वरूप करने के फल और उसके अभिमान से मुक्त नहीं हो पाते और जड़ता में आबद्ध हो जाते हैं। सत्संग से "करना" "होने" में और होना "है" में बदल जाता है, फिर हर समय चेतना बनी रहती है।

प्रश्न-मुझे मानव-सेवा-संघ बहुत पसन्द है। मैं चाहता हूँ कि इस विचार-धारा का बहुत बड़े पैमाने पर प्रचार-प्रसार किया जाए। इस सम्बन्ध में मैं क्या कर सकता हूँ?

उत्तर-मानव-सेवा-संघ की विचारधारा के अनुसार अपना जीवन बनाया जाए। जो बात व्यक्ति के जीवन में आ जाती है, वह विभु हो जाती है और उसका प्रभाव अपने आप बृहत् समाज पर पड़ता है।

प्रश्न-व्यर्थ-चिन्तन क्या है?

उत्तर-व्यर्थ-चिन्तन वह चिन्तन है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान क्रिया से न हो।

प्रश्न-व्यर्थ-चिन्तन का त्याग कैसे किया जाए?

उत्तर-व्यर्थ-चिन्तन को व्यर्थ करके जानना उसके त्याग में हेतु है। अपने न करने पर यदि ऐसा चिन्तन होता है, तो उससे भयभीत मत होना। बल्कि यह जानकर कि जिसको हम कर नहीं रहे हैं, फिर भी वह हो रहा है, तो उसका उत्तरदायित्व हमारा नहीं है। वह हो रहा है-मिटने के लिए। उस चिन्तन का न तो विरोध किया जाए और न उससे सहयोग।

बस, उसके कर्त्ता होने का अपने पर आरोप न किया जाए।

प्रश्न-व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से वर्तमान का सदुपयोग कैसे होगा?

उत्तर-व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से समस्त प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा। दोनों युगपद् हैं। व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से वर्तमान का सदुपयोग होने लगता है तथा वर्तमान के सदुपयोग से व्यर्थ-चिन्तन का त्याग स्वतः होने लग जाता है।

प्रश्न-वर्तमान के सदुपयोग से भविष्य उज्ज्वल कैसे होगा?

उत्तर-यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान के सदुपयोग से भविष्य उज्ज्वल होगा। वर्तमान का सदुपयोग वस्तुतः व्यक्ति, वस्तु तथा परिस्थिति के राग से मुक्त करने में समर्थ है। इन रागों से मुक्त होना ही स्वाधीन होना है। स्वाधीन होना ही भविष्य का उज्ज्वल होना है। स्वाधीन ही प्रेमी होता है। उज्ज्वल का अर्थ अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की प्राप्ति नहीं है। ये सब तो बन्धन के मूल हैं, जो पतन का कारण बनते हैं, विकास का नहीं। उज्ज्वल से भाव यहाँ दिव्य चिन्मय नित्य जीवन से है, जिसमें मानव-जीवन की कृतार्थता है।

प्रश्न-सर्व दुःखों की निवृत्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर-इच्छा-पूर्ति में सुख और आपूर्ति में दुःख का अनुभव होता है। अतः इच्छा-रहित होने से दुःख की निवृत्ति हो जाती है, जो विवेक का आदर करने से साध्य है।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ की क्या विशेषता है?

उत्तर-मानव-सेवा-संघ यह विश्वास दिलाता है कि जो जीवन आज तक किसी महामानव को मिला होगा, वह जीवन वर्तमान में मौजूद है, और हर मानव को स्वाधीनतापूर्वक मिल सकता है।

प्रश्न-इस जीवन को पाने में देरी क्या है?

उत्तर-अपनी जानी हुई बुराईयों को न छोड़ना ही इस जीवन को पाने में देरी है।

प्रश्न-इस असमर्थता का उपाय क्या है?

उत्तर-अपनी समर्थता का अनुभव करना और अपने को भगवान् की गोद में छोड़ देना ही इसका अचूक उपाय है।

प्रश्न-अहं के नाश का क्या उपाय है?

उत्तर-अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करने से एवं अपने को भगवान् को समर्पित करने से अहं का नाश हो जाता है।

प्रश्न-भाग्य का क्या अर्थ है? जीवन में इसका क्या महत्त्व है?

उत्तर-किए हुए कर्मों के फलस्वरूप जो परिस्थितियाँ निर्मित होती है, उनका नाम भाग्य है। सुखद परिस्थितियों में उदारता और दुःखद परिस्थितियों में त्याग को अपनाकर विद्यमान राग की निवृत्ति के द्वारा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है।

प्रश्न-क्रोध न आए, इसका क्या उपाय है?

उत्तर-अपने सुख-दुःख का कारण दूसरे को न मानकर, अपने अधिकार का त्याग करने से क्रोध का नाश हो जाता है।

प्रश्न-संसार मिलता भी नहीं और उसका चिन्तन भी नहीं छूटता, क्या उपाय किया जाए?

उत्तर-संसार-प्राप्ति की चेष्टाओं को छोड़कर उसकी सत्ता को अस्वीकार करने से उसका आकर्षण एवं उसके चिन्तन से छुटकारा मिल सकता है।

प्रश्न-समाज में दूसरों को गलती करते हुए देखकर चित्त अशान्त बना रहता है। इसकी निवृत्ति के लिए क्या उपाय है?

उत्तर-दूसरों के दुःख से दुःखी होने से करुणरस की अभिव्यक्ति होती है, और नीरसता का नाश होता है। तब चित्त की अशान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका अर्थ है कि कोई भूल अपने में है, और वह अपना सीमित अहं ही हो सकता है।

प्रश्न-साधन सही ढंग से चल रहा है या नहीं, इसके क्या चिन्ह हैं?

उत्तर-साधन सही चल रहा है-इसके चिन्ह जानने की जरूरत नहीं होती, क्योंकि भोजन के बाद भूख मिटी या नहीं, यह दूसरों से पूछना नहीं पड़ता। साधन यदि ठीक चल रहा है, तो जड़ता, पराधीनता तथा आसक्ति का नाश हो ही जाना चाहिए।

प्रश्न-मरने से डर क्यों लगता है?

उत्तर-प्राणशक्ति के नाश हो जाने एवं वासनाओं के शेष रह जाने का ही नाम मृत्यु है। यदि प्राण-शक्ति के रहते हुए सर्व वासनाओं का नाश हो जाए, तो मरने से डर नहीं लग सकता।

प्रश्न-राग-द्वेष हटते नहीं, केवल स्थान बदलते हैं। क्या यह मेरी मान्यता सही है?

उत्तर-आपकी यह मान्यता सही नहीं है। अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को न मानकर, अपने अधिकारों का त्याग कर, दूसरों के

अधिकारों की रक्षा करने से राग-द्वेष हमेशा के लिए मिट जाते हैं।

प्रश्न-प्रारब्ध से आए सुख-दुःखों से कैसे छुटकारा मिल सकता है?

उत्तर-प्रारब्ध से आए हुए सुख में उदारता एवं दुःख में त्याग अपनाने से सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है और सुख-दुःख से हमेशा के लिए छुट्टी मिल जाती है।

प्रश्न-प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

उत्तर-यदि भगवान् के पास कामना लेकर जाएँगे, तो भगवान् संसार बन जाएँगे और यदि संसार के पास निष्काम होकर जाएँगे, तो संसार भी भगवान् बन जाएगा।

अतः भगवान् के पास उनसे प्रेम करने के लिए जाएँ और संसार के पास सेवा करने के लिए और बदले में भगवान् और संसार, दोनों से कुछ न चाहें, तो दोनों से ही प्रेम मिलेगा। प्रेम के अतिरिक्त इस जगत् में और कुछ सार वस्तु है भी नहीं।

प्रश्न-भक्त होने का अधिकारी कौन है?

उत्तर-जिस साधक को शान्ति और मुक्ति भी खारी लगे, वह साधक भक्त होने का अधिकारी है।

प्रश्न-जो साधक ईश्वर को नहीं मानता, उसके लिए क्या साधन है?

उत्तर-उस साधक को बुराई-रहित होकर अचाह होना चाहिए। बुराई-रहित होने से व्यक्ति भला हो जाता है और जब वह भलाई के फल और अभिमान को छोड़ देता है, तो मुक्त हो जाता है।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ के दर्शन में बताया जाता है कि संसार को नापसन्द करने से मुक्ति और भक्ति मिल जाती है। इसको कैसे जीवन में उतारा जाए?

उत्तर-संसार को नापसन्द करने का अर्थ है, उसे अपनी रुचि-पूर्ति का साधन न बनाकर उसकी सेवा की जाए। परमात्मा को पसन्द करने का अर्थ, 'उसको' अपना मानें और बदले में कुछ न चाहें। यदि भोजन करें, तो खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिए, सुनें तो बोलने वाले की खुशी के लिए, बोलें तो सुनने वाले की खुशी के लिए और करें, तो दूसरों को राहत पहुँचाने के लिए-ऐसा करने से मुक्ति और भक्ति मिल सकती है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। जो हार नहीं मानता, वह विजयी अवश्य होता है।

प्रश्न-साधक की मूल समस्या क्या है?

उत्तर-वह शान्त होना चाहता है, पर व्यर्थ-चिन्तन होता है।

प्रश्न-योग क्या है?

उत्तर-चित्त का शुद्ध एवं शान्त हो जाना ही योग है। दूसरों को सहयोग देने से और उनके प्रति सद्भावना रखने से चित्त शुद्ध होता है और बदले में कुछ न चाहने से शान्त हो जाता है। परिश्रम और पराश्रय को छोड़कर विश्राम और हरि-आश्रय को अपनाना योगवित् होने का अचूक उपाय है। अब यदि कोई कहे कि मैं तो हरि-आश्रय नहीं ले सकता। तो वह 'स्व' का आश्रय ले ले और निर्मम तथा निष्काम होकर राग-रहित हो जाए। यदि कोई कहे कि मुझे अपनेपन को बोध नहीं है, तो वह कर्त्तव्य में तो विश्वास कर सकता है। अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से भी राग की निवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति होते ही योग की प्राप्ति स्वतः होती है।

प्रश्न-योग में बाधा क्या है?

उत्तर-भोग की रुचि ही योग की सबसे बड़ी बाधा है।

प्रश्न-कर्त्तव्य-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान एवं आस्तिक-विज्ञान का क्या अर्थ है?

उत्तर-वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा संसार की सेवा करना कर्त्तव्य-विज्ञान है। सेवा के फल और अहं को छोड़ना अध्यात्म-विज्ञान है और प्रभु की प्रसन्नता के लिए बिना किसी शर्त के सब प्रकार से उन्हीं का होकर उनको प्यार करना आस्तिक-विज्ञान है। बोलचाल की भाषा में-जगत् हमारी आवश्यकता अनुभव करें, यह है कर्त्तव्य-विज्ञान। हमें जगत् की आवश्यकता न रहे, यह अध्यात्मक-विज्ञान और हमें परमात्मा अच्छे लगें, यह आस्तिक-विज्ञान है।

प्रश्न-जीवन में भगवान् और विश्राम की जरूरत क्यों है?

उत्तर-क्योंकि भगवान् के सिवाय कोई और ऐसा साथी नहीं है, जो सदैव हमारे साथ रह सके। इसलिए जीवन में भगवान् की जरूरत है। परिश्रम से जो थकावट आती है, वह विश्राम से ही दूर होती है। इसलिए विश्राम की जरूरत है।

प्रश्न-'प्राप्त' की प्राप्ति में क्या रुकावट है?

उत्तर-संसार का आकर्षण ही प्राप्त भगवान् की प्राप्ति में रुकावट है।

प्रश्न-हमारे साधन सीमित होने से हम सबकी सेवा कैसे कर सकते हैं?

उत्तर-मन, वचन और कर्म से बुराई-रहित होने से विश्व की सेवा, बुराई-रहित भलाई करने से समाज

की सेवा, भलाई का फल और अभिमान छोड़ने से अपनी सेवा और प्यार से प्रभु की सेवा होती है। इन सब बातों को करने में मानव-मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न-व्यर्थ-चिन्तन का नाश कैसे हो?

उत्तर-व्यर्थ-चिन्तन का नाश नीरसता का नाश होने से होता है और नीरसता का नाश उदारता, स्वाधीनता, एवं प्रियता से होता है। उदारता का अर्थ है- को अपना मानना। जिस तरह एक शरीर की सेवा करते हैं, उसी तरह अनेक शरीरों की सेवा करें। स्वाधीनता का अर्थ है, अपनी प्रसन्नता के लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव न करना अथवा दूसरे शरीरों की तरह अपने शरीर से भी असंग रहना। प्रियता का अर्थ है, प्रभु से बिना किसी शर्त के आत्मीय एवं नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना।

प्रश्न-यदि ईश्वर की ओर से आकर्षण होता है, तो वह मानव को अपनी ओर खींच क्यों नहीं लेता अथवा मानव स्वयं खिंच क्यों नहीं आता?

उत्तर-ईश्वर मानव की स्वाधीनता छीनना नहीं चाहता। इसलिए मानव जब तक स्वयं अपनी ओर से ईश्वर के सम्मुख नहीं होता, तब तक ईश्वर उसके पीछे ही रहता है।

वस्तुओं में वह शक्ति नहीं है कि वे मानव को अपनी ओर खींच सकें। मानव अपनी भूल से ही वस्तुओं के पीछे दौड़ता है। वस्तुओं में प्रतिकार की भी शक्ति नहीं है। अतः इसमें अपनी ही भूल है, जिससे ईश्वर की ओर अपना खिंचाव नहीं होता।

प्रश्न-मन को निर्विकल्प करने के लिए प्रयत्न करने पर भी मन एक मिनिट के लिए भी स्थिर नहीं हो पाता, जप करते समय अन्य चिन्तन आता है। इसका नाश कैसे हो?

उत्तर-जो दिखाई देने वाले लुभावने व सुहावने संसार के आकर्षणों को नापसन्द करके, बिना देखे, बिना जाने भगवान् को बिना शर्त के पसन्द करता है, उसी से निर्विकल्पता साध्य है।

प्रश्न-अहं की पूर्ति शरीर के किस अंग में होती है?

उत्तर-अहं की पूर्ति शरीर के किसी अंग में नहीं होती। वस्तुतः 'मैं' शरीर की जाति का नहीं है।

प्रश्न-स्वामी जी! विचार-पथ और श्रद्धा-पथ में से कौन-सा पथ सुगम और श्रेष्ठ है?

उत्तर-देखो! ये दोनों सुगम और श्रेष्ठ है। परन्तु अधिकारी का भेद

है। जो समर्थ साधक है,उसके लिए विचार-पथ तथा जो असमर्थ है उसके लिए श्रद्धा-पथ सुगम और श्रेष्ठ है। वैसे तो सामर्थ्य, योग्यता, विवेक आदि सब प्रभु के ही दिए हुए हैं। परन्तु जो प्रभु की देन का आदर करता है, वह विचारक है और जो सब का आश्रय छोड़कर एक मात्र प्रभु की शरण ग्रहण करता है, वह श्रद्धालु है।

प्रश्न-प्यार कैसे किया जाए?

उत्तर-देखो तो प्यार से, बोलो तो प्यार से, सुनो तो प्यार से। हर कार्य को प्यारे का जानकर प्यार से करो। यही प्यार करने का सुगम उपाय है।

प्रश्न-वस्तुओं की प्राप्ति का क्या उपाय है?

उत्तर-प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से वस्तुओं की प्राप्ति होती है। कामी और संग्रही से वस्तुएँ बहुत दुखी होती हैं और जो उनका सदुपयोग करता है, उसके पास आने के लिए वे लालायित रहती हैं।

प्रश्न-मानव की क्या विशेषता है?

उत्तर-वह देखे हुए सुन्दर सुहावने जगत् को नापसन्द कर, सुने हुए प्रभु पर बिना किसी शर्त के अपने को न्यौछावर कर सकता है।

प्रश्न-सबसे बड़ी बुराई क्या है?

उत्तर-पराधीनता को पसन्द करना सबसे बड़ी बुराई है। पराधीन बने बिना कोई भी सुख-भोग कर नहीं सकता। अतः पराधीनताजनित सुख का भोग सबसे बड़ी बुराई है, जिसका जन्म, जो अपना नहीं है, उसको अपना मानने से और जो अपना है, उसे अपना न मानने से होता है।

प्रश्न-बुराई-रहित होने का क्या उपाय है?

उत्तर-ईश्वर के नाते सभी को अपना मानना बुराई-रहित होने का सुगम उपाय है, क्योंकि अपनों के साथ कोई बुराई नहीं करता।

प्रश्न-भय और दरिद्रता का नाश कैसे हो?

उत्तर-ममता छोड़ने से भय का और कामना छोड़ने से दरिद्रता का नाश हो जाता है।

प्रश्न-अमर जीवन की प्राप्ति का सरल उपाय क्या है?

उत्तर-मरने से डरो नहीं और कुछ चाहो नहीं, तो मरने से पहले अमर जीवन मिलेगा-इसमें सन्देह नहीं है। इस सन्त-वाणी पर अगर विवास कर सको, तो कर लो।

देखो, जब हम असमर्थ थे, तब भी किसी ने शरीर की रक्षा की थी। जब कुछ सामर्थ्यवान हुए, तब सामर्थ्य के बदले शरीर की रक्षा हुई

और जब बुढ़ापे में असमर्थ होंगे, तब भी कोई इस शरीर की रक्षा करेगा।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि यदि कोई इस शरीर की रक्षा नहीं करेगा और इसका नाश हो जाएगा, तो क्या खाते-खाते इस शरीर का नाश नहीं होगा? यदि बिना खाए नाश हो जाए, तो क्या हर्ज की बात है? इसलिए यदि अमर जीवन चाहते हो, तो मरने से डरो नहीं, और कुछ चाहो मत।

प्रश्न-साधना के लिए क्या करें?

उत्तर-ईमानदारी की बात है-कुछ न करें। पहली बात तो यही है। दूसरी बात है-बुराई न करें। तीन-भलाई का अभिमान न रखें। चार-अपना हक न माँगे। पाँच-स्वाधीन हो जाएँ। छः उदार और प्रेमी हो जाएँ।

सच्ची बात यह है कि यदि आप बिना कुछ किए रह सकते हैं, तो आप दुनियाँ के बहुत बड़े आदमी हैं। क्योंकि करने का आरम्भ देहाभिमान से होता है। देहाभिमान भूल से होता है। अगर बिना कुछ किए नहीं रहा जाता, तो कम-से-कम बुराई न करो तथा जो नहीं कर सकते हो, सो नहीं करो। शेष क्या रहेगा? जो करना चाहिए और जो कर सकते हो-उसे पूरा करो।

जब तक हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ साधन रूप नहीं होती, तब तक प्रवृत्ति के अन्त में सहज आने वाली निवृत्ति प्राप्त नहीं होती। सहज निवृत्ति की अनुपस्थिति में आध्यात्मिक जीवन, भगवत् प्राप्ति, शान्ति और मुक्ति की बात अर्थहीन है। ये बातें चाहने वाले साधक को सर्वप्रथम सहज निवृत्ति आनी चाहिए। यह सही प्रवृत्ति से आती है प्रवृत्ति-त्याग से नहीं।

यदि प्रवृत्ति छोड़ने से निवृत्ति आती, तो सुषुप्ति और समाधि में कोई भेद ही नहीं रहता। इसमें भारी भेद है। सुषुप्ति में कर्म का बीज रहता है, समाधि में नहीं। यहाँ सहज समाधि से तात्पर्य है, न कि अभ्यास से प्राप्त समाधि से।

सहज समाधि तो कार्य के अन्त में स्वतः प्राप्त होती है। इसमें काम का बीज ही नहीं रहता। जब काम का बीज ही नहीं रहता, तो उसमें परिच्छिन्नता रह नहीं सकती। जब परिच्छिन्नता नहीं रहती, तो भेद और भिन्नता कैसे रहेगी?

इस दृष्टि से विचार करने पर हमारा सारा जीवन, हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति साधन रूप हो। वह कब होगी? जब हम अपने जानते वह न करें, जो नहीं करना चाहिए, ज्ञान का

प्रकाश मनुष्य मात्र में समान रूप से उपस्थित है।

इसलिए महानुभाव! आप सचमुच अपने ज्ञान पर भरोसा कीजिए। अगर आप साधन करना चाहते हैं, तो निर्णय कीजिए कि मैं ज्ञान का अनादर कभी नहीं करूँगा, श्रद्धा का विकल्प कभी नहीं खोजूँगा, बल का दुरुपयोग कभी नहीं करूँगा। ये निर्णय करने की बातें है और इन तीनों बातों के लिए भगवान् ने आपको शक्ति दी है और इन्हीं से आपकी संज्ञा 'साधक' होती है। साधना की बात साधक के सामने आती है, प्राणी के सामने नहीं आती।

प्रश्न-कामना पूरी नहीं होती, तब दुःख होता है, और कामना उत्पन्न हो जाए, तब दुःख होता है। क्या करें?

उत्तर-कामना के पूरी होने पर तुरन्त जो थोड़ा सा सुख मालूम होता है, वह दूसरी कामना को जन्म दे जाता है। दशा वही रहती है।

एक सत्य घटना है- बहुत दिन पहले मैं मधुकरी (भिक्षा) माँगने गया था। जिस घर में गए वहाँ सब लोग बहुत खुश थे। हमें कौतुहल हुआ कि आज ये लोग इतने खुश क्यों है? पूछने लगे हम। तो वे बोले ही नहीं, हँसते ही रहे। एक लड़की ने कहा-वाह स्वामी जी, आपको मालूम नहीं क्या? हमारे कृष्णा भाई साहब बी.ए. पास हुए हैं, अभी-अभी तार आया है। इसीलिए सभी लोग खुश हैं। अब मैंने सभी से पूछना शुरू किया कि इस वक्त जो आप खुशी अनुभव कर रहे हैं, यह कल तक रहेगी क्या? यदि यह बी.ए. पास होने की खुशी है, तो कल बी.ए. फेल थोड़े ही हो जाएगा? अब वे लोग चुप। बोले कैसे? मैंने उसके बाद फौरन पूछा-डिविजन अच्छा है कि नहीं? एम.ए. में प्रवेश हो सकता है कि नहीं? नौकरी मिल सकती है कि नहीं? कम्पटीशन की तैयारी करे, क्या करें? सब लोग चुप हो गए। मैंने कहा-देखो, अनेक इच्छाओं में जब एक पूरी होती है, उस खुशी का तुम वर्णन नहीं कर सकते। तो फिर जिसकी कोई भी इच्छा नहीं हो उसके आनन्द की कोई सीमा है? इससे सब समझ में आ जाता है कि निष्काम होना आवश्यक है।

प्रश्न-स्वाजी जी! घर-गृहस्थी में रहकर भी प्राणी अचाह हो सकता है क्या?

उत्तर-हाँ, हो सकता है, सेवा और कर्त्तव्य से। कर्त्तव्य का पालन करें, दुःखी जनों की सेवा करता रहे-यथाशक्ति। देखो, अचाह होने के लिए काम नहीं छोड़ना है। काम को परिवार, समाज, संसार और परमात्मा

का मान कर करो और काम समाप्त होने पर शान्त हो जाओ।

काम अपने लिए मत करो, परिवार के लिए समाज की सेवा करो और शरीर के लिए परिवार की सेवा करो। समाज को हानि पहुँचा कर परिवार को पालो मत। परिवार को दुःख देकर शरीर को सुख पहुँचाओ मत। गृहस्थ में ही कर्त्तव्य का प्रश्न है, विरक्त में नहीं।

कर्त्तव्य अचाह होने में सहायक है, बाधक नहीं। अचाह होना कर्त्तव्य में सहायक है, बाधक नहीं। भाव दल दो, इरादा बदल दो। अपने सुख के लिए मत करो, दूसरों के हित के लिए करो। यदि दूसरों के सुख के लिए कठिनाई भी हुई, तो भी आनन्द ही मिलेगा। यह जीवन का विज्ञान है। इसलिए विवेकी जन उस सुख को नहीं पसन्द करते, जिसमें दूसरों को दुःख हो। उस दुःख को पसन्द करते हैं जिसमें दूसरों को सुख हो।

प्रश्न-स्वामी जी! जब गृहस्थ में सब कुछ है, फिर आदमी इसे छोड़कर जंगल में क्यों जाते हैं?

उत्तर-जाते हैं कमजोरी मिटाने के लिए। जंगल में जाकर जंगल में ही रह जाते हैं क्या? समाज में नहीं आते हैं क्या? यह तो जीवन-विभाजन के लिए है।

प्रश्न-सहज समाधि का क्या अर्थ है?

उत्तर-सहज क्या है? समाधि तो सहज ही होती है, असहज होती हीं नहीं। इन्दियाँ विषय-विमुख हों, तो मन निर्विकल्प हो। मन के निर्विकल्प होने से सहज समाधि हो जाती है। यह तो योग की चर्चा है।

प्रश्न-जीवन में शान्ति कैसे आए?

उत्तर-शान्ति लाना है तुमको तो अपने पर भरोसा करो, सत्य को स्वीकार करो। अपने में, प्रभु में तथा कर्त्तव्य में विश्वास करो। सुख-भोग से ऊपर उठो।

प्रश्न-मृत्यु का क्या अर्थ है?

उत्तर-जीवन के दर्शन से मनुष्य-शरीर के तीन भाग होना सिद्ध है। ये हैं-स्थूल, सूक्ष्म और कारण। सूक्ष्म शरीर इच्छाओं का पुंज है। जब प्राण-शक्ति खर्च हो जाती है और इच्छा-शक्ति शेष रहती है, इसी स्थिति का नाम मृत्यु है। प्राणशक्ति के घट जाने को मृत्यु कहते हैं। प्राणशक्ति का मूल विराट है-सूर्य।

प्रश्न-सेवा क्या है?

उत्तर-सेवा त्याग और प्रेम की भूमि है। सेवा का असली मूल मन्त्र क्या है, जो सभी के लिए अनिवार्य है? एक होता है-पुण्य कर्म, एक होती है, सेवा। सेवा के चार रूप

है-1. विश्व सेवा, 2. शरीर, परिवार, समाज सेवा, 3. अपनी सेवा, और 4. प्रभु की सेवा।

विश्व सेवा-किसी को बुरा नहीं समझूँगा, किसी का बुरा नहीं चाहूँगा, किसी की बुराई नहीं करूँगा।

यह सेवा हर भाई-बहन कर सकते हैं। मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने पर संसार हमें पसन्द करेगा। हम बुराई-रहित होने से भले हो जाएँगे, तो भलाई होने लगेगी। जब वह भलाई होने लगे, तो उसका फल मत माँगना। तब आप अचाह हो जाएँगे, अपने में सन्तुष्ट हो जाएँगे। उसका भोग न करने से प्रभु के प्रति प्रेम, जगत् के प्रति उदारता और अपने लिए स्वाधीनता प्राप्त होगी। ये तीनों तत्त्व अविनाशी है।

ज्ञान-विरोधी, सामर्थ्य-विरोधी काम मत करो। यह बड़ी भारी सेवा होगी। अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं हो, भूल की उत्पत्ति नहीं हो। स्कूल, अस्पताल खोलना सेवा नहीं है। यह तो संग्रह का प्रायश्चित है।

प्रश्न-ध्यान कैसे किया जाता है? ध्यान पर बैठ जाते हैं, पर मन लगता नहीं है।

उत्तर-मैं निवेदन करता हूँ कि जब तक ध्यान करेंगे, तब तक ध्यान कभी होगा ही नहीं। कुछ दिनों पूर्व एक अमेरिकन पादरी मेरे पास आश्रम में आया था। उसने कहा कि मुझे मेडिटेशन (ध्यान) के सम्बन्ध में कुछ बताएँगें? मैंने कहा-'नहीं'। क्यों? तुमसे होगा नहीं।

विचार कीजिए, प्यास लगी है, तो पानी के ध्यान का मूल कारण हुआ-"प्यास"। आपको अपने परिवार का ध्यान आता है, इसका मूल कारण है, अपनापन।

तो आवश्यकता और अपनापन ध्यान का मूल है। आँख बन्द करके बैठना ध्यान का मूल नहीं है। यह तो बैठने की नहीं, अनुभव करने की बात है।

प्रश्न-स्वामी जी! वास्तविक सेवा शरीर से कैसे होगी?

उत्तर-शरीर से हमारा काल्पनिक सम्बन्ध है। किसी को प्रेरणा देकर या आदेश देकर भी शरीर से काम लिया जा सकता है। बहुत से काम शरीर से होते हैं और हम समझते हैं कि हम कर रहे हैं।

देखिए, किसी को बुरा न समझना, यह बुद्धि का काम है। किसी को बुरा न चाहना, यह किसके द्वारा होगा? अपने द्वारा।

जब हम किसी का बुरा चाहेंगे नहीं, समझेंगे नहीं, तो शरीर के द्वारा जो नहीं करना चाहिए वह नहीं होगा। शरीर द्वारा जो नहीं करना

चाहिए वह इसलिए कर बैठते हैं कि हम दूसरों को बुरा समझते हैं, बुरा चाहते हैं, बुराई करते हैं।

मैं ऐसा मानता हूँ कि बुराई-रहित होना सबसे बड़ी सेवा है। मेरा धर्म बुराई-रहित होना तथा शरीर का उपयोग-भलाई करना। जिस परिवार और समाज में शरीर जन्म लेता है, इसका पालन-पोषण होता है, उस परिवार, समाज और संसार के अहित में शरीर का उपयोग नहीं करना है।

वाणी से कटु मत बोलो, सेवा हो गई। अहितकर नहीं बोलोगे, तो हितकर बोलोगे। अनावश्यक न बोलोगे, तो आवश्यक बोलना, कहना, समझना, सब शरीर के द्वारा ही होगा। पर इस तरह शरीर का उपयोग दूसरों के अहित में नहीं होगा।

अहित में कब होगा? अपने सुख के लिए शरीर को काम में लेने से। अर्थ यह है कि शरीर का उपयोग अपने सुख-भोग में नहीं करना है। शरीर की सेवा क्या है? आहार-विहार का संयम, सदाचार व मर्यादा पूर्वक चलना।

देखिए! कोई चीज "मैं" होती है। कोई चीज "मेरी" होती है शरीर मेरा भी नहीं है, "मैं" भी नहीं है-यह ज्ञान से सिद्ध हुआ। लेकिन शरीर का उपयोग आप करते हैं कि नहीं? आप शरीर से अकर्त्ता हो जाएँ, अभोक्ता हो जाएँ। असंग होना भी सेवा हो गई। असंग होने से क्या होगा? जिन चीजों पर आप अपना अधिकार मानते थे, उनसे अधिकार हटा लिया, तो वे चीजें समाज की हो गई और आपको निर्विकारता मिल गई।

बुराई-रहित होना, भलाई का फल और अभिमान छोड़ना, यह कर्त्तव्य-क्षेत्र की बात है। आपको राग-द्वेष रहित होना चाहिए। मनुष्य के जितने झगड़े होते हैं, वे राग-द्वेष के कारण हैं। राग-द्वेष तभी तक रहता है, जब तक दूसरों का अधिकार देते नहीं, अपना छोड़ते नहीं। शरीर कर्त्ता नहीं है, शरीर कर्म-सामग्री है।

आत्मा शब्द सुना है, परमात्मा शब्द सुना है। शरीर को देखा है। आत्मा में कोई प्रश्न नहीं है। अनात्मा में भी कोई समस्या नहीं है। आप स्वयं न आत्मा हो, न अनात्मा।

प्रश्न-इच्छाओं की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर-इच्छाओं की निवृत्ति करना है, तो सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं का निरीक्षण करना चाहिए। उत्पन्न हुई इच्छाओं में से जो ऐसी इच्छाएँ हैं कि जिसका 1. सम्बन्ध वर्तमान से हो, 2. जिनको हम किए बिना किसी प्रकार रह नहीं सकते, 3.

जिनकी पूर्ति के साधन प्राप्त हों और 4. जिनसे किसी का अहित न हो, उन इच्छाओं की पूर्ति कर लेनी चाहिए। परन्तु ध्यान रहे-उनकी पूर्ति का सुख हमें अभीष्ट नहीं है। सुख लेते रहेंगे, तो पुनः इच्छाएँ उत्पन्न होंगी और चक्र चलता ही रहेगा। जिन इच्छाओं में ये बातें न घटती हों, उनका त्याग विचारपूर्वक करना होगा।

प्रश्न-साधु माने क्या है?

उत्तर-साधु संसार के बाहर तो चले नहीं जाते, संसार से सम्बन्ध अवश्य तोड़ देते हैं। शरीर को गंगा में तो नहीं फेंक देते, शरीर से सम्बन्ध अवश्य तोड़ देते हैं। साधु वह, जो संसार से सम्बन्ध तोड़ दे, चाहे घर में रहकर, चाहे वन में जाकर। साधु वह, जो किसी को हानि न पहुँचाए, जो प्रभु को पसन्द करे। मानव-सेवा-संघ ने प्रकाश दिया है-हे मानव! किसी को हानि मत पहुँचाओ, किसी को बुरा मत समझो और यथाशक्ति जिस परिवार में, जिस समाज में रहते हो, उसके काम आओ। तो साधु माने साधक है, क्योंकि-

१. हमें संसार की सेवा करना है।

२. हमें प्रभु का प्रेमी होना है।

३. हमें अचाह होना है

प्रश्न-स्वामी जी! संयमी कौन है?

उत्तर-जो सुनने वालों की प्रसन्नता के लिए बोलता है।

जो मिलने वालों की प्रसन्नता के लिए मिलता है।

जो खिलाने वालों की प्रसन्नता के लिए खाता है।

जिसकी आँखें रूप की सार्थकता के लिए देखती हैं।

जिसके कान शब्द की सार्थकता के लिए सुनते हैं, और जिसकी नाक गन्ध की सार्थकता के लिए सूँघती है।

सभी क्रियाएँ इसी न्याय से हों, तब कर्त्ता पर क्रियाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। धारणा, समाधि स्वतः हो जाती है। यही संयम है।

प्रश्न-जीवन किसे कहते हैं और उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

उत्तर-जीवन उसे कहते हैं, जिसमें अभाव न हो, पराधीनता न हो और नीरसता न हो, जिसमें चेतना हो और प्रेम से भरपूर हो। ऐसा जीवन सभी भाई-बहनों को विश्राम के द्वारा वर्तमान में ही मिल सकता है।

प्रश्न-मन को वश में करने का क्या उपाय है?

उत्तर-१. मन के ऊपर से अपनी ममता का बोझ हटा लो।

२. अपनी पसन्द को बदल डालो। जहाँ मन लगाना चाहते हो, उसे पसन्द कर लो और जहाँ से मन को हटाना चाहते हो, उसे नापसन्द कर दो।

३. जरूरी काम को पूरा करो और गैरजरूरी काम को छोड़ दो।

४. जो नहीं करना चाहिए और जिसे नहीं कर सकते हो, उसको मत करो और जिसे करना चाहिए और जिसे कर सकते हो, उसे कर डालो।

५. केवल प्रभु को ही अपना मानो।

६. अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव करो।

मन शान्त तथा शुद्ध हो जाएगा और आपके वश में हो जाएगा।

प्रश्न-असंगता किसे कहते हैं और इसकी प्राप्ति के उपाय क्या हैं?

उत्तर-असंगता का अर्थ है- जगत् से अपने को अलग अनुभव करना। जो जगत् का द्रष्टा है, वह जगत् नहीं हो सकता। सेवा करने से स्थूल शरीर से, इच्छा-रहित होने से सूक्ष्म शरीर से और अप्रयत्न होने से कारण शरीर से असंगता प्राप्त होती है। तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होते ही योग की सिद्धि हो जाती है, जो बोध और प्रेम से ओत-प्रोत है।

प्रश्न-"काम" का क्या अर्थ है? और उसके नाश के क्या उपाय हैं?

उत्तर-वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्था के प्रति आकर्षण को 'काम' कहते हैं अर्थात् 'नहीं' के आकर्षण का नाम ही काम है।

'नहीं' के अस्तित्व को अस्वीकार करने से और 'है' यानि प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करने से 'काम' का नाश हो जाता है और 'राम' मिल जाते हैं।

प्रश्न-साधन किसे कहते हैं?

उत्तर-जो साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता को मिटा दे, उसे साधन कहते हैं। उदारता, असंगता, प्रियता साधन के अर्थ में आते हैं। हर समय प्यारे प्रभु की याद बनी रहे, यही भक्ति-पथ की साधना है। हर समय अपने स्वरूप की याद बनी रहे, यही मुक्ति-पथ की साधना है। हर समय अपने कर्त्तव्य की याद बनी रहे, यही कर्त्तव्य-पथ की साधना है।

प्रश्न-सत्संग क्या है?

उत्तर-जीवन के सत्य को स्वीकार करना सत्संग है। बुराई-रहित होना, अचाह होना और प्रेमी होना सत्संग है। बुराई-रहित होने का

उपाय है-किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मानना। अचाह होने का अर्थ है-अपना कोई संकल्प न रहना और प्रेमी होने का अर्थ है-केवल प्रभु से ही नित्य एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। इन तीनों बातों के करने से मानव-मात्र स्वाधीन है और वर्तमान में कर सकता है।

सभी को अपना मानने से निर्विकारता, किसी को अपना न मानने से निस्सन्देहता और सर्व समर्थ प्रभु को अपना मानने से निर्भयता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकारता से जीवन जगत् के लिए, निस्सन्देहता से अपने लिए और निर्भयता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है। यही जीवन की पूर्णता है।

प्रश्न-'रस' किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार का होता है?

उत्तर-अच्छा लगना रस का सूचक है। रस चार प्रकार के होते हैं-

१. भोग का रस-यह रस मानव को पराधीनता एवं जड़ता में आबद्ध करता है और उत्तरोत्तर घटता जाता है।

२. शान्ति कर रस-यह रस सामर्थ्य का प्रतीक है।

३. स्वाधीनता का रस-यह रस अखण्ड होता है और एक तरह का होता है। यह बढ़ता नहीं।

४. प्रेम का रस-यह रस अखण्ड और अनन्त होता है और उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। यह नित्य नया होता रहता है।

प्रश्न-'मैं' का स्वरूप क्या है?

उत्तर-उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ही 'मैं' का स्वरूप है। उदारता से मानव जगत् के लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी होता है। उसे अपने लिए न जगत् के कुछ चाहिए, न प्रभु से। अतः चाह-रहित होकर मानव अपने लिए उपयोगी होता है।

प्रश्न-भौतिकवादी को विश्व-प्रेम क्यों नहीं मिला?

उत्तर-क्योंकि उसने सबको अपना नहीं माना।

प्रश्न-ईश्वरवादी को ईश्वर-प्रेम क्यों नहीं मिला?

उत्तर-क्योंकि उसने ईश्वर को ही अपना नहीं माना।

प्रश्न-अध्यात्मवादी को अपना प्रेम क्यों नहीं मिला?

उत्तर-क्योंकि उसने ममता और कामना छोड़ी नहीं।

प्रश्न-सच्ची भौतिकता क्या है?

उत्तर-हम संसार के लिए इतने उपयोगी हो जाएँ कि संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करने लगे और हमें संसार की जरूरत न

रह जाए। सच्ची भौतिकता आने पर आध्यात्मिक जीवन की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता में आस्तिक जीवन की सामर्थ्य आ जाती है और फिर जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है, जो मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

प्रश्न-ध्यान में स्वाभाविकता क्यों नहीं आती?

उत्तर-क्योंकि हम ध्यान करते हैं, इसलिए ध्यान में स्वाभाविकता नहीं आती। यदि सत्संग किया जाए, तो ध्यान स्वाभाविक हो जाएगा।

भगवान् को आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर अपना मानो। अपने को अपना अवश्य ही प्यारा लगेगा। उसकी याद भुलाने से भी नहीं भुलाई जा सकेगी। ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। तभी अपने में अपनी प्रियता की अभिव्यक्ति होगी और ध्यान अपने आप होने लगेगा।

प्रश्न-भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति का क्या अर्थ है?

उत्तर-संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करे-यह भौतिक उन्नति है। और हमें संसार की आवश्यकता न रहे-यह आध्यात्मिक उन्नति है।

प्रश्न-आस्तिक उन्नति का क्या अर्थ है?

उत्तर-हम ईश्वर के काम आ जाएँ और अपने लिए बदले में ईश्वर से कुछ न चाहें।

प्रश्न-पूर्ण विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर-हम संसार और परमात्मा के काम आ जाएँ और बदले में दोनों से कुछ न चाहें।

प्रश्न-अविनाशी जीवन की लालसा कैसे जगे?

उत्तर-विनाशी जीवन की वास्तविकता का बोध होने पर अविनाशी जीवन की लालसा स्वतः जगेगी।

प्रश्न-नीरसता का नाश कैसे हो?

उत्तर-आवश्यक कार्य पूरी सामर्थ्य, योग्यता और ईमानदारी से पूरा करें और अनावश्यक कार्यों का त्याग करें। हर कार्य के आदि और अन्त में अपने आप आने वाली शान्ति को सुरक्षित रखो। शान्ति से नीरसता का नाश होता है। ऐसा करने से उदाराता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वभाव से रसरूप है।

प्रश्न-सुख और रस में क्या अन्तर है?

उत्तर-सुख हमेशा कम होता जाता है और रस उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

प्रश्न-लोभ और मोह का नाश कैसे हो?

उत्तर-मिले हुए को अपना और अपने लिए न मानने से लोभ और मोह का नाश होता है। मोह का नाश होने से भय का नाश होता है और लोभ का नाश होने से दरिद्रता का नाश हो जाता है।

प्रश्न-मिले हुए को अपना न मानने का क्या अर्थ है?

उत्तर-मिले हुए के द्वारा सुख भोगने की आशा न रखना, अपितु उसके द्वारा दूसरों की सेवा करना।

प्रश्न-असंगता का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर-कर्त्तव्यपालन के फल और अभिमान को छोड़ना और बुद्धि की समता की शान्ति में रमण न करना ही असंगता का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न-स्तुति, उपासना और प्रार्थना का क्या अर्थ है?

उत्तर-प्रभु के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार करना स्तुति है। प्रभु के अपनत्व को स्वीकार करना उपासना है। प्रभु प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना प्रार्थना है।

प्रश्न-भगवत्-प्राप्ति का सुगम उपाय क्या है?

उत्तर-भगवान् को पसन्द करना ही भगवत्-प्राप्ति का सुगम उपाय है। सभी सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में, सभी विश्वासों को एक विश्वास में एवं सभी इच्छाओं को एक 'आवश्यकता' में विलीन कर देना भगवान् को पसन्द करने का अर्थ है।

प्रश्न-मैं जिसके प्रति उदारता दिखाता हूँ, वह स्वभाव से ही दूसरों के प्रति उदार नहीं होता, तो मेरे अन्दर उदारता की कमी होने लगती है। क्या उपाय किया जाए, जिससे मेरी उदारता में कमी न आए?

उत्तर-उदारता दिखाई नहीं जाती, वह तो मानव का स्वभाव है, जिसकी अभिव्यक्ति सत्संग द्वारा होती है। यदि किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लिया जाए, तो उदारता में कमी नहीं आएगी।

प्रश्न-मानव-सेवा-संघ के अनुसार साधन, भजन का अर्थ बताने की कृपा करें।

उत्तर-मानव-सेवा-संघ के अनुसार साधन, भजन सत्संग का फल है। मानव का पुरुषार्थ केवल सत्संग करने में है। सत्संग का अर्थ है-अपने जाने हुए सत्य को स्वीकार

करना, ज्ञान के आधार पर अकिंचन या अचाह होकर अप्रयत्न हो जाना सत्संग है। आस्था के आधार पर सुने हुए प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व एवं अपनत्व को स्वीकार करके निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना सत्संग है। ज्ञान के आधार पर किए हुए सत्संग का फल साधन है और आस्था के आधार पर किए हुए सत्संग का फल भजन है।

प्रश्न-देह से तादात्म्य कैसे टुटे?

उत्तर-१. ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करने से कि "मैं शरीर नहीं हूँ, अथवा शरीर मेरा नहीं है"-देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।

२. सेवा करने से स्थूल शरीर से, इच्छा-रहित होने से सूक्ष्म शरीर से और अप्रयत्न होने के कारण शरीर से असंगता प्राप्त होती है।

तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होते ही देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।

प्रश्न-मन की चंचलता को कैसे रोका जाए?

उत्तर-मानव-सेवा-संघ के दर्शन के अनुसार मन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अपनी पसन्द के प्रभाव का समूह ही मन है। जिस चीज को हम पसन्द करते हैं, उसमें मन लग जाता है और जिसको नापसन्द करते हैं, उससे मन हट जाता है।

१. अतः मन को जहाँ लगाना चाहते हैं, उसे पसन्द कर लें और जहाँ से हटाना चाहते हैं, उसको नापसन्द कर दें। मन की चंचलता का भास तभी होता है, जब हम पसन्द तो संसार को करते हैं और मन भगवान् में लगाना चाहते हैं।

२. दूसरा उपाय यह है कि मन पर से अपनी ममता का भार हटाकर उसको भगवान् के हवाले कर दें। वे उसे शुद्ध, स्वस्थ एवं शान्त कर देंगे। फलतः मन की चंचलता समाप्त हो जाएगी।

३. मन एक दर्पण है जो वस्तु-स्थिति का बोध कराता है। मन को बुरा न समझें, न उसकी निन्दा करें, बल्कि विवेक के प्रकाश में अपनी वस्तु-स्थिति का अध्ययन करें और अपने में जो कमियाँ दिखाई पड़ें, उन्हें सत्संग के प्रकाश में दूर करने का उपाय करें। इससे भी मन की चंचलता दूर होती है।

४. जो नहीं कर सकते और जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से तथा जो करना चाहिए और कर सकते हैं, उसके कर डालने से मन शान्त हो जाता है।

प्रश्न-निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक सेवा करने का क्या अर्थ है?

उत्तर-सेवा दो प्रकार की होती है-एक क्रियात्मक, दूसरी भावात्मक। भावात्मक सेवा असीम होती है और अपनी शक्ति के अनुसार जिन व्यक्तियों से अपना माना हुआ सम्बन्ध है, उनकी क्रियात्मक सेवा की जा सकती है। अतः जो समाज हमारे समीप है, यथाशक्ति उसकी क्रियात्मक सेवा करने की बात कही गई है। सबसे निकट हमारा शरीर है, उसके बाद परिवार के सदस्य अन्य सम्बन्धी, पड़ौसी इत्यादि आते हैं।

प्रश्न-साधक और साधन में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर-साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने का जो उपाय अपनाता है उसी का नाम साधन है। साधन की जरूरत तभी तक होती है, जब तक लक्ष्य पूरा नहीं होता। लक्ष्य की पूर्ति के पश्चात् साधन और साध्य में एकता हो जाती है।

प्रश्न-संकल्प-विकल्प से छुटकारा कैसे मिले?

उत्तर-ज्ञानपूर्वक इस वास्तविकता का अनुभव करें कि सभी संकल्प किसी के पूरे नहीं होते और कुछ संकल्प सभी के पूरे होते हैं। संकल्प-पूर्ति के बाद संकल्प-आपूर्ति ही शेष रहती है। अतः संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने से नवीन संकल्पों की उत्पत्ति नहीं होती और आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे होकर मिट जाते हैं।

प्रश्न-हम ईश्वर के होनेपन में आनन्द का अनुभव क्यों नहीं कर पा रहे हैं?

उत्तर-क्योंकि हमने ईश्वर को साध्य न मानकर, साधन मान रखा है। हम चाहते हैं कि ईश्वर हमारे सुख, सुविधा, सम्मान को सुरक्षित रखें। अतः ईश्वर को साधन न मानकर साध्य मानें और उनकी आवश्यकता अनुभव करें।

प्रश्न-वर्तमान का सबसे बड़ा सदुपयोग क्या है?

उत्तर-१. सत्संग को सुरक्षित रखना वर्तमान का सबसे बड़ा सदुपयोग है। हर कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही सत् का संग होता है। उसको पसन्द करें, उसकी आवश्यकता अनुभव करें और उसे सुरक्षित रखें।

२. उदारता, स्वाधीनता, शान्ति और प्रियता सत्संग का फल है। उदारता से मानव संसार के लिए, शान्ति और स्वाधीनता से अपने लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी

सिद्ध होता है। इस प्रकार मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाए, यही वर्तमान का सबसे अच्छा सदुपयोग है।

प्रश्न-मैं प्रतिदिन दो घन्टे परम्परागत ढंग से पूजा करता हूँ। घर वाले उसका विरोध करते हैं तथा उसमें बाधा डालते हैं। क्या किया जाए?

उत्तर-पूजा का वास्तविक अर्थ है-भगवान् के नाते और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए संसार की सेवा करना। जिस समय घर वाले आप से किसी काम की अपेक्षा करते हों और आप उसी समय पूजा में बैठ जाते हैं, तो उनका विरोध करना उचित ही है। अतः पूजा के वास्तविक अर्थ को अपना कर घर वालों की निष्काम भाव से सेवा करें। यदि विधिवत् पूजा करने का राग ही है, तो उसका समय जरूरी कार्य करने के पहले या बाद में रख सकते हैं।

प्रश्न-ममता क्या है? इससे छुटकारा कैसे मिले?

उत्तर-ममता सुख लेने का एक उपाय मात्र है। जिससे जितना ज्यादा सुख लोगे, उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा। अपना मानना ही ममता है। अपना न मानने का निर्णय कर लेने पर कुछ करना शेष नहीं रहता।

एक बड़ी रोचक बात बताएँ। हम अपने शरीर को अपना मानते हैं और इसे बहुत महत्त्व देते हैं। इसलिए संसार इसे महत्त्व नहीं देता। एक मिल्कियत के दो मालिक नहीं हो सकते। जो वस्तु प्रभु की हो जाती है, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है।

यह निर्णय करें कि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है या प्रभु अपने हैं। बस, काम चल जाएगा। दोनों में से एक अवश्य हो। यही पुरुषार्थ है। सत्संग पुरुषार्थ की परावधि है।

प्राप्त में ममता नहीं, प्राप्त का दुरुपयोग नहीं और अप्राप्त की कामना नहीं। बस, कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और स्थिरता आ जाएगी।

विचार की दृष्टि से वस्तु मेरी नहीं है, कर्म की दृष्टि से वस्तु का दुरुपयोग नहीं और भाव की दृष्टि से सब कुछ प्रभु का है।

प्रश्न-स्वामी जी! पुस्तकों के नीचे आप अपना नाम क्यों नहीं लिखाते?

उत्तर-समष्टि शक्तियों द्वारा जिस सत्य की खोज हुई उनको छोड़कर अपना नाम लिखा दूँ?

प्रश्न-महाराज जी! सत्य की प्राप्ति में कितना समय लगता है?

उत्तर-जिसकी जितनी तीव्र आवश्यकता होती है, उसे उतना ही

कम समय लगता है। जब आप भगवान् के बिना चैन से न रहेंगे, वे उसी समय मिल जाएँगे।

प्रश्न-स्वामी जी, प्रणव के उच्चारण का क्या लाभ होता है?

उत्तर-इन्द्रियाँ मन में विलीन होती हैं, मन की शक्ति बुद्धि में, बुद्धि अहम् में और अहम् अनन्त में विलीन हो जाता है।

प्रश्न-स्वामी जी, मन में बहुत विकार पैदा होते रहते हैं, क्या करूँ?

उत्तर-विकार पैदा नहीं होते, बल्कि विकारों की स्मृति उत्पन्न होती रहती है। उसका समर्थन मत करो।

प्रश्न-मेरी परिस्थिति आपसे छिपी नहीं है। मेरे हित की बात बताइए।

उत्तर-विवेकपूर्वक परिस्थिति के सदुपयोग में ही मानव का हित निहित है। जो जिस परिस्थिति में है, वह उसके सदुपयोग से मानवता प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न-सदुपयोग कैसे करना चाहिए?

उत्तर-अपने को अधिकार-लालसा से रहित करके दूसरों के अधिकार की रक्षा करनी चाहिए।

प्रश्न-अधिकार-त्याग का क्या फल होता है?

उत्तर-अधिकार-त्याग से नवीन बन्धन नहीं होते और दूसरों के अधिकार दे डालने से विद्यमान बन्धन कट जाते हैं।

प्रश्न-बन्धन क्या है और कैसे टूटे?

उत्तर-लेना और देना ही बन्धन है। लेना बन्द करके देना दे डालने पर बन्धन जैसी कोई चीज रह ही नहीं जाती।

प्रश्न-लेने में क्या बुराई है?

उत्तर-लेने की रुचि ही नवीन राग की जननी है, जो पूरी न होने पर क्षोभित तथा क्रोधित कर देती है। क्षोभित तथा क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति हो जाती है।

प्रश्न-प्रभु की विस्मृति क्यों हो जाती है और कैसे मिटे?

उत्तर-प्रभु की विस्मृति मिटानी हो, तो आसक्तियाँ मिटानी होगी। आसक्ति समस्त दोषों एवं विकारों की जड़ है।

प्रश्न-कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिए?

उत्तर-जो कार्य विवेक-विरोधी हो एवं जिसके पूरा करने की सामर्थ्य न हो, उसे नहीं करना चाहिए।

प्रश्न-यदि कोई विवेक-विरोधी कार्य करने के लिए दबाव डाले, तो क्या किया जाए?

उत्तर-न्यायपूर्वक इन्कार करते हुए विनम्रता पूर्वक क्षमा माँग लेनी चाहिए। क्षमा माँगते हुए अपनी विवशता प्रकट करनी है, जिससे विपक्षी का अपमान भी न हो और न ही करने वाली बात करनी पड़े।

प्रश्न-आपने असत् के संग के त्याग से सत्संग की प्राप्ति बताई और कर्त्तव्य-पालन की बात कही। पर हमारा क्या दोष है कि जिससे हम ऐसा नहीं कर पाते?

उत्तर-अपने दोषों का पता लगाने के लिए जब रात को विश्राम करने जाएँ, तो सोचें कि हमने आज वह काम तो नहीं किया, जिससे विवेक का विरोध हुआ हो, अथवा किसी का अनादर हुआ हो? इससे अपनी भूल का पता चलेगा। फिर जो भूल की हो, उसे पुनः न दोहराने का व्रत लेना चाहिए तथा यह भी निर्णय करना चाहिए कि मेरी प्रत्येक चेष्टा लोकहित के लिए होगी अर्थात् मैं न किसी को बुरा समझूँगा, न किसी का बुरा सोचूँगा और न किसी के साथ बुराई करूँगा।

प्रश्न-अपने को सर्वहितकारी मानने पर क्या हमें अभिमान नहीं होगा?

उत्तर-सर्वांश में सर्वहितकारी सिद्ध होने पर सर्वांश में निर्दोषता आ जाती है, जिसमें अभिमान की गन्ध भी नहीं होती।

प्रश्न-निर्दोषता आ गई, यह कैसे पता चले?

उत्तर-यदि निर्दोषता चाहते हो, तो निर्विकल्प हो जाओ। जैसे, बीज डालकर किसान बार-बार कुरेदकर नहीं देखता, वैसे ही हमें निश्चिन्त रहना चाहिए कि बुराई छोड़ने पर हम अवश्य निर्दोष हो जाएँगे।

प्रश्न-किसी का बुरा न चाहने से क्या लाभ होता है?

उत्तर-जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके बुरे संकल्प हमेशा के लिए मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही निर्विकल्पता आ जाती है। निर्विकल्पता शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की जननी है।

प्रश्न-महाराज जी! हमें जीवन में क्या करना चाहिए?

उत्तर-साधन।

प्रश्न-कृपया बताएँ, हम साधन कैसे करें?

उत्तर-साधन का ज्ञान हममें है। अपने कर्त्तव्य का ज्ञान तथा सामर्थ्य भी हममें है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने

अधिकार का त्याग करो। पर इसके लिए पहले सत्संगी बनना है।

प्रश्न-सत्संगी कैसे बनें?

उत्तर-असत् का त्याग करने से सत्संगी होते हैं।

प्रश्न-असत् किसे कहते हैं?

उत्तर-असत् वहीं है, जिसे आप अपने प्रति नहीं चाहते। सभी ईमानदार और व्यवहारकुशल साथी चाहते हैं। अतः हमकों भी सभी के लिए ईमानदार तथा व्यवहारकुशल होना चाहिए।

प्रश्न-ईमानदार होते हुए भी यदि कोई बुरा समझें, तो क्या करें?

उत्तर-कोई हमें ईमानदार मानता है कि नहीं, इसकी चिन्ता मत करो। यदि अपने में कोई बुराई प्रतीत होती है, तो उसे दूर करने का प्रयत्न करो। यदि बुराई नहीं है, तो दूसरों की चिन्ता मत करो।

प्रश्न-भगवान् की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाए?

उत्तर-मनुष्य को भगवान् ने सुचारू रूप से कर्म करने के लिए क्रिया-शक्ति और विवेक-शक्ति दी है। परन्तु मनुष्य उनका सदुपयोग न करके, दुरुपयोग करने लगता है। भगवान् तो इतने उदार तथा दयालु हैं कि जब उन शक्तियों का ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी वे हमारे अपराध की ओर ध्यान न देकर बार-बार शक्ति प्रदान करते रहते हैं। प्रभु की इस महिमा को यदि साधक समझकर व्यथित हृदय से प्रार्थना करें, तो साधक को बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाए।

प्रश्न-भगवान् की अहैतुकी कृपा सब पर सदैव है, इसका अनुभव कैसे हो?

उत्तर-जिस साधक को अपने बल और पुरुषार्थ पर भरोसा है और जो यह समझता है कि अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शक्ति के बल पर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा, उसे भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता।

भगवत्कृपा का अनुभव उस साधक को होता है, जिसको उनकी कृपा पर पूर्ण विश्वास होता है। जो हर समय, हरेक परिस्थिति में उनकी कृपा की ही बात जोहता रहता है और जो यह मानता है कि मुझे जो विवेक मिला है, वह भगवान् का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य समस्त साधन-सामग्री उन्हीं की है और उन्होंने ही कृपा पूर्वक इनका सदुपयोग करने के लिए ही मुझको दी है।

इस प्रकार जो साधक अपने को भगवान् की कृपा का पात्र मानता

है, उसे भगवत्कृपा का अनुभव अवश्य होता है।

प्रश्न-मन की एकाग्रता कैसे हो?

उत्तर-मन की एकाग्रता के उपाय साधकों की रुचि, योग्यता और विकास के भेद से अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् राग का अभाव है। अभ्यास द्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, चंचलता में बदल जाती है।

दूसरा उपाय है, सर्व इच्छाओं का अभाव। जब सभी इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है, तब मन की स्वाभाविक एकाग्रता प्राप्त होती है। वह सदैव टिकती है।

तीसरा उपाय है, मन की चंचलता की व्यथा से व्यथित होना। जब मन की एकाग्रता के बिना चैन नहीं पड़ता, तब मन अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो मन की एकाग्रता को वर्तमान जीवन का मौलिक प्रश्न बना लेता है और उसे हल बिना किए चैन से नहीं रहता, उसका भी मन एकाग्र हो जाता है।

प्रश्न-जब साधक का देहाभिमान सर्वथा गल जाता है और उसका हृदय विशुद्ध प्रेम से भरा रहता है, तब उस साधक के दैनिक व्यवहार में क्या अन्तर आ जाता है?

उत्तर-उस साधक की प्रवृत्ति दूसरों की प्रसन्नता के लिए होने लगती है। लोक-व्यवहार में शत्रु-मित्र सभी के साथ समान प्रेम रखता है तथा अच्छा बर्ताव करता है। कर्म का भेद होते हुए भी उसके प्रेम में विषमता नहीं होती। अतः वह सभी का प्रिय हो जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सहज ही दूसरों का हित निहित रहता है, इसलिए सभी उससे प्यार करते हैं। उसका बाहरी आचरण सर्वप्रिय हो जाता है।

प्रश्न-जीते हुए मर जाना किसे कहते हैं?

उत्तर-प्राणों के रहते हुए शरीर और संसार से सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना है। यही जीते हुए मर जाना है।

प्रश्न-भगवत्-प्रेम चाहते हुए भी नहीं मिल पाता, इसके लिए क्या करें?

उत्तर-साधक को भगवत्-प्रेम से कभी निराश नहीं होना चाहिए। जिसको प्रेम की सच्ची चाह होती है, उसे प्रेम अवश्य मिलता है। प्रेम की भूमिका अनेक प्रकार की होती है। प्रेम की कभी पूर्णता नहीं होती, इस कारण प्रेमी को हरेक अवस्था में प्रेम की कमी का बोध होता है। यदि साधक इस भाव से अपने में प्रेम की कमी का अनुभव

करता है, तब तो ऐसी बात नहीं है कि उसका सदैव नित्य-नया रहने वाला प्रभु-प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। प्रेम अनन्त है, प्रेमास्पद भी अनन्त है और प्रेम की लालसा भी अनन्त है। जहाँ तीनों अनन्त हों, वहाँ पूर्णता कैसे हो?

यदि प्रेम की लालसा रहते हुए सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ, तो उसके लिए गहरी वेदना होनी चाहिए। वह वेदना अवश्य ही प्रेम की प्राप्ति करा देगी।

यदि प्रेम की चाह होते हुए भी तीव्र वेदना नहीं है, तो समझना चाहिए कि सद्‌गुण-सदाचार का रस जीवन में है। जब तक भोगों में रस प्रतीत होता है, तब तक तो प्रेम की सच्ची चाह ही नहीं होती। भगवत्-प्रेम का मूल्य सद्‌गुण या सदाचार नहीं है। पतित से पतित भी भगवान् का प्रेम प्राप्त कर सकता है, क्योंकि पतित-पावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं। वे दीन, हीन, पतित से भी प्यार करते हैं।

जब छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होने पर मनुष्य दुखी हो जाता है, फिर जिसको भगवत्-प्रेम की चाह है और प्रेम मिलता नहीं, तो वह चैन से कैसे रह सकता है? उसकी वेदना को किसी भोग, सद्‌गुण, सदाचार और सद्गति का सुख कैसे शान्त कर सकता है?

जो साधक केवल प्रभु को ही चाहते हैं, उनके प्रेम के भूखे हैं, जिन्हें किसी प्रकार के भोग, गुण, गति से रस नहीं मिलता और जिन्होंने सभी रसों का त्याग कर दिया है, उनको भगवान् अवश्य ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्रेमी अपने प्रेमास्पद से किसी प्रकार का सुख नहीं चाहता।

प्रश्न-स्वामी जी! प्राणी स्वाधीन है या पराधीन?

उत्तर-ईश्वर द्वारा दिए गए विवेक का आदर करते हुए प्राप्त बल का सदुपयोग करने में प्राणी सर्वथा स्वाधीन है। यह स्वाधीनता ईश्वर की दी हुई है। इसके सिवा प्राणी सर्वथा पराधीन है।

वास्तव में स्वाधीन उसी को कहा जा सकता है, जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करके सब प्रकार की चाह से रहित हो गया हो। क्योंकि किसी भी प्रकार की चाह को रखते हुए कोई भी प्राणी अपने को स्वाधीन नहीं कह सकता।

जब तक मनुष्य अपनी प्रसन्नता का हेतु किसी दूसरे, व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि को मानता है, तब तक वह अपने जीवन में दीन-हीन और पराधीन ही बना रहता है।

प्राप्त विवेक का आदर करके अपने बनाए हुए दोषों को मिटाकर अन्तःकरण को शुद्ध करने में प्राणी सदैव स्वाधीन है।

प्रश्न-मनुष्य मरने से क्यों डरता है?

उत्तर-शरीर में "मैं" मान लेने के कारण तथा मृत्यु की महिमा न जानने के कारण ही मनुष्य मरने से डरता है।

प्रश्न-मृत्यु की महिमा क्या है?

उत्तर-उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु अर्थात् लय-तीनों अलग-अलग दीखते हैं। परन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है। बालक अवस्था का विनाश और किशोर अवस्था की उत्पत्ति की भाँति ही जवानी और बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओं का परिवर्तन हर समय होता रहता है। एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवन का कारण बनती है। यदि संसार में कोई न मरे, तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाए कि रहने के लिए पृथ्वी पर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाए कि कोई जीना पसन्द ही न करे।

अतः मृत्यु की भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्व की चीज है। एक शरीर का नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है।

प्रश्न-कुन्ती देवी सती मानी जाती हैं। किन्तु सूर्य आदि देवताओं के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने पर भी उनका सतीत्व अक्षुण्ण कैसे रहा?

उत्तर-उस समय आज-कल की सी परिस्थिति नहीं थी। उन लोगों को धर्म का ज्ञान था और धर्म-निष्ठा थी। स्त्रियों के मुख्य दो धर्म माने गए हैं-एक तो सती धर्म और दूसरा साध्वी धर्म। सती धर्म तो वह है, जिसमें पति को ही परमेश्वर मानकर सर्वस्व उसको समर्पण किया जाता है। साध्वी धर्म वह है, जिसमें परमेश्वर को ही पति मानकर उन्हें सर्वस्व समर्पण किया जाता है। मीरा, गोपियाँ आदि साध्वी धर्म का पालन करने वाली थीं।

कुन्ती देवी सती-धर्म का पालन करने वाली थीं। सती स्त्री का एक पति के सिवा और कुछ भी अपना नहीं रहता। वह शरीर, घर आदि किसी पर अपना अधिकार नहीं मानती। सब कुछ पति का मानती है। वह जो कुछ करती है, पति के लिए ही करती है। पति की प्रसन्नता और हित ही एकमात्र उसका लक्ष्य होता है।

कुन्ती के सामने परिस्थिति ऐसी थी शाप के भय से पाण्डु स्त्री-सहवास कर नहीं सकते थे। यदि करें,

तो उनकी मृत्यु हो जाए। पाण्डु के मन में पुत्र की वासना थी। अतः उन्होंने उस वासना से प्रेरित होकर जब कुन्ती से अपने मन की बात कही, तब कुन्ती ने पहले तो पति को विनयपूर्वक धर्म का तत्त्व समझाने की चेष्टा की। उस पर भी जब उनकी वासना शान्त नहीं हुई, कुन्ती ने तब सब हाल कह सुनाया कि-"मुझे दुर्वासा से मन्त्र प्राप्त हुए हैं। उनके प्रभाव से मैं देवताओं को बुलाकर पुत्र उत्पन्न कर सकती हूँ।" इस पर पाण्डु ने आज्ञा दी कि तुम देवताओं से पुत्र उत्पन्न करो।

इस परिस्थिति में बिना किसी भोग-वासना के एकमात्र पति की प्रसन्नता के लिए कुन्ती ने उनकी आज्ञा का पालन किया। इससे उसका सतीत्व क्षीण क्यों होता? उसने तो जो कुछ किया, वह सती-धर्म का पालन किया। वह शरीर को अपना नहीं मानती थी। वह तो उस पर अपने पति का ही पूरा अधिकार मानती थी।

प्रश्न-स्वामी जी! भगवान् को अवतार क्यों लेना पड़ता है?

उत्तर-भगवान् को अवतार लेना पड़े, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वथा पूर्ण, सर्वशक्तिमान और स्वतन्त्र हैं। वे अपनी मौज से अवतार लेते हैं।

शास्त्रों में भगवान् के अवतार के तीन हेतु बताते हैं-(1) साधुओं का परित्राण, (2) दुष्टों का विनाश, (3) धर्म की स्थापना। इनमें से दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिए भी कर सकते हैं। यदि ये दोनों भगवान् के अवतार में खास कारण होते, तो इस समय भी भगवान् का अवतार होना चाहिए था। धर्म का ह्रास इस समय कम नहीं है और दुष्टों की भी कमी नहीं है।

यदि उनकी लीला पर विचार करें, तो मालूम होता है कि भगवान् का अवतार अपनी रसमयी लीला के द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिए और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिए ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उनका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भरा रहता है।

साधु वही है, तो भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, अपने जीवन को भगवत्परायण बनाने की साधना में लगा रहता है। किसी प्रकार का भेष बना लेने का नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, तो साधु पुरुषों के घरों में ही लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार पर ही विचार कीजिए। उनका प्राकट्य

वसुदेव जी के घर में और माता देवकी के उदर से हुआ। जो स्वयं-प्रकाश और सर्वत्र बसने वाला है, उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्मविद्या का नाम 'देवकी' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् उन साधु पुरुषों के घर जन्म लेते हैं, जो सर्वथा विशुद्ध और तत्त्वज्ञानी हैं। परन्तु उनको अपनी लीला का, अपने प्रेम का रस प्रदान नहीं करते।

अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करने के लिए वे यशोदा की गोद में पधारते हैं। जो यश यानि प्रेम-रस प्रदान करे, उसको 'यशोदा' कहते हैं और आनन्द का ही दूसरा नाम 'नन्द' है।

इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भक्तों को अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करके और उनके प्रेम-रस का स्वयं आस्वादन करके उन भक्तों को आह्लादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिए पूरा नहीं हो सकता।

भगवान् की एक-एक लीला में अनेक रहस्य भरे रहते हैं। वे एक ही लीला में बहुतों की लालसा पूरी करते हैं। उनकी प्रेममयी लीला का रहस्य बड़े-बड़े बुद्धिमान भी नहीं समझ पाते। औरों की तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्माजी को सन्देह हो गया।

अघासुर को मारकर श्रीकृष्ण भगवान् वन में अपने बाल सखाओं के बीच में बैठकर भोजन करने लगे, तो उस लीला को देखकर ब्रह्माजी चकित हो गए। वे सोचने लगे कि-"साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार ग्वालों के बालकों की जूठन खा सकते हैं। यह क्या है? यह बालक अपनी खाने की वस्तु दूसरे को देता है और दूसरे बालक की लाई हुई खाने की वस्तु को स्वयं ग्रहण करता है।"

इस मोह में पड़कर ब्रह्माजी भगवान् की परीक्षा करने के लिए बछड़ों को उठाकर ले गए। इधर बालकों का मन भगवान् से हट कर बछड़ों की ओर गया। वे बोले-"बछड़े दिखलाई नहीं दे रहे, कहीं दूर चले गए हैं।" भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनका प्रेमी किसी और को देखे, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाए? अतः उन्होंने सखाओं से कहा-"मित्रों! तुम लोग यहीं रहो, अभी बछड़ों को ले आता हूँ।"

श्यामसुन्दर उधर गए और ब्रह्माजी उन बालकों को बेहोश करके वहाँ से उठाकर पर्वत की गुफा में रख आए। भगवान् से मन हटते ही ग्वालबालों को एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा।

इधर गायें तथा गोप-गोपियों के मन में यह लालसा बढ़ रही थी कि क्या कभी वे दिन आएँगे कि जब श्यामसुन्दर यशोदा मैया की भाँति हमारे स्तनों का दुग्धपान करेंगे और उसी प्रकार हमारी गोद में खेलकर अपनी प्रेममयी बाल-लीला का रस प्रदान करेंगे। उनकी उस लालसा को पूर्ण करने के लिए भगवान् स्वयं बालक एवं बछड़े बने। उन्होंने गायों को प्रेमरस प्रदान किया तथा उनका प्रेमरस दुग्धरूप में पान किया। गोप-गोपियों की गोद में खेलकर पुत्र-स्नेह का रस प्रदान किया। एक वर्ष तक वे उस मधुर प्रेमरस का आस्वादन करते रहे।

जब ब्रह्मा ने देखा कि ब्रज का काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर पहले की भाँति ही ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे हैं और खेल रहे हैं तथा जिनको मैं चुरा लाया था, वे सब गुफा में सो रहे हैं, तब उनको भगवान् की महिमा का दर्शन हुआ और उनका समस्त अभिमान गल गया। भगवान् के चरणों में मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान् की उन्होंने स्तुति की।

एक ही लीला में भगवान् ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य का प्रदर्शन किया। यह काम बिना अवतार के कैसे हो सकता था? एक ओर ब्रह्मा के अभिमान का नाश, उसी के साथ-साथ ग्वालबालों को चेतावनी और गायों एवं गोप-गोपियों की प्रेम-लालसा की पूर्ति। यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है।

जब भगवान् श्रीकृष्ण छः दिन के हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुता का भाव दिखाया था। पुतना, जो घोर पापिनी और बालकों का नाश करने वाली थी, जब सुन्दर धाय का कपट वेष बना कर भगवान् के पास गई एवं मन में दूषित भाव रखकर ऊपर से प्रेम का भाव दिखाकर उनको गोद में लिया और अपना विष भरा स्तन श्यामसुन्दर के मुखारविन्द में दे दिया, तब भगवान् ने उसके मातृ-स्नेह की रक्षा करने के लिए तो उसका दूध पिया। क्योंकि वह उसके प्राण लेने आई थी, इसलिए दूध के साथ-साथ उसके प्राण भी पी लिए। भगवान् के स्पर्श से उसका कपट नाश हो गया और वह अपने असली रूप में आ गई। उसके सारे शरीर में सुगन्ध हो गई। भगवान् उसके शरीर पर खेलने लगे और उसे माता की गति प्रदान की।

इस प्रकार की लीला भगवान् बिना अवतार के कैसे कर

सकते थे? उनकी हरेक लीला में अनन्त रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है। उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं।

भगवान् का अवतार नित्य है। उनका लीला-धाम, उनके माता-पिता, उनके सखा और सखियाँ सभी चिन्मय प्रेम से ही बने हुए हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। भगवान् के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रहता।

भगवान् के प्रेमी भक्तों का आज भी उनकी दिव्य लीला में प्रवेश होता है और वे उनके प्रेम-रस का आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान् का अवतार न होता, तो इसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

प्रश्न-स्वामी जी! गोपी-प्रेम क्या है और कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर-गोपी-प्रेम की बात वही कह सकता है, जिसको गोपी-भाव प्राप्त हो गया हो और सुनने का अधिकारी भी वही है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म या कारण, किसी भी शरीर में अहंभाव है, तब तक मनुष्य को गोपीभाव प्राप्त नहीं होता।

उद्धव जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्रीकृष्ण के सखा थे, जब ब्रज में गए, तब गोपियों के प्रेम को देखकर ज्ञान और योग को भूल गए। उल्टा अपने स्वामी और सखा श्रीकृष्ण को हृदयहीन और कठोर बताने लगे और उन गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करने लगे। यहाँ तक कि ब्रज के लता-पत्ता बनने में भी अपना सौभाग्य मानकर गोपियों की चरण-रज की कामना करने लगे। उन गोपियों के प्रेम को भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है?

जब तक मनुष्य का शरीर में अभिमान रहता है, तब तक उसको किसी-न-किसी प्रकार के संयोग-जनित सुख का लालच रहता है। गोपीभाव प्राप्त करने के लिए वस्तु के संयोग और क्रियाजन्य सुख की तो कौन कहे, चिन्तन और समाधि तक के सुख का भी त्याग करना पड़ता है। जब तक यह भाव रहता है कि अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थिति से सुख मिलेगा, तब तक मनुष्य उनका दास बना रहता है। उसके मन में दूसरों को सुख पहुँचाने का भाव उत्पन्न नहीं होता, अपने सुख-भोग की ही रुचि रहती है। यही स्वार्थ-भाव है। स्वार्थ-भाव के रहते हुए गोपी-भाव की बात समझ में नहीं आ सकती।

मानव-जीवन में सत्-असत् दोनों का संग रहता है। शरीर संसार और भोगों का संग ही असत् का संग है और अनन्त जीवन तथा नित्य

आनन्द की लालसा ही सत् का संग है। जिसमें केवल असत् का संग है, वह भी मनुष्य नहीं है। क्योंकि असत् का संग तो पशुपक्षी आदि तिर्यक् योनियों में भी होता है। जिसमें केवल सत् का संग है, उसे भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह तो मनुष्यभाव से अतीत है।

अतः गोपीभाव प्राप्त करने के लिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले समस्त भोगों का संग विवेकपूर्वक छोड़ना पड़ता है, जो सत्संग से ही होता है।

सांसारिक सुख-भोग में क्या-दुःख है, इसकी असलियत का ज्ञान सुखभोग से उन साधकों को होता है, जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करते हैं। विवेक का आदर ही सत्संग है। इस सत्संग से सुखभोग की रुचि मिट जाती है और भगवान् के नित-नव प्रेम की लालसा उदित होती है। तब किसी-किसी अधिकारी को गोपीभाव की प्राप्ति होती है।

अतः जिस साधक को गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी लीला में प्रवेश करके गोपी-भाव की बात समझनी हो, उसे चाहिए कि देहभाव से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण भोगों की वासना का त्याग कर दे। जब भगवान् के प्रेम की लालसा समस्त भोगवासनाओं को खाकर सबल हो जाती है, तब साधक का प्रवेश उस ब्रज में होता है, जिसका निर्माण दिव्य प्रेम की धातु से हुआ है। जहाँ की भूमि, ग्वालबाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जड़ता और भौतिकभाव की गन्ध भी नहीं है। उस ब्रज में प्रवेश हो जाने के बाद भी गोपीभाव की प्राप्ति बहुत दूर है।

दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव के बाद कहीं गोपीभाव की उपलब्धि होती है। अतः साधक को गोपीभाव की प्राप्ति के लिए मुक्ति के आनन्द तक के लालच का त्याग कर, दिव्य ब्रज में प्रवेश करना होगा। उसके बाद भगवत्कृपा पर निर्भर होने पर गोपीभाव की प्राप्ति होगी।

प्रश्न-सत्य का स्वरूप क्या है?

उत्तर-सत्य का वास्तविक स्वरूप अनुभव करने के लिए असत्य का स्वरूप जान लेना परम आवश्यक है, क्योंकि जिसे रात्रि का ज्ञान नहीं होता, उसको भला दिन का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। अतः असत्य का यथार्थ ज्ञान होने पर भी सत्य का अभिलाषी सत्य को जान सकेगा। जो असत्य को नहीं जान

सकता, वह सत्य को भी नहीं जान सकता।

संसार का सभ्य समाज गुणों को सत्य और दोषों को असत्य कहता है, क्योंकि दोषों पर गुण शासन करते हैं-जैसे स्थिरता चंचलता पर, सदाचार दुराचार पर, योग भोग पर, प्रेम द्वेष पर, चैतन्य जड़ पर और अहिंसा हिंसा पर। यदि यह विचार किया जाए कि गुण दोषों पर क्यों शासन करते हैं? तो इसका उत्तर यही होगा कि गुण दोष की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। जिस प्रकार आँख का देखना यदि स्वाभाविक ही रहे, अर्थात् उस क्रिया में कर्त्ता किसी प्रकार का भाव न बनाए, तो फिर देखना दोष नहीं कहा जाता। वह दोष तब बनता है, जब देखे हुए रूप से सुख प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यद्यपि सुख मिल नहीं सकता, परन्तु अविचार के कारण बेचारी आँख रूप में सुख की खोज करती है, इसलिए अन्त में दुखी होती है। और जिससे दुःख हो, वही दोष है।

इन्द्रियों की स्थिरता हो जाने पर चंचलता मिट जाती है। उस व्यक्ति को फिर संसार आदर की दृष्टि से देखता है और जो इन्द्रियों का संयम नहीं कर सकता, उसको संसार निरादर के भाव से देखता है। इसी नियम के अनुसार प्रत्येक गुण प्रत्येक दोष पर विजय प्राप्त कर लेता है। संसार को गुणयुक्त जीवन की सर्वदा आवश्यकता रहती है। यदि संसार में गुणयुक्त जीवन व्यतीत करना हो, तो गुणों का संग्रह करना परम आवश्यक है।

सत्य का वास्तविक स्वरूप गुण और दोष, दोनों से परे है, क्योंकि गुणों के आ जाने पर भी कमी शेष रहती है। अतः जो सब प्रकार से पूर्ण है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है, वही सत्य का स्वरूप है। सत्य के स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि कथन करने वाले सभी साधन अपूर्ण हैं। अपूर्ण कभी पूर्ण का कथन नहीं कर सकता। सत्य का स्वरूप व्यक्तित्व से अतीत है। सत्य अपने आपको प्रकाशित करता है।

प्रश्न-सत्य की आवश्यकता क्यों है?

उत्तर-आवश्यकता उस वस्तु की होती है, जिसके बिना किसी प्रकार न रह सकें। सभी महानुभाव स्थाई प्रसन्नता चाहते हैं। जब संसार की कोई अवस्था स्थायी प्रसन्नता नहीं दे पाती, तो उसका अभिलाषी संसार का त्याग करने के लिए मजबूर हो जाता है।

यदि विचारशील पुरुष अपनी अभिलाषाओं की जाँच करें, तो उनको यह भली प्रकार मालूम हो जाएगा कि अभिलाषाएँ केवल दो प्रकार की होती हैं-एक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए और दूसरी सब प्रकार से पूर्ण होने के लिए। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्म तथा संसार की आवश्यकता है।

संसार तथा कर्म की सहायता से पूर्णता किसी प्रकार नहीं मिल सकती, क्योंकि संसार की कोई भी अवस्था पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार गोल चक्र में चलने वाला पथिक कभी मार्ग का अन्त नहीं पाता, उसी प्रकार संसार की ओर जाने वाला कभी शान्ति तथा पूर्णता नहीं पाता। अतः स्थाई प्रसन्नता तथा पूर्णता के लिए सत्य की आवश्यकता होती है।

प्रश्न-सत्य की प्राप्ति का साधन क्या है?

उत्तर-सद्भावपूर्वक सत्य की अभिलाषा ही सत्य का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली सब छोटी मछलियों को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाती है। बस, उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है। सत्य की प्राप्ति के लिए किसी संगठन की आवश्यकता नहीं, बल्कि सभी संगठन मिटाने होंगे।

आपने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है, उसके अनुसार कर्म करो और अनावश्यक कार्यों का त्याग करो। जो आवश्यक कार्य पूरा नहीं करते और अनावश्यक कार्यों का हृदय में इकट्ठा रखते हैं, वे आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन करते रहते हैं।

आवश्यक कार्य क्या है? जिस कार्य के बिना न रह सको, जिसे करने का साधन प्राप्त हो तथा जिसके करने में किसी प्रकार का भय न हो, वही आवश्यक कार्य है। कर्त्ता अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर स्वयं उन्नति कर जाता है।

जीवन की परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, सत्य के अनुभव के लिए सभी मनुष्य समर्थ हैं। सत्य संसार की सहायता से नहीं मिल सकता। यदि गुणों का अभिमानी अपने गुणाभिमान को नहीं मिटा सकता, तो वह सत्य को नहीं पा सकता। यदि महान् पतित अपने पतित स्वभाव को मिटा देता है, तो वह सत्य को पा लेता है। जिसे संसार किसी प्रकार प्रसन्नता नहीं दे पाता, वह भी सत्य को पाकर अपार आनन्द पाता है।

व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग ही सत्य का साधन है। आप अपने में जो व्यक्तित्व अनुभव करते हैं, क्या आपने कभी उसे देखा है? तो आप यह करने के लिए मजबूर हो जाएँगे कि हमने अपने व्यक्तित्व को सुनकर स्वीकार किया है, देखा नहीं है।

यदि यह कहो कि शरीर का व्यक्तित्व तो देखने में आता है। तो उसका उत्तर यही होगा कि शरीर तो संसार से अभिन्न है, उसमें आपका क्या? जिस शरीर को आप अपना समझते हैं, वह वास्तव में सारे संसार से एक है। शरीर तथा संसार अंग तथा अंगी के समान हैं। जिस प्रकार भारतवर्ष के अनेक प्रान्त भारतवर्ष से अभिन्न हैं, उसी प्रकार शरीर संसार से अभिन्न है।

अतः सुने हुए व्यक्तित्व को विचार रूपी अग्नि में जला दो। व्यक्तित्व के मिटते ही गुलामी का अन्त हो जाएगा और सत्य का मार्ग दिखाई देगा। सत्य का मार्ग इतना संकीर्ण है कि सत्य का अभिलाषी स्वयं अकेला ही जा सकता है। यहाँ तक कि मन, बुद्धि आदि तक का साथ छोड़ना होगा, क्योंकि संगठन को मिटाना ही सत्य का साधन है।

प्रश्न-सत्य का अधिकारी कौन है?

उत्तर-जिसको प्रसन्नता देने के लिए संसार असमर्थ है, अर्थात् जिसको भोग में रोग, हर्ष में शोक, संयोग में वियोग, सुख में दुःख, घर में वन, जीवन में मृत्यु का अनुभव होता है, वही सत्य का अधिकारी है।

भोग करने से शक्तियों का ह्रास होता है। शक्तियों का ह्रास होने पर रोग बिना बुलाए आ जाता है, तब फिर भोग-कर्त्ता भोग करने के लिए असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर भोग से जो हर्ष हुआ था, उससे कहीं अधिक शोक आ जाता है। इसी दृष्टि से विचारशील हर्ष में शोक का अनुभव करते हैं। चाहे कैसा ही सुन्दर भोग क्यों न हो तथा समाज के भी नियम के अनुकूल हो और भोगने की शक्ति भी हो, फिर भी शक्तिहीनता होनी अनिवार्य है।

योग से शक्तियों का विकास होता है तथा भोगने से विनाश होता है। योग और भोग में केवल यही अन्तर है कि भोग के लिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों से सम्बन्ध होता है और योग के लिए विषयों का त्याग कर विषयातीत अनन्त सत्य से सम्बन्ध होता है।

योग और ज्ञान में केवल यही भेद रहता है कि योगी योगाभिमान के कारण परम-तत्त्व से अभिन्न नहीं हो पाता, इसलिए योगी में अनेक प्रकार

की अद्भूत शक्तियाँ उद्भासित हो जाती हैं। भोग का अभाव होने पर योग अपने आप आ जाता है। योग स्वतन्त्र तथा भोग परतन्त्र है, क्योंकि योग के लिए संसार की ओर नहीं देखना पड़ता।

जिस प्रकार फलों की फसल खरीदने के लिए केवल फलों का दाम देते हैं और छाया बिना मूल्य ही मिलती है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर योग स्वतः हो जाता है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को योग की कोई आवश्यकता नहीं रहती, तथापि असंगता के कारण योग अपने आप होता है। अतः जिसे योग और भोग शान्ति नहीं दे पाते, वही सत्य का अधिकारी है।

प्रश्न-शरण की महिमा क्या है?

उत्तर-'शरण' सफलता की कुंजी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, भक्त का महामन्त्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दुखी की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि, प्रेमी को प्रेमपात्र, भक्त को भगवान्, आस्तिक को आस्तिकता, दुखी को आनन्द, पतित को पवित्रता, भोगी को योग, परतन्त्र को स्वातंत्र्य, बद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता और मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।

प्रश्न-शरणागत होने से क्या लाभ है?

उत्तर-प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी के शरणागत रहता है। अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इच्छाकर्त्ता तो बेचारा प्रवृत्ति द्वारा केवल शक्तिहीनता ही प्राप्त करता है। अतः 'शरणागत' शरण्य की शरण हो, इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर, कृतकृत्य हो जाता है।

आवश्यकता उसी की होती है, जिसकी सत्ता है, और इच्छा का जन्म प्रमादवश आसक्ति से होता है, इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है, पूर्ति नहीं होती। साधारण प्राणी इच्छा और आवश्यकता में भेद नहीं जानते। परन्तु विचारशील जब अपने जीवन का अध्ययन करता है, तब इच्छा और आवश्यकता में भेद स्पष्ट हो जाता है। यदि आवश्यकता और इच्छा में भेद न होता, तो आस्तिकता उत्पन्न नहीं

होती, क्योंकि इच्छायुक्त प्राणी विषयसत्ता से भिन्न कुछ नहीं जानता।

प्रश्न-शरणागति भाव है, या कर्म?

उत्तर-शरणागत होते ही, सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। 'शरणागति' भाव है, कर्म नहीं। भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव वर्तमान ही फल देता है और कर्म भविष्य में। भावकर्त्ता भाव स्वतन्त्रापूर्वक कर सकता है, किन्तु कर्म संघटन होता है।

संघटन अनेक प्रकार के होते हैं, क्योंकि अनेक निर्बलताओं का समूह ही वास्तव में 'संघटन' है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, अपने भिन्न की सहायता की खोज करना 'संघटन' है।

प्रश्न-शरणागति कितने प्रकार की होती है?

उत्तर-शरणागति दो प्रकार की होती है-भेदभाव की तथा अभेदभाव की। भेदभाव की शरणागति शरण्य, अर्थात् प्रेमपात्र की स्वीकृति मात्र से ही हो सकती है। किन्तु अभेद-भाव की शरणागति शरण्य के यथार्थ-ज्ञान से होती है। अभेद भाव का शरणागत-शरणागत होने से पूर्व की निर्विषय हो जाता है, केवल लेशमात्र अहंता शेष रहती है, जो शरण्य की कृपा से निवृत्त हो जाती है। भेदभाव का शरणागत-शरणागत होते ही अहंता का परिवर्तन कर देता है, अर्थात् जो अनेक का था, वह एक का होकर रहता है।

शरणागत के हृदय में यह भाव, कि-"मैं उनका हूँ," निरन्तर सद्भावपूर्वक रहता है। यह नियम है कि जो जिसका होता है, उसका सब कुछ उसी का होता है तथा वह निरन्तर उसी के प्यार की प्रतीक्षा करता है। प्रेमपात्र के प्यार की अग्नि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शरणागत की अहंता उसी प्रकार तद्रूप होती जाती है, जिस प्रकार लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है। अहंता के समूल नष्ट होने पर भेदभाव का शरणागत भी अभेद-भाव का शरणागत हो जाता है।

भेदभाव का शरणागत भी शरण्य से किसी भी काल में विभक्त नहीं होता, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पिता के घर भी पति से विभक्त नहीं होती। भेद तथा अभेद भाव के शरणागत में अन्तर केवल इतना रहता है कि भेदभाव का शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकार के रसों का आस्वादन करता है, और अभेद-भाव का शरणागत अपने में ही शरण्य का अनुभव कर, नित्य एक रस का अनुभव करता है। अनुभव का अर्थ उपभोग नहीं है। उपभोग तो

संयोग से होता है। उपभोग-काल में कर्त्ता में भोक्ता-भाव शेष रहता है। परन्तु मिलन का रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भोक्ता की सत्ता मिटती जाती है। इसी कारण उपभोग-कर्त्ता कभी निर्वासना को प्राप्त नहीं होता। परन्तु शरणागत निर्वासना हो प्राप्त होता है। वासनायुक्त प्राणी शरणापन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि शरणागत में वासना शेष नहीं रहती।

यदि कोई यह कहे कि शरण्य की वासना भी वासना है। तो विचार दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि शरणागत की शरपथ आवश्यकता है, वासना नहीं; क्योंकि वासना का जन्म भोगासक्ति एवं प्रमाद से होता है और आवश्यकता भोगासक्ति मिटने पर जाग्रत होती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय एवं अन्धकार की निवृत्ति युगपत है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शरण्य की आवश्यकता वासना नहीं है। यद्यपि आवश्यकता की सत्ता कुछ नहीं, परन्तु प्रेमास्पद को न जानने की दूरी के कारण प्रेमपात्र की आवश्यकता के रूप में प्रतीत होता है, जिस प्रकार धन की आवश्यकता ही निर्धनता है। इसी कारण विरही शरणागत भक्त विरह के रस में मुग्ध रहता है।

शरणापन्न की सार्थकता तब समझनी चाहिए कि जब शरण्य शरणागत हो जाए। क्योंकि प्रेमी की पूर्णता तभी सिद्ध होती है, जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। प्रेमपात्र के प्रेमी होने पर प्रेमी प्रेमपात्र के माधुर्य से छक जाता है। शरण्य के माधुर्य का रस इतना मधुर है कि शरणागत शरणागत-भाव का त्याग न करने के लिए विवश हो जाता है। बस, यह भेद-भाव की शरणागति है। जब भेदभाव की शरणागति सिद्ध हो जाती है, तब शरण्य शरणागत को स्वयं बिना उसकी रुचि के उसी प्रकार अपने से अभिन्न कर लेते हैं, जिस प्रकार चोर बिना ही इच्छा के दण्ड पाता है।

प्रश्न-शरणागत का वास्तविक जीवन और अभिनय क्या है?

उत्तर-शरणागत होने से पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भावों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य

का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है, अर्थात् विश्व शरणागत से न्यायपूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नता के लिए वही अभिनय करता है।

यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव नहीं होता, क्रियाभेद होने पर भी प्रीतिभेद नहीं होता। अभिनयकर्त्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसकी अभिनय में जीवन-बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है। बस, उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर उन्मुख हो जाता है।

प्रश्न-अनन्त शक्ति में विलीनता किस प्रकार होती है?

उत्तर-प्राकृतिक नियम के अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणी को स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है। यदि वह स्वतः आकर्षित न करती, तो प्राणी के सीमित प्यार को निरन्तर छिन्न-भिन्न न करती रहती। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त में उसी में विलीन हो जाती है। अतः अनन्त शक्ति से उद्भूत प्रेम की पवित्र धारा अनन्त शक्ति ही में विलीन होगी। उसे वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में बाँधने का प्रयत्न व्यर्थ चेष्टा है। शरणागत-भाव होने पर प्रेम की पवित्र धारा शरण्य ही में विलीन होती है।

प्रश्न-अपने केन्द्र की शरणापन्नता क्या है?

उत्तर-प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अब विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है? केन्द्र वही हो सकता है कि जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य-जीवन, नित्य-रस एवं सब प्रकार से पूर्ण और स्वतन्त्र होने की है जो सब प्रकार से पूर्ण स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है।

हम सबसे भारी भूल यह करते हैं कि अपने केन्द्र तक पहुँचने के पूर्व, मार्ग में अनेक इच्छाओं की पहाड़ियाँ स्थापित कर, स्वाभाविक प्रगति को रोक देते हैं, यद्यपि अनन्त शक्ति उन पहाड़ियों को उसी प्रकार प्यार पूर्वक छिन्न-भिन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करती है, जैसे माँ बालक को सिखाने का प्रयत्न करती है।

हम उस अनन्त शक्ति का विरोध करने का विफल प्रयास करते रहते हैं, यह परम भूल है। महामाता प्रकृति हमको निरन्तर यह पाठ पढ़ा रही है कि सीमित सत्ता अनन्तता के

शरणापन्न होती है; जिस प्रकार नदी समुद्र की ओर और बीज वृक्ष की ओर निरन्तर प्रगतिशील है। कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है, जो निरन्तर परिवर्तन न कर रही हो, मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भाव में आबद्ध नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत् अपने परम स्वतन्त्र केन्द्र की ओर प्रगतिशील होना चाहिए, जो शरणागत होने पर सुगमतापूर्वक हो सकता है।

यह अखण्ड नियम है कि कोई भी भाव तब तक सजीव नहीं होता, जब तक कि वह विकल्प-रहित न हो जाए। जिस प्रकार बोए हुए बीज को किसान बोकर विकल्प-रहित हो जाता है, अर्थात् बीज को बार-बार निकाल कर देखता नहीं है और न सन्देह करता है। तब बीज पृथ्वी से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है। उसी प्रकार शरणागत अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य सम्पन्न सत्ता से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है और सीमित स्वभाव को मिटाकर उससे अभिन्न भी हो जाता है। किन्तु उसका शरणागतभाव निर्विकल्प होना चाहिए, क्योंकि सद्भाव में विकल्प नहीं होता।

जो प्राणी उस अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य सम्पन्न नित्य-तत्त्व के शरणापन्न नहीं होते, वे बेचारे अनके वस्तुओं एवं परिस्थितियों के शरणापन्न रहते हैं, जैसे, कामी कामिनी के, लोभी धन के, अविवेकी शरीर के। क्योंकि स्वीकृति मात्र से उत्पन्न होने वाली अहंता अनेक भावों में विभक्त होती रहती है। वह जब-जब, जिस-जिस भाव को स्वीकार करती है, तब-तब उसी के शरणापन्न होती है। सत्य के शरणापन्न होने वाला प्राणी अपने को स्वीकृति-जन्य अहंता से मुक्त कर लेता है।

प्रश्न-वास्तविक मानव-जीवन क्या है?

उत्तर-शरणागत की अहंता निर्जीव, अर्थात् भुने हुए बीज की भाँति केवल प्रतीति मात्र रहती है; क्योंकि उसमें से सीमित भाव एवं स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। जब प्राणी सीमित भाव एवं स्वीकृति को अपनी सत्ता मान बैठता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। गहराई से देखिए, यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति-मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार-जैसा अलौकिक तत्त्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत है। जैसे, देश के प्यार ने अन्य देशों पर, सम्प्रदाय के प्यार ने अन्य सम्प्रदायों पर, जाति के प्यार ने अन्य जातियों पर अत्याचार

किया है, जो मानव-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने से स्वीकृति- जन्य सत्ता के मिटते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। सीमित अहंभाव के निःशेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

प्रश्न-शरणागति से शरणापन्नता, मानव-जीवन से ऋषि-जीवन कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर-शरणागत में मानव-जीवन स्वभावतः उत्पन्न होता है। जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है, तब ऋषि जीवन का अनुभव कर, अपने में ही अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।

प्रश्न-क्या शरणागति अभ्यास है?

उत्तर-शरणागति अभ्यास नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है। शरणागति भाव का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागतिमय हो जाता है, अर्थात् शरणागत केवल मित्र के लिए मित्र, पुत्र के लिए पिता, पिता के लिए पुत्र, गुरु के लिए शिष्य, शिष्य के लिए गुरु, पति के लिए पत्नी, पत्नी के लिए पति, समाज के लिए व्यक्ति और देश के लिए ही देशीय होता है। जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार-जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिए वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिए सब कुछ होते हुए भी, अपने लिए शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिए किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता, तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने आप प्रज्ज्वलित हो जाती है।

अतः शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता। गहराई से देखिए, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है, जिससे साधक विभक्त न हो, क्योंकि संघटन से उत्पन्न होने वाला अभ्यास किसी भी प्रकार निरन्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एकरस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है, तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, एवं कभी शरण्य से अभिन्न हो जाता है। वह साधन पूर्ण साधन नहीं हो सकता, जिससे साधक

विभक्त हो जाता है, क्योंकि पूर्ण साधन तो वही है, जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। अतः दृष्टि से शरणागति भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

प्रश्न-शरणागत शरण्य का शरण्य कैसे?

उत्तर-विचार दृष्टि से यह भली-भाँति सिद्ध होता है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। पतित-से-पतित अहंता भी शरणागत होते ही परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही अहंता में जो दोषयुक्त संस्कार अंकित थे, वे मिट जाते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के बिना बीज का उपजना असम्भव है, उसी प्रकार दोषयुक्त अहंता के बिना दोषयुक्त संस्कारों का उपजना असम्भव है। अतः यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पतित-से-पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है। जिस भाँति मिट्टी कुम्हार की शरणागत होकर, कुम्हार की ही योग्यता और बल से कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है, उसी भाँति शरणागत शरण्य के ही अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य से शरण्य के काम आ जाता है एवं उसका प्यार पाता है। यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेमपात्र हो जाता है। अतः इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। भला, इससे अधिक सुगम एवं स्वतन्त्र कौन सा मार्ग है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक साधक को शरण्य का शरण्य बना देता है।

प्रश्न-शरणागत में अभिमान क्यों नहीं रहता?

उत्तर-शरणागत में किसी भी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी अभिमान है। शरणागत दीन नहीं होता, क्योंकि उसका शरण्य से पूर्ण अपनत्व होता है। अपनत्व और दासता में भेद है। दासता बन्धन का कारण है, और अपनत्व स्वतन्त्रता का कारण है। अपनत्व होने से भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता मिटते ही स्वतन्त्रता अपने-आप आ जाती है। भिन्नता का भाव उत्पन्न होने पर ही प्राणी में किसी-न-किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है। शरणापन्न होने पर अभिमान गल जाता है। अभिमान गलते ही भिन्नता एकता में विलीन हो जाती है। एकता होने पर भय शेष नहीं रहता। अतः शरणागत सब प्रकार से अभय हो जाता है।

प्रश्न-भिन्नता का नितान्त अन्त शरणागत में कैसे होता है?

उत्तर-भिन्नता 'द्वेष' और एकता 'प्रेम' है। ऐसा कोई दोष नहीं

है, जो भिन्नता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो एकता से उत्पन्न न हो। अर्थात् सभी दोषों का कारण भिन्नता एवं सद्गुणों का कारण एकता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रवृत्ति भी सीमित अहंता के बिना नहीं हो सकती, परन्तु शरणापन्न होते ही प्रवृत्ति की आवश्यकता शेष नहीं रहती। अतः प्रवृत्ति निःशेष हो जाती है। प्रवृत्ति का अभाव होते ही सीमित अहंता उसी प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार सूर्य की उष्णता से बर्फ गल जाती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरणागत होने के अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है, जिससे भिन्नता का नितान्त अन्त हो जाए।

प्रश्न-शरणागत होने का अधिकारी कौन है?

उत्तर-शरणागत होने का वही अधिकारी है, जो वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने लिए नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की आवश्यकता का अनुभव करता है। जो प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति के साथ-साथ अपना भी मूल्य घटाता जाता है तथा अनुकूल परिस्थिति की आसक्ति में फँसता जाता है एवं जो परिस्थिति से हार स्वीकार करता है तथा लक्ष्य से निराश हो जाता है, वह न तो आस्तिक हो सकता और न शरणागत।

स्वीकृति मात्र को ही अपने आप को समझ लेना, तात्त्विक दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। प्रेमपात्र में अपूर्णता का भास, अथवा अपने स्वीकृति-भाव में विकल्प का होना, आस्तिक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति का न होना, अथवा किसी भी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की ओर आकृष्ट होना, अथवा ऐसी प्रवृत्ति करना, जो किसी की पूर्ति का साधन न हो, व्यावहारिक दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है।

यद्यपि शरण निर्बल का बल है, परन्तु जो प्राणी हार स्वीकार कर लेता है, उसके लिए शरण असम्भव हो जाती है। निर्बल के बल का अर्थ केवल इतना ही है कि शरणागत बिना किसी अन्य की सहायता के, स्वयं केवल शरणागति-भाव से ही सफलता प्राप्त करता है। भाव करने में प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। जब शरणागत होने पर अहंता परिवर्तित हो जाती है, तब शरणागत का मूल्य संसार से बढ़ जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रसन्नता के लिए संघटन की ओर नहीं देखता। बस, उसी काल में शरणागत के जीवन में निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि सद्गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। शरणागत किसी भी गुण को निमन्त्रण देकर बुलाता नहीं है, और

न सीखने का ही प्रयत्न करता है। अतः इस दृष्टि से अनेक विभागों में विभाजित अहंता को, 'मैं उनका हूँ', इस भाव में विलीन करना परम अनिवार्य है, जो शरणागति-भाव से सुगमतापूर्वक अपने-आप हो जाता है।

प्रश्न-शरणागत होने का अधिकार कब प्राप्त होता है?

उत्तर-जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का, जो अनन्त से प्राप्त हैं, सदुपयोग कर लेता है, और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव स्वतः उत्पन्न होता है।

हमको उस असीम सत्ता का असीम प्यार देखना चाहिए, जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकती। यह कैसा वैचित्र्य है कि जो विषय-सत्ता हमारा निरन्तर तिरस्कार कर रही है, हम प्रमादवश उसी की ओर दौड़ते रहते हैं और जो असीम-सत्ता निरन्तर प्रेमपूर्वक हमें अपनाने का प्रयत्न करती है, हम उससे विमुख रहते हैं। विचारशील प्राणी को इस प्रमाद-युक्त दशा का नितान्त अन्त कर देना चाहिए, जो शरणागत भाव से स्वतन्त्रापूर्वक हो सकता है।

प्रश्न-आस्तिक दर्शन क्या है?

उत्तर-बिना जाने हुए भी सुने हुए ईश्वर को मान लेना आस्तिकवाद है। ईश्वरवाद विश्वास मार्ग है, विचारमार्ग नहीं। जिससे सारे जगत् की उत्पत्ति हुई है, जिसमें सारा जगत् है, जो सारे जगत् का प्रकाशक है, उसे जगत् नहीं जानता। ईश्वर के सम्बन्ध में सुना है, जाना किसी ने नहीं है। सुने हुए ईश्वर में सन्देह न करना आस्तिक दर्शन है।

प्रश्न-बिना बुद्धि लगाए अन्धविश्वास होगा?

उत्तर-विश्वास अन्ध ही होता है। इसमें विचार नहीं लगता। जब से लोगों ने विश्वास में विचार लगाना आरम्भ किया है, तब से एक ही ईश्वर को अनेक रूपों में परिणत किया है। किसी ने कहा साकार है, किसी ने कहा निराकार है, आदि-आदि। यह ईश्वर को अपने दिमाग की खुराक बनाना है। जिससे सारे जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो अनुत्पन्न है, उसको उत्पन्न हुई बुद्धि और मन जान नहीं सकते। जिसे जान नहीं सकते, उसे मानना पड़ता है।

"ईश्वर है"-यह आस्तिकवाद के साधन का प्रारम्भ है। "कैसा है?"-इसमें झगड़ा इसलिए पड़ता है कि हम संकीर्ण दृष्टि से ईश्वर की परिभाषा करते हैं।

"ईश्वर ऐसा ही है"-यही भ्रम है। इसी आधार पर ईश्वरवादी ईश्वरवादी से लड़ता है। "कैसा है?"-इसका निर्णय ईश्वर कर सकता है, आप नहीं कर सकते। प्रारम्भ में आपको ईश्वर का जो रूप अच्छा लगे, वैसा मान लीजिए। आपका माना हुआ ईश्वर घटिया नहीं होगा। हम चाहे जैसे उसको पुकारें, वह हमारी भाषा पहचानता है। वे हम सब के स्वभाव, रुचि, भावना को पहचानते हैं। जब हम अपनी रुचि के अनुसार अपने को प्रभु-प्रेम में बदलते चले जाएँगे, तो अन्त में वही प्रभु प्राप्त होंगे, जो हैं।

किसी ने सगुण की उपासना की। किसी ने कह दिया-यह मस्तिष्क का विकार है। किसी ने निराकार की उपासना की। किसी ने कहा-निराकार की उपासना साकार कैसे करेगा। दोनों का ही चौपट होगा। अतः इस पर बहस मत करो कि ईश्वर कैसा है। 'ईश्वर है'-बस इतना मानो।

किसी भय अथवा प्रलोभन से अपने विश्वास में शिथिलता न आने दो। चाहे जो हो जाए, अपना विश्वास मत छोड़ो, क्योंकि तुम ईश्वरवादी हो। जाने हुए जगत् को ठुकरा कर सुने हुए ईश्वर का मान लो-यह ईश्वरवाद है।

ईश्वर की सत्ता मानने का अर्थ है कि हमें कुछ नहीं चाहिए। पर दुःख की बात तो यह है कि हम कहते हैं कि 'भगवान् में मन नहीं लगता'। दस आवश्यकताएँ जीवन की हैं, ग्यारहवीं भगवान् की है, तब पूरा मन भगवान् में कैसे लगे? एक बटा ग्यारह ही न भगवान् में लगेगा। एक ओर मन को हम अपना कहते हैं, और फिर उसे भगवान् में लगाना चाहते हैं। यह धोखेबाजी चलने वाली नहीं है। मन हमारा रहकर त्रिकाल में भी भगवान् में नहीं लग सकता। ईश्वरवादी का तो मन, प्राण, शरीर, सब कुछ, सबका सब ईश्वर का है। उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। ईश्वर भी नहीं चाहिए। "मैं ईश्वर का हूँ, ईश्वर मेरा है"। मुझे अपने ईश्वर से कुछ नहीं चाहिए। ईश्वर के मन में आवे, तो मेरा जो चाहे सो करे-जन्म दे, नरक में भेजे, मिले, न मिले। जो कुछ भी चाहता है, वह ईश्वरवादी नहीं हो सकता। जगत् की कौन कहे, मोक्ष को भी फुटबॉल बनाकर ठुकरा दे, तब ईश्वरवादी की लिस्ट में नाम लिखा सकता है।

ईश्वरवादी का साधन-1. सब ईश्वर का है। 2. सब में ईश्वर है। 3. और कुछ नहीं, सब ईश्वर ही है। तीनों में से किस श्रेणी का अधिकारी आप

अपने का मानते हैं? यह आप अपने आप सोच लीजिए।

ईश्वर अप्राप्त नहीं है, अदृश्य नहीं है। पर अप्राप्त (व्यक्ति, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति) का सम्बन्ध और अप्राप्त का विश्वास हमें प्रभु-प्रेम प्राप्त करने नहीं देता।

भगवान् में मन कैसे लगे? यह प्रश्न मत करो। भगवान् में विश्वास करो, उनसे सम्बन्ध मानो।

परन्तु हम तो ईश्वरवादी इसलिए हैं कि समाधि का सुख ले लें, संसार की वस्तु पाकर कृतकृत्य हो जाएँ। तो यह ईश्वरवाद नहीं है।

ईश्वर असमर्थ नहीं है, सब कुछ कर सकता है। परन्तु उसके कर्त्तव्य को सोचना ईश्वरवादी का काम नहीं है। ईश्वरवादी की निष्ठा तो यह है कि "ईश्वर चाहे निकम्मा हो, पर मेरा अपना है। मिले या न मिले, प्यार करे अथवा ठुकरा दे, पर वह मेरा है। वह चाहे जैसा हो, चाहे जहाँ हो, अनेक बार मिटा हूँ, एक बार उसके नाम पर और मिटूँगा, पर ईश्वर को नहीं छोडूँगा। वह मेरा है, उसे अवश्य मानूँगा"। ऐसा मानकर निश्चिन्त, निर्भय हो जाए। इससे आत्मीयता आएगी। सामर्थ्य, शान्ति, प्रियता सब कुछ आएगी।

प्रश्न-ईश्वरवादी कौन होता है?

उत्तर-एक वह होता है, जिसे दुनियाँ अपने से छोटी मालूम होती है। अपने में भी अपना सन्तोष न हो, इतना बड़ा आदमी ईश्वर को मानता है। दूसरा वह होता है जिसके जीवन में असमर्थता आ गई है, जो कुछ नहीं कर सकता। इन दोनों को प्रभु अपने आप मिल जाते हैं बिना किसी साधन के।

प्रश्न-ईश्वर में सदा के लिए मन कैसे लगे?

उत्तर-ज्ञानपूर्वक देखो कि जिसमें मन लगा है, उसका स्वरूप क्या है? असत्य के स्वरूप के ज्ञान का प्रभाव जीवन पर हो जाएगा, तब ईश्वर में मन लगेगा। मन बुरा नहीं है। कोई बुरा नहीं है। अपने दुःख-सुख का कारण किसी और को मत मानो। क्योंकि जगत् जड़ है, वह चिन्मय को दुःख दे नहीं सकता और प्रभु के पास दुःख है नहीं, देंगे कहाँ से, अतः सुख-दुःख का कारण कोई और नहीं है। सुख-दुःख आता है, मंगलमय विधान से। दुःख आता है, सुख का राग मिटाने के लिए, सुख आता है, उदार बनाने के लिए। सुख-दुःख दोनों ही साधन-सामग्री हैं।

संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत न हो।

संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन न रखो।

संकल्प-निवृत्ति में सन्तुष्ट न हो।

स्वाधीनता को ठुकरा दो। तब प्रभु-प्रेम प्राप्त कर सकते हो।

अतः-

ईश्वर के लिए ईश्वर को मानो।

उससे कुछ मत माँगो।

सारे विश्व को ईश्वर जानकर उसकी पूजा करो।

हर वस्तु को ईश्वर की मानो और उसके द्वारा पूजा करो।

प्रभु-विश्वास और प्रभु-प्रेम को ही अपना जीवन मानो।

प्रभु-प्रेम प्रभु से माँगो।

ईश्वर नहीं चाहिए। ईश्वर-विश्वास चाहिए, ईश्वर-प्रेम चाहिए। यही ईश्वरवादी की साधना है।

प्रश्न-श्रीमहाराज जी! हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।

उत्तर-'शरीर' सदैव मृत्यु में रहता है और 'मैं' सदैव अमरत्व में रहता हूँ-यह मेरा परिचय है।

प्रश्न-श्रीमहाराज जी! हम आपकी जीवनी लिखना चाहते हैं।

उत्तर-मेरी जीवनी है "दुःख का प्रभाव"-लिख लो।

प्रश्न-स्वामी जी महाराज! यहाँ का प्रोग्राम पूरा करके आप कहाँ जाएँगे?

उत्तर-गेंद को क्या पता है कि खिलाड़ी उसे किधर लुढ़काएगा?

प्रश्न-कलके सत्संग में यह बात सुनी थी कि साधक को अपनी निर्बलता और प्रभु की महिमा का ज्ञान होने से भगवान् में प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतः यह समझाने की कृपा करें कि साधक और निर्बलता क्या है और वह उसे कैसे समझे तथा भगवान् की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाय?

उत्तर-मनुष्यमें सबसे बड़ी निर्बलता तो यह है कि वह जिसको करना बुरा समझता है, उसे कर डालता है और जिसे करना उचित्त समझता है, उसे नहीं कर पाता। भगवान् ने इसे सुचारु रूप से कर्म करने के लिये जो क्रियाशक्ति और विवेकशक्ति दी है, उसका यह सदुपयोग न करके दुरुपयोग करता है, तथापि भगवान् इतने उदार और दयालु हैं कि जब उन शक्तियों का ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी उसके अपराध की ओर ध्यान न देकर बार-बार उसे वही शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इस रहस्य को समझकर यदि साधक भगवान् से उनके द्वारा प्रदत्त शक्ति का सदुपयोग करने का बल प्रदान करने के लिये प्रार्थना करे तो वह भी देने के

लिये वे महान् उदार प्रभु सदैव तत्पर रहते हैं। भगवान् के इस भावको समझने वाला साधक उनमें प्रेम-विश्वास किये बिना रह ही कैसे सकता है।

जो साधक भगवान् को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह पतित है, महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्ण का है या नीच वर्ण-जाति-का इस बात का भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है वे उससे प्रेम करने के लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं-इसका वाणी द्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान् की इस महिमा को समझने वाला साधक उनपर अपने को न्योछावर कर देने के सिवा और करेगा ही क्या।

इस प्रकार अपनी निर्बलता और भगवान् की महिमा के विषय में साधक को विचार करते रहना चाहिये।

प्रश्न-भगवान् की कृपा, जो सबपर सदैव है, उसका अनुभव कैसे हो?

उत्तर-जिस साधक को अपने बल पुरुषार्थ पर भरोसा है, जो यह समझता है कि अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शक्ति के द्वारा साधन करके मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा-उसे भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता। वैस ही जो विचार मार्ग में विश्वास रखने वाला साधक विचार के द्वारा ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है- उसे भी भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता। भगवत्कृपा का अनुभव उस साधकको होता है जिसको उनकी कृपा पर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हरेक परिस्थिति में उनकी कृपा की ही बाट जोहता रहता है तथा उस साधक को भी भगवत्कृपा का अनुभव होता है जो यह मानता है कि मुझे जो कुछ विवेक प्राप्त है-वह भगवान् का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ शरीर तथा अन्य समस्त साधन-सामग्री उन्हीं की है और उन्होंने ही कृपा पूर्वक इनका सदुपयोग करने के लिये इनको मुझे दिया है। उन्हीं की कृपा, प्रेरणा से साधन में मेरी प्रवृत्ति तथा प्रगति होती है और होगी। इस प्रकार जो अपने को भगवान् की कृपा का पात्र मानता है और उस मान्यता में भी भगवान् की कृपा को ही कारण समझता है उसे भगवत्कृपा का अनुभव अवश्य होता है।

प्रश्न-मन की एकाग्रता कैसे हो?

उत्तर-मन की एकाग्रता के उपाय साधकों की प्रकृति, योग्यता और विश्वास के भेद से अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् रागका अभाव है। अभ्यास से भी मनकी एकाग्रता होती है, परंतु केवल अभ्यास द्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, पुनः चन्चलता में बदल जाती है।

जब मनमें सब प्रकार की इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है। तब मनकी स्वाभाविक एकाग्रता प्राप्त होती है। और वही टिकती है।

जो मन की चंचलता से दुःखी होकर एक मात्र एकाग्रता का इच्छुक होता है, जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक जिसको चैन नहीं पड़ता उसका मन भी अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो साधक किसी स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से किसी वस्तु व्यक्ति, अथवा भाव में अपने मन को लगाकर कर्तृत्वभावपूर्वक मनको एकाग्र करने के लिये प्रयत्न करता है, उसका मन कालान्तर में एकाग्र नहीं रहता; क्योंकि कर्ता और भोक्ता भाव के रहते हुए जो स्थिति प्राप्त की जाती है, उसका अन्त अवश्य होता है-यह प्राकृतिक नियम है।

प्रश्न-जब साधक का देहाभिमान सर्वथा गल जाता है और उसका हृदय विशुद्धप्रेम से भरा रहता है, उस समय उसके व्यवहार में क्या अन्तर हो जाता है?

उत्तर-उसके सभी व्यवहार साधारण लोगों की अपेक्षा उलटे होते हैं। जहाँ लोगों का हरेक प्रवृत्ति में कोई-न-कोई स्वार्थ रहता है, किसी-न-किसी प्रकार की भोग-प्राप्ति की इच्छा रहती है-वहाँ उसकी सभी प्रवृत्तियाँ दूसरों की प्रसन्नता के लिये या यों कहना चाहिये कि भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही होती हैं। उसमें अपना कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। लोक-व्यवहार में जिनके साथ परिचय या किसी प्रकार का सम्बन्ध है और जिनके साथ नहीं है, जो उसके साथ अच्छा बर्ताव करते हैं और जो प्रतिकूल करते हैं-उन सबमें उसका समान भाव से ही प्रेम रहता है, प्रेम का भेद नहीं रहता। कर्मका भेद रहते हुए भी प्रेम में विषमता नहीं होती। अतः वह सबका प्रिय बन जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सहज ही दूसरों का हित निहित रहता है; इसलिये सभी उससे प्यार करते हैं। यह उसके ऊपर के आचार-व्यवहार की बात कही गयी है।

प्रश्न-जीते हुए मर जाना किसे कहते हैं?

उत्तर-प्राणों के रहते हुए जो शरीर और संसार से सर्वथा

सम्बन्धरहित हो जाना है-यही जीते हुए मर जाना है।

प्रश्न-प्रेम को चाहते हुए भी ऐसा प्रेम जो नित्य-नया बढ़ता रहे, नहीं होता, इसके लिये क्या करें?

उत्तर-साधक को भगवत्प्रेम से कभी निराश नहीं होना चाहिये। जिसको प्रेम की चाह होती है, उसे प्रेम अवश्य मिलता है। प्रेम की भूमिका अनेक प्रकार की होती है। प्रेम की कभी पूर्णता नहीं होती।

इस कारण प्रेमी को हरेक अवस्था में प्रेम की कमी का बोध होता है। अतः यदि साधक इस भाव से अपने में प्रेम की कमी का अनुभव करता है, तब तो ऐसी बात नहीं है कि उसको सदैव नित्य-नया रहने वाला प्रेम प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि प्रेम का यह स्वभाव ही है। प्रेम अनन्त है। प्रेमास्पद प्रभु भी अनन्त है। प्रेम की लालसा भी अनन्त है। फिर जहाँ तीनों अनन्त हों, वहाँ पूर्णता कैसे हो?

यदि प्रेम की लालसा रहते हुए सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है, तो उसके न मिलने की गहरी वेदना होनी चाहिये। वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहने वाले को प्रेम की प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेम की चाह भी है और उसके प्राप्त न होने की तीव्र वेदना नहीं है तो साधक को समझना चाहिये कि मेरे जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का रस है, जो मुझे प्रेम से वंचित्त करने वाला है। विचार करने पर या तो किसी प्रकार के सद्‌गुण का रस, या किसी प्रकार के सदाचार का रस दिखलायी देगा; क्योंकि प्रेम चाहने वाले के मन में भोगवासना और भोगों का रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जब तक भोगों में रस प्रतीत होता है, तब तक तो प्रेम की सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत्प्रेमका मूल्य सद्‌गुण या सदाचार नहीं है। अतः उस प्रेम में हरेक मनुष्य का अधिकार है। पतित-से-पतित भी भगवान् का प्रेम प्राप्त कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार भक्तवत्सल होने के नाते श्रीहरि अपने भक्त से स्नेह करते हैं, वैसे ही वे पतित पावन प्रभु अधमोद्धरक और दीनबन्धु भी तो हैं? अतः दीन, हीन पतितसे भी वे प्यार करते हैं। उसे भी वे अपने प्रेम का पात्र समझते हैं। वे मनुष्य से किसी सौन्दर्य या गुण के कारण प्रेम नहीं करते; क्योंकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्‌गुणों के वे केन्द्र हैं। किसी ऐश्वर्य के कारण प्रभु प्रेम करते हों, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनके समान ऐश्वर्य किसी के पास है ही नहीं। वे तो एक मात्र उसी से प्रेम करते हैं, जो उन पर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। बस, इसके

अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते, इसलिये हरके मनुष्य उनके प्रेम का अधिकारी है।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभु के हाथ की बात है। वे जब चाहें, जिसको चाहें, अपना प्रेम प्रदान करें अथवा न करें, इसमें साधक के वश की बात नहीं है, किंतु उनका प्रेम न मिलने से व्याकुलता और बेचैनी तो होनी ही चाहिये। छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होने से मनुष्य दुःखी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। फिर जिसको भगवान् के प्रेम की लालसा है और प्रेम मिलता नहीं, वह चैन से कैसे रह सकता है? उसकी वेदना को किसी भी भोग सद्‌गुण और सदाचार अथवा सद्गतिका सुख भी कैसे शान्त कर सकता है?

जो सार्थक उत्कृष्ट भोगों की इच्छा रखते हुए भगवान् को अपनाते हैं, उनके मन की बात भगवान् से छिपी नहीं है। वे उनको उत्कृष्ट भोग प्रदान करने के द्वारा उनसे प्यार करते हैं। जो सद्‌गुण-सदाचार चाहते हैं, उनको सद्‌गुण-सदाचार देते हैं जो सद्गति चाहते हैं उन्हें सद्गति देते हैं। पर जो केवल उन्हीं को चाहते हैं, उनके प्रेम के भूखे हैं, जिन्हें किसी प्रकार के भोग, गुण, गतिसे रस नहीं मिलता, जिन्होंने उन सबके रस का भी परित्याग कर दिया है-उनको भगवान् अवश्य ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रेमी अपने प्रेमास्पद से किसी प्रकार का सुख नहीं चाहता। वह तो सदा उनके सुख में ही सुखी रहता है। उनको सुख प्रदान करने में, उनको रस देने में ही उसको रस मिलता है। इस कारण उसको जो कुछ भी शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त है, जो वास्तव में उन्हीं का दिया हुआ है, उन सबके द्वारा प्रेमी वही काम करता है, जो प्रेमास्पद प्रभु को प्रसन्न करनेवाला हो। प्रेमी अपने आपको भगवान् की प्रसन्नता के लिये-उनको सुख देने के लिए ही समर्पण कर देता है। उसका दूसरा कोई भी लक्ष्य या उद्देश्य नहीं होता।

सब प्रकार के सुखों की इच्छा का त्याग करने से प्रेमी को अपने प्रेमास्पद से वह प्रेम-रस, जो नित्य नया रहता है, जिसकी कभी क्षति नहीं होती, कभी अन्त नहीं होता और जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती, अनवरत मिलता रहता है।

प्रश्न-मनुष्य मरनेसे क्यों डरता है?

उत्तर-शरीर को मैं मान लेने के कारण और मृत्यु की महिमा को न जानने के कारण ही मनुष्य मृत्यु से डरता है।

प्रश्न-मृत्यु की महिमा जानना क्या है?

उत्तर-उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु अर्थात् लय-ये तीनों अलग अलग दीखते हैं, परंतु विचार करने पर मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है। बाल्यावस्थाका विनाश और किशोरावस्था की उत्पत्ति की भाँति ही जवानी और बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओं का परिवर्तन हर समय होता रहता है। एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवन का कारण बनती है। यदि संसार में कोई न मरे तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाय कि रहने के लिये पृथ्वी पर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाय कि कोई जीना पसंद न करे। अतः मृत्युकी भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्व की चीज है।

एक शरीर का नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। अतः मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है। यह समझने वाला बुद्धिमान् मनुष्य कभी मृत्यु से नहीं डरता, वरं उसका स्वागत करता है। जैसे पुराने वस्त्र को उतार कर नया पहनने में किसी भी समझदार को डर नहीं लगता, वरं प्रसन्नता ही होती है; क्योंकि वह उसमें कोई हानि नहीं समझता, बल्कि लाभ ही समझता है। मृत्यु का डर उन्हीं प्राणियों को होता है-जो प्राणी वर्तमान स्थिति का सदुपयोग नहीं करते; क्योंकि वर्तमान के सदुपयोग से ही भविष्य उत्कृष्ट और आशाजनक बनता है। अतः जिन्होंने अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लिया है, वे मृत्यु से भयभीत क्यों हों? जिन्होंने वर्तमान का दुरुपयोग किया है, वे ही मृत्यु से भयभीत होते रहते हैं।

प्रश्न-जीव स्वाधीन है या पराधीन?

उत्तर-ईश्वर के द्वारा दिये हुए विवेका का आदर करके प्राप्त शक्तिका सदुपयोग करनेमें जीव सर्वथा स्वतंत्र है। यह स्वतन्त्रता ईश्वर की दी हुई है इसके सिवा जीव सर्वथा परतंत्र है। अतः वास्तव में स्वाधीन उसी को कहा जा सकता है जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करके सब प्रकार की चाह से रहित हो गया है; क्योंकि किसी प्रकार की चाह के रहते हुए कोई भी प्राणी अपने को स्वतंत्र नहीं कर सकता। जब तक मनुष्यका अन्तःकरण अपवित्र है, उसमें रागद्वेष और भोग वासना वर्तमान है, तबतक वह स्वाधीन नहीं है। जब तक वह जिस काम को करना उचित्त नहीं समझता, उसे करता रहता है और जिसे करना उचित्त समझता है, उसे नहीं कर पाता, तब तक वह स्वाधीन कैसा? अतः प्राप्त का दुरुपयोग करने वाला

भ्रमवश भले ही अपने को स्वाधीन समझे, पर वास्तव में वह पराधीन ही है।

जब तक मनुष्य अपनी प्रसन्नता का हेतु किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति और अवस्था को मानता रहता है, तब तक वह अपने जीवन में दीन, हीन और पराधीन ही बना रहता है। कभी भी स्वाधीनता का अनुभव नहीं कर सकता। प्राप्त विवेक का सदुपयोग करके अपने बनाये हुए दोषों को मिटाकर अन्तःकरण को शुद्ध कर लेने में प्राणी सदैव स्वाधीन है। अतएव ऐसा करके वह प्रभु की कृपा से सब प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि फिर उसकी प्रसननता किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहती।

साधक को मानना चाहिये कि मनुष्य में जो विवेकशक्ति है, यह किसी कर्मका फल नहीं है। यह तो उस ईश्वर की देन है, जो बिना ही कारण अपने मधुर स्वभाव से प्रेरित होकर सब पर कृपा करता रहता है अर्थात् जो प्राणिमात्र का सुहृद् है। शरीर, इन्द्रिय और सम्पत्ति आदि को कर्मफल माना जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु विवेक किसी क्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला नहीं है। यह तो मनुष्य को प्रभु की कृपा से ही मिला है।

अतएव ईश्वर के दिये हुए विवेक का आदर करते हुए उसका सदुपयोग करना चाहिये। अर्थात् अविचारपूर्वक बनाये हुए अपने दोषों का निरीक्षण करके उनको हटाना चाहिये और चित्त की शुद्धि करके अपने प्रभु पर विश्वास करना चाहिये और अपने आपको उनके समर्पण करके उनके विशुद्धप्रेमको प्राप्त करना चाहिये।

प्रश्न-मूर्ति पूजा कब तक करनी चाहिये?

उत्तर-कोई भी आस्तिक भक्त मूर्ति की पूजा नहीं करता, वह मूर्ति में अपने ईष्टदेव की पूजा करता है, इसलिये जब तक अपना भास रहे, तब तक अपने इष्ट की पूजा करते रहना चाहिये।

जब मनुष्य किसी पुस्तक या चिट्ठीको पढ़ता है, तब कागज या स्याहीको नहीं पढ़ता; किंतु उसमें लिखे हुए संकेत के द्वारा उसके अर्थ को पढ़ता है। कागज, स्याही और अक्षर तो उस अर्थ को समझानेके लिये चिन्ह मात्र है। अर्थ तो पढ़ने वाले की बुद्धि में परस्परा से विद्यमान है। इसी प्रकार भक्त मूर्ति को संकेत बनाकर अपने इष्ट की पूजा करता है, मूर्ति की पूजा नहीं करता।

इसी तरह गीता आदि में समझ लेना चाहिये। पढ़नेवाला उसे

भगवान् की वाणी समझकर पढ़ता है और उसी भाव से उसका आदर करता है।

श्रीतुलसीदासजी रामनाम का जप करते थे तो उनके भाव में परमेश्वर और उसके पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य आदि समस्त गुण नाम में भरे हुए थे। वे राम और ब्रह्म दोनों से नाम को बढ़कर मानते थे। उनके विषय में कोई भी यह नहीं कह सकता कि वे परमेश्वर का स्मरण नहीं कर रहे थे, शब्दमात्र का जप कर रहे थे। इससे साधकको यह समझ लेना चाहिये कि कोई भी साधन नीचे दर्जेका नहीं है।

जिस साधक को जो साधन प्रिय हो, अपनी योग्यता के अनुसार जिस साधन को वह सुगमतासे कर सके, जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो, किसी प्रकार का भी संदेर न रहे, वही साधन उसके लिए सर्वश्रेष्ठ है। किसी प्रकार का सन्देह न रहने से साधक की बुद्धि साधन में लग जाती है। प्रेम होने से हृदय द्रवित हो जाता है। विश्वास होने के कारण मन में किसी प्रकारका विकल्प नहीं उठता। उसमें मन लग जाता है। अतः साधन में कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

किसी भी साधक को यह नहीं समझना चाहिये कि 'मुझे अमुक प्रकार की योग्यता प्राप्त नहीं है, इसलिये मुझे भगवान् नहीं मिल सकते।' यह मानना भगवान् की महिमाको न जानकर उनकी कृपा का अनादर करना है, क्योंकि भगवान् अपनी कृपा से प्रेरित होकर ही साधक को मिलते हैं। उनकी कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उनसे मिलनेकी उत्कण्ठा, उनके प्रेम की अतिशय लालसा ही है। धन, बल, सुन्दरता या किसी प्रकार के साधनके बलसे भगवान् नहीं मिल सकते। साधन उनका या उनके प्रेम का मूल्य नहीं है। साधन तो अपने बनाये हुए दोषों को मिटाने के लिये है, जो भगवान् द्वारा दी हुई योग्यता का सदुपयोग करनेमात्रसे होता है।

मनुष्य चाहे कैसा ही दीन हीन मलिन क्यों न हो, कितना ही बड़ा पातकी क्यों न हो, वह जैसा और जिस परिस्थिति में है, उसी में यदि विश्वासपूर्वक भगवान् का हो जाय और उनको पानेके लिये व्याकुल हो उठे, भगवान् के वियोगमें उसे किसी प्रकार चैन न पड़े, तो भगवान् अवश्य मिल जाते हैं।

भगवान् उसी पतित को मिलते हैं, जो पतित नहीं रहना चाहता अर्थात् पुनः पाप नहीं करना चाहता। ऐसे साधक को भगवान् परम पवित्र बनाकर अपना लेते हैं; परंतु जिसको अपने पापों का पश्चात्ताप नहीं है, जो उनको छोड़ना नहीं चाहता, उसे

भगवान् नहीं मिलते। वैसे ही जिसको अपने गुणों का अभिमान होता है, उसे भी नहीं मिलते। साथ ही यह बात भी है कि जब तक साधक के मन में किसी दूसरी वस्तु की चाह रहती है, तब तक भगवान् नहीं मिलते। उसे उसकी चाहके अनुरूप वस्तु और परिस्थिति, यदि उसके पतन में हेतु न हो तो प्रदान कर देते हैं।

भगवान् की यह शर्त है कि मुझसे मिलने के बाद अन्य किसी से साधक नहीं मिल सकता; परंतु ऐसा साधक कोई विरला ही होता है जो हर समय एकमात्र उन्हींसे मिलनेके लिये उत्सुक रहता हो, जिसके समस्त काम पूरे हो चुके हों, जिसके मन में अन्य किसी प्रकारके संयोग की चाह नहीं रही हो। अधिकांश मनुष्य तो अनेक प्रकारकी चाहों से घिरे रहते हैं। आज मुझे अमुक काम करना है, अमुक मित्र से मिलना है, अमुक स्थान में जाना है, उसके बाद वह करना है इत्यादि।

जिसमें अधिक योग्यता होती है, उसके लिये साधन भी अधिक कठिन होता है और कम योग्यतावालेके लिये साधन भी सहज सरल होता है। जैसे कोई धनी-मानी मनुष्य पुष्कर स्नान करने के लिये जाय, तो मोटर से या फर्स्ट क्लासमें यात्रा करके जाना पड़ता है। उसमें बहुत सा धन देना पड़ता है; वहाँ जाकर भी दान आदि में उसे बहुत सा धन देना पड़ता है; किन्तु एक गरीब भिखारी या नौकर जाता है तो उल्टा उसे कुछ न कुछ मिलता है। खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ता। पुष्कर-स्नान दोनोंको ही मिल जाता है। उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

जब तक साधक में किसी प्रकारके गुण-दोषका अभिमान रहता है तबतक भगवान् नहीं मिल सकते। इसलिये साधकको चाहिये कि अपनेमें सद्‌गुणों के अभिमानको स्थान न दे और दोषोंकी उत्पत्ति न हो, बस, यही साधकका प्रयत्न है।

भगवान् को और उनके प्रेम को प्राप्त करने के लिये केवल सरल विश्वासपूर्वक उनसे सम्बन्ध होना चाहिये। किसी प्रकार के गुणका अभिमान नहीं हो और किसी प्रकार के दोष उत्पन्न न हों तो उस साधकसे भगवान् छिप नहीं सकते।

प्रश्न-स्वामीजी! प्रेम तो सब एक ही है न, वह चाहे पुत्र में हो, चाहे अन्य किसीमें, प्रेम ही तो है?

उत्तर-जो पुत्र और पति आदि में प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, मोह हैं। उसी को राग और आसक्ति भी कहते हैं। प्रेम और मोह में बड़ा अन्तर है। जिसमें मो होता है,

जो मोहके कारण प्रिय लगता है, उसमें स्वार्थ भाव रहता है। उसमें एक दूसरे से किसी प्रकार का सुख लेने की चाह रखता है। किन्तु प्रेम में स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं है प्रेमी तो हर प्रकार से अपने प्रेमास्पद को सुख देने के लिये-अर्थात् उनकी प्रसन्नता के लिये ही प्रत्येक काम करता है। वह अपने प्रियतम के लिए सर्वस्य समर्पण कर देता है प्रमी का जीवन अपने प्रेमास्पद अपने प्रियतम का सुख ही प्रेमीका सुख है। प्रियतम की प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता है। प्रेमास्पद का प्रेमरस ही उसका अस्तित्व है, अपने लिये उसे अन्य किसी प्रकार के सुख की चाह नहीं रहती।

आप किसी भी प्रेमी भक्त की जीवनी पढ़िये। कहीं भी ऐसी घटना नहीं मिलेगी, जिसमें प्रेमी भक्त ने अपने प्रभु से अपने सुख के लिये कभी किसी प्रकार की माँग की हो। माँग पेश करने की बात तो दूर रही, वह तो देने पर भी कुछ स्वीकार नहीं करता। मात्र उनका प्रेम ही प्रेम चाहता है। अतः भगवान् स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं। फिर भगवान् की सब चेष्टा भक्त को रस देने के लिए और भक्त की भगवान् को रस देने के लिये हुआ करती है। वियोगकाल में भक्त भगवान् के विरह में व्याकुल रहता है और भगवान् भक्त के विरह में व्याकुल रहते हैं। इधर सीता राम के वियोग में व्याकुल तो उधर राम सीता के वियोग में व्याकुल हैं। यही भक्त और भगवान् की दिव्य प्रेमलीला है।

प्रश्न-गीता में निष्काम कर्म के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। हम लोग गृहस्थ हैं। हम लोगों के लिये लौकिक उन्नति की चेष्टा करते हुए निष्काम कर्म करना बड़ा कठिन है, तो कैसे करना चाहिये?

उत्तर-लौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति के अर्थात् भगवत्प्राप्ति के साधन अलग-अलग नहीं हैं। जो वास्तविक लौकिक उन्नति का साधन है, वही पारलौकिक उन्नति का भी साधन है। इन दोनों का भेद मानकर लोग अपने कर्त्तव्य में भूलकर बैठते हैं। वास्तव में लौकिक उन्नति वाला वही है कि जिसकी आवश्यकता दूसरों को हो जाय, संसार में जो बड़े आदमी समझे जाते हैं, वे भी जिसके पीछे-पीछे फिरते रहें और उनकी कोई वस्तु वह अपने उपयोग में ले ले तो लोग अपना अहोभाग्य समझें।

जो मनुष्य दूसरों से कुछ लेना चाहता है, अपने सुख का आधार दूसरों को मानता है, दूसरों से आशा

लगाये रहता है, वह क्या उन्नतिशील कहा जा सकता है? वह तो चाहे कितना भी बड़ा वैभवशाली क्यों न हो, दरिद्र ही है। उन्नति शील तो वही है जो प्राप्त विवेक का आदर और बल का सदुपयोग करता है। दूसरों के हित में अपने तन, मन, धन को लगा देता है। लोभी मनुष्य कभी भी उन्नति शील नहीं हो सकता।

विचार करना चाहिये कि कर्म करने का विधान किसलिये है? विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य में जो क्रियाशक्ति का वेग है, उसकी जो कर्म करने में आसक्ति है, उसे मिटाने के लिये ही कर्मों का विधान है। अतः अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार जो कर्म कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हुआ है, उसे खूब सावधानी के साथ उत्साहपूर्वक सांगोपांग पूरा कर दे; किंतु उस कर्म के फलरूप में प्राप्त होने वाले पदार्थों से अपना मूल्य अधिक समझें। उनके बदले में अपने आपको बेचे नहीं; क्योंकि जो कर्म से प्राप्त होने वाले फल से अपना मूल्य कम कर लेता है, उनके बदले में अपने को बेच देता है, वह न तो वास्तविक लौकिक उन्नति कर सकता है और न पारलौकिक उन्नति ही कर सकता है। वह उन वस्तुओं की दासता के कारण सदैव अभाव का ही अनुभव करता रहता है।

जो यह समझता है कि यदि मुझे कर्म से कुछ लेना ही नहीं है तो मैं कर्म क्यों करूँ, वह भी कर्म को ठीक ठीक नहीं कर सकता, आलसी बन जाता है। जो फल के लालच से कर्म करता है, उसका लक्ष्य भी कर्म की सुन्दरता पर नहीं रहता। अतः वह भी करने योग्य कर्म को ठीक-ठीक पूरा नहीं कर सकता। लोभ के वश में होकर वह उस कर्म में अनेक प्रकार की त्रुटियों का समावेश कर लेता है। कर्म को सांगोपांग तो वही कर सकता है, जिसके मन में फल का लोभ नहीं है, प्रत्युत् कर्त्तव्य-कर्म को सांगोपान पूरा करना ही जिसका उद्देश्य है।

कर्म का जो दृश्य फल है, वह तो कर्त्ता चाहेगा तो भी होगा और न चाहेगा तो भी होगा। चाहने और न चाहने से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। जैसे भोजन करने से भूख की निवृत्ति तो दोनों की ही होगी; परंतु जो स्वाद के लालच से भोजन करेगा, वह कर्म-विधान के विपरीत वस्तुओं को खाकर उलटा अपना अहित कर लेगा। इसीप्रकार व्यापार में भी समझ लेना चाहिये। व्यापार में लाभ या हानि तो जो होनी है, वही होगी; परंतु जो मनुष्य लाभ के लालच से और हानि

के भय से युक्त होकर व्यापार करेगा, वह उस व्यापार में उन नियमों को भी यथायोग्य पालन नहीं कर सकेगा, जिनका पालन करना लौकिक उन्नति की दृष्टि से आवश्यक है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्म में कोई कठिनाई नहीं है, प्रत्युत् सकाम की अपेक्षा निष्काम कर्म ही सुगम है और वही लौकिक उन्नति का भी उपाय है।

जो सम्पत्तिशाली मनुष्य लोभ के वश होकर उस सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करता, उससे निर्धनों के अभाव की पूर्ति नहीं करता, वह लोक में भी उन्नतिशील नहीं माना जाता तथा जो निर्धन मनुष्य धन की कामना का त्याग नहीं करता, वह भी सुखी नहीं हो सकता। अतः लौकिक उन्नति के लिये भी सब प्रकार से कामना का त्याग आवश्यक है।

जो साधक अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्य रूप से प्राप्त कर्म को बिना किसी प्रकार के फल की चाह के ठीक-ठीक पूरा कर देता है, जिस प्रकार उसे करना चाहिये, ठीक वैसे ही करता है, आलस्य या प्रमादवश उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं करता; शौच जाना, स्नान करना, जीविका के कर्म करना, सेवारूप कर्म करना, भोजन करना, शयन करना आदि जितने भी आवश्यक कर्म हैं, सबको जो यथावश्यक समय पर भलीभाँति कुशलता और उत्साहपूर्वक पूरा कर देता है, उस कर्त्तव्य पालन से उसकी क्रिया शक्ति का वेग और कर्म करने की आसक्ति मिटती जाती है। चित्त शुद्ध हो जाता है। भोगवासना नष्ट हो जाती है। किसी प्रकार की चाह न रहने से चित्त निर्विकल्प हो जाता है। फिर योग से सामर्थ्य, विवेक से बोध और वैराग्य से भगवत्प्रेम की प्राप्ति होकर उसका परलोक भी सब प्रकार से सुधर जाता है।

प्रश्न-भगवान् ने गीता में कहा है कि शरीर रूप यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों को उनके हृदय में स्थित परमेश्वर घुमाता है अर्थात् उनसे कर्म करवाता है, तब फिर उनका फल प्राणियों को क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर-क्रिया में और कर्म में अन्तर है। उस अन्तर को समझ लेने पर यह प्रश्न हल हो जायगा। जिसमें कोई कर्त्ता नहीं होता, जो किया नहीं जाता, अपने आप होता है; जैसे हवा से पेड़ों का हिलना आदि, वह तो क्रिया है और जो कर्त्ता बनकर राग द्वेषपूर्वक किया जाता है, वह कर्म है। अतः जिसका सचमुच यह भाव है कि जो कुछ हो रहा है, वह ईश्वर की शक्ति और प्रेरणा से ही हो रहा है,

मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भाव से जो अपने को सर्वथा असंग समझ लेता है, न तो उस कर्म का कर्त्ता बनता है औश्र न उसमें आसक्त होता है, वह भोक्ता भी नहीं होता। उसके द्वारा होने वाला कर्म वास्तव में कर्म नहीं है। वह तो क्रिया मात्र है। अतः उसका कोई फल नहीं बनता; किंतु जो मनुष्य स्वयं किसी कर्म का कर्त्ता बनकर उसे आसक्तिपूर्वक, किसी प्रकार की फल कामना से करता है, उसे उस कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है।।

प्रश्न-कुन्ती देवी सती मानी जाती हैं; किंतु सूर्य आदि देवताओं के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने पर भी उनका सतीत्व अक्षुण्ण कैसे रहा? यह समझ में नहीं आता, अतः इसे समझाइये।

उत्तर-उस समय आजकलकी सी परिस्थिति नहीं थी। उन लोगों को धर्म का ज्ञान था ओर धर्म में निष्ठा थी। स्त्रियों के मुख्य दो धर्म माने गये हैं-एक तो सती धर्म, दूसरा साध्वीधर्म। सती धर्म तो वह है जिसमें पति को ही परमेश्वर मानकर सर्वस्व उसके समर्पण किया जाता है। और साध्वीधर्म वह है जिसमें परमेश्वर को ही पति मानकर सर्वस्व समर्पण किया जाता है। मीरा, गोपियाँ और उसी ढंग की अन्य स्त्रियाँ तो साध्वी धर्म का पालन करने वाली थीं। कुन्ती देवी सती धर्म का पालन करने वाली थी। सती स्त्री का एक पति के सिवा और कुछ भी अपना नहीं रहता। वह शरीर, घर आदि किसी पर अपना अधिकार नहीं मानती। सब कुछ पति का ही मानती है। वह जो कुछ करती है, पति के लिये ही करती है। पति की प्रसन्नता और हित ही एक मात्र उसका लक्ष्य होता है। कुन्ती के सामने परिस्थिति ऐसी थी कि शाप के भय से पाण्डु स्त्री-सहवास कर नहीं सकते। यदि करें तो उनकी मृत्यु हो जाय। पाण्डु के मन में पुत्र की वासना थी। अतः उन्होंने उस वासना से प्रेरित होकर जब कुन्ती से अपने मन की बात कही, तब कुन्ती ने पहले तो पति को विनय पूर्वक धर्म का तत्त्व समझाने की चेष्टा की। उस पर भी जब उनकी वासना शान्त नहीं हुई, तब सब हाल कह सुनाया कि मुझे दुर्वासा से मन्त्र प्राप्त हुए हैं, उनके प्रभाव से मैं देवताओं को बुलाकर पुत्र उत्पन्न कर सकती हूँ? इस पर पाण्डू ने आज्ञा दी कि तुम देवताओं से पुत्र उत्पन्न करो। इस परिस्थिति में कुन्ती ने बिना किसी भोग-वासना के एक मात्र पति की प्रसन्नता के लिये उनकी आज्ञा का पालन किया। इससे उसका सतीत्व क्षीण क्यों होता? उसने तो जो कुछ किया, वह सती धर्म का ही

पालन किया। वह शरीर को अपना थोड़े ही मानती थी, वह तो उस पर अपने पति का ही पूरा अधिकार मानती थी।

प्रश्न-कर्ण की उत्पत्ति के समय तो उसका विवाह नहीं हुआ था। उस समय उसका धर्म कैसे सुरक्षित रहा?

उत्तर-उस समय कुन्ती अविवाहित थी। अतः उसके शरीर पर दूसरे किसी का तो अधिकार था नहीं। उसने ऋषि द्वारा प्राप्त मन्त्रों की परीक्षा करने के लिए बिना किसी प्रकार की भोग-वासना के सद्भावपूर्वक सूर्य का आवाहन किया था। सूर्यदेव के प्रत्यक्ष होने पर उसने स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया मैंने तो आपका दर्शन करने के लिये ही बुलाया था, किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर नहीं। इस पर भी सूर्य ने कहा कि मेरा आना व्यर्थ नहीं हो सकता। अतः तुम्हारे गर्भ से पुत्र तो होगा; परंतु तुम्हारे कौमार्य का नाश नहीं होगा।

इस घटना से कुन्ती को तो इसलिये कोई दोष नहीं लगा कि उसने अपने इच्छा से वह काम नहीं किया। उसे विवश होकर करना पड़ा।

सूर्य को इसलिये दोष नहीं लगा कि देवयोनि भोगयोनि है। उसमें नये कर्म नहीं बनते। उसके कर्मों का फल नहीं बनता।

प्रश्न-क्या आजकल भी कोई स्त्री अपने पति की आज्ञा से ऐसा कर सकती है?

उत्तर-यदि कोई कुन्ती जैसी सती स्त्री हो, जिसमें किन्चिन्मात्र भी भोग-वासना न हो तथा देवता दिव्य भाव से जिसके बुलाने पर आ जायँ और पाण्डु जैसा धर्मात्मा पति आज्ञा देने वाला हो तो कोई आपत्ति नहीं। परंतु वैसी परिस्थिति इस समय नहीं है। देश काल के अनुसार धर्म के बाह्यस्वरूप में भेद होता है, आन्तरिक उद्देश्य में नहीं। धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य प्राणों के रहते हुए वासनाओं से रहित होना है, अतः धर्माचरण वही है जो मनुष्य को वासनारहित बनाने में समर्थ हो।

प्रश्न-स्वप्न क्या है?

उत्तर-जाग्रत में देखे, सुने, अनुभव किये हुए भावों के जो संस्कार मन में जम जाते हैं, उन्हीं का प्रकारान्तर से स्वप्न का दृश्य बन जाता है। स्वप्न में भी प्रारब्ध कर्म का उपभोग होता है।

प्रश्न-भगवत्प्राप्ति के बाद स्वप्न आता है या नहीं?

उत्तर-स्वप्न तो एक अवस्था है। अतः जब तक शरीर रहता है, जब तक आता ही है। जिसका जैसा भाव

जाग्रत् में रहता है, वैसा ही स्वप्न में भी रहता है। जिसका मन शुद्ध हो जाता है, उसको स्वप्न भी वैसा ही आता है सूक्ष्म शरीर के व्यापार का नाम स्वप्न है। स्वप्न में मन का जैसा स्वरूप है, वैसा सामने आ जाता है।

प्रश्न-स्वप्न के पुण्य-पाप लगते है या नहीं?

उत्तर-नहीं लगते; क्योंकि जगते ही उस दृश्य में असत् बुद्धि हो जाती है।

प्रश्न-गांधी जी के विषय में आपका क्या ख्याल है?

उत्तर-वे किस स्थिति तक पहुँचे थे, यह तो वे ही जानें या परमेश्वर। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मुझसे अच्छे थे। ईश्वर-निर्भरता और मानवता उनके जीवन में आदर्श रूप में थीं।

ईश्वर विश्वास ही समस्त साधनों का मूल है। बिना विश्वास के साधन में उत्साह और सफलता नहीं होती।

प्रश्न-बिना विश्वास के अर्थात् श्रद्धा के तो कोई भी काम सफल नहीं होता। यज्ञ, दान आदि कर्मों में भी श्रद्धा आवश्यक है?

उत्तर-कर्म में विधि की प्रधानता है। वहाँ श्रद्धा भी विधि के रूप में ही है। यदि विधि की कमी हो तो कर्म का जैसा फल होना चाहिये, वैसा नहीं होता, उसके फल में भेद हो जाता है। परंतु उपासना में अर्थात् भगवत्प्राप्ति के साधनों में विश्वास ही मुख्य है। बिना विश्वास के किसी भी साधन में साधक आगे नहीं बढ़ सकता। चित्त-शुद्धि तक ही मनुष्य का प्रयत्न है। चित्त शुद्ध हो जाने के बाद करना कुछ भी नहीं रहता। जो कुछ करना है, वह अपने आप हो जाता है, जो प्राप्त होना है, वह मिल जाता है। अन्तिम साधन जीवन का पुरुषार्थ नहीं है। वह तो भगवान् की कृपा है, उसी पर साधक को निर्भर रहना चाहिए।

साधक के जीवन में ईश्वरविश्वास, उनके प्रेम की लालसा और उन पर निर्भरता होनी चाहिये। अपने प्रेमास्पद के वियोग से व्याकुल रहते हुए उन पर निर्भर रहना, प्रेम की भूख और निर्भरता दोनोंका एक साथ होना-यही साधक-जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य सुख और दुःख का कारण किसी दूसरे को मान लेता है, तब राग-द्वेष के कारण चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तव में जब मनुष्य अपनी प्रसन्नता का कारण किसी दूसरे के कर्त्तव्य को मान लेता है, उसकी प्रसन्नता दूसरे पर निर्भर करती है यही उसके जीवन का सबसे

बुरा समय है, ऐसा साधक को समझना चाहिये।

कुछ लोग सुख और दुःख को कर्मों का फल मानते हैं। परंतु वास्तव में कर्मों का फल सुख दुःख नहीं है। कर्मों के फल रूप में तो परिस्थिति प्राप्त होती है। उनमें सुख और दुःख तो मनुष्य के भावानुसार होते हैं।

विवेकशील मनुष्य भयंकर परिस्थिति में दुःखी नहीं होता, अपितु उसको अपनी उन्नति का हेतु समझकर उसका सदुपयोग करता है तथा सब प्रकार की परिस्थितियों को परिवर्तशील, अनित्य और अपूर्ण समझकर, परिस्थितियों से ऊपर का जीवन प्राप्त करने के लिये, उनसे असंग हो जाता है।

भगवत्-विश्वासी साधक को प्रतिकूल परिस्थिति को भगवान् की अहैतुकी कृपा समझकर उनके प्रेम में मुग्ध हो जाता है। वह समझता है कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं। इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या हो सकता है?

जिसको लोग सुख कहते हैं, उस अनुकूल परिस्थिति को भी भगवद्भक्त भगवान् की दया मानता है। वह समझता है कि यह परिस्थिति भगवान् ने मेरे छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये और विश्व रूप में अपनी सेवा करवाने के लिये दी है। अतः वह उसमें आसक्त न होकर प्राप्त शक्ति और पदार्थों को भगवान् की प्रसन्नता के लिये जगत् जनार्दन की सेवा में लगाकर भगवान् की प्रसन्नता में प्रसन्न रहता है।

साधक को चाहिये कि अनुकूल और प्रतिकूल किसी प्रकार की परिस्थिति में आबद्ध न हो, उसमें रस न ले अर्थात् उनमें ही संतुष्ट होकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन से निराश न हो जाय; किंतु हरके प्राप्त परिस्थिति को सदुपयोग करके उससे ऊपर उठने की चेष्टा करे। प्रत्येक परिस्थिति प्राणी के लिये साधन रूप है, साध्य नहीं।

कृपा और दया के शब्दार्थ में कोई खास भेद नहीं है। परंतु अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थिति साधक को भगवान् की ओर अधिक आकर्षित करती है। इसीलिये उसमें साधक को भगवत् कृपा का अनुभव होता है दया तो हरके दुःखी पर हो सकती है, परंतु जिस दया के साथ अपनत्व और प्रेम का भाव अधिक हो, उसे कृपा कहा जा सकता है।

प्रश्न-ईश्वर का भक्त यदि आवश्यकता पड़ने पर दूसरों से कामना न करके ईश्वर से कामना करे तो क्या दोष है?

उत्तर-जब तक साधक का संसार से सम्बन्ध रहता है, तब तक उसका भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता। संसार से और शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध छोड़कर एक मात्र भगवान् से सम्बन्ध लोड़ लेना, भगवान् के सिवा किसी से कोई नाता न रहना, यही तो भक्ति है। दो सम्बन्ध एक साथ नहीं रह सकते। लड़की जब पिता के घर से सर्वथा सम्बन्ध छोड़ती है, तब पति के घर से सम्बन्ध होता है। जब साधक का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कोई वस्तु या परिस्थिति उसके लिये आवश्यक कैसे हो सकती है और वह किसी प्रकार की कामना कर ही कैसे सकता है? जो वस्तुओं की कामना करता है, वह तो वास्तव में उन वस्तुओं का ही भक्त है, ईश्वर का नहीं।

भगवान् में पूर्ण विश्वास और नित्य नया प्रेम हो, इसी का नाम भक्ति है। यदि साधक अपनी कमजोरी का अनुभव करे और किसी प्रकार के संकल्प को विचार के द्वारा नहीं मिटा सके तो उसे भगवान् के समर्पण कर दे। उसकी मरजी पर छोड़ दे। वे चाहें उसे पूरा करके मिटा दें, चाहें बिना पूरी किये मिटा दें। साधक को पहले से किसी प्रकार का निश्चय करके माँग नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उसका वास्तविक हित उस संकल्प को पूरा करने में है या मिटाने में, इस बात को साधक नहीं जानता। अतः साधक को अपनी राय कायम नहीं करनी चाहिये और कामना पूर्ति के लिये प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिये। सब कुछ भगवान् पर ही छोड़ देना चाहिये। वे जो कुछ करें उसी में प्रसन्न रहना चाहिये। यदि प्रार्थना करनी ही हो तो उनके पवित्र प्रेम की प्राप्ति के लिये, सुख-दुःख के बन्धन से छूटने के लिये, सब प्रकार की चाह से रहित होने के लिये माँग पेश करे।

इससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि भगवान् कामना पूर्ण करने में असमर्थ हैं या कामना पूरी नहीं करते। जो साधक भगवान् का भजन-स्मरण किसी कामना की पूर्ति के लिये करता है, वह कामना यदि उसके पतन में हेतु नहीं हो तो भगवान् अवश्य पूरी करते हैं; परंतु उससे उस साधक को भगवान् का प्रेम नहीं मिलता।

भगवान् का चिन्तन तो चिन्तन के लिये नहीं, उनके प्रेम के लिये होना चाहिये। चिन्तन प्रेम के लिये किया जाता है। चिन्तन के लिये चिन्तन करने का कोई स्वारस्य नहीं होता।

प्रश्न-भगवान् के नाम का जप करना-यही तो भक्ति है या और कुछ?

उत्तर-जिसमें प्रेम होता है उसके नाम का जप करना नहीं पड़ता। विचार करके देखें। जिन स्त्री, पुत्र और मित्र आदि में प्यार होता है, क्या वह उनका जप करता है? जिसको धन प्रिय होता है, क्या वह उसका जप करता है? जिससे प्यार होता है उसका स्मरण और चिन्तन तो अपने आप होता है, करना नहीं पड़ता, क्योंकि प्रेम प्रयत्नसाध्य नहीं है, वह तो भगवान् पर विश्वास करके उनको अपना समझ कर अपने आपको उनके चरणों में समर्पण कर देने से होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि नाम जप नहीं करना चाहिये। जिसका नाम पर विश्वास हो उसके लिये नाम-जप बहुत ही लाभदायक है मेरे कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि नाम जप ही भक्ति है, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न-मनुष्य क्या करने में स्वतन्त्र है और किसमें परतन्त्र है?

उत्तर-हरके मनुष्य प्राप्त वस्तु, योग्यता, परिस्थित और सामर्थ्य का सदुपयोग और दुरुपयोग करने में स्वतन्त्र है, परंतु उसके फल भोग में स्वतन्त्र नहीं है, फल देना विधाता के अधीन है। वह जिस कर्म का फल जब और जिस प्रकार देना चाहे, दे सकता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का नाम भलाई और दुरुपयोग का नाम बुराई है। भलाई का फल सुख और बुराई का फल दुःख होता है। जो कुछ बल अर्थात् वस्तु, परिस्थिति और उनका उपयोग करने की शक्ति प्रकृति से मिलती है, वह कर्म से मिलती है और विवेक भगवान् की कृपा से मिलता है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं होता।

शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार जो प्रारब्ध बनता है, उसके अनुसार परिस्थिति मिलती है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोग से फिर प्रारब्ध बनता है, उसका फल भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है इसी प्रकार यह कर्म-भोग का चक्र चलता रहता है। सुख भोग का प्रलोभन मनुष्य को अपना कर्तव्य पालन नहीं करने देता।

इसलिये साधक को चाहिये कि सुख भोग के प्रलोभन का त्याग करे और प्रतिकूलता से भयभीत न हो, प्रत्युत् भगवान् की अहैतुकी कृपा से जो विवेक प्राप्त हुआ है, उसका आदर करके प्रतिकूल परिस्थिति को भी भगवान् की कृपा मानकर प्रसन्न रहे। किसी प्रकार के सुख-भोग की

कामना न करे। सुख भोग की कामना के त्याग को ही निष्काम भाव कहते हैं। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर उसमें आसक्त न हो, उसको उदारतापूर्वक दुःखियों को सुख पहुँचाने में लगा दे और उसमें ऐसा समझे कि भगवान् की दी हुई वस्तु उन्हीं के आज्ञानुसार उनके काम में लग रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है। इसभाव से साधक की वासना मिट जाती है।

अपने अधिकार का त्याग करके अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा भगवान् के नाते दूसरों के अधिकार की रक्षा करना और उनके हित की भावना से उनको सुख पहुँचाना-यही साधक का पुरुषार्थ है।

जिस बात का निर्णय करना हो, उसका अच्छे-से-अच्छा पहलू लेकर कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये, इसी में प्राप्त विवेक की सार्थकता है।

प्रश्न-गुरु से उऋण होने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये?

उत्तर-जिससे हमें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो अर्थात् जो हमारे साधन का निर्माण कर दे, वही गुरु है एवं गुरुद्वारा उपदिष्ट साधन को जीवन में ढाल लेना उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही गुरु से उऋण होना है।

हाड़-मांस का शरीर गुरु नहीं हैं गुरु में जो दिव्य ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है। उसका आदर करके उनकी आज्ञा के अनुसार अपना जीवन बना लेना ही शिष्य का शिष्यत्व है।

मनुष्य को गुरुतत्त्व की प्राप्ति चार प्रकार से होती है....

१. पहला गुरु तो भगवान् की कृपा से मिला हुआ विवेक है। उससे हरेक मनुष्य अपने साधन का निर्माण कर सकता है। जो प्राप्त विवेक का आदर करता है, उस साधक को बाह्य सद्गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो इसका आदर नहीं करता, वह दूसरे गुरु को पाकर भी साधन का निर्माण नहीं कर पाता।

२. दूसरा गुरु व्यक्ति के रूप में मिलता है। जब मनुष्य अपने प्राप्त विवेक का आदर नहीं करता और सद्गुरु की आवश्यकता समझकर उनको पाने की चेष्टा करता है, तब उसे व्यक्ति के रूप में गुरु की प्राप्ति होती है। उनकी कृपा से भी साधक उनके उपदेशानुसार अपने साधन का निर्माण कर सकता है।

३. तीसरा गुरु ग्रन्थ के रूप में मिलता है। जब मनुष्य की किसी व्यक्ति पर श्रद्धा नहीं होती, किसी के बताये हुए साधन के अनुसार वह

अपना जीवन नहीं बना सकता, तब सत् शास्त्रों को अर्थात् गीता एवं रामायण आदि सत्पुरुषों द्वारा रचे हुए ग्रन्थों को गुरु रूप में वरण कर सकता है और उनके उपदेशानुसार अपने साधन का निर्माण करके उसके अनुकूल अपना जीवन बना सकता है।

४. चौथा गुरु सत्संग है, अपने दोषों को सामने रखकर आपस में विचार-विनिमय द्वारा उन पर विचार करके साधन का निर्माण करने का नाम ही सत्संग है। इस प्रकार साधन का निर्माण करके उसके अनुसार साधक अपना जीवन बना सकता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि साधन तत्त्व ही गुरु तत्त्व है और साध्य तत्त्व ही भगवान् है। साध्य से भी साधन का महत्व अधिक है, जैसे धन से भी धन प्राप्ति के साधन का महत्व अधिक है। इसी भाव को लेकर गुरु को भगवान् से भी बड़ा कहा जाता है। गुरु के शरीर की सेवा करना भी शिष्य का काम है; परंतु गुरु की असली सेवा तो उनकी आज्ञा के अनुसार जीवन बना लेना ही है।

श्रद्धा गुरु में करनी चाहिये और प्रेम भगवान् में करना चाहिये। गुरु भी यही सिखाता है।

प्रश्न-शरणागति की व्याख्या कीजिये?

उत्तर-शरणागति की व्याख्या नहीं हो सकती, वैसे इस विषय का एक निबन्ध लिखा गया है, वह छप भी गया है, पर अभी आया नहीं, आ जाता तो एक पुस्तक दे देते। शरणागति का कोई एक ही प्रकार नहीं होता, अधिकारी के अनुसार शरणागति में भी भेद होता है।

शरणागति की भूमि विश्वास है, जहाँ विश्वास होता है, साधक अपनी योग्यता और विश्वास के अनुरूप प्रभु की महिमा को जैसी और जितनी समझता है, उसी ढंग से वह प्रभु के शरण होता है। शरणागति तो साधक के हृदय की पुकार है, वह सीखने से नहीं आती।

जबतक मनुष्य अपने विवेक, गुण और आचरणों द्वारा अपने दोषों का नाश कर लेने की आशा रखता है तब तक उसमें शरणागति का भाव जाग्रत नहीं होता। जब अपने प्राप्त विवेक और बल का प्रयोग करके भी साधक अपने दोषों को मिटाने में अपने को असमर्थ पाता है, जब उसका सब प्रकार का अभिमान गल जाता है और वह अपने को सर्वथा निर्बल समझ लेता है तथा भगवान् की महिमा इस प्रकार जान लेता है कि वे सर्वशक्तिमान्, सर्व गुण

सम्पन्न, सर्व सुहृद्, परब्रह्म परमेश्वर, पतितपावन और दीनवत्सल है; हरेक प्राणी, चाहे वह कितना ही पापी, कितना ही नीच क्यों न हो; उसको अपनाने के लिये, उससे प्यार करने के लिये वे हर समय, हर जगह प्रस्तुत रहते हैं; एवं साथ ही यह सन्देह-रहित विश्वास हो जाता है कि मैं जैसा भी हूँ, उनका हूँ एक मात्र वे ही मेरे हैं; उनके अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है; तथा जिसके हृदय में उनके प्रेम की लालसा है और जो उसकी पूर्ति से निराश भी नहीं हुआ है, उस साधक में शरणागति का भाव जाग्रत होता है।

मनुष्य के जीवन में जितने प्रकार के अभाव होते हैं, जिनके कारण वह दुःखी होता है, वे सब प्राप्त विवेक के अनादर से और बल के दुरुपयोग से होते हैं। जो साधक विवेक का आदर और बल का सदुपयोग करके सब प्रकार के दोषों को मिटा कर अपने चित्त को शुद्ध कर लेता है, उसे शरण लेने की आवश्यकता नहीं होती। एवं भगवान् भी जब तक कोई अपनी पूर्ति स्वयं कर लेता है, तब तक उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। जो साधक शरण लेना चाहता है, सम्भव है, भगवान् उसे भी शरणागत होने का अवसर न दें, उसके पहले ही उसकी लालसा पूरी कर दें।

व्याख्यान उसी बात का होता है, जो कि जाने वाली हो। जो अपने आप या भगवान् की कृपा से होने वाली बात है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य का यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि जिस शरीर, बुद्धि, मन आदि को मैं अपना समझता था एवं संसार के जिन व्यक्तियोंको, जिस सम्पत्ति और परिस्थितिको अपनाकर मैंने उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ रक्खा है, वे कोई मेरे नहीं हैं, इस भाव से जब वह सब ओर से निराश हो जाता है, तब उसका उन शरणागत-वत्सल, सर्व-सुहृद भगवान् की ओर लक्ष्य जाता है और उनके शरणागत होने की लालसा प्रकट होती है। यह शरणागति ही जीवका अन्तिम पुरुषार्थ है।

अतः साधक को चाहिये कि भगवान् की महिमा और उनके सहज कृपालु स्वभाव की ओर देखकर अपने उत्साह में कमी न आने दे, अपने लक्ष्य की प्राप्ति से कभी निराश न हो और भगवान् की शरण होकर सर्वथा उन्हीं पर निर्भर हो जाय। अपनी निर्बलता को जानकर इस भाव को सर्वथा मिटा दें कि मैं कुछ कर सकता हूँ या मुझे कुछ करना है।

जब साधक प्रभु की शरण हो जाता है, तब उसका अहंभाव मिट जाता है; क्योंकि किसी प्रकार के बल का और गुणों का अभिमान रहते हुए मनुष्य भगवान् की शरण नहीं हो पाता। शरणागत साधक कभी भी भगवान् से कुछ चाहता नहीं एवं यह भी नहीं समझता कि मेरा उन पर कोई अधिकार है। वह तो सब प्रकार से विश्वास पूर्वक अपने आपको उनके समर्पण कर देता है। और उन्हीं पर निर्भर रहता है।

भगवान् की कृपा से, शरणागत भक्तों का संग करने से और प्राप्त विवेक का आदर करने से शरणागत भाव प्राप्त होता है। जब साधक का कोई उपाय न चलें, अपनी निर्बलता का पूरा-पूरा अनुभव हो जाय तब उसे भगवान् की शरण लेकर उनको पुकारना चाहिये। शरणागति अचूक शस्त्र है। इससे मनुष्य के समस्त दोष जल कर भस्म हो जाते हैं।

साधक का जीवन अपनी मान्यता और जानकारी से अभिन्न हो जाना चाहिये। मान्यता, जानकारी और जीवन, तीनों की एकता होनी चाहिये। उनमें भेद न हो।

यदि किसी के मन में यह भाव आये कि भगवान् तो स्वभाव से ही दयालु हैं, उनकी कृपा मुझ पर क्यों नहीं हुई, तो उसे अपनी दशा का अध्ययन करना चाहिये। पहले तो उसे यह देखना चाहिये कि मैं क्या चाहता हूँ, उसके बाद यह देखना चाहिये कि मैं उसकी पूर्ति के लिये क्या कर सकता हूँ, फिर यह कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उससे मेरी आवश्यकता पूरी हो रही है या नहीं अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये मुझमें व्याकुलता है या नहीं, उसके लिये मैं संसार के प्यारे-से-प्यारे काम को और पदार्थों को छोड़ सकता हूँ या नहीं।

इस प्रकार अपनी दशा का अध्ययन करने पर यदि मालूम हो कि मैं संसार की किसी अनित्य वस्तु को चाहता हूँ तो प्राप्त विवेक के द्वारा उसके परिणाम पर विचार करके उस चाह को मिटा देना चाहिये। यदि यह मालूम हो कि मैं स्वयं कुछ कर सकता हूँ तो यह देखकर कि अब तक मैंने जो कुछ किया है उससे मेरी आवश्यकता पूर्ण क्यों नहीं हुई, साधक को अपनी निर्बलता का अनुभव करके उस अभिमान का त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि अभिमान के रहते हुए भगवान् की कृपा प्राप्त नहीं होती। अपने बल का अभिमान छोड़कर साधक जब यह विकल्प-रहित दृढ़ विश्वास कर लेता है कि मुझ पर भगवान् की कृपा

अवश्य होगी, मैं उनका कृपा पात्र हूँ, उसी समय उस पर भगवान् की कृपा अवश्य हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है

जब भगवान् की असीम कृपा से शरणागति का भाव उदय हो जाता है, उसके बाद साधक को कभी असफलता का दर्शन नहीं होता।

मनुष्य को विचार करना चाहिये कि मुझे सबसे अधिक प्रिय क्या है? यदि उसे यह मालूम हो कि मेरा प्यार बहुत जगह बँटा हुआ है तो उसे समझना चाहिये कि अनेक जगह प्यार बँटा रहते हुए शरणागति का भाव उत्पन्न नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि जिन अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़कर वह उनसे प्यार करता है, उनसे प्रियता उठाकर एकत्र करे। एक मात्र उसी को अपना प्रिय समझे कि जिसके बिना वह किसी प्रकार भी चैन से नहीं रह सके। ऐसा प्रिय एक प्रभु ही हो सकता है।

विचार करने पर मालूम हो सकता है कि संसार की समस्त वस्तुओं के बिना हम चैन से रह सकते और रहते हैं। उनका वियोग अनिवार्य है; क्योंकि जो विनाशशील पदार्थ हैं, उनसे मनुष्य का नित्य सम्बन्ध कैसे रह सकता है, अतः उनसे प्यार करके अपने नित्य सम्बन्धी प्रभु से दूरी मान लेना कितनी बड़ी भूल है? साधक को चाहिये कि भली प्रकार विचार करके अनित्य पदार्थों से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ दे और अपने प्रभु पर विश्वास करके उनसे सम्बन्ध जोड़ ले। जिस पर विश्वास होता है, उससे सम्बन्ध जो जाता है। जिससे सम्बन्ध होता है, उसकी का चिन्तन होता है। और जिसका चिन्तन होता है, उसी में प्रेम होता है।

भगवान् पर विश्वास और प्रेम स्वाभाविक होना चाहिये, किसी प्रकार का जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्न-साध्य वस्तु स्थायी नहीं होती। अपने जीवन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि मेरा भगवान् पर सहज विश्वास और प्रेम क्यों नहीं होता? यदि मालूम हो कि भगवान् को मैंने कभी देखा नहीं इसकारण विश्वास नहीं होता तो सोचना चाहिये वे हमें क्यों नहीं दीखते? तब मालूम होगा कि हम अपनेक सीमित वस्तुओं को देखते हैं और उन्हीं के साथ-साथ भगवान् को भी देखना चाहते हैं, इसीलिये भगवान् नहीं दीखते; क्योंकि वे असीम हैं, अतः सीमित चीजों के साथ सीमित दृष्टि से कैसे दिखलायी दें?

इसके सिवा यह बात है भी नहीं कि भगवान् दीखते नहीं, इस

कारण उन पर विश्वास नहीं होता; क्योंकि दीखने वाली सब वस्तुओं पर भी तो विश्वास नहीं होता।

कामना-पूर्ति की इच्छा वास्तविक आवश्यकता का ज्ञान नहीं होने देती। वही विश्वास में बाधक है। उसकी उत्पत्ति देह में अहंभाव से होती है।

अपनी आवश्यकता क्या है? इस पर विचार करने पर साधारण दृष्टि से मालूम होता है। कि धन ही सबसे अधिक जरूरी है। आगे बढ़ने पर मालूम होगा कि धन की अपेक्षा वस्तु अधिक आवश्यक है। उससे बढ़कर अपने सम्बन्धित व्यक्ति और उससे भी अधिक आवश्यक अपना शरीर मालूम होता है।

धन की आवश्यकता लोभ के कारण मालूम होती है। चित्त की अशुद्धि से लोभ उत्पन्न होता है। वस्तुओं की आवश्यकता सुख भोग-कामना से होती है। अपने माने जाने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता मोह से मालूम होती है। लोभ, काम और मोह-ये सभी चित्त की अशुद्धि से होते हैं और चित्त को अशुद्ध करते रहते हैं तथा इनके कारण मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिलती। बारंबार अभाव का दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि सभी अनित्य हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि संसार वास्तव में हमारी आवश्यक वस्तु नहीं है। चित्त के दोष से ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। वास्तव में वे इच्छाएँ हैं; क्योंकि आवश्यकता अनेक नहीं हुआ करती। इच्छाकी निवृत्ति होती है और आवश्यकता की पूर्ति होती है। इच्छाओं की निवृत्ति से ही आवश्यकता की पूर्ति हुआ करती है।

अतः साधक को कभी इच्छाओं के जाल में नहीं फँसना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि शरीर का नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं होता, संसार के सभी व्यक्तियों और पदार्थों के बिना मैं रह सकता हूँ। शरीर में न जीवन और न पूर्णता है। आवश्यकता उसी की है जिससे मेरा नित्य सम्बन्ध है, जो पूर्ण जीवन है, जिसका कभी अभाव नहीं होता। सब प्रकार से पूर्ण तो एक प्रभु ही हैं। उनके बिना इच्छाओं की पूर्ति में लगे रह कर मैं अनेक जन्मों से अनेक योनियों में भटकता रहा, आज तक उनकी पूर्ति या निवृत्ति नहीं हुई। अब भी यदि मैं उन इच्छाओं के जाल में फँसा रहूँगा तो मुझे प्रभु की कृपा का कैसे अनुभव होगा?

इस प्रकार अपनी दशा का अध्ययन करने से मनुष्य को वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है और वह अपनी वास्तविक आवश्यकता से परिचित्त हो जाता हैं

उसके होने पर वह ईश्वर से भी शीघ्र ही परिचित्त हो जायगा।

जबतक साधक की ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट बुद्धि नहीं होती, तब तक वह ईश्वर के शरणागत नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि सब ओर से बुद्धि और मन को हटा ले, एक मात्र ईश्वर में ही दोनों को लगा दे। भगवान् पर विश्वास न होने के जितने भी कारण हैं, उनको खोज-खोजकर मिटा दे तथा अपने प्रभु पर अचल और विकल्परहित विश्वास करे। ईश्वर के अतिरिक्त किसी में भी न तो विश्वास करे, न किसी को अपना माने, न किसी से प्यार करे और न किसी का चिन्तन करे; क्योंकि अन्य सभी अनित्य हैं। कोई भी प्रेमी नहीं है। प्रेमी वही है जो कभी कुछ ले नहीं।

इस प्रकार जब साधक का सब पर से विश्वास उठकर एवं सबसे सम्बन्ध टूटकर एक मात्र अपने प्रभु में ही विश्वास और सम्बन्ध की दृढ़ता हो जाती है, तब उसका उनमें स्वतः ही प्रेम जाग्रत हो जाता है। प्रेम होने के बाद चिन्तन और स्मरण करना नहीं पड़ता, अपने आप होता है। ऐसा होते ही साधक एक मात्र भगवान् की शरण हो जाता है। अपने-आप उनके समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता है।

प्रश्न-भगवान् को अवतार क्यों लेना पड़ा?

उत्तर-भगवान् को अवतार लेना पड़े, ऐसी बात भगवान् में नहीं होती; क्योंकि भगवान् सर्वथा पूर्ण, सर्वशक्तिमान् और स्वतंत्र हैं।

भगवदवतार के शास्त्रों में तीन हेतु बतलाये जाते हैं-

(१) साधुओं का परित्राण, (२) दुष्टों का विनाश और (३) धर्म की स्थापना। इनमें से दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिये भी कर सकते हैं। यदि वे दोनों भगवान् के अवतार में खास कारण होते तो इस समय भी भगवान् का अवतार होना चाहिये था। धर्म का ह्रास इस समय कम नहीं है और दुष्टों की भी कमी नहीं है। परंतु, उनकी लीला पर विचार करने पर मालूम होता है कि भगवान् का अवतार अपनी रसमयी लीला के द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिये और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिये ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उसका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भरा रहता है।

साधु पुरूष वही है, जो भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, अपने जीवन को भगवत्परायण बनाने की साधना में लगा रहता है, किसी प्रकार का भेष बना लेने का नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, साधु पुरुषों के घरों में लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार पर ही विचार कीजिये। उनका प्राकट्य वसुदेव जी के घर में और माता देवकी के उदर से हुआ। जो स्वयं प्रकाश और सर्वत्र बसने वाला है, उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्मविद्या का नाम देवकी है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् उन साधु पुरुषों के घर जन्म लेते हैं, जो सर्वथा विशुद्ध औार तत्वज्ञानी हैं। परंतु उनको अपनी लीलाका-अपने प्रेम का रस प्रदान नहीं करते। अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करने के लिये आप माता यशोदा की गोद में पधारते हैं। जो यश यानी प्रेम रस का दान करते, उसको 'यशोदा' कहते हैं और आनन्द का ही दूसरा नाम 'नन्द' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भक्तों को अपनी प्रेम मयी लीला का रस प्रदान करके और उनके प्रेम रस का स्वयं आस्वादन करके उन भक्तों को आहलादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिये पूरा नहीं हो सकता।

भगवान् की एक-एक लीला में अनेक रहस्य भरे होते हैं। वे एक ही लीला में बहुतों की लालसा पूरी करते रहते हैं। उनकी प्रेममयी लीला का रहस्य बड़े-बड़े बुद्धिमान् नहीं समझ पाते। औरों की तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्माजी को सन्देह हो गया।

भगवान् अघासुरको मुक्त करके वन-भोजन करनेके लिये अपने बालसखाओं के बीचमें बैठकर भोजन करने लगे तो उस लीला को देखकर ब्रह्माजी चकित हो गये। वे सोचने लगे कि 'साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार ग्वालोंके बालकोंकी जूँठ खा सकते हैं। यह क्या है? एक बालक अपनी वस्तु दूसरे को देता है, वह अपने घरसे लायी हुई वस्तु दूसरे को देता है।' इस मोहमें पड़कर उन्होंने भगवान् की परीक्षा करनेके लिये बछड़ों को उठाया।

इधर बालकोंका मन भगवान्से हटकर बछड़ों की ओर गया। वे बोले, घासके लोभसे बछड़े दूर चले गये हैं, दिखलायी नहीं देते।' भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनका प्रेमी किसी और को देखे, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाय। अतः उन्होंने सखाओं से कहा-'मित्रों! तुमलोग यहीं

रहो, मैं अभी बछड़ों को ले आता हूँ।' श्यामसुन्दर उधर गये कि ब्रह्माजी ने उन बालकों को बेहोश करके वहाँसे उठाया और पर्वतकी गुफामें रख आये। भगवान् से मन हटते ही ग्वाल-बालोंको एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा

इधर गायें तथा गोप-गोपियोंके मनमें यह लालसा बढ़ रही थी कि कभी वे दिन आयेंगे कि श्यामसुन्दर यशोदा मैयाकी भाँति हमारे स्तनोंका दूध-पान करेंगे, उसी प्रकार हमारी गोदमें खेलकर अपनी प्रेममयी बाललीलाका रस प्रदान करेंगे। उनकी उस लालसाको पूर्ण करने के लिये भगवान् स्वयं बालक एवं बछड़े बने और गायों को प्रेमरस प्रदान किया तथा उनका प्रेम-रस दुग्धके रूपमें पान किया। गोप और गोपियोंकी गोदमें खेलकर उनको पुत्र-स्नेहका रस प्रदान किया। एक वर्षतक वे उस मधुर प्रेमरस-का आस्वादन करते रहे। उसके बाद जब ब्रह्माजी ने देखा कि ब्रजका काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर तो पहलेकी भाँति ही उन ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे हैं और खेल कर रहे हैं तथा जिनको मैं चुरा लाया था वे सब गुफा में सो रहे हैं, तब विचार करते ही उनको भगवान् की अचिन्त्य महिमाका कुछ दर्शन हुआ एवं उनका समस्त अभिमान गल गया। भगवान् के चरणों में मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान् की स्तुति की, परंतु भगवान् उनसे बोले तक नहीं। एक ही लीलामें भगवान्ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्यका प्रदर्शन किया। यह काम बिना अवतारके कैसे हो सकता था? एक ओर ब्रह्माके अभिमानका नाश, उसी के साथ-साथ ग्वालबालोंको चेतावनी और गायोंकी एवं गोप-गोपियोंकी प्रेम-लालसाकी पूर्ति। यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है।

इसके पहले जब भगवान् श्यामसुन्दर छः दिनके हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुताका भाव दिखाया था पूतना, जो घोर पापिनी और बालकों का नाश करनेवाली थी, जब सुन्दर धायका कपट वेष बनाकर भगवान् के पास गयी एवं मनमें दूषित भाव रखकर ऊपरसे प्रेम का भाव दिखाकर उनको गोदमें उठा लिया और अपना स्तन श्यामसुन्दर के मुखारविन्दमें दे दिया, तब भगवान्ने उसके मातृस्नेहकी रक्षा करनेके लिये तो उसका दूध पिया और वह उनके प्राण लेनेके लिये आयी थी, इसलिये दूधके साथ-साथ उसके प्राण भी पी गये। भगवान् के

स्पर्शसे उसका कपट नाश हो गया। वह अपने असली रूपमें आ गयी। सारे शरीर में सुगन्ध हो गयी। भगवान् उसके शरीरपर खेलने लगे और उसे माताकी गति प्रदान की। इस प्रकारकी लीला भगवान् बिना अवतारके कैसे कर सकते थे?

इसी प्रकार उनकी हरेक लीलामें अन्नत रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है। उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं।

भगवान् का अवतार नित्य है। उनका लीलाधाम, उनके माता-पिता, उनके सखा और सखियाँ सब चिन्मय प्रेमसे ही बने हुए थे। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं थी। भगवान् के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रखता।

भगवान् के प्रेमी भक्तोंका आज भी उनकी दिव्य लीलामें प्रवेश होता है और वे उनके प्रेम-रसका आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान् का अवतार नहीं होता तो इसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

जिनको यह विश्वास नहीं है कि भगवान् अवतार लेते हैं, उनसे मेरा कोई आग्रह नहीं है कि वे अवतारवादको जबर्दस्ती मानें तथा उनके न माननेका कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि अपनी मान्यताके लिये सभी स्वतन्त्र है।

प्रश्न-साधन में सफलता क्यों नहीं मिलती?

उत्तर-आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधनका फल लेना चाहते हैं, तब उनको सफलता कैसे मिले? हरेक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो कोई दूसरा प्राप्त कर ले और हमें आशीर्वाद दे दे ताकि हमें उसका सुख मिल जाय। जैसे गाछ तो कोई दूसरा लगा ले और उसके फल वह खाना चाहे, जिसने गाछ लगाते समय कुछ नहीं किया, तो ऐसा होता नहीं।

साधनकी सफलताके लिये साधकको स्वयं साधन करना पड़ेगा। उसे साधनको ही अपना जीवन मानना पड़ेगा। ऐसा करनेसे ही वह कृतकार्य हो सकता है।

जो मनुष्य सब प्रकारके बन्धनों से मुक्त होना चाहता हो, उसे विचार करना चाहिये कि बन्धन क्या है? विचार करनेपर मालूम होगा कि भोगोंकी वासना, उनको प्राप्त करनेका संकल्प, उनका सम्बन्ध और चिन्तन, ये सब कहीं बाहरसे नहीं आये हैं। अपने ही प्रमादसे, अपनी ही असावधानी से अपने अंदर उत्पन्न हो गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है। अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है।

बन्धनोंको काटने के लिये अर्थात् उनके मुक्त होने के लिये साधकको चाहिये कि सब प्रकार के भोगोंकी चाहका त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तन से रहित हो जाय।

शरीरको मैं माननेसे और उससे सम्बन्ध रखनेवालों को अपना माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि जिन-जिनसे मनुष्य अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति के कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं तथा अपनेको शरीरमानकर ही मनुष्य उनके उपभोग में प्रवृत्त होता है। वास्तवमें भोगोंका परिणाम रोग और शोक है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकारके बन्धनों का कारण एकमात्र अपनेको शरीर मान लेना है। अतः साधकको चाहिये कि अपने को देहसे सर्वथा भिन्न समझकर सब प्रकारकी भोगवासनाका परित्याग कर दे।

भोगवासनाका अर्थात् सब प्रकारकी चाहका परित्याग करनेके लिये संकल्पोंको मिटा देना आवश्यक है। अतः साधकको चाहिये कि जो आवश्यक संकल्प हों, उनको पूरा करके मिटा दे और जो अनावश्यक हों, उनका त्याग करके मिटा दे। संकल्परहित होनेपर साधकमें शक्ति आती है एवं चित्त शुद्ध और स्थिर होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है।

नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुःखी कर दिया है। भोगोंके वास्तविक स्वरूपको जानकर, संकल्पोंकी उत्पत्तिके कारणको मिटानेकी कोशिश करनेपर और बार-बार उनका निरीक्षण करके त्याग करते रहने पर संकल्पोंकी उत्पत्ति रूक सकती है। इसलिये साधकको निराश नहीं होना चाहिये।

साधकको चाहिये कि संकल्पके निवृत्तिकालमें जो उसे रस मिलता है, उसका अनुभव करे। संकल्प उत्पन्न होकर पूरा हो जाय और दूसरा संकल्प उत्पन्न न हो, उसके बीचमें ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेपर संकल्पनिवृत्ति के रसका अनुभव हो सकता है।

चेष्टा करनेपर भी संकल्प नहीं रूकते। इसका कारण यह है कि संकल्पोंकी उत्पत्तिका दुःख नहीं है और उनकी पूर्तिमें सुख मालूम होता है। अतः साधकको चाहिये कि संकल्पोंका परिणाम दुःख है, यह समझकर उनकी निवृत्ति न होनेतक उनके दुःख से व्याकुल हो जाय और

उनकी पूर्तिके सुखका रस न ले। जिनको वर्तमान स्थिति में संतोष नहीं होता, गहरा दुःख होता है, उनका ही परिवर्तन होता है।

विचार करनेपर साधकको मालूम होगा कि एक-एक चाहको पूरी करनेके लिये अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं और एक-एक संकल्पकी पूर्ति के लिस अनेक इच्छाएँ होती हैं। चाह और संकल्प मनुष्यको पराधीन बना देते हैं। इस रहस्यको न समझनेके कारण ही मनुष्य को संकल्पोंकी उत्पत्तिका दुःख नहीं होता और उनको मिटाने के लिये तत्परतापूर्वक साधन नहीं होता।

संकल्पोंका अन्त होनेसे चाहकी निवृत्ति होगी। चाहकी निवृत्ति ही चित्तकी शुद्धि है। चित्त शुद्ध होते ही साधकको बोध प्राप्त हो जाता है। उससे उसके सब प्रकारके दुःखोंका नाश हो जाता है और उसके बाद जो भक्ति उत्पन्न होती है, उससे अनन्त रस मिलता है। अतः साधकको संकल्पोंका समूल नाश करनेके लिये सदा साधनमें तत्पर हो जाना चाहिये।

(१६)

प्रश्न-गोपियोंके प्रेमकी बात कहिये?

उत्तर-गोपी-प्रेमकी बात वही कह सकता है जिसको गोपीभाव प्राप्त हो गया हो। सुननेका अधिकारी भी वही है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण-किसी भी शरीरमें अहंभाव है, तबतक मनुष्यको गोपीभाव प्राप्त नहीं होता, अतः वह गोपी-प्रेमका अधिकारी नहीं है

उद्धव-जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे, जब ब्रजमें गये, तब गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगको भूल गये। उलटा अपने स्वामी और सेखा श्रीकृष्णको हृदयहीन और कठोर बताने लगे और उन गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। यहाँतक कि ब्रजके लता-पत्ता बननेमें भी अपना सौभाग्य मानकर गोपियोंकी चरण-रजकी कामना करने लगे। उन गोपियोंके प्रेमको भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है?

जबतक मनुष्यका शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लोभ रहता है। गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये वस्तुके संयोग और क्रियाजन्य सुखकी तो कौन कहे, चिन्तन तक के सुखका भी त्याग करना पड़ता है। जबतक यह भाव रहता है-अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थितिसे सुख मिलेगा, तबतक मनुष्य उनका दास बना रहता है। उसके मनमें दूसरोंको सुख

पहुँचानेका भाव उत्पन्न नहीं होता। अपने सुख-भोगकी रूचि रहती है। यही स्वार्थभाव है। स्वार्थभाव के रहते हुए गोपीभावकी बात समझमें नहीं आ सकती।

मानव-जीवनमें सत् और असत् दोनोंका संग रहता है। शरीर, संसार और भोगोंका संग ही असत् का संग है और अनन्त जीवन तथा नित्य आनन्दकी लालसा ही सत्का संग है। जिसमें केवल असत्का संग है, वह भी मनुष्य नहीं है, क्योंकि असत् का संग तो पशु-पक्षी आदि तिर्यक योनियोंमें भी होता है। एवं जिसमें केवल सत् का संग है, उसे भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह मनुष्यभाव से अतीत है। अतः गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भोगोंका संग विवेकद्वारा छोड़ना पड़ता है। उसका त्याग सत्संगसे ही हो सकता है।

सांसारिक सुखभोग में क्या-क्या दुःख हैं, इसकी असलियत का ज्ञान सुखभोगसे उन साधकोंको होता है, जो अपने प्राप्त विवेकका आदर करते हैं। विवेकका आदर ही सत्संग है। इस सत्संग से सुखभोगकी रुचि मिट जाती है और भगवान् के नित्य-नव प्रेमकी लालसा उत्पन्न हो जाती है। तब किसी-किसी अधिकारीको गोपी-भावकी प्राप्ति होती है।

देहसे असंग होनेपर ही मनुष्य भोगवासनासे रहित हो सकता है। दोषोंका त्याग ही गुणोंका संग है। भोगोंकी चाह रहते हुए गुणोंका उदय और दोषोंका अभाव नहीं होता। अतः यह समझना चाहिये कि सब प्रकार की चाहका अन्त होनेपर ही सत् का संग अर्थात् भगवत्प्रेमकी लालसा उत्पन्न होती है।

अतः जिस साधकको गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी लीलामें प्रवेश करके गोपीप्रेमकी बात समझनीहो, उसे चाहिये कि देहभाव से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण भोगोंकी वासनाका त्याग कर दे, क्योंकि जबतक देहभाव रहता है, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ-ऐसा भाव होता है, तबतक गोपी-चरित्र सुनने और समझनेका अधिकार प्राप्त नहीं होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है-यह तो कोई समझ ही कैसे सकता है?

जब भगवान् श्यासुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भोग-वासनाओंको खाकर सबल हो जाती है, तब तो साधकका व्रज में प्रवेश होता है। उसके पहले तो व्रज में प्रवेश ही नहीं होता। यह उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं यह तो उस वज्रकी बात है जो

प्रकृतिका कार्य नहीं है, जहाँकी कोई भी वस्तु भौतिक नहीं है। जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे हुआ है। जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जड़ता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है, उस व्रज में प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं गोपी-भावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी-प्रेमकी बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं?

जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोगवासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं और तभीतक दोषोंका नाश करके चित्तशुद्धिके लिये साधन करना रहता है। चित्तका सर्वथा शुद्ध हो जाना और सब प्रकारसे असत्का संग छूट जाना ही ब्रजमें प्रवेश है।

अतः जिस साधकको गोपी-प्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि पहले मुक्तिके आनन्दतकका प्रलोभन छोड़कर व्रजमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे और उसके बाद भगवान् की कृपापर निर्भर होकर गोपी-भावको प्राप्त करे।

प्रश्न-मनुष्यका विकास कैसे हो?

उत्तर-मनुष्यको अपने विकासके लिये कुछ-न-कुछ श्रम करते रहना चाहिये। श्रमसे जीवनमें संयम आता है और बेकार रहनेसे विलासिता बढ़ती है।

दुःखी मनुष्यको निश्चय करना चाहिये कि जिस भूलके कारण यह दुःख प्राप्त हुआ है, उसे नहीं दुहराऊँगा तथा उस प्राप्त दुःखका सदुपयोग करे अर्थात् देहाभिमान और संसारके सम्बन्धको दुःखप्रद समझकर उससे असंग हो जाय।

जो मनुष्य प्राप्त अनुकूल परिस्थितिका दुरुपयोग करता है, उसके जीवन में प्रतिकूल परिस्थिति अवश्य आ जाती है। अतः साधकको उसका सदुपयोग करना चाहिये।

साधकको विश्वास रखना चाहिये कि जीवन स्वयं अपनी रक्षा करता है। यदि जीवन शेष है तो जीवनके साधन स्वयं प्राप्त हो जायेंगे।

परिस्थितिका परिवर्तन होना अनिवार्य है। सदैव एक-सी परिस्थिति नहीं रह सकती। अतः साधकको चाहिये कि जो परिस्थिति सामने है, उसमें मुझे क्या करना है, इसपर विचार करे।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें चरित्रबल और सुख-इन दोनोंका

संघर्ष रहता है। जो सुखभोग चाहता है, उसीको महत्व देता है, वह चरित्रकी रक्षा नहीं कर सकता। अतः साधकको चाहिये कि वह चरित्रको आदर दे। भारी-से-भारी कठिनाई से न डरे। उसका सामना करके अपने चरित्रकी रक्षा करे। ऐसा करनेसे साधक कठिनाई से पार हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि धैर्य रखे। कठिनाईयोंसे भयभीत न हो। कठिनाई से ही उन्नतिका मार्ग खुलता है।

चरित्रवान् मनुष्यके कर्म दूसरोंके लिये विधान बन जाते हैं अर्थात् आदर्श बन जाते हैं। आचरणमें इस प्रकारके सद्भावको ही चरित्रबल कहते हैं।

चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबल-इन तीनोंकी जीवनमें एकता होनेपर अर्थात् जैसा विवेक हो, वैसा ही दृढ़ विश्वास हो और उन दोनोंके अनुरूप आचरण हो, तब साधकको वास्तविक सफलता मिलती है।

संसार और शरीरकी अनित्यताको समझकर यह निश्चय कर लें कि शरीमें मैं नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है। इसका नाम विवेक है। जहाँ विवेकबल होगा, वहाँ निर्वासना अवश्य आ जायगी। वासनाके जालमें फँसा हुआ प्राणी ही करने योग्य और न करने योग्य सब प्रकारके आचरण करता है। परंतु जहाँ निर्वासना आ जाती है, वहाँ चरित्रबल अपने-आप सुरक्षित रहता है। विवेकशील मनुष्यको किसी प्रकारका भय या प्रलोभन अपने कर्त्तव्यसे नहीं डिगा सकता। अतः साधकको चाहिये कि कठिनाई से घबराये नहीं, भयभीत न हो, किन्तु विवेकबलसे काम ले और धैर्यपूर्वक कर्त्तव्यका पालन करे।

संसार सुख और दुःखसे मिला हुआ है। न तो कोई पूर्ण सुखी है न तो पूर्ण दुःखी है, क्योंकि जो सचमुच पूर्ण दुःखी हो जाता है, उसके दुःखीको दुःखहारी भगवान् खा जाते हैं और पूर्ण सुखी वह है जो संसारसे अतीत है। संसारको अनित्य कहने वाले मनुष्य भी सुखके प्राप्तिकाल में उसका उपभोग करते रहते हैं और दुःखकी प्राप्तिमें सुखके पीछे दौड़ते हैं अतः उस सुखलोलुप मनुष्यको सुख-दुःखकी वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि जिसको वह अनित्य समझता है, उससे विमुख होकर नित्यके सम्मुख हो जाय एवं प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करे, दुरुपयोग न करे।

जब मनुष्य सचमुच संसारसे निराश हो जाता है, उसे संसारसे किसी प्रकारके सुख की आशा नहीं

रहती, तब उसका संसारसे वैराग्य हो जाता है। सुखकी लालसा में फँसे हुए प्राणीके जीवन में वैराग्यका उदय नहीं होता। अतः साधकको अपने में ऐसी भावना करनी चाहिये कि 'हे सुख! अब मैं कभी तुम्हारे पीछे नहीं दौड़ूँगा। तुमने मेरी बहुत दुर्दशा की है। अब मैं तुम्हारी आशा नहीं करूँगा।'

जबतक मनुष्य संसारसे कुछ लेना चाहता है, उसका दास बना रहता है, तबतक उसके दुःख नहीं मिट सकते। करोड़पति और बडे-से-बड़ा सम्राट हो जानेपर भी दुःखों का अन्त नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि संसारकी चाहको मिटाकर चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबलको दृढ़ करे। चरित्र, विवेक और विश्वासका बल दुःखको मिटा देता है।

भारी-से-भारी कठिनाई सहन करके चरित्रको शुद्ध रखनेसे चरित्रबल बढ़ता है। चरित्रबलमें ही उसका निवास है। इससे उत्तरोत्तर सहनशक्ति बढ़ती है। विवेकबलसे त्याग की शक्ति बढ़ती है। विवेकबलसे त्यागकी शक्ति बढ़ती है और विश्वाससे समपर्ण-भावका उदय होता है। साधकमें ये अवश्य हों। इन तीनोंका होना ही जीवन है। इनके बदले में सब प्रकारके सुखों का त्याग किया जा सकता है। संसारकी बड़ी-से-बड़ी कोई भी वस्तु या कोई भी अधिकार ऐसा नहीं है जो इनके बदलेमें नहीं दिया जा सकता हो। अधिक क्या, शरीर तक को देकर भी इनका पालन करना चाहिये।

चरित्रबलसे विवेकबलका महत्व अधिक है। विवेकबलसे भी विश्वासबल महत्व अधिक है, क्योंकि बिना विश्वासके विवेक, विकल्परहित नहीं हो पाता और चरित्रमें दृढ़ता नहीं आती। विश्वास दोनोंको सुरक्षित रखता है।

साधकको चाहिये कि मनकी कामनापूर्तिके लिये विश्वास, विवेक और चरित्रबलका प्रयोग करे। इनकी अमूल्य शक्तिका अनित्य वस्तुओंके लिये व्यय न करे। ईमानदारी और परिश्रमको कभी न छोड़े। सांसारिक वस्तु और व्यक्तियोंका संयोग और वियोग तो होता ही रहेगा। उसका कोई महत्व नहीं है।

संसारकी चाह रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता और बिना चित्तकी निर्मलताके दुःख नहीं मिट सकता। अतः सुखभोगकी इच्छाका त्याग अनिवार्य है। परंतु साधारण मनुष्योंको इसका त्याग मृत्युके तुल्य प्रतीत होता है।

धर्मके विश्वाससे ही चरित्रबल सुरक्षित रहता है। उसके बिना वह नहीं रह सकता। संसारकी असलियतको समझ लेनेपर विवेकबलकी प्राप्ति होती है, किंतु धर्म और विवेक भी ईश्वरविश्वाससे ही पुष्ट होते हैं और सुरक्षित रह सकते हैं। हरेक परिस्थिति में ईश्वर-विश्वास ही काम करता है। उसीके बलपर मनुष्य अपने लक्ष्यतक पहुँच सकता है।

सांसारिक व्यक्तियोंका विश्वास बड़ा भयानक सिद्ध हुआ है। इनपर विश्वास करके मनुष्य बहुत धोखेमें आ जाता है। अधिक क्या, साधकको तो अपने शरीर, मन और बुद्धिपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। विश्वासके योग्य तो एकमात्र ईश्वर ही है।

व्यक्तियोंपर विश्वास न करनेका यह मतलब नहीं है कि साधक उनके दोषोंको देखे या उनको बुरा समझे, ऐसा कहीं नहीं होना चाहिये। किसीको भी बुरा नहीं समझना चाहिये, परंतु किसी कर्त्तव्यके लिये उनपर निर्भर नहीं रहना चाहिये।

जबतक मनुष्य संसारपर विश्वास करता है, उसको अपना मानता रहता है, तबतक वह खतरे से खाली नहीं है। संसारकी सब चीजें धोखा देती है। शरीर, बुद्धि, धन और कुटुम्बी आदि जो कुछ मिला है, वह अवश्य छूट जायगा। अतः कामनापूर्ति के लिये ईश्वरविश्वासका उपयोग करना भूल है।

ईश्वरविश्वास तो साधकका जीवन होना चाहिये। उनके बिना और कोई भी अपना नहीं है। और किसीसे साधकका काम नहीं चलेगा। ईश्वरविश्वासपूर्वक भोगवासनाके त्यागसे ही दुःख दूर होता है। अतः भगवान्पर निर्भर होकर साधकको चरित्रबल की रक्षाके लिये बड़े-से-बड़े दुःखको उत्साहपूर्वक सहन कर लेना चाहिये।

प्राप्त वस्तुओंमें आसक्ति और अप्राप्तका चिन्तन-यही सुखकी लोलुपता और दरिद्रता अर्थात् अभाव है। इसके रहते हुए दुःख नहीं मिट सकता। दुःख मिटनेके लिये निर्लोभी, निर्मोही और अभिमानरहित होना आवश्यक है, जो ईश्वरपर निर्भर होनेसे ही सहज है।

दुःख मनुष्यको दुःखहारीसे मिलाने के लिये आता है। अतः वह जबतक दुःखहारीसे मिला नहीं देता, तबतक जाता नहीं। सुख-की लोलुपताका नाम दुःख नहीं है। यह तो होते और मिटते रहनेवाला है। असली दुःख तो भगवान् की कृपाका

फल है, जो उनसे मिलाकर ही छोड़ता है।

साधकको कामनापूर्तिकी आशा छोड़कर ईश्वरपर निर्भर होना चाहिये। कामनाका नाश करनेके लिये ईश्वरका खूब भजन करना चाहिये। ईश्वर-विश्वासके बिना विवेकबल और चरित्र-बल कुछ नहीं टिक सकता। अतः साधकको दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि ईश्वर मुझे जिस स्थिति में रखेगा, उसीमें मैं प्रसन्न रहूँगा। उसकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है।

सुखका सदुपयोग करनेवालेको कभी दुःख नहीं मिलता। सुखका सदुपयोग करनेवालेको आनन्द अवश्य मिल जाता है। कामनाकी निवृत्तिसे जिज्ञासाकी पूर्ति होती है। भगवान् की आज्ञा ही कर्म है।

ईश्वरभक्तके सामने पहाड़के समान कार्य आवे तो भी उसे बोझा मालूम नहीं होता। जिसका काम है वह जाने, भक्त तो भगवान् का सिपाही है। आज्ञाका पालन करना यही एकमात्र उसका उद्देश्य है। शक्ति और सामग्री तो सब उसकी है। फिर भक्तको बोझा क्यों मालूम दे? भोगोंकी दासतासे रहित होना ही वैराग्यका स्वरूप है। साधकको चाहिये कि सुख-दुःखके सदुपयोग को न भूले। मनमें किसी प्रकारकी चिन्ता, विलाप और भय न रहे। मन विश्वाससे भरा हो, हृदय प्रीतिसे भरा हो, बुद्धिमें भगवान् की महिमा भरपूर हो।

प्रश्न-मोह और प्रेममें क्या भेद है?

उत्तर-मोहका सम्बन्ध शरीरसे होता है, प्रेमका सम्बन्ध आत्मा और परमात्मासे होता है। मोहसे तो मनुष्य वियोगकालमें दुःखी होता है, किन्तु प्रेम वियोगकालमें अधिक चमकता है। मोह फँसानेवाला है, प्रेम सब प्रकारके बन्धनोंसे छुड़ानेवाला है।

प्रश्न-अपनी योग्यताको समझकर साधक अपने साधनका निर्माण कैसे करे?

उत्तर-विवेकशक्ति, क्रियाशक्ति और भावशक्ति-इन्हींके आधारपर योग्यताका पता लगता है। योग्यतामें भेद होता है। रुचिमें अधिक भेद नहीं होता। सभी साधक चाहते हैं कि जो सबसे अच्छी चीज हो, वही हमें मिले। सबसे अच्छी चीज एक ही होती है। उसमें प्रकारभेद हो सकता हैं, परंतु वस्तुभेद नहीं होता। योगी उसीको 'योग' कहता है, विश्वासी उसीको 'ईश्वर' कहता है, विवेकी उसीको 'बोध' कहता है। योग्यता

और रुचिके अनुसार ही साधनका निर्माण होता है।

साधकको चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचिका ठीक-ठीक अध्ययन करे। उसमें अपनेको धोखा न दे अर्थात् दूसरोंकी ओर देखकर योग्यता और रुचिसे विरुद्ध साधनका लालच न करे।

रुचि साधकमें स्वाभाविक होती है, वह किसी दूसरे से प्राप्त नहीं होती। समझ दूसरेसे प्राप्त हो सकती है और होती है। अतः साधकको अपने स्वभावका अध्ययन करना चाहिये। दो व्यक्तियोंका स्वभाव भी सर्वथा एक-सा नहीं होता।

इसलिये योग्यता और स्वभावके भेदसे साधनमें भेद होगा, परंतु सफलता में सबकी एकता हो जायगी। उपायमें भिन्नता और फलमें एकता इसीका नाम 'साधन' है।

सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति कर्मके फलस्वरूप होती है। इसलिये कर्मके फलमें एकता नहीं होती। अपनी योग्यताके अनुसार जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है, परंतु सबसे श्रेष्ठ वस्तुके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जो साधन किया जाता है उसके फलमें भेद नहीं होता।

साधकको विचार करना चाहिये कि क्या मैंने अपनी प्राप्त शक्तिका सदुपयोग कर लिया है या कमी रखी है? विचार करनेपर मालूम होगा कि कमी रखी है। मैंने अपनेको पूरा नहीं लगाया है।

प्रत्येक मनुष्य अपने मनमें भरी हुई बातोंको पूरे-पूरे ढंगसे बाहर नहीं निकालता, किंतु ऊपरसे कुछ-न-कुछ भरता रहता है, अतः साधकको चाहिये कि अपने मनको टटोले, उसमें क्या-क्या भरा है, उसे भली भाँति देखे और सोचे कि मुझमें कौन-सी ऐसी असमर्थता है, जिसने मुझे अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँचने दिया। अवश्य ही मुझे किसी ऐसे सुखमें रस आता है, जिसने मुझे फँसा रखा है। इस प्रकार सोचकर उस रुकावटको विवेक-बल से अथवा विश्वास-बल से दूर करे, तभी वह साधनमें अग्रसर हो सकता है।

आश्चर्य तो इस बातका है, साधकको जो कुछ करना चाहिये उसे करता भी नहीं और न करने के दुःखसे दुःखी भी नहीं होता। वह जितना समय और मन अनावश्यक कामोंमें लगाता है, उतना अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिये नहीं लगाता। यदि साधक अपने मनकी वास्तविकताको विवेकके प्रकाशमें खोलकर रखे तो उसे मालूम होगा कि मेरे मनमें बहुत-से ऐसे संकल्प भरे हैं जिनको मैं न तो पूरा करता हूँ और न

मिटाता ही हूँ। यही कारण है कि मेरा मन संकल्पों के जालमें फँसा रहता है और शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त शुद्ध न होनेके कारण ही मुझे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है।

मनुष्य अपने मनके असली फोटोको छिपाता चला जाता है और वह जो जानता है उसके विपरीत आचरण करता है। साधारण मनुष्योंमें और संतमें यही अन्तर होता है कि संत तो जैसा जानता है, वैसा मानता है और जैसा मानता है वैसा करता है, परंतु साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं करता। अतः साधकको संतोका अनुकरण करना चाहिये।

मनुष्यकी स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती, बदलती रहती है। अतः साधकको सोचना चाहिये कि जब मैं वर्तमान स्थितिसे अलग हो जाऊँगा, तब कहाँ और कैसे रहूँगा? इसका विवेकपूर्वक अध्ययन करनेसे साधक प्राप्त स्थितिसे ऊपर उठनेके लिये अग्रसर हो सकता है।

संसारकी रुचि हमेशा बदलती रहती हैं। एक रुचिकी पूर्ति होते ही दूसरी पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचिकी उत्पत्ति और पूर्तिके जालमें प्राणी फँसा रहता है। जिसको वह बुरी बात समझता है, उसे भी करता रहता है, परंतु रुचिकी पूर्तिके रससे मोहित रहनेके कारण उसके करनेका दुःख नहीं होता और जो सबसे अच्छी चीज है, उसे न पानेका भी दुःख नहीं होता। इसीलिये साधक अपने लक्ष्यकी ओर नहीं बढ़ पाता। यदि उसके जीवनमें वास्तविक दुःखका उदय हो जाय तो उसे बहुत शीघ्र लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है।

जिस चिन्तनको मनुष्य विचारके द्वारा व्यर्थ समझता है, जिसमें मनको नहीं लगाना चाहता, उसमें तो उसका मन लगा रहता है और जिसमें लगाना चाहता है, उसमें नहीं लगता, तथापि वह दुःखी नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि अपने लक्ष्यके महत्वको न जाननेके कारण उसकी आवश्यकताका उसे ज्ञान नहीं है। इसीलिये उसकी तीव्र लालसा नहीं है।

अतः साधकको चाहिये कि भगवान् की महिमाको समझे और उसपर पूरा विश्वास करे एवं अपनी लालसा को सजीव बनावे तथा जबतक वह पूरी न हो जाय, तबतक चैनसे न रहे।

सांसारिक सुख आनेपर उपभोग में जड़ता आती है। सुखभोग में लगे रहनेवाले मनुष्यकी विवेकशक्ति सो जाती है। अतः साधकको कभी सुखभोग में नहीं रमना चाहिये।

मनुष्यके मनकी सब बातें भगवान् पूरी नहीं होने देते। इसमें भी उनकी कृपा भरी हुई है। यदि उसके मनकी सब बातें पूरी होने लगें तो ऐसी भयानक स्थिति पैदा हो जाय जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसपर एक कहानी है-

एक गृहस्थ परिवार में तीन व्यक्ति थे। एक पिता, दूसरी उसकी पत्नी, तीसरा उनका लड़का। वे तीनों बड़े दुखी थे। उनके अभावकी पूर्ति नहीं होती थी। शिव और पार्वती उधरसे निकले तो पार्वती ने कहा- 'इनको ऐश्वर्य प्रदान करके सुखी बना दीजिये।' तब शिवजी ने कहा-'ये लोग सुखी होना नहीं चाहते।' परंतु यह बात पार्वतीकी समझ में नहीं आयी। तब शिवजीने पहले स्त्रीसे कहा, 'तुम जो चाहो, अच्छे-से-अच्छा वर माँग लो। उसने कहा, मैं चौदह वर्षकी बड़ी सुन्दर रूपवती और तन्दुरूस्त हो जाऊँ।' शिवजी ने कहा, 'ठीक है।' वह वैसी ही हो गयी। फिर उसके पति से कहा कि तुम भी वर माँग लो।' तब पतिने सोचा कि 'यह स्त्री तो मुझ बूढ़ेको छोड़कर दूसरा पति करना चाहती है।' अतः उसने वर माँगा कि 'यह सूकरी हो जाय' तब वह सूकरी हो गयी। उसके बाद लड़के को वर माँगने के लिये कहा। उसने माँगा-'हमलोग जैसे पहले थे वैसे ही हो जायँ।' तब वैसे ही हो गये। शिवजीने पार्वतीसे कहा, तमाशा देख लिया' ये लोग कहाँ सुखी होना चाहते हैं?'

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यको अपने वास्तविक सुख-दुःखका ज्ञान नहीं है। वह अपने मन की बात पूरी होनेका सुख और पूरी न होनेको दुःख मानता है। जब मनुष्य सचमुच दुःखी हो जाता है, तब उसकी किसी प्रकारके सुखभोग में प्रवृत्ति नहीं होती और भोगवासनाका अन्त हो जाता है। संसार से अरुचि हो जाती है। वह दुःख मनुष्यको प्रभुसे मिला देता है, क्योंकि सुखभोगकी रुचि और प्रवृत्ति से मनुष्य भगवान्से विमुख होता है और भोगवासनाकी निवृत्ति से भगवान् के सम्मुख और संसारसे विमुख होता है।

जिसको लोग जीवन कहते हैं वह जीवन नहीं है। वह तो मृत्युका ही दूसरा नाम है। एक अवस्थाकी मृत्युको ही दूसरी अवस्थाका जन्म कहते हैं। जैसे बीजकी मृत्यु और पौधेकी उत्पत्ति, बाल्यावस्थाकी मृत्यु और कुमार एवं यौवनावस्था की क्रम से उत्पत्ति। इनमें कोई भी अवस्था स्थायी नहीं है। हरेक क्षण में परिवर्तन होता है। परिवर्तनका ही नाम मृत्यु हैं। अतः वह जीवन नहीं है। असली जीवन तो वह है जिसमें मरनेका डर

नहीं, परंतु लोग इस परिवर्तनशील अवस्थाको ही जीवन मानने लगे हैं। एवं शरीर-इन्द्रियोंके साथ विषयोंके सम्बन्धको ही उन्होंने सुख मान रखा है। वास्तवमें शरीर तो हाड़-मांस और मल-मूत्रकी एक थैली है। इसकी चाह ने आत्माकी चाहको अर्थात् अमर जीवनकी लालसाको ढक रखा है। भोगकी चाह ने मनुष्यको ईश्वरसे विमुख कर रखा है।

साधकको चाहिये कि इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्धसे होनेवाले सुख-भोगकी चाहको मिटाकर भगवान् के सम्मुख हो जाय। विचार करनेपर मालूम होगा कि सब चीजोंके रहते हुए भी अभावका अनुभव होता है। इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती। संयोगका अन्त होकर वियोग अवश्य आयेगा। सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, उनका संयोग कैसे रह सकता है?

जिसके मनमें शरीरको बनाये रखनेकी रुचि है, जो शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है, वह ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता। जो वियोगको अपनाता है, उसे योग और वैराग्यकी प्राप्ति होती है, क्योंकि संसारका चिन्तन टूटनेसे ही योग सिद्ध होता है। अतः साधकको चाहिये कि जो चीज उसे छोड़ती है, उसे पकड़े नहीं।

प्राप्त कर्त्तव्यको भगवान् के नाते ठीक-ठीक पूरा कर देनेसे जीवनमें सुन्दरता आती है। सेवासे संसारमें सुन्दरता आती है। अतः साधकको चाहिये कि जो काम वह कर सकता हो, उससे अपनेको बचाये नहीं। जो संकल्प पूरा करने योग्य हो, उसे पूरा कर दे और जो पूरा करने योग्य न हो उसे मिटा दे।

जीवनमें दोष का होना मनुष्यकी भूल का परिणाम है, परंतु निर्दोषताकी माँग ही उसका पुरुषार्थ है। यदि साधकके हृदयमें दोष-उत्पत्तिका गहरा दुःख हो तो दोष अवश्य मिट जायगा। गहरे दुःखसे योगीको योग, भोगीको वैराग्य होकर प्रभु-मिलनका मार्ग मिलेगा।

प्राणीका शरीरसे सम्बन्ध होनेके कारण जगत्से सम्बन्ध हुआ है। संसारका काम जैसे करना चाहिये, ठीक ढंगसे उसे पूरा कर देनेसे करनेकी वासना मिटती जाती है और न करनेकी स्थिति प्राप्त हो जाती है अर्थात् साधकको सफलता मिल जाती है।

हरेक कार्यमें मनुष्य दूसरोंकी गलती बताकर अपनेको निर्दोष साबित करना चाहता है। इससे उसका सुधार नहीं होता और आपसमें विवाद पैदा होता है। अतः साधकको चाहिये कि वह अपनी

गलतीका अनुभव करे, ऐसा करनेपर उसका सुधार होता है।

भीतर दीनता रहते हुए भी मनुष्य ऊपर से बनावट करके अपनेको अच्छा दिखाना चाहता है और अच्छाई का अभिमान करता है। वास्तवमें दीनता और अभिमान दोनोंही साधनमें विघ्न हैं। अतः साधकको चाहिये कि दीनता और अभिमान दोनों को मिटा दे।

प्रश्न-दीनता और अभिमान कैसे मिटे?

उत्तर-अपने प्रभुके सम्मुख दीन होना, वह दीनता नहीं है, जिसको मिटाना है। मिटाना तो उस दीनताको है, जिससे मनुष्य संसारकी दृष्टिमें दीन हो रहा है। अपनेसे अधिक दुःखियोंको देखने पर दीनता का दुःख और अधिक सुखियों को देखने पर अभिमान मिटता है, परंतु यह असली उपाय नहीं है। अपने प्रभुके सम्बन्धसे जो दीनता और अभिमानको मिटाया जाता है, वही दीनता और अभिमानको सर्वथा मिटा देना है। भाव यह है कि अपनेको भगवान् का समझ लेनेके बाद दीनता नहीं रहती और सबको भगवान् का समझने के बाद किसी वस्तु, परिस्थिति और शक्ति आदिका अभिमान नहीं रहता। जो प्राणी वास्तव में सम्मानके योग्य न होनेपर भी सम्मान चाहता है, वह मानकी दासतामें फँस जाता है, उन्नति नहीं कर पाता।

प्रश्न-सबसे अच्छी पुस्तक कौन-सी है?

उत्तर-जबतक मनुष्य अपनी वर्तमान दशाका अध्ययन नहीं कर लेता, तबतक ग्रन्थके अध्ययनसे लाभ नहीं उठा सकता। जो अपनी दशाका अध्ययन करता है, उसको ग्रन्थसे उस बातका समर्थन मिलता है और सन्देह दूर होकर दृढ़ता आ जाती है। जिस ग्रन्थकी मूल भाषाको मनुष्य समझ सकता हो, वह उसके लिये ठीक है। यदि मूल समझमें न आये तो जिस आचार्यपर उसका विश्वास हो, उसका बताया हुआ अर्थ मानना ठीक है, क्योंकि भाषान्तर करनेवालोंके भावका अर्थमें मिश्रण हुए बिना नहीं रहता। सभी आचार्य जो बात करनेके लिये कहेंगे, उसमें विशेष अन्तर नहीं होगा, किन्तु मान्यतामें अन्तर होगा। अतः जिसपर विश्वास हो, उसकी मान्यताका अनुसरण करना चाहिये।

विचार करनेपर मालूम होता है कि ऐसी कोइ बात ग्रन्थ या उपदेशक साधकको नहीं बता सकता जो वह स्वयं नहीं जानता है। अतः साधकको सबसे पहले बिना किसी पक्षपातके अपने जीवनका अध्ययन

करना चाहिये। 'स्व' का अध्ययन अर्थात् अपनी वस्तुस्थितिके अध्ययनका नाम ही स्वाध्याय है। जो काम मनुष्य दूसरोंसे अपने लिये नहीं चाहता, वह उसको दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिये। जैसे कठोर वाक्य हम दूसरोंसे सुनना नहीं चाहते तो किसीसे कठोर वचन बोलना भी नहीं चाहिये। हम सम्मान चाहते हैं, अपमान नहीं चाहते तो दूसरोंको सम्मान देना चाहिये, उनका अपमान नहीं करना चाहिये। जो अपना बुरा नहीं चाहता, उसे दूसरे किसीका बुरा नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार हरेक आचरणकी शिक्षा अपने जीवनके अध्ययनसे मिल सकती है।

इस प्रकार जब साधक अपने जीवनका ठीक-ठीक अध्ययन करके अपने आचारको ठीक कर लेता है, तब उसका जीवन सुन्दर बन जाता है। जो किसीका बुरा नहीं चाहता, उसका बुरा नहीं होता है। जो बलका दुरुपयोग नहीं करता, उसका बुरा नहीं होता है। जो बलका दुरुपयोग नहीं करता, उसका बल घटता नहीं। अतः साधकको चाहिये कि किसीका बुरा न चाहे और परायी वस्तु लेनेकी इच्छा न करे।

केवल ग्रन्थों के पढ़नेसे और उपदेश सुननेसे मनुष्य बुद्धि द्वारा तो बहुत जान लेता है, परंतु उसके अनुसार अपना जीवन नहीं बना पाता। उसके मस्तिष्क में और हृदयमें बड़ी दूरी हो जाती है। इस कारण उसके लिये आगे बढ़ने की बात तो दूर रही, अपने स्थानपर डटे रहना भी मुश्किल हो जाता है। जैसे किसीका दाहिना पैर तो बहुत आगे निकल जाय और बायाँ बहुत दूर रह जाय तो वह न आगे चल सकता है और न खड़ा ही रह सकता है, वही हाल उसका होता है। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धि और हृदयकी दूरीको हटाकर दोनोंकी एकता करे अर्थात् अपनी जानकारी के अनुसार जीवन बनाता रहे और उसके बाद आगेकी बात जाननेकी कोशिश करे।

विद्या और शिक्षा में बड़ा अन्तर होता है। पण्डित जिस बातको पढ़ाईके द्वारा सीखता है, संत उसको अनुभवसे जानता है। सीखी हुई बात स्मृत्तिके रूपमें होती है। जानी हुई बात जीवन बन जाती है। चित्त शुद्ध होनेपर जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही ठीक ज्ञान है। केवल शिक्षाद्वारा प्राप्त जानकारी ज्ञान नहीं है। उससे तो अभिमान बढ़ता है, जो कि साधनामें विघ्न है।

जब इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिमें विलीन हो जाता है, तब चित्त शुद्ध होता है और जब बुद्धिका ज्ञान इन्द्रियोंमें विलीन हो जाता है अर्थात्

जब मनुष्य अपनी जानकारीका अनादर करके इन्द्रियोंके ज्ञानको ही ज्ञान मान लेता है और इन्द्रियोंके भोगमें ही रचा-पचा रहता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव बुद्धिपर पड़ते रहनेसे बुद्धि विषम रहती है, उसमें समता नहीं आती। प्रभुका प्रेम तो बुद्धिके ज्ञानसे भी परेकी बात है। जब बुद्धिके ज्ञानमें अहं गल जाता है, तब साधकको आगेका मार्ग मिल जाता है। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धिके ज्ञानसे इन्द्रियोंके ज्ञानपर विजय प्राप्त करके बुद्धिको सम बनाये और उसमें अहंको गला दे।

भाषाकी जानकारीमें और वास्तविक ज्ञानमें बड़ा अन्तर है। भाषाके ज्ञानसे जो शिक्षा मिलती है, उससे जीवनकी शिक्षाका महत्व अधिक है। भाषाकी शिक्षा न होने पर भी जीवन शिक्षित बन सकता है। जिसके जीवनमें सदाचार आ गया है, वही सदाचारका सच्चा शिक्षक है। जिसको केवल पुस्तकों का ज्ञान है, वह आचार की शिक्षा नहीं दे सकता।

इसी प्रकार आनन्द और सुखमें भी बड़ा अन्तर है। सुखसे आसक्ति बढ़ती है और वह दुःखके रूपमें बदलता है। आनन्द सदा एकरस और अखण्ड होता है। उसका कभी अभाव नहीं होता।

इन्द्रियोंके ज्ञानकी आसक्तिसे वास्तविक ज्ञान ढका रहता है। अतः साधकको चाहिये कि बुद्धिके ज्ञानसे इन्द्रियों के ज्ञानको दबाकर चित्तको शुद्ध करे।

शिक्षासे जीवनमें सुन्दरता आती है, परंतु उससे अविद्याका नाश नहीं होता। अविद्याका नाश तो विद्यासे होगा अर्थात् यथार्थ ज्ञानसे ही होगा। जो साधक सबसे अलग होकर अर्थात् सबका आश्रय त्यागकर मौन हो जाता है, उसको वह विद्या प्राप्त होती है जिससे अविद्या दूर होती है। जो 'है' (परमात्मा) उसका बोध और जो नहीं है, (संसार) उसकी निवृत्ति- इसीका नाम विद्या है।

भीतर और बाहर सब ओरसे मौन होनेका नाम मौन है। अर्थात् मन,बुद्धि और अहं-इन सबके मौनको यहाँ कहा गया है। अहंकृतिका नाश और अहंकी स्फूर्तिका मौन होनेपर जो जीवन बनता है, वही अमर जीवन है।

श्रम, संयम, सदाचार और सेवा-ये चारों जीवनको सुन्दर बनानेवाली शिक्षाके अंग हैं एवं त्याग और प्रेम विद्याके अंग हैं।

छोटी-छोटी बातोंमें गलती करनेसे मनुष्यकी आदत बिगड़ जाती है, वह अपने जीवनको सुन्दर नहीं बना पाता।

साधकको चाहिये कि साधनमें शिथिलता न आने दे। आलस्यका आदर और संयमका त्याग करने से साधनमेंशिथिलता आती है। गुणसे तो मनुष्यका विकास होता है और गुणोंके अभिमानसे पतन होता है।

विद्याके फलका वर्णन नहीं किया जा सकता। त्याग और प्रेमसे संसारका कल्याण होता रहता है। जो सच्चा त्यागी होता है, जिसमें त्यागका अभिमान नहीं होता, उसीसे त्यागकी शिक्षा मिलती है।

प्रश्न-व्रजमें लोग कहते हैं-पुरुष तो एक श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य सब स्त्री हैं, इसका क्या भाव है?

उत्तर-जो स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण हो और दूसरेको पूर्ण बनानेमें समर्थ हो-वह पुरुष है एवं जिसको पुरुषकी आवश्यकता है, लालसा है-वह स्त्री है। इस अर्थके अनुसार ईश्वर तो पुरुष और जीव स्त्री-यह परिभाषा होती है। यह बात मीराँजीने जीवगोस्वामीसे कही थी। जब मीराँजी श्रीवृन्दावन गयी थीं, तब जीवगोस्वामीजीसे मिलने के लिये उन्होंने संदेश भेजा। गोस्वामीजी ने उत्तर कहलाया कि मैं स्त्रियोंसे बातचीत नहीं करता। इसके उत्तरमें मीराँजीने कहलाया कि मैंने तो सुना था कि पुरुष एक श्रीकृष्ण ही हैं, फिर इस व्रजमें आप दूसरे पुरुष कहाँसे आ गये? यह उत्तर सुनते ही उन्होंने मीराँजीसे बातचीत करना स्वीकार कर लिया।

प्रश्न-कान्ताभाव किसको कहते हैं?

उत्तर-भगवान्को अपना प्रियतम और अपनेको उनकी प्रिया मानकर जिस साधनका आरम्भ होता है, उसे कान्ताभाव कहते हैं। इसीको माधुर्यभाव भी कहते हैं। इस भावमें दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि सभी भावोंका समावेश है। इस कारण यह सबसे ऊँचा कहा जाता है। प्रेमकी अवस्थाका नाम भाव है। वास्तवमें कोई भाव छोटा-बड़ा नहीं होता। अपने-अपने अधिकारके अनुसार सभी ठीक हैं। स्त्री जब पतिकी सेवा करती है, तब दासी होती है, भोजन कराती है, तब माताका काम करती है, पति को सलाह देती है, तब सखी होती है और जब प्रेम करती है, तब कान्ता होती है। जैसे-जैसे संकोच कम होता जाता है, वैसे-वैसे भावका परिवर्तन होता जाता है। कान्ताभाव में संकोचका सर्वथा अभाव है। प्रेमी और प्रेमास्पदमें अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न-साधनमें तत्परता कैसे हो?

उत्तर-तत्परता ही तो साधन है। असलमें तो साधक कहना ही उसे चाहिये, जिसमें पूर्ण तत्परता हो, परंतु कोई साधक बननेको तैयार हो तब न तत्परताका प्रश्न उठे। पहले कोई अपनेको साधक माने और साधन करनेका इच्छुक होवे।

जबतक मनुष्य साध्यसे अपनी दूरी समझता है, उसे यह विश्वास नहीं होता कि साध्य मेरी ही जातिका है, वह मुझे वर्तमानमें ही मिल सकता है, वह मुझसे भी अधम साधकसे मिला है और मिलता है, तबतक साधनमें प्रवृत्ति और तत्परता नहीं होती। वह समझता है कि साधन करते-करते कभी जन्ममें साध्य मिलता होगा। इस कारण प्राप्त सुख-भोगकी चाहका त्याग नहीं करता, इसलिये उसकी साधनमें तत्परता नहीं होती।

यदि साधकको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि मेरा साध्य मुझे वर्तमानमें, अभी, इसी समय प्राप्त हो सकता है और मैं जो कुछ साधन कर सकता हूँ, उसीसे मिल सकता है तो उसकी साधनमें तत्परता हो सकती है। जितना विश्वास दृढ़ होता है, उतनी ही तत्परता अधिक होती है।

योग्यता और रुचिके अनुसार ठीक-ठीक साधनका निर्माण होनेसे साधनमें साधककी तत्परता होती है। अपने विवेकका आदर करके या सत्पुरुषोंसे परामर्श करके जब कोई साधनका निर्माण करनेकी ही चेष्टा न करे, तब तत्परता कैसे हो? जो साधन भाररूप मालूम होता है, जिसमें रुचि और उत्साह नहीं है, वह वास्तव में साधन ही नहीं है।

प्राणी पहले से ही ऐसी धारणा कर लेता है कि क्या वर्तमान में और मेरे-जैसे साधारण प्राणीको भगवान् मिल सकते हैं? अर्थात् यह मानो सम्भव ही नहीं है। पहले तो वह प्रत्यक्ष उदाहरण देखना चाहता है। यदि कोई उदाहरण मिल जाय तो भाग्यपर छोड़ देता है कि 'मेरा ऐसा भाग्य कहाँ, ये बड़े भाग्यवान् हैं, इनपर भगवान् की कृपा है। इनमें अमुक योग्यता है, अमुक सुविधा प्राप्त है, मुझमें तो कुछ भी नहीं, मुझे कैसे मिल सकते हैं? इस प्रकार जो अप्राप्त योग्यताकी जरूरत मानकर स्वयं निराश हो जाता है, उसकी साधनमें रुचि और तत्परता नहीं होती।

जो साधक यह समझता है कि मेरी जैसी-योग्यता है, मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसीका ठीक-ठीक उपयोग करनेसे भगवान् मिलेंगे। जो साधनको ही पहला काम समझता है, जिसको शरीरका विश्वास नहीं है, जो यह समझता है कि जीवनका क्या

भरोसा, न जाने कब और किस कारणसे अचानक शरीरका नाश हो जाय, अतः मुझे तो अभी-वर्तमानमें ही अपने साध्यकी प्राप्ति कर लेनी है, उसकी साधनमें रुचि और तत्परता हो जाती है। उसे साधनमें परिश्रम मालूम नहीं होता। साधन ही उसका जीवन बन जाता है।

प्राप्त विवेकको शरीर और संसारकी असलियत जाननेके लिये लगाया जाय तो साधक इस बातको समझ सकता है कि शरीर और संसार मेरा नहीं है, इसका और मेरा सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तविक नहीं है, यह अवश्य टूटनेवाला है। इसमें सुख नहीं है। इस प्रकार जान लेनेपर साधक संसारसे विमुख हो जाता है। तब साधनमें रुचि और तत्परता होती है।

परंतु आजकल तो कोई साधक बननेको ही राजी नहीं है। यहाँ जो लोग आते हैं, सचमुच सत्संग करनेके लिये कौन आता है? किसीके मनमें कोई बात पूछनेकी नहीं आती। सचमुच सत्संग होता, सभी लोग अपने-अपने साधनमें आनेवाली अड़चनोंका समाधान करना चाहते तो इतने प्रश्न उठते कि उनका उत्तर देनेके लिये समय ही नहीं मिलता, किंतु वैसा कहाँ होता है?

आजकल अपनेको साधक माननेवाला तो दूसरोंकी ओर देखता रहता है। अन्य साधक और वक्ताओंकी आलोचना करता है, अपने दोषोंका निरीक्षण करके उनको मिटानेकी ओर उसका लक्ष्य भी नहीं आता। इसलिये साधनमें तत्परता नहीं होती।

सच्चे साधकको चाहिये कि अपने दोषोंको खोज-खोजकर निकाले। दूसरे के दोषोंको देखनेमें और उनकी आलोचनामें अपने अमूल्य समयको नष्ट न करे। जो काम करनेके लिये मिले, उसे छोटा न समझे, उत्साहपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर भगवान् के नाते उसको ठीक-ठीक करे। मनमें यह भाव रखे कि मैं साधक हूँ, साधन कर सकता हूँ और करूँगा।

साधकको ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अमुक वस्तु, व्यक्ति अवस्था या परिस्थितिके न मिलनेके कारण साधन नहीं हो सकता है, या उस व्यक्तिने साधनमें विघ्न डाल दिया। उसे तो यही मानना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति साधनमें विघ्न नहीं डाल सकता। भवगवान् तो विघ्न डालते नहीं, सब प्रकारसे सहायता करते हैं और अन्य किसीकी सामर्थ्य नहीं है। अतः मेरी दुर्बलता ही विघ्न है।

वास्तव तो साधकका विषय और प्रेम ही साधनमें रुचि और तत्परता उत्पन्न करता है, साधनके लिये बाह्य सहायता आवश्यक नहीं है।

जो सचमुच साधक है, अपनेको साध मानता है, वह कभी यह नहीं मानता कि मैं दुराचारी, कामी, लोभी, क्रोधी या मोही हूँ। जो अपने को दुराचारी, कामी, क्रोधी, लोभी मानता है, वह अपनेको साधक नहीं मान सकता। मनुष्यकी मान्यता प्रतिक्षण बदलती रहती है। मान्यता और प्रवृत्ति दोनोंकी एकता हो और अपने को मनुष्य ठीक-ठीक साधक मान ले तो उसकी साधनमें तत्परता अवश्य हो जाती है।

जो साधक जिस समय पूजा, नित्यकर्म करता है, उसको तो साधन मानता है और दूसरे कामोंको साधन नहीं मानता, वह निरन्तर साधन नहीं कर सकता। पूजा करते समय भी उसका मन दूसरा काम करता रहता है, इस कारण उसका कोई भी काम ठीक नहीं हो पाता।

इसलिये साधकको चाहिये कि करनेयोग्य हरेक कामको साधन समझे, छोटे-से-छोटा जो भी काम प्राप्त हो, उसे पूरी योग्यता लगाकर उत्साहपूर्वक जैसे करना चाहिये, ठीक-ठीक करे। उसमें तुच्छ बुद्धि न करे। जो काम भगवान् के नाते उनका काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, वे सभी साधन हैं। अतः उसे समझना चाहिये कि माला फेरना, झाड़ू लगाना, कमरा साफ करना-ये सभी मेरे प्रियतमके काम है। इस भावसे काम करनेवाला साधक हरेक काम करते समय प्रसन्नता होता रहता है, उसका हृदय प्रेमसे भरा रहता है, रोमांच और अश्रुपात होने लगता है। जब काम पूरा हो जाता है, तब प्रेममें डूब जाता है उस समय कोई संकल्प नहीं रहता।

साधककी जैसी जानकारी हो, उसके अनुरूप भाव हो और भावके अनुसार प्रवृत्ति होकर सबकी एकता हो जाय। अर्थात् प्रवृत्ति में भावकी प्रबलता रहने के कारण भावकी ओर बढ़ता रहे, भावसे विवेककी ओर बढ़ता रहे तो समझना चाहिये कि जीवन साधनकी ओर बढ़ रहा है। यदि जानकारी से भावकी ओर, भावसे प्रवृत्तिकी ओर गति हो अर्थात् प्रवृत्तिकी प्रधानता रह जाय तो समझना चाहिये कि साधनमें शिथिलता है।

आजकल तो यह देखा जाता है कि जब किसीको कोई काम करनेको कहा जाता है, तब मनमें क्षोभ पैदा होता है। वह समझता है

कि मैं यहाँ सत्संग सुननेके लिये आया हूँ कि काम करनेके लिये, काम तो घरमें ही बहुत था। अतः वह कामको कुलशतापूर्वक नहीं कर पाता और उसकी काममें साधन-बुद्धि भी नहीं होती।

उससे यदि कहा जाय कि तुम काम नहीं कर सकते तो ध्यान करो तो कहता है कि ध्यानमें मन नहीं लगता। यदि कहें कि नाम-जप करो तो उसमें भी मन नहीं लगता। ध्यान और नाम-जप तो होता नहीं, कामको तुम साधन समझते नहीं-बताओं क्या करोगे? उलटा करना तो साधन नहीं होता। इस प्रकार अपनी योग्यताको समझकर साधन न करनेवाला मनुष्य साधन नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी साधनमें रुचि और तत्परता नहीं होती।

जो साधक करने योग्य हरेक कामको साधन मानकर भगवान् के नाते कुशलतापूर्वक करता है, उसको करनेके अन्तमें स्थिरता, योग, विवेक और प्रेम मिलता है। जो प्राणी मनकी कामना पूरी करनेके लिये सुख-भोगकी इच्छासे काम करता है, उससे उसका मन पुष्ट होता है, बुद्धि निर्बल हो जाती है, तब मन इन्द्रियोंको आधार बना लेता है, इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर चली जाती हैं। इस प्रकार वह भोगोंमें फँसा रहता है, साधन नहीं कर पाता।

अपने मनकी बात करना, दूसरोंके मनकी न करना-यह साधन नहीं है, किंतु भगवान् के नाते जो दूसरोंके मनकी बात पूरी की जाती है, भक्तोंका और बड़ोंका आदेश मानकर जो काम किया जाता है, छोटोंको प्यार देनेके लिये उनके मनकी बात पूरी की जाती है, इसी प्रकार अपने मनकी बातको छोड़कर जो भगवान् के मनमें अपने मनको मिला दिया जाता है, जो कुछ करे भगवान् का काम समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करे, वही साधन है।

संसार तो अपने अधिकारकी पूर्ति चाहता है। अतः साधकको चाहिये उसके अधिकारकी पूर्ति कर दे, अपना कोई अधिकार माने नहीं और संसारसे किसी प्रकारकी आशा न करे। इससे बुद्धिमें समता एवं शरीर और संसारसे विरक्ति हो जाती है।

मनको पुष्ट नहीं बनाना है। मनका तो नाश करना है। कोई समझे कि 'मनका नाश हो जाने पर भगवान् का भजन कैसे करेंगे' तो ऐसी बात नहीं है। जब मन अमन हो जाता है, उसके बाद जो अपने आप भगवान् का स्मरण होता है, वही असली भजन है और वही साधन है। साधन मनसे

नहीं होता, विवेकपूर्वक विश्वास और प्रेमसे होता है।

साधकका मन भगवान् का, गुरुका और दूसरोंका मन बन जाय, ऐसा जीवन ही वास्तविक जीवन है। जब प्राणी अपने मनकी बात पूरी करता रहता है, अपना मन दूसरेको देना नहीं चाहता, तब वह मन साधनमें उसकी तत्परता नहीं होने देता।

मनुष्ययोनि साधनके लिये मिली है, जिसका जीवन साधनयुक्त है, वही मनुष्य है। साधनरहित जीवन पशु-जीवन है। अतः साधककी प्रत्येक चेष्टा विवेकके प्रकाशमें साधनयुक्त होनी चाहिये। जो जीवन विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित रहे, वही साधनयुक्त जीवन है। साधकका प्रत्येक कार्य कुशलतापूर्वक भावयुक्त होना चाहिये। उसका लक्ष्य स्थिरता, असंगता और प्रेम होना चाहिये।

प्रश्न-मनुष्यको शान्ति क्यों नहीं मिलती? और वह कैसे मिले?

उत्तर-मनकी कामना पूरी करनेके लिये कर्म करनेसे शान्ति नहीं मिलती, मन बलवान होता है। अतः साधकको चाहिये कि मनको पुष्ट न करे, प्रत्युत् उसका दमन करे। साधकका प्रयत्न चित्तशुद्धितक ही है। उसके बाद शान्ति तो अपने-आप आ जाती है।

प्रश्न-समर्पण भी पुरुषार्थ है क्या?

उत्तर-समर्पण अन्तिम पुरुषार्थ है।

प्रश्न-इच्छाशक्ति कैसे बढ़े?

उत्तर-सब इच्छाएँ एकमें विलीन हो जानेपर इच्छाशक्ति बलवती होती है। भिन्न-भिन्न प्रकारकी इच्छाओंको मिटाने के लिये समर्पण किया जाता है।

प्रश्न-भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, यह कैसे मालूम हो?

उत्तर-भगवान्पर विश्वास हो, उसमें किसी प्रकारका विकल्प न हो और उनसे हमारा सम्बन्ध हो, तब मालूम हो सकता है।जैसे माता अपने बच्चेके लिये तरसती है, वैसे ही भगवान्भी अपने भक्तके लिये तरसते हैं। बच्चा काना, लूला, बुरी शकलका या अन्धा-कैसा भी हो, माता उससे प्रेम करती है। बच्चा भी यही समझता है कि मेरी माँ है, मुझे उसका प्रेम मिलेगा। उसे यह सन्देह नहीं होता कि मैं काना, लूला, लँगड़ा या कुरूप हूँ, इसलिये माता प्रेम नहीं करेगी। भगवान् में तो मातासे भी अनन्तगुना वात्सल्य है। फिर वे भक्तसे प्रेम करें, इसमें तो कहना ही क्या है? अतः जो एकमात्र भगवान्को ही अपना मानते हैं, उनको भगवान् का प्रेम मिलता है,

इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह भक्तोंका अनुभव है।

प्रेमी भक्तको ईश्वर ढूँढता है। भक्त ईश्वरको ढूँढनेमें अपनेको समर्थ नहीं मानता। विचारशील साधक ईश्वरको ढूँढता है। यही विचारमार्ग और प्रेममार्गका अन्तर है। प्रेम मन-इन्द्रियोंका व्यापार नहीं है, वह तो विश्वास और सम्बन्धसे प्राप्त होता है।

प्रश्न-अपने दोषोंको कैसे देखें और उनको कैसे मिटावे?

उत्तर-गुण और दोषोंको देखनेकी शक्ति हरेक मनुष्यमें विद्यमान है। जिस योग्यतासे वह दूसरोंके दोषोंको देखता है, उसी योग्यतासे अपने दोषोंको देखे। अपने दोषोंको ठीक-ठीक देख लेनेपर दुःख होता है और दुःख होनेसे दोष दूर हो जाते हैं।

दूसरोंके दोष और अपने गुण देखनेसे मनुष्यका विकास रुक जाता है और अभिमान पुष्ट होता है तथा कर्त्तव्यसे निराश होनेपर भी विकास रुक जाता है। अतः साधकको चाहिये कि अपने गुणोंको न देखे, पराये दोषोंको न देखे और कर्त्तव्यसे निराश न हो। जो सचमुच साधक होता है, उसे पराये दोष देखनेकी फुरसत ही नहीं मिलती और उसे दीखते भी नहीं।

पराधीन व्यक्ति साधन नहीं कर सकता। अतः साधकको चाहिये कि दूसरोंसे किसी प्रकारकी आशा न करे, अपनी रुचि और योग्यताके अनुसार तत्परतासे साधन करता रहे। अपनी योग्यताका अध्ययन करे कि मैं क्या-क्या कर सकता हूँ? जो कर सकता हो, उसके अनुसार दृढ़तापूर्वक साधन करनेकी चेष्टा करे। फिर जो कठिनाई आवे, उसपर विचार करनेपर बराबर रास्ता दिखलायी देता रहेगा। आजकल लोग अपनी योग्यताको नहीं देखते कि हम क्या कर सकते हैं? केवल पूछते रहते हैं कि क्या करना चाहिये? इससे काम नहीं चलता। करने लायक साधन तो असंख्य हैं, परंतु उसके तो वही काम आयेगा जो वह स्वयं कर सकता हो। साधन बहुत बढ़िया हो, परंतु जो नहीं कर सके, उसके कामका नहीं। अतः साधन वही ठीक है जो वह कर सके तथा जिसमें साधकका प्रेम हो।

एक बार किसीके पूछने पर श्री जवाहरलालजीने कहा था कि 'जब कोई कठिनाई आती है, तब दो कदम चलनेका रास्ता मुझे दिखलायी देता हैं दो कदम चलनेपर फिर दो कदम चलनेका रास्ता मिल जाता है।'

कठिनाई एक प्रकारका तप है। तपके बाद सामर्थ्य आती है। यह नियम है। अतः साधकको कभी

निराश नहीं होना चाहिये। प्राप्त योग्यताके अनुसार साधन करते रहना चाहिये।

क्योंकि न जाननेका दोष इतना प्रबल नहीं है जितना कि न करनेका दोष है। अतः साधकको चाहिये कि जाननेके पीछे न पड़े, जो कुछ जाना है, उसके अनुसार करना आरम्भ कर दे। न करनेके दोषको मिटा दे। एवं जिसको न कर सके, उसके करने की इच्छाका त्याग कर दे। जानना तो एक प्रकारका प्रकाश है। जिसके हाथमें सर्चलाइट या लालटेनका प्रकाश है, वह उसे लेकर चलता रहेगा तो जितना चलेगा, उतना ही उससे आगेका मार्ग दीखने लगेगा। इस प्रकार वह बहुत दूर चला जा सकता है। परंतु यदि इस आशापर वहीं खड़ा रहे कि जब आखिरतक प्रकाश हो जायगा, पूरा रास्ता दिखलायी देगा, तब चलना आरम्भ करूँगा तो वह थोड़ी दूर भी नहीं जा सकेगा। दाँये और बाँये पैरके समान जानने और करनेकी शक्तिका मेल है। चलते रहने से एकके बाद दूसरी शक्ति अपने आप आती रहेगी। अतः साधकको चाहिये कि जो कुछ भी वह थोड़े-से-थोड़ा जानता है, उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दे।

ईश्वरको प्राप्त करनेमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है। उसमें तो एकमात्र लालसा चाहिये, व्याकुलता चाहिये। साधक जितना अधिक प्रभुके लिये व्याकुल होगा, उतना ही शीघ्रतासे उसे भगवान् मिलेंगे। उनको पानेके लिये तो व्याकुलताका ही महत्व है।

भोगोंकी प्राप्ति व्याकुलतासे नहीं होती, भोग कर्म करनेसे मिलते हैं, अतः उनकी प्राप्तिके लिये कर्मका महत्व है।

यदि कोई कहे कि मुझसे भगवत्-चिन्तन नहीं होता तो उसे सोचना चाहिये कि फिर मैं विषयोंका चिन्तन क्यों करता हूँ? जिस शक्तिसे वह विषयोंका चिन्तन करता है, उसी शक्तिको ईश्वरचिन्तनमें लगा देना चाहिये?

क्योंकि चिन्तन करना मनुष्यका स्वभाव है। जब वह ईश्वर चिन्तन नहीं करता, तब विषयों का चिन्तन करता है। कोई भला काम नहीं करता तो बुरा करता है। यदि कुछ न करे तो भी बहुत ठीक है, परंतु बिना करे तो रहे नहीं और करने योग्य काम करे नहीं, उलटा करे, तो यह साधन नहीं है। इससे विकास नहीं हो सकता।

प्रायः लोग अपनी शक्तिका उपयोग जिस प्रकार करना चाहिये,

वैसे नहीं करते, उसका दुरुपयोग करते हैं। जिसका चिन्तन करना चाहिये, उसके लिये तो कर्म करते हैं और जिसके लिये कर्म करना चाहिये, उसका चिन्तन करते हैं। इसलिये दोनों ओरसे असफल रहते हैं।

विचार करनेपर मालूम होगा कि संसार और सांसारिक भोगोंके लिये चिन्तन आवश्यक नहीं है, उनके लिये कर्मकी आवश्यकता है, क्योंकि चिन्तनसे संसारको कोई लाभ नहीं होता। चिन्तन करने वालेको भी भोग प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार ईश्वर कर्मसे नहीं मिलते, वे विश्वास, चिन्तन और प्रेमसे मिलते हैं।

कर्म करनेके लिये अपनेसे भिन्न बाहरके संगठनकी जरूरत पड़ती है। कर्मके अनुकूल परिस्थिति और धन भी आवश्यक होता है। शरीर, इन्द्रिय और दूसरे व्यक्तियोंकी सहायताके बिना कर्म नहीं होता, किंतु चिन्तन, विश्वास और प्रेमके लिये किसी भी बाह्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। प्रभुने विश्वास, प्रेम और चिन्तन शक्ति जो कि भगवान् की प्राप्ति करानेवाले हैं, मनुष्यमात्रको दिये है। इनका किसीके पास अभाव नहीं है। इनमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्को प्राप्त करनेमें कोई भी मनुष्य परतन्त्र नहीं है, किन्तु भोगोंकी प्राप्ति में सर्वथा परतन्त्र है।

मनमें अद्‌भुत शक्ति है। मनसे हरेक मनुष्य रत्नजटित मन्दिर बना सकता है, परंतु वैसे यदि मन्दिर बनाना हो तो अनेक वस्तु और धनकी जरूरत पड़ेगी। अतः हरेक मनुष्य उसे नहीं बना सकता।

शरीरके द्वारा कर्म करनेसे संसारके पदार्थ मिल सकते हैं, भगवान् नहीं। भगवान् तो मनकी शुद्धि से ही मिलते।

मनकी चाह पूरी करनेमें पराधीनता है, परंतु उसका त्याग करनेमें पराधीनता नहीं है उसी प्रकार संकल्पोंको पूरा करनेमें और भोगोंको प्राप्त करनेमें पराधीनता है, त्यागमें नहीं है।

अतः साधक को चाहियेकि भोगवासना का त्याग करके शरीरसे संसारकी सेवा करे अर्थात् शरीरके द्वारा कर्म करके संसारके अधिकार की पूर्ति करे और मनको भगवान् में लगाये अर्थात् विश्वास, चिन्तन भगवान् का करे, प्रेम भगवान् में करे। प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग न करे।

ईश्वर-प्राप्तिके लिये वनमें जानेकी जरूरत नहीं है। जो घरमें आरामसे रहकर भजन नहीं कर सकता, वह वनमें कष्ट सहकर कैसे

कर सकता है? वनमें रहना तो तपके लिये आवश्यक होता है।

ईश्वर तो उसको मिलता है, जो अपना मन शुद्ध करके उसको ईश्वरके समर्पण कर देता है।

संसारमें रहनेका उन्हीं लोगोंको अधिकार है, जो अपने साथियोंको सुख दे सकते हों, अपने अधिकारका त्याग करके उनके अधिकारकी रक्षा कर सकते हों, अपने मनकी इच्छाका त्याग करके उनके मनकी धर्मानुकूल इच्छाको पूरी कर सकते हों। जो अपने साथीको सुखी नहीं रख सकता, उसको चाहिये कि उनसे क्षमा माँगकर अलग हो जाय और अपने लिये उनसे कुछ नहीं चाहे, दूसरों से अपने मनकी बात पूरी कराने का हक साधक को नहीं है।

मानवको शरीर तथा अन्य वस्तुएँ संसारकी सेवा करनेके लिये अर्थात् उसके अधिकारकी पूर्ति करके उससे उऋण होनेके लिये मिली हैं और मन भगवान् का चिन्तन करनेके लिये मिला है। यदि मनुष्य शरीरसे संसारकी सेवा न करके उलटा अपने जीवनसे लोगों को नष्ट कर देता रहे तो वह पापी है। दुष्ट जानवरोंकी भाँति ही अनादरका पात्र है। संसार उसका निरादर करता है जो उसके काम नहीं आता और उससे कुछ चाहता है।

लोग साँपको भयानक समझकर उसे मार डालते हैं, परंतु वास्तवमें वह भयानक नहीं है। अपने श्वासद्वारा वायुमण्डलके दोषको खींचकर हवाको शुद्ध बनाता है। अतः बहुत आवश्यक है। उसमें जो विष है, वह तो उसे अपनी जीवन-रक्षाके लिये अर्थात् खुराक पचानेके लिये मिला है। दूसरों को मारने के लिये नहीं। अतः हमलोगों को चाहिये कि उसको मारें नहीं, स्वयं सावधान रहें। अँधेरे में न निकलें, निकलना ही हो तो साथमें प्रकाश रखें।

यदि दूसरों की इच्छासे साधकको भोजन प्राप्त न हो तो शान्तिपूर्वक भूखा रह जाय। भूख को बिना किसी क्षोभके शान्तिपूर्वक सहन कर लेना तप है। साधकको या तो सेवा करनी चाहिये या तप करना चाहिये अथवा अपने मनकी चाह मिटाकर उसका नाश करना चाहिये, क्योंकि शान्ति तप और सेवा से मिलती है।

यदि कोई आश करे कि पहले हमारे साथी सुधर जायँ, तब हम अपना सुधार कर सकेंगे, तो यह कभी नहीं होगा। संसारका सुधार अपने सुधारसे ही होगा।

अपने दुःख और कठिनाइयोंका कारण मनुष्य खुद है। दूसरा कोई नहीं है। जो अपने स्थानपर ठीक नहीं रहता, वही संसारके सहयोगसे वंचित्त रहता है। संसार अपने कर्त्तव्यसे च्यतु नहीं होता, व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्त्तव्य से च्यतु होता है। संयमका अभाव और स्वार्थ-यही मनुष्यको गिरानेवाले हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि दूसरे लोग अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं या नहीं, संसार अपनी जगहपर ठीक है या गलत, इस विचारको छोड़कर वह स्वयं अपने कर्त्तव्यका पालन करे-अपनी जगहपर ठीक रहे।

तप और सेवा संसारके लिये करे एवं विश्वास, चिन्तन और प्रेम ईश्वरके लिये करे! भगवान् की कृपापर निर्भर रहे। भगवान् की कृपासे ही मनुष्य भगवान्को पा सकता है।

चित्तको ठहराने की अभिलाषा बड़ी अच्छी अभिलाषा है, इसे बलवान् बनाओ। प्रयत्न जारी रखो। साधनमें सन्देह मत करो।

जानकारी के अनुसार जीवन बनाओ। मान्यताके अनुसार क्रिया करो।

जानकारीका सम्बन्ध शरीर और संसार से हैं। मान्यता और विश्वासका सम्बन्ध भगवान्से हैं।

प्रश्न-दुःख की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर-वासनाओंकी निवृत्ति होनेसे दुःखों की निवृत्ति होती है। जब साधक विवेका आदर करके विचारद्वारा यह समझ लेता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, तब उसका फल वासना और संकल्पोंका अभाव हो जाता है। इसके होते ही दुःख मिट जाता है। जबतक इन्द्रियोंकी माँग पूरी करनेकी इच्छा रहेगी, तबतक मनका काम रहेगा, इच्छाका अन्त होते ही मनका काम समाप्त हो जायगा। इन्द्रियोंके और मनके क्रियारहित हो जानेपर वासनाका अन्त अपने आप हो जाता है।

साधनमें जितनी स्वाभाविकता आयेगी, उतनी ही सबलता आयेगी। अतः साधकको अपना साधन स्वाभाविक बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये, ताकि वह बोझ मालूम न दे।

तीव्र जिज्ञासा होनेसे ज्ञान स्वतः होता है। आत्मा और परमात्माका ज्ञान बुद्धिसे नहीं होता।

प्रश्न-मन रुकता नहीं। इधर-उधर घूमता रहता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर-मनके न रुकनेका दुःख नहीं है, मनको रोकना परम आवश्यक है, यह अनुभव नहीं है। उसकी महिमा सुनकर रोकना चाहते हैं, परंतु खास जरूरत नहीं मालूम होती, इस कारण नहीं रुकता। देखा जाता है कि हरेक आवश्यक काम पूरा न होने पर मनुष्यको बेचैनी होती है। धनके अभाव में दुःख होता है, प्रियके वियोगमें दुःख होता है, यहाँतक कि खाना-पहनना भी अच्छा नहीं लगता। दुःखके भुलानेके लिये गलत मार्ग भी स्वीकार करते हैं। जैसे मादक द्रव्य सेवन करना आदि, परंतु दुःख नहीं मिटता। यह परिस्थिति तो साधारण दुःखकी है। यदि मन न रुकनेका किसीको इतना दुःख हो जाय कि जबतक मन न रुके, दूसरी कोई बात अच्छी न लगे, व्याकुलता उत्पन्न हो जाय, किसी भी घटनासे चैन न पड़े, तो मन रुक सकता है, क्योंकी सचमुच असहय दुःख होने पर सुखभोग की रूचि जाती रहती है, उस सम सुखका चिन्तन और सुखकी कामना समाप्त हो जाती है, किसी प्रकारकी प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। रोनेका भी साहस नहीं होता।

प्राणीके मनको सुखकी कामना स्थिर नहीं होने देती। एक साथ दो काम करते रहने का अभ्यास भी मनको स्थिर नहीं होने देता। सुखकी कामना मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करनेपर भी मन स्थिर नहीं होता। देहाभिमान भी मनको स्थिर नहीं होने देता। मन स्थिर होने से जो आनन्द मिलता है, उसका बोध या विश्वास न होने के कारण भी मन स्थिर करनेकी पूर्ण रुचि नहीं होती।

इसलिये साधकको चाहिये कि मन स्थिर होनेसे परम आनन्द मिलता है, यह विश्वास करके उसके लिये रुचि उत्पन्न करे। जब तक मन स्थिर न हो, तबतक चैनसे न रहे। प्रवृत्तिसे मिलनेवाले सुखका प्रलोभन छोड़ दे। मनके रुकनेसे जो क्षणिक शान्ति मिलती है, उसमें संतोष न करे। अपनेको शरीरसे भिन्न समझे। एक समय में दो काम करनेकी आदत छोड़ दे। काम करते समय आगे-पीछे की बातका चिन्तन न करे। जिस समय जो काम करे, पूरा मन लगाकर करे। ऐसा करनेसे जब मनको इधरसे हटाकर भगवान् में लगाया जायगा, तब वह स्थित हो सकता है।

जबतक मनुष्यकी न तो प्रवृत्ति के सुखमें अरुचि है, न निवृत्ति में ही पूरी रुचि है, तबतक मन स्थिर नहीं होता, क्योंकि सब ओरसे हट जानेका नाम ही मनकी स्थिरता है। संसारसे हटा लेने पर भगवान् में तो अपने-आप लग जायगा। चंचलताको

रोकने के लिये ही प्रयत्न है। लगानेके लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं है।

प्रश्न-मुझे क्या करना चाहिये?

उत्तर-यदि बिना किये रह सको तो कुछ भी नहीं करना चाहिये। बिना किये न रह सको तो सब कुछ करना चाहिये। भाव यह है कि जिन संकल्पोंको विचारसे नहीं मिटा सको, उनको धर्मानुकूल भगवान् के नाते पूरा करके मिटा देना चाहिये और नये संकल्प उत्पन्न न होने देना चाहिये।

विचार करनेपर मालूम होता है कि कर्मका फल सुख और दुःख है। ये दोनों ही होते और मिटते रहते हैं। करनेसे जो कुछ मिलता है, वह कालान्तर में नहीं रहता। करनेके पहले हम जिस परिस्थितिमें होते हैं, अन्तमें भी उसी स्थिति में आ जाते हैं। करनेके पूर्वकी और अन्तकी स्थितिका यदि मनुष्य ठीक-ठीक अध्ययन कर ले तो करनेकी इच्छा मिट जाती है।

जिसको किये बिना न रह सको, उस कामको करो, परंतु करनेकी इच्छा मिटाकर न करनेकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये करो।

जो मनुष्य भोग-कामनासे कर्म करता है, वह उसका फल भोगता है। दुःखी होता है, फिर करता है, फिर फल भोगता है। भोगके बाद शोक प्राप्ति निश्चित है। अनन्त कालसे जीव इस करने और भोगनेके चक्रमें फँसा हुआ है। अतः जो कुछ करो, भोग-कामनासे रहित होकर करो। प्रत्येक कर्मके दो फल होते हैं-एक दृश्य और दूसरा अदृश्य है। दृश्य फल तो अपने-आप मिट जाता है, अदृश्य फल फलकी कामनासे रहित होनेपर मिट जाता है। इस प्रकार कामनारहित भोग योगमें बदल जाता है, क्योंकि कामना न रहने पर काम नहीं रह सकता। वास्तवमें माने हुए अहंभावका अर्थात् कर्तापन और कामनाका न रहना ही न करना है, क्योंकि शरीरके रहते हुए क्रियाका अभाव नहीं होता। अतः जो कुछ करो चाहरहित, चिन्तनरहित और फलकी आशासे रहित होकर करो। संकल्परहित और वासनारहित जीवनमें माना हुआ अहं मिट जाता है।

जिस साधनद्वारा प्रभुसे सम्बन्ध हो, वही करना चाहिये। अतः करना हो तो सेवा करो अथवा त्याग करो। भोगकी रुचिसे करनेवाला योगसे वंचित्त रहता है। आसक्ति और स्वार्थपूर्वक कर्म करनेवाला सुख-दुःख जालसे नहीं बच सकता।

किसी भी वस्तुको अपना न मानना-यही त्याग है। त्यागसे

वीतरागता उत्पन्न होती है। रागकी निवृत्ति होनेपर सब दोष मिट जाते हैं।

कठिनाई या अभावको हर्षपूर्वक सहन करना तप है। तपसे सामर्थ्य मिलती है। उसको सेवामें लगा देना चाहिये।

अहंता और ममताका नाश विचारसे होता है। सत्यके बोधसे समस्त दुःख मिट जाते हैं। सत्यके प्रेमसे अननत रस (परम आनन्द) प्राप्त होता है। अपनेकी शरीर न माननेसे निर्वासना आती है और सदा रहनेवाली चिर शान्ति मिलती है। करने योग्य काम वह है जिसे किये बिना नहीं रह सकते, जिसको करनेके साधन प्राप्त हैं, जिसका सम्बन्ध केवल वर्तमान जीवनसे है, जिसमें दूसरेका हित है। किसीका भी अहित नहीं है। मनुष्यकी करनेमें प्रवृत्ति हो प्रकारसे होती है-एक संसारकी सेवाके लिये, दूसरी शारीरिक, सुखभोगके लिये। सुख-भोगके लिये करना ही स्वार्थ है। शरीरको संसारकी सेवामें लगाकर सेवाके लिये करना ही कामनारहित करना है।

कामनाकी निवृत्तिसे होनेवाली स्थिति बड़ी उच्चकोटिकी है। उस स्थितिमें निर्विकल्पता आ जाती है, बुद्धि सम हो जाती है, जितेन्द्रियता प्राप्त हो जाती है। उसके प्राप्त होनेपर मनुष्य स्वयं 'कल्पतरु' हो जाता है। जिसको लोग कल्पतरु कहते हैं, उससे तो हित और अहित दोनों ही होते हैं। पर यह कल्पतरु तो ऐसा है जिससे कभी किसीका भी अहित नहीं होता। इससे मनुष्यको योग, बोध और प्रेम प्राप्त होता है।

सेवा करनेवालेकी आवश्यकता संसार भरको होती है। जिसकी आवश्यकता दूसरोंको हो, वह महान् है और जिसको दूसरेकी आवश्यकता हो, उसके लिये वह महान् है जिसकी आवश्यकता वह अनुभव करता है। जो किसी वस्तुकी आवश्यकताका अनुभव करता है, उसके लिये वह वस्तु ही महान् है।

अतः साधकको अपना जीवन ऐसा सुन्दर बनाना चाहिये, जिससे संसार उसकी आवश्यकता समझे और उसकी ओर आकर्षित हो, किंतु उसको संसार की जरा भी आवश्यकता न हो। जब साधक संसारको नहीं बुलाता, तब भगवान् उसके पास अपने-आप आ जाते हैं।

अनावश्यक संकल्प और इच्छा करके मनुष्य अपना नाश करता है, अतः साधकको चाहिये कि आवश्यकतापूर्ति, इच्छाओंकी निवृत्ति, चित्तकी शुद्धि और लक्ष्यकी प्राप्ति करे।

प्राप्त योग्यतासे संसारके अधिकारकी रक्षा करना और धर्मानुकूल सबको सुख पहुँचाना तथा संसारसे कुछ न लेना-यही सेवा है। सेवा करनेसे हृदयमें प्रेम प्रकट होता है। जीवन वही है जिसका शरीर विश्वकी आवश्यकता बन जाय, अहंभाव सदाके लिये मिट जाय और हृदय प्रेमसे भर जाय।

प्रश्न-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि हृदयमें प्रेम है और कभी ऐसा मालूम होता है कि हृदय सूना-सा है, प्रेम नहीं है, यह क्या है?

उत्तर-स्वयं साक्षी बनकर मनके गुण-दोषोंको देखना, विश्वास और प्रेमका बार-बार निरीक्षण करना, यह प्रेममार्ग की साधना नहीं है। साक्षी-भावसे यह देखना कि गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, यह तो विचारमार्गकी साधना है। विश्वास और प्रेमकी खोज करना तो वैसी ही गलती है जैसे कोई बीज बोकर उसे खोद-खोदकर देखे कि यह उपजा या नहीं। अतः साधकको चाहिये कि प्रभुको अपना समझे, उनपर दृढ़ विश्वास करे, विश्वासमें विकल्प न आने दे। शरी, मन, इन्द्रियों और बुद्धिको तथा अपने-आपको पूर्णतया भगवान् के समर्पण करके सब प्रकारसे उनपर निर्भर हो जाय। उनपर पूरा भरोसा करे।

भगवान्पर पूरा भरोसा होनेपर ही समर्पण होता है। समर्पण करनेके बाद जो यह देखना है कि कुछ नयापन आया या नहीं, यही भरोसे की कमी है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य संसारपर जितना भरोसा करता है, उतना भगवान्पर नहीं करता। जैसे कहीं जानेवाला मुसाफिर पहलेसे सीट रिजर्व करा लेता है, तो उसको यह भरोसा रहता है कि ठीक समय पर सीट जरूर मिल जायगी। अतः वह निश्चिन्त हो जाता है, यद्यपि उसमें अनेकों विघ्न भी आ सकते हैं। विघ्न असम्भव नहीं है, तो भी उसपर भरोसा कर लेता है। संसारपर भरोसा करके बहुत बार धोखा खाया है एवं भगवान्पर भरोसा करनेवाले को कभी धोखा नहीं हुआ। यह मानते हुए भी मनुष्य भगवान् पर निर्भर नहीं होता, इससे बढ़कर दुःख और आश्चर्य क्या होगा?

मनुष्य स्वयं अलग रहकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भगवान् में लगाना चाहता है, यहाँसे ही गलती होती है। प्रेमका सम्बन्ध साधकसे है न कि उसके मन, इन्द्रिय और बुद्धिसे। प्रेममार्ग में चलनेवाला पहले तो अपनेको अपने प्रियतमके प्रेमकी लालसा और बादमें प्रेम समझता है, प्रेमी प्रेममें विलीन हो

जाता है। प्रेम और प्रेमीमें भिन्नता नहीं रहती। अतः प्रेममार्गके साधकके जीवनमें भगवान् का प्रेम, भरोसा और कृपा सदा सजीव बने रहने चाहिये, भावकी शिथिलता नहीं होनी चाहिये।

मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ तो अहंकी विभूतियाँ हैं, उनमें प्रेम नहीं होता। प्रेम अहंमें होना चाहिये। अहंमें प्रेमकी प्रबलता होनेसे मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ-सब उसीमें विलीन हो जाते हैं। वे अहंके भावका विरोध नहीं करते।

साधकको ध्यानपूर्वक इस बातका मनन करना चाहिये कि मैं सचमुच क्या चाहता हूँ, मेरी वास्तविक आवश्यकता क्या है? जिनके न होनेपर साधक रह सकता है, जिनका वियोग अनिवार्य है, वह उसकी आवश्यकता नहीं हो सकती। सच्ची आवश्यकता उसीकी है, जिसके बिना वह नहीं रह सकता, जो कभी उससे अलग नहीं होता। सोचनेपर यदि यह मालूम दे कि ऐसा तो एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ तो विचार करना चाहिये, क्या मैंने कभी अपनेमें रमण किया या मैं संसारमें ही रमण करता रहता हूँ, तब मालूम होगा कि जो अनन्त नित्य-सौन्दर्य और अनन्त नित्य रसका भण्डार है, उसीकी वास्तविक आवश्यकता है, वह है जीवनका नित्य साथी, एकमात्र परमेश्वर। वह कभी जीवका साथ नहीं छोड़ता। जीव स्वयं ही संसारको अपनाकर उसे भूल गया है, उससे विमुख हो गया है।

यह मालूम होनेपर साधकको मान लेना चाहिये कि जिसकी मुझे आवश्यकता है, उससे मेरी देश-कालकी दूरी नहीं है, अतः उसकी प्राप्तिके लिये यह धारणा करना कि अमुक स्थानमें जानेपर या अमुक समय में मेरी आवश्यकता की पूर्ति होगी सर्वथा प्रमाद है। उसकी प्राप्ति वर्तमानमें अभी हो सकती है। मेरे प्रमादने ही, मेरी भूल ने ही मुझे उनसे विमुख कर रखा है।

जिनको अपना मानकर हमने अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है-वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं माता-पिता, भाई-बन्धु और पति-पत्नी आदि तथा समस्त पदार्थ सभी अनित्य हैं। अतः इनका वियोग अनिवार्य है। इनको अपना मानकर, इनपर विश्वास करके मैं अपने प्रभुसे विमुख हो गया हूँ।

यह निश्चय कर लेनेके बाद साधकको चाहिये कि जिसकी उसको वास्तविक आवश्यकता है, उस परम प्रियतम प्रभुको ही अपना माने, उसी पर विश्वास करे और उसीसे प्रेम करे। जब साधक उनको अपना मानकर उनके सम्मुख हो जाय, एकमात्र

प्रभुसे ही साधक का अनन्य सम्बन्ध रहे, उन्हींकी निरन्तर स्मृति रहे, तब समझना चाहिये कि प्रेमका प्रादुर्भाव हो गया।

जिनसे वियोग होना अनिवार्य है, उनकी आसक्तिने ही मनुष्यके प्रेमको ढक रखा है। मनुष्य अनित्य वस्तुओंसे सुखकी आशा करके उनमें आसक्त हो गया है। इससे ही वह ईश्वरके विमुख हो गया है।

जो उसे ठुकराता है, उसीको प्राणी पकड़ता है। जिस शरीरको, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको मनुष्य सबसे अधिक अपना मानता है, वे सब इसको ठुकराते हैं अर्थात् इसका त्यागकर देते हैं, तो भी यह उनका सम्बन्ध नहीं छोड़ता। भगवान्को भूल जाने के कारण ही इसकी यह दुर्दशा हुई है। उसीका फल यह है कि यह शरीरमें और भोगोंमें अहंता-ममता करके उनका स्मरण चिन्तन करता रहता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी घटनाओंके चिन्तनमें इतना फँस गया है कि उसको नहीं छोड़ पाता।

प्रश्न-भावदृष्टि और तात्त्विक दृष्टिमें क्या अन्तर है?

उत्तर-विश्वासपूर्वक मान्यता अर्थात् स्वीकृतिको भावदृष्टि कहते हैं और वस्तुको विवेकपूर्वक समझ लेनेका अर्थात् जानकारीका नाम तात्त्विक दृष्टि है। दोनों के फलमें कोई अन्तर नहीं है, भेद इतना ही है कि स्वीकृतिका फल नित्य अनन्त रस है और जानकारीका फल अखण्ड एकरस है। इन दोनोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न-मन और तनमें क्या अन्तर है?

उत्तर-तनसे अर्थात् शरीरसे जो काम लेता है उसको मन कहते हैं। जैसे मोटर और ड्राइवरका हाथ। मोटरके स्थानमें शरीर है और हाथके स्थानमें मन है! वैसे ही जो मनसे काम ले सके, उसको बुद्धि समझना चाहिये।

प्रश्न-भजन किस समय करना चाहिये?

उत्तर-सब कामोंके अन्तमें सोते समय और सोकर उठते समय एवं जो कोई काम करो उसके अन्तमें भजन जरूर करना चाहिये। जो मनुष्य हरेक कामके अन्तमें कम-से-कम एक बार भी निश्चितरूपसे भगवान्को याद कर लेता है, उसको मरते समय भगवान् जरूर याद आ जायेंगे।

प्रश्न-बच्चे लोग मनमानी करते हैं, कहना नहीं मानते, उसके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर-बच्चोंसे कुछ कहो मत, उनको करके दिखाओ, तुम्हारे जीवनका उनपर असर पड़ेगा। जो कुछ करना है, वह चुपचाप करते रहो। कुछ दिनके बाद उनका स्वभाव बदल जायगा। अपने बचपनको भूल गये हो, उसे याद कर लो।

प्रश्न-तीर्थों में क्या करना चाहिये?

उत्तर-तीर्थके महत्वको समझकर उसपर श्रद्धा करनी चाहिये, दान करना चाहिये, स्नान और भजन तथा देवविग्रहोंका दर्शन करना चाहिये। साधु-संतोंसे मिलना और उनका सत्संग करना चाहिये। साधु-संतोंसे मिलना और उनका सत्संग करना चाहिये। निर्बल, निर्धन और श्रद्धाहीन मनुष्यको तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिये। तीर्थयात्रा एक प्रकारका तप है, इसमें शारीरिक कष्ट सहन करना पड़ता है, निर्बल मनुष्य परिश्रम नहीं कर सकता। तीर्थयात्रामें धनका खर्च अवश्य करना पड़ता है, निर्धन मनुष्य धन कहाँसे लावे, यदि ऋण करे या मँगाकर ले तो उसे तीर्थका लाभ नहीं होता। जिसकी तीर्थोंपर श्रद्धा नहीं है, वह भी तीर्थयात्रासे लाभ नहीं उठा सकता।

प्रश्न-तीर्थोंमें जलके भीतर ताँबा, चाँदी या सोना चढ़ानेका माहात्म्य सुनते हैं तो क्या चढ़ाकर ही स्नान करना चाहिये?

उत्तर-ऐसी बात अधिकांश वे ही लोग कहते हैं जो आपका चढ़ाया हुआ द्रव्य निकाल लेना चाहते हैं। अतः भीतर फैंकने की अपेक्षा बाहरमें ही जिसको ठीक समझो, दे देना अच्छा है। जिसमें निकालने वालोंको कष्ट न हो। जो श्रद्धापूर्वक तीर्थमें स्नान किया जाता है, उसका माहात्म्य साधारण नित्य स्नानकी अपेक्षा विशेष है। अतः स्नानका मन्त्र बोलकर पुष्पादि से तीर्थकी पूजा करके स्नान करना अच्छा है।

प्रश्न-पंडे लोग तीर्थकी पूजा कराते हैं, मन्त्रका उच्चारण ठीक नहीं करते, दक्षिणा लेते हैं इसमें क्या करना चाहिये?

उत्तर-वे लोग आपके वस्त्र और घड़ी आदि वस्तुओंकी रखवाली करते हैं, आपके रहन-सहनकी सुविधा भी करते हैं। अतः उनको जो कुछ दिया जाय, वह उनके परिश्रमका बदला समझना चाहिये, देनेवालेको वह भाररूप मालूम नहीं होना चाहिये। यदि प्रत्येक आदमीके पीछे कोई टैक्स लगाया जाता तो देते या नहीं? वैसे ही दे देना चाहिये। यहाँ तो पंडे लोग बहुत थोड़ेमें ही खुश हो जाते हैं, कोई लम्बा-चौड़ा खर्च नहीं है।

प्रश्न-चौके वगैरहमें शुद्धता और छूआछूत मानना चाहिये या नहीं?

उत्तर-सफाईका सम्बन्ध शरीरसे है और शुद्धताका सम्बन्ध मनसे है। अतः मनमें, मैं बहुत शुद्धतासे रहता हूँ, दूसरे नहीं रहते, इस अभिमानको रखकर दूसरोंको नीचा समझना या उन से घृणा करना उचित्त नहीं है। ऊपरकी सफाई के लिये शुद्धता और सफाई तथा छूआछूत का व्यवहार रखना बुरा नहीं है, अपितु आवश्यक हैं, परंतु भेद क्रियामें होना चाहिये। प्रेममें भेद नहीं होना चाहिये। मनमें राग-द्वेषादि विकारोंका न रहना ही सच्चा आचार है। केवल ऊपरकी सफाई ही आचार नहीं है। बाहरकी पवित्रता भी भीतरकी शुद्धता की ओर बढ़ानेके लिये ही है।

प्रश्न-आचारी बड़ा है कि विचारवान्?

उत्तर-इनमें बड़ा छोटा कोई नहीं है, अपने-अपने स्थानपर दोनों ही बड़े हैं। आचार और विचारमें कोई विरोध नहीं है, आपसमें एक-दूसरेके सहायक हैं। आचार शुद्धिका साधन है। उससे जीवनमें पवित्रता आती है। चित्तके दोषोंका नाश होता है। विचारका नाम निरभिमानता अर्थात् भिन्नता को मिटाकर एकता कर देना है।

आचार हमें घृणा नहीं सिखाता, क्योंकि दोषोंके मिट जानेका नाम ही शुद्धि है। दोष मनुष्योंमें स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि जन्म लेते ही कोई झूठ नहीं बोलता है, माता-पिता आदिसे सीखकर झूठ बोलता है। बच्चेको जो कोई प्यारसे रखता है, वह उसीमें स्नेह करने लगता है, उसमें भेद-भावकी, अपने-पराये की कल्पना पहले नहीं होती। दूसरोंके व्यवहार से सीखता है। पैदा होते ही किसीके मनमें बुर संकल्प नहीं उठते। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोषोंका त्याग करना कठिन नहीं है।

अपनी जानकारीके विरुद्ध काम करना ही अशुद्धि है। जो काम मनुष्य अपने लिये नहीं चाहता, वह दूसरोंके साथ न करे। जो अपने लिये अच्छा समझे, वह दूसरोंके लिये करे-यही विचारका सदुपयोग है, इससे व्यवहारमें शुद्धि आती है। व्यवहारकी शुद्धिसे विवेक प्रकाशित होता है। इस प्रकार एक-दूसरेके सहायक है। वर्तमान विवेक और शक्तिका ठीक-ठीक उपयोग करनेसे भूतः भविष्य सब ठीक हो जाते है।

वास्तविकताको जान लेनेका नाम ही विचार है। शरीरको साफ

कर लिया, किंतु मन-बुद्धि गंदे हैं तो वह अधूरा स्नान है।

विचारसे यदि सन्देहकी निवृत्ति नहीं हुई तो वह विचार नहीं है। विवेकशक्ति विवाद करनेके लिये नहीं मिली है। इसी प्रकार अपनेको पवित्र और दूसरोंको अपवित्र मानकर अभिमान करना आचार नहीं है, शरीरमें और मनमें शुद्धि बढ़नेका नाम आचार है।

इसपर एकनाथजी महाराजकी एक घटना याद आ गयी। एक समयकी बात है। एकनाथजीके पिताका श्राद्ध-दिन था। ब्राह्मण भोजनके लिये भाँति-भाँति के मिष्ठान तैयार हो रहे थें उसी समय उनके घरके पाससे बहुत-से अछूत घरानेके लोग जा रहे थे। स्वादिष्ट पक्कान्नकी सुगन्ध पाकर उनमेंसे एकने कहा-'कितना अच्छा स्वादिष्ट भोजन बन रहा है, बड़ी सुहावनी सुगन्ध आ रही है।' दूसरे ने कहा-'भाई! यह तो ब्राह्मणोंके लिए बन रहा है, तुम मन क्यों चला रहे हो? हमारे भाग्य में ऐसा अन्न कहाँ? उनकी बातचीत एकनाथजी महाराज के कानोंमें पड़ गयी। उन्होंने सबको बुलाकर सब पक्कवान्न प्रेमपूर्वक उन लोगोंको खिला दिया। इस बातका जब दूसरे ब्राह्मणों को पता लगा, तब उन्होंने आपसमें एकनाथजीकी बहुत निन्दा की और यह निश्चय किया कि इनके घरपर कोई ब्राह्मण भोजन नहीं करे। एकनाथजीने ब्राह्मणोंको बहुत समझाया कि वह अन्न उच्छिष्ट हो गया था, अछूतों ने उसकी गंध ले ली थी, इसलिए वह ब्राह्मणों के काम का नहीं था। अब आप लोगों के लिये दुबारा पवित्र भोजन तैयार कराया गया है, परंतु ब्राह्मणोंने अपना हठ नहीं छोड़ा। उनके द्वारपर पहरा देने लगे कि कोई ब्राह्मण भूला-भटका भी वहाँ भोजन न कर ले। भीतर एकनाथजीके पितर साक्षात् प्रकट होकर भोजन कर रहे थे। भोजन करके जब उठे, तब उन्होंने उस समयकी प्रथाकेअनुसार 'हर हर महादेव' की आवाज लगायी।

पहरेपर खड़े हुए ब्राह्मणोंने यह घटना देखकर बहुत आश्चर्य किया। यह उनके सच्चे आचारका प्रभाव था।

मानव-जीवनमें आचारकी बड़ी आवश्यकता है, आचारसे पतित तो मनुष्य नहीं, पशु है। आचारसे अतीत भगवान् हैं। मनुष्यता तो वही है, जो आचार और विचारयुक्त है।

अंग्रेज लोग आचारको न मानते हो ऐसी बात नहीं है, वे हमलोगोंसे अधिक मानते हैं, परंतु अपने ढंगसे मानते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिसे मानते हैं, वे ऊपरकी सफाई

कम नहीं रखते। किसी भी खानेकी चीजको छूते नहीं, भोजनकी जगह हमारे पूजा-घरोंसे भी अधिक स्वच्छ रखते हैं किसी प्रकारकी गंदगी वहाँ नहीं रहती। मक्खी और मच्छर तकको नहीं बैठने देते। दूध दुहने, बोतलोंमें भरे, बंद करनेमें, ईमानदारी और सफाईका पूरा ध्यान रखते हैं। वस्तुकी और बनानेकी सफाईपर उनका पूरा ध्यान रहता है।

हमलोग आचारको मानते हैं, परंतु उसको पूरा-पूरा काममें नहीं लाते। हम मौजसे भोजन करते रहें, हमारे पड़ोसियोंको खानेके लिये न मिले और भी आस-पासमें भूखे लोग रहें तो वह भोजन पवित्र नहीं कहा जा सकता। भोजनकी शुद्धिके लिये सत्यतापूर्वक उपार्जन किया हुआ अन्न, पवित्र वस्तु, पवित्रतासे बना हुआ हो, फिर पवित्र भावसे खाया जाय, वही भोजन पवित्र होता है।

आचारका अभिप्राय बाहर और भीतरकी पवित्रता बढ़ाना है। आजकल आचार के नामपर जो यह अभिमान करते हैं कि मैं बड़ा हूँ और दूसरे छोटे हैं, यह आचार नहीं है।

भगवान् के रहनेका असली मन्दिर मन है, उसे पवित्र रखना चाहिये। शरीर जीवका मन्दिर है, उसे भी पवित्र रखना चाहिये।

श्रमयुक्त शरीरको आलसी बना देना, मनको राग-द्वेषसे भर देना, बुद्धिको विवेकहीन बना देना यही अशुद्धि है, इसको दूरा करना ही वास्तविक आचार है।

भोगवासना का त्याग करनेसे जीवन पवित्र होता है। मनमें भोग-वासना उदय होते ही बुद्धि मनकी ओर, मन इन्द्रियोंकी ओर तथा इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर खिंच जाते हैं, इससे स्वाधीनता और चिन्मयताका नाश होकर, जड़ता, पराधीनता और शक्तिहीनता आ जाती है।

वासनारहित होते ही इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर, मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अहंमें विलीन हो जाती है, अहं ईश्वरका प्रेम बनकर उनसे मिल जाता है। जब जीवनमें चिन्मयता, दिव्यता, स्वाधीनता, मुदिता, निर्भयता आदि गुण अपने आप आ जाते हैं।

(२६)

कल किसी भाईने कहा था कि आपके सत्संगमें वीरताकी बातें नहीं होती, इसलिये आज उसी विषयमें बातचीत हो जाय, तो अच्छा है। अच्छा भाई, बताओ तुम्हारी समझमें वीर कौन है? तुम किसको वीर मानते हो?

श्रोता-जैसे भगतसिंह वीर था।

स्वामीजी-भगतसिंह वीर अवश्य था, परंतु वीरताके साथ धीरता और गम्भीरता भी चाहिये। केवल वीरताका ही आदर्श स्थापन करनेसे काम नहीं चलता। मेरी समझमें वीर वह है जिसमें पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता न हो अर्थात् जो वीर, धीर और गम्भीर भी हो, वही असली वीर है। विवेकहीन वीरतासे लाभके बदले भारी नुकसान हो सकता है। गांधीजीवीर थे। उनमें वीरताके साथ-साथ धीरता और गम्भीरता भी थी। वास्तवमें सबसे बड़ा वीर वह है जिसने अपनेपर विजय प्राप्त कर ली हो। जो मन और इन्द्रियों पर शासन कर सकता हो। जिसपर इनका शासन न हो अर्थात् जो मन और इन्द्रियोंके अधीन न हो।

प्रश्न-धीर और गम्भीरका क्या अर्थ है?

उत्तर-जिसके मन में विधानका अर्थात् कर्त्तव्यका पूरा-पूरा आदर हो, अपने सिद्धान्तसे कभी विचलित न हो, अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहे, वह धीर है अर्थात् विवेकशील और धैर्ययुक्त मनुष्य ही धीर कहा जाता है।

जो किसीकी ओर आकर्षित न हो, किंतु अपने प्रतिपक्षीको भी अपनी ओर आकर्षित कर सके। अपना भाव प्रकट न करे, हरेक काम गहराईसे सोचकर करे, वह गम्भीर कहा जाता है।

भाव यह कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का आक्रमण जिसको पराजित न कर सके एवं सुख-दुःखका आक्रमण जिसपर अपना प्रभाव नहीं कर सके, वही वीर, धीर और गम्भीर है।

धीरता और गम्भीरतासे रहित वीरता उस वीरका विनाश कर देती है। उस वीरको खा जाती है। उसकी वीरताका विकास नहीं होता पाता।

धीर मनुष्य यदि अपने विरोधीपर विजय प्राप्त कर लेता है, तो भी उसपर क्रोध नहीं करता। धैर्यपूर्वक कर्त्तव्यका पालन करता है जिसपर हर्ष और विषाद दोनों अपना प्रभाव नहीं दिखला सकते, वही धीर है।

पशु-बलका समर्थक कभी वीर नहीं हो सकता। जो वीर निर्बलोंके दुःखका कारण होता है, वह वीर नहीं है। वीर तो वही है जो निर्बलों की रक्षा करे। अपनेसे निर्बलोंको दुःख देनेके लिये तो खूँखार शेर भी वीर होता है, परंतु उसमें धीरता और गम्भीरता नहीं होती।

इन्द्रिय-जय, सेवा तथा सत्यकी खोज-ये तीनों गुण गांधीजी में थे। इसलिये वे वीर थे। जिसको कोई

सम्मान, अधिकार आदिके लोभसे या किसी प्रकारके भयसे बदल न सके, जिसपर किसी प्रकार का मोह अपना प्रभाव नहीं जमा सके, जो सब प्रकारकी कठिनाईयोंका सामना करते हुए अविचल रहे, वही वीर, धीर और गम्भीर कहा जा सकता है। जो पशुबलके द्वारा अधिकार प्राप्त करके निर्बलोंको सताते हैं, दूसरोंकी माँ-बहिनोंकी इज्जत बर्बाद करते हैं, अल्पसंख्यकोंके साथ बुरा व्यवहार करते हैं, सम्प्रदायके अभिमानमें आकर भिन्न सम्प्रदायपर अत्याचार करते हैं, वे वीर नहीं कहे जा सकते। अतः यदि कोई यह समझे कि मुसलमानोंको मारेनवाला हिंदू वीर है या हिंदुओंको मारनेवाला मुसलमान वीर है, तो उसकी भूल है। यदि मारनेवाला ही वीर माना जाय, तब तो एक एटम बमको सबसे अधिक वीर मानना चाहिये, परंतु ये वीरताके लक्षण नहीं हैं।

जो वीर बनना पसंद करे, उसे चाहिये कि मातृशक्तिका अर्थात् स्त्री-जातिका खूब आदर करे। हर प्रकारसे उसकी रक्षा करे अपने जीवनमें असावधानी न आने दे। जबतक प्राण रहे, तबतक अपने सत्यपर डटा रहे, विचलित न हो।

जो दूसरेके हृदय, मन और बुद्धिपर विजय प्राप्त कर ले, वही वास्तवमें वीर है। ऐसा वीर वही हो सकता है, जिसका विवेक और विश्वास ही जीवन बन गया है। जिसके जीवनमें पराजयका नाम-निशान भी नहीं रहा है।

जिसकी भावना, चरित्र, विश्वास, विवेक, संकल्प और पराक्रम सब-के-सब एक होकर जीवन बन जायँ, वही वीर कहलाने योग्य है। ऐसा वीर एक दुर्बल मनुष्य भी बन सकता है। वीरता के लिये शरीरके बलकी आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जब स्वर्गमें गया था, जब उर्वशीको क्या उत्तर दिया था? माता! आप मुझे ही पुत्र समझ लो। मैं आपको अपने जैसा दूसरा पुत्र देनेमें समर्थ नहीं हूँ। अनेक प्रकारसे प्रलोभन देने और भय दिखानेपर भी अर्जुन ने उर्वशीका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। यह है वीरताका नमूना।

जो अपनेपर नेतृत्व कर सके, जो बुद्धिका, धर्मका और विश्वासका अपराधी न हो, अपनेसे दुःखियोंका दुःख सहन न कर सके, वह उदार मनुष्य ही सच्चा वीर है।

किसीके अन्याय और आत्याचारको सहन न करना ही वीरता है। इसके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह उदारचरित्र बने, स्वाधीन हो जाय, संयमी हो तथा मन, बुद्धि और शरीरके अधीन न हो।

प्रभुको संसारमें अपनेसे दूर न होने दे अर्थात् सबके साथ भगवान् के नाते एकता स्थापित करे।

जो पशु-बलके द्वारा निर्बलोंपर विजयी होते हैं, जो अपनी समझ और योग्यताको धनके बदले में या अधिकारके बदले में बेच सकते हैं एवं अपने समान सुखी और समृद्धि-सम्पन्न दूसरेको नहीं देख सकते, वे तो क्या, मनुष्यतासे भी दूर हैं।

केवल हाथसे भी काम नहीं चलता और केवल दिमाग भी बिना हाथके काम नहीं कर सकता। कोई भी कार्य करनेके लिये हाथ और दोनों चाहिये। हिटलर हाथ था अर्थात् उसमें विवेकहीन वीरता थी। गांधीजी दिमाग थे अर्थात् उनमें बुद्धि-बल अधिक था।

दूषित चरित्रपर अच्छे चरित्रकी विजय हो अर्थात् प्राण चले जायँ, पर चरित्र सुरक्षित रहे, यह वीरता है। स्वार्थ और राग-द्वेष फैलाकर जीवनको खराब करना वीरता नहीं है।

मनुष्यको चाहिये कि अपना निर्माण करे, उसके द्वारा अपने राष्ट्र, समाज और संसारका निर्माण करे। अपनेपर अपना आधिपत्य करे, की हुई भूलको पुनः न दुहराये, संसारका हित और उसको प्रसन्न करे। अर्थात् उसके अधिकारीकी रक्षा करे, किसीके अधिकारका अपहरण न करे। इस प्रकार जिसका जीवन दूसरोंकी आवश्यकता बन जाता है, जो दूसरोंके हृदयपर राज्य करता है, वह वीर है और वही हिंदू है।

समाजको आवश्यकता उसकी होती है, जिसमें स्वार्थ-भावना न हो। जिसमें श्रम, संयम, सदाचार, सेवा और त्याग हो।

प्रश्न-ध्रुवा स्मृति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त हो?

उत्तर-ध्रुवा स्मृतिसे आपका क्या अभिप्राय है?

प्रश्न-भगवान् का स्मरण करना चाहते हैं, मन दूसरी ओर चला जाता है, भगवान् में अचल कैसे हो?

उत्तर-जब यह बात समझमें आ जाय कि कुछ सत्यता, प्रियता और ज्ञान जहाँ कहीं दीखता है, वह सब उसीकी महानता है, जैसे प्रत्येक मिठाई में मीठापन चीनीका है, लड्डू, जलेबी, बरफी, रसगुल्ला और कलाकन्द आदि सभी चीनीको लेकर ही मीठे हैं, तो सब समय निरन्तर उसकी स्मृति रह सकती है। मनुष्यका सबसे अधिक प्रेम उससे होना चाहिये, जो उसके निकटतम है। यह नियम है कि जिसमें प्रेम होता है, उसकी स्मृति अपने-आप होती है। अतः साधकको देखना चाहिये कि मेरे अत्यन्त समीप कौन है? क्योंकि सुन्दर जीवनको विकसित करनेके लिये

अपने निकटतमको देखना परम आवश्यक है। विचार करनेपर मालूम होगा कि हाथ-पैर-आँख आदि इन्द्रियोंको छोड़कर भी मनुष्य प्राणको रखना चाहता है अतः उनकी अपेक्षा भी प्राण अधिक निकट है। प्राणोंसे अत्यन्त निकट वह है जिसके लिये प्राणोंका भी त्याग किया जा सके। वह है अपना नित्य साथी परमेश्वर, जो जीवसे कभी अलग नहीं होता। वही जीवका अपना है। जो साधक दूरीसे बचकर अत्यन्त निकटतमका होकर रहता है, उसकी ओर सबका आकर्षण हो जाता है। अत्यन्त निकटतामें सब कुछ है, क्योंकि वही सबका केन्द्र है, जो अत्यन्त निकट है।

अतः साधकको चाहिये कि जो पर हैं अर्थात् दूर हैं, उनसे द्वेष न करे, परंतु विमुख हो जाय और अपनेको उनके समर्पण कर दे जो अपने निकटतम हैं। इस प्रकार विश्वासपूर्वक भक्तिभावकी स्थापना करे। इस भावका कभी नाश नहीं होता। जो वस्तु अभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है, उसका कालान्तरमें नाश हो जाता है। विश्वासका कभी नाश नहीं होता। विश्वासपूर्वक अपने निकटतमका हो जानेपर प्रेम, बोध और योग अपने-आप मिल जाते हैं। उसके बाद ध्रुवा स्मृति हो जाती है।

जो निकटतम नहीं है, जिनका वियोग अनिवार्य है, उनका विश्वास ही नकली विश्वास है, उसे छोड़ देना चाहिये।

गलत ज्ञान जाननेसे अर्थात् विवेकसे मिटता है। जिसके न रहनेपर भी मैं रहता हूँ, वह वस्तु न तो मैं हूँ और न मेरी है, यह बात विचार करनेपर समझ में आ जाती है। अतः गलत ज्ञानको जानकर मिटाना चाहिये, सीखकर नहीं। सीखकर मिटायी हुई गलती सचमुच नहीं मिटती। उसका जीवनपर कोई असल नहीं पड़ता। जीते-जी मर जाना अर्थात् शरीरसे अपनेको अलग अनुभव कर लेना ही अमरत्व है और यही आनन्द है। इसके होनेपर अभाव और दुःख सदाकेलिये मिट जाते हैं।

जब मनुष्य समुद्रकी ओर देखता है, तब उसे समुद्र-ही-समुद्र दीखता है और पीछेकी ओर देखनेसे स्थल-ही-स्थल नजर आता है, उसी प्रकार संसारकी ओर देखनेसे संसार-ही-संसार दीखेगा और संसारकी ओर पीठकर लेने पर प्रभु-ही-प्रभु दिखलायी देंगे।

विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तुको प्राप्त करनेमें मनुष्य पराधीन है, परंतु विश्वास और विवेकद्वारा प्राप्त होनेवाले सर्वोत्कृष्ट

जीवनको प्राप्त करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जगत्से विमुख होकर ईश्वरसे अनन्य प्रेम करना यही मानवोचित्त उत्कृष्ट जीवन है।

वे हमारे प्रियतम प्रभु असीम हैं, अनन्त हैं। असीमका वर्णन नहीं हो सकता, परंतु उनको प्राप्त किया जा सकता है। वे जीवको उसके साधनसे नहीं, किंतु स्वयं अपनी कृपा-शक्तिसे द्रवित होकर मिलते हैं।

जीवका स्वभाव तो बालक-जैसा है और प्रभुका स्वभाव माँके सदृश होता है। जब यह जीव बालकी भाँति प्रभुको पानेके लिये व्याकुल होकर रोने लग जाता है, तब प्रभुमें करुणा उत्पन्न हो जाती है और वे जीवको निहाल कर देते हैं। जगत् खिलौना है। जब तक जीव बालक की भाँति इस जगतरूप खिलौने से खेलता रहता है, प्रभुके प्रेमरसकी इसको भूख नहीं लगती, उसके लिये यह व्याकुल नहीं होता, तबतक भगवान् भी तमाशा देखते रहते हैं, उसे मिलते नहीं। पर जब साधकको बालककी भाँति भूख लग जाती है अर्थात् जैसे भूख लगनेपर बालक माँका दूध पीनेके लिये व्याकुल हो जाता है, खिलौनेसे मोह छोड़कर उसको फेंककर माँको पुकारने लग जाता है, वैसे ही जब प्रभुके प्रेमरसकी भूख लग जाती है और इस जगत्के खिलौनेसे विरक्त होकर साधक प्रभुके प्रेमरसके लिये व्याकुल होकर उनको पुकारने लगता है तब प्रभु भी करुणाभाव से व्याकुल हो उठते हैं। फिर विलम्ब नहीं कर सकते। तत्काल ही प्रेमी साधकको अपने प्रेमका रस प्रदान कर देते हैं।

कर्म सीमित होता है, इसलिये उसका फल भी कर्मके अनुरूप सीमित ही मिलता है, परंतु प्रभु अनन्त हैं, उनकी कृपा भी अनन्त हैं, अतः उनकी कृपा से जो कुछ मिलता है, वह भी अनन्त मिलता है।

प्रभुकी प्राप्तिका साधन भी प्रभुकी कृपासे ही मिलता है। ऐसा साधकको मानना चाहिये और अपने साधनमें सद्भाव रखना चाहिये। साधनमें अटल विश्वासपूर्वक सद्भाव होनेसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न-दीनता और अभिमान कैसे मिटे?

उत्तर-जहाँ कामना है, वहाँ सत्यकी प्रतिष्ठा कठिन ही नहीं, असम्भव है। साधकको चाहिये कि यदि कोई उसकी मान्यता या सिद्धान्तका खण्डन करे तो घबराये नहीं। बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे सुनता रहे। यदि अपने सिद्धान्तकी निर्बलता मालूम हो तो उसे मिटा दे। यदि वास्तवमें निर्बलता है तो उसको ढककर रखनेसे कोई लाभ नहीं है।

जो साधक किसी प्रकारके अभावमें दीन नहीं होता, अर्थात् उसकी चाह नहीं करता और प्राप्त वस्तु या बलका अभिमान नहीं करता अर्थात् उसेअपना नहीं मानता, सब कुछ अपने प्रभुका मानता है, वह भक्त है। चाहरहित होनेसे ही दीनता मिटती है। जहाँ किसी प्रकारके सुखका उपभोग होता है, वही मनुष्य चाहकीपूर्तिके सुखमें आबद्ध हो जाता है और पुनः नयी चाह उत्पन्न हो जाती है, उसकी दीनताका अन्त नहीं होता।

जहाँ संकल्पकी उत्पत्ति और पूर्ति नहीं, वहाँ दीनता और अभिमानके लिये कोई स्थान नहीं है।

जबतक मनुष्य शरीरसे सम्बन्ध रखता है, तबतक दीनता और अभिमान बने रहते हैं। जैसे दीवाल और छत बन जानेसे कमरा महाकाशसे अलग हो जाता है एवं महाकाश महान् होते हुए भी कमरेका आकाश किसीसे बड़ा और किसीसे छोटा हो जाता है, इसी प्रकार अपने नित्य-सम्बन्धी नित्य-आत्मस्वरूप प्रभुको भूलकर जबसे अपनेको अलग मानने लगा, तबसे इसमें दीनता और अभिमान आदि दोष आ गये। यह एकसे अपनेको बड़ा समझता है, इसलिये इसमें अभिमान आता है, दूसरेसे छोटा मानता है, इसलिये दीनता आती है।

संकल्प पूरा होनेतक दीनता बनी रहती है, संकल्प पूरा होते ही अभिमान आ जाता है और नये संकल्पोंका जन्म हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीरसे अलग होकर जीना ही नित्य आनन्दमय जीवन है। शरीरसे असंग हो जानेपर सुख-दुःखकी जड़ कट जाती है। यदि कोई सोचे कि स्थूल शरीरका नाश कर देनेसे मैं शरीररहित हो जाऊँगा, तो उसकी भूल है, क्योंकि सूक्ष्म और कारण शरीरका नाश इस स्थूल शरीरसे नहीं होता। इसलिये पुनः जन्म होकर नये स्थूल शरीर से उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस प्रकार संकल्प और चाहका गोल चक्र बना रहता है। सम्बन्ध और चाह रहते हुए बिना शरीरका जीवन नहीं मिलता।

कोई भी मनुष्य शरीरके रहनेपर शरीररहित जीवनका अनुभव नहीं कर सकता। शरीरके रहते हुए जीवनकालमें ही शरीररहित जीवनका अनुभव साधनद्वारा किया जा सकता है। मरनेके बाद साधन नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि जब शरीरके रहते हुए साधन होता है, तब उससे रहित होनेपर शरीरसे साधन कैसे होगा? तो समझना चाहिये कि शरीरद्वारा होनेवाली क्रियाका विरोध

नहीं है। क्रिया तो स्वाभाविक है। विरोध तो शरीरकी कामनाका और शरीरसे सम्बन्ध रखनेका है। वासनारहित होकर शरीर और संसारके हितकी भावनासे शरीर द्वारा सब काम किये जा सकते हैं। शरीर रहते हुए उसके द्वारा शरीर और संसार का हित करते रहना, चले जानेपर उसका कोई मोह नहीं, एवं चले जानेका भय भी नहीं, रहे तो भी अच्छा, न रहे तो भी अच्छा-इस भावनासे जो क्रिया होती है, वह शरीरमें अभिमान उत्पन्न करनेवाली नहीं होती। वह तो स्वाभाविक साधनरूप होती है। उससे पहले के कर्म-संस्कारोंका नाश होता है। इस प्रकारकी क्रियासे कर्ताका वस्तु, अवस्था और परिस्थितिसे सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये वह बन्धनकारक कर्म नहीं है।

यदि कोई कहे कि विश्वास भी तो मनमें ही होता है। जब मन ही नहीं रहेगा, तब विश्वास किसमें होगा? इसका उत्तर यह है कि विश्वास मनमें नहीं होता। मन तो विश्वासको प्रकाशित करनेवाला एक यन्त्र है। विश्वास तो उसमें होता है, जिससे मन प्रकाशित होता है। जैसे बिजलीके बल्वमें प्रकाश नहीं है। उसके द्वारा तो प्रकाशकी उपलब्धि होती है, वह मात्र प्रकाशको प्रकट करनेवाला यन्त्र है। प्रकाशका केन्द्र तो पावरहाउस है, उसके साथ जिसका सम्बन्ध होता है, वही यन्त्र उसकी सत्तासे काम करने लगता है। इसी प्रकाश सबका केन्द्र एकमात्र परमेश्वर है। इसी प्रकार बुद्धि का धर्म विवेक या बोध नहीं है, उसमें तो अविवेक भी रहता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर से सम्बन्ध छोड़ देनेके बाद बिना शरीरका जीवन भी रहता है और उसमें क्रिया रहते हुए भी कर्म नहीं रहते, परंतु रस रहता है।

वर्तमान शरीरयुक्त जीवन जीवन नहीं है, जीवनकी साधन-सामग्री है। शरीर केवल साधनके लिये ही मिला है। साधन प्राप्त हो जानेपर शरीरसे सम्बन्ध टूट जाता है।

प्रश्न-अभिमानका कारण क्या है?

उत्तर-कुछ लोग धन कमानेवाले होते हैं और कुछ लोग धनका उपभोग करनेवाले होते हैं। जो कमाते हैं, वे प्रायः धनका उपभोग नहीं कर पाते, वे तो उसके कमाने, सुरक्षित रखने और उसकी व्यवस्था करने आदिमें ही लगे रहते हैं। पारिवारिक लोगोंकी ओरसे यह ख्याल बना रहता है कि यह अयोग्य है इत्यादि। धनका उपभोग करनेवाले व्यक्ति उसका उपभोग करते रहते हैं,

इसलिये धन कमानेवालेको उतना धनका अभिमान नहीं होता, जितना धनका उपभोग करनेवालोंको होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सुखका उपभोग करता है, उसे ही अभिमान होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उपभोग ही अभिमानका हेतु है, वस्तुओंका होना नहीं।

प्रश्न-इच्छाओंका नाश कैसे हो?

उत्तर-इच्छाएँ प्राप्त विवेक के आदर और ईश्वरकी कृपासे ही मिट सकती हैं। अतः विवेक का आदर करते हुए दृढ़ विश्वासपूर्वक अपने-आपको ईश्वरके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना चाहिये।

'होता है', 'है', एवं 'चाहिये'-इन तीनोंमें बड़ा अन्तर है। 'होता' वही है जो होनेवाला है। इसमें मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। वास्तवमें जो 'है' उसका कभी अभाव नहीं होता, ऐसा एक परमेश्वर ही है, दूसरा नहीं। 'चाहियेकी'व्याख्या लम्बी-चैड़ी है। भिन्न-भिन्न मनुष्योंको भिन्न-भिन्न वस्तु और परिस्थिति चाहिये। चाहकी कभी पूर्ति तो होती नहीं। अतः विचार और भगवान् की कृपासे चाहको मिटाया जा सकता है।

प्रश्न-संतोष कैसे हो?

उत्तर-जैसे पिता अपनी संतानको योग्य बना देनेपर अपने कर्त्तव्यकी पूर्तिसे पितरोंसे उऋण होकर संतुष्ट हो जाता है, वैसे ही जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यका पालन करके संसारके अधिकारको पूरा कर देता है, उससे उऋण हो जाता है, वह संतुष्ट हो जाता है।

प्रश्न-गुरु कैसे मिले?

उत्तर-वास्तवमें गुरु वही है, जिससे साधकको अपने लक्ष्यका और कर्त्तव्यका ज्ञान हो। इसके लिये पहला गुरु अपना विवेक है। जो उसका आदर नहीं करता, उसको सच्चा गुरु मिलना मुश्किल है। अपने विवेकका आदर करके जब मुनष्य योग्य बन जाता है, तब उसके गुरु बननेको बहुत लोग तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार विख्यात गुरुके शिष्य बहुत होते हैं और विख्यात शिष्यके गुरु बननेको बहुत लोग तैयार हो जाते हैं, क्योंकि सुन्दर वस्तुसे सभी सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। बुरी वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

आजकल न तो पहले-जैसे गुरु देखने में आते हैं और न वैसे शिष्य ही देखे जाते हैं। सबसे श्रेष्ठ गुरु तो वे होते हैं, जो शिष्यमें अपनी शक्तिका संचार करते हैं। जैसे परमहंसजीने विवेकानन्दमें किया। एक घटना है कि एक साधक मुक्तिकी तीव्र इच्छासे गुरुकी खोजमें पहाड़ोंपर और जंगलोंमें फिर रहा

था। एक जगह उसे एक महात्माके दर्शन हुए। वह वहाँ जाकर बैठ गया। महात्माने पूछा-'तुमको क्या चाहिये?' उसने कहा-'मुक्ति।' महात्माने पूछा-'तुम्हें बन्धन ही क्या है?' इस बातको सुनकर वह चौबीस घंटे बैठा रहा। उसे संतोष हो गया।

गुरुका काम यही है कि साधक जो साधन करता है, उसीको सजीव बना दे। अर्थात् उस साधनामें जो त्रुटि हो, उसे दूर करके उसे उज्ज्वल बना दे। उसमें कोई सन्देह हो तो उसे मिटा दे। जीनेकी आशा, पानेकी आशा, करनेकी आशा और भोगने की आशा-इन आशाओंने मनुष्य को ईश्वरसे दूर कर दिया, वर्तमानमें अपने प्रभुसे मिलनेकी लालसा उत्पन्न नहीं होने दी। इस प्रकार ये संसारसे सच्चा वैराग्य नहीं होने देतीं।

सबसे अधिक बाधकतो जीनेकी आशा है, अन्य सब आशाएँ इसीकेआश्रित रहती हैं। शरीर और संसारके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान न होने के कारण जीनेकी आशा है।

यह जीनेकी आशा एकमात्र प्रमादसे ही सुरक्षित और जाग्रत रहती है। नहीं तो, विचार करनेपर यह कौन नहीं जानता कि मैं कालका चबेना हूँ। यद्यपि इसमें किसीको सन्देह नहीं है, फिर भी जीनेकी आशा सभी करते हैं। इससे बढ़कर दूसरा प्रमाद क्या होगा?

सबसे बड़ी गलती मनुष्यकी यही है कि उसने अपनी जानकारीका अनादर करके उससे मुँह मोड़ रखा है। अपने प्रभुकी प्राप्ति मनुष्यको जब चाहे तभी-वर्तमान में ही हो सकती है, क्योंकि उससे इसकी देश, काल या जातिसे किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है। फिर भी अनन्तकालसे प्राणी उसे भविष्यकी आशापर छोड़ता आया है एवं जिनसे इसकी देशकालकी बहुत दूरी है तथा जो वस्तु इसकी जातिकी नहीं है, उसके लिये प्रयत्न करता है।

जिसको जीनेकी आशा नहीं रहती, वह कितना व्याकुल हो जाता है, यह तब मालूम होता है, जब हम किसी ऐसे कैदीको देखते हैं, जिसकी फाँसीका हुक्म हो चुका है। यद्यपि अपीलमें उसकी यह सजा छूट सकती है एवं अन्य किसी आकस्मिक घटनासे वह बच सकता है, इसकी गुंजायश है तो भी उस समय उसका ऐसा परिवर्तन हो जाता है, जिससे उसको कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पर व्यक्तिके लिये तो फाँसीकी वह सजा निश्चित की हुई है, जिसकी कोई अवधि नहीं। जब चाहे जीवन समाप्त कर दिया जाय। अतः साधकको कभी जीनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। जबतक शरीर है, तभीतक वर्तमानमें

ही अपने प्रभुके लिये व्याकुल हो जाना चाहिये, जीवनपर भरोसा करना बड़ी भारी भूल है।

जबतक जीनेकी आशा रहती है, तबतक मनुष्य भविष्यमें कुछ प्रयत्नकी आशा, साधन करनेकी आशा और भोगनेकी आशा नहीं छोड़ सकता।

वास्तवमें वर्तमानकी साधना ही भविष्यको सफल बना सकती है। जो वर्तमानमें साधनपरायण हो जाता है, वह मौतसे नहीं डरता। प्रत्युत उसकी बाट देखता हुआ प्रसन्न रहता है। वह मरनेसे नहीं डरता, क्योंकि जिस कामके लिये उसे शरीर मिला था, वह पूरा कर लिया, फिर घबराहट कैसी?

किंतु जिसने वर्तमानमें कुछ नहीं करके, भविष्यपर छोड़ दिया है, जिसने जानेकी तैयारी नहीं की, उसको मौतसे डरना पड़ता है। वह मौत आनेपर घबराता और पश्चाताप करता है, परंतु उस समय कुछ नहीं कर पाता।

मनुष्यकी सबसे बड़ी शक्तिहीनता, हृदयकी दुर्बलता यही है कि वह जो जानता है, उसे भी कर नहीं पाता।

साधकको चाहिये कि जीवनकालमें ही जीवनसे निराश हो जाय, ऐसा भाव उत्पन्न कर ले कि जीवन रहे तो भी अच्छा और न रहे तो भी अच्छा। अपने जीवनके प्रोग्रामको पूरा कर डाले। उसे विचार करना चाहिये कि मुझे अब कौन-सा काम करना बाकी है, जिसके लिये जीना है और कितना जीना है? क्या जीना अपने अधिकारमें है? यदि नहीं, तो जो भी काम करना है, उसे जल्दी पूरा करके तैयार हो जाना चाहिये। फिर मृत्युका भय नहीं रहेगा।

साधकको देखना चाहिये कि मेरी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्तिके साधनमें लगा हुआ हूँ या नहीं। उसे जानना चाहिये कि भोगोंपर मेरा अधिकार नहीं है। भोग-सुखका आरम्भ तो प्रिय है, परंतु उसका अन्त हमेशा अप्रिय होता है। यह जान लेनेपर भोगोंमें अरुचि हो जायगी।

साधकको करने योग्य काम पूरा कर देना चाहिये। कामको भविष्यके लिये जमा नहीं रखना चाहिये। प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्त में योग हो जाना चाहिये। कामके अन्तमें रामकी प्राप्ति होनी चाहिये। तभी प्रवृत्ति और कामनाके अन्तकी सफलता है।

कामका स्वरूप है परिवर्तनशील और सीमित सुन्दरताकी आसक्ति, इसे जानना चाहिये।

रामका काम तो कामको प्रकाशित करना है, उसे मिटाना नहीं अर्थात् सत्यका काम असत्यको प्रकाशित करना है, नाश करना नहीं। किंतु रामकी लालसा कामको खाकर रामसे मिला देती है। अर्थात् सत्यकी लालसा असत्यसे असंग करके सत्यसे मिला देती है।

यदि कोई पूछे कि सत्यकी अभिलाषा होनेके बाद सत्य कितने दिनोंमें मिलता है तो उसका उत्तर यह है कि पूर्ण अभिलाषा होते ही मिल जाता है। इसमें विलम्बका कोई कारण नहीं है।

भोगोंकी इच्छाओंने रामकी लालसाको ढक रखा है। भोगोंका परिणाम क्या है, पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता। सभी जानते हैं कि पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता दुःख है, फिर भी उसकी इच्छा करते हैं। कितने आश्चर्यकी बात है!

मनुष्य रोता हुआ जन्मता है, यदि रोते हुए ही मरा तो मिला क्या? मनुष्य-शरीर से क्या लाभ उठाया? इस शरीरका महत्व तो तभी है जब हँसते हुए मृत्युका स्वागत करें।

अतः साधकको चाहिये कि वर्तमानमें ही अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये कमर कस ले अर्थात् तत्पर हो जाय। कामका अन्त और रामकी प्राप्ति, यही उसका लक्ष्य है।

जो यह आशा करते हैं कि अगले साल फिर सत्संग करेंगे, उन्होंने सत्संगका महत्व नहीं समझा। सुननेके बाद यदि फिर भी सुननेकी आशा रही तो सुनना सार्थक सिद्ध नहीं हुआ।

जीनेकी आशाने मनुष्यके कर्त्तव्यको ढक रखा है यह मनुष्यको कर्त्तव्यपरायण नहीं होने देती। जीनेकी निराशा बड़ी महत्वपूर्ण है। जीनेसे निराश होते ही सच्चा वैराग्य हो जाता है, फिर बेड़ा पार है।

प्रश्न- संसार में कैसे व्यक्तियों से सबसे ज्यादा क्षति होती है?

स्वामीजी- संसार के चार अंग हैं- (1) संसार (2) समाज (3) परिवार (4) स्वयं।

जिसके हृदय में सद्भाव नहीं है, शान्ति-मुक्ति नहीं है उसके द्वारा संसार की बड़ी क्षति होती है।

शान्ति-मुक्ति नहीं होगी तो फिर आसक्ति व पराधीनता होगी। उससे पृथ्वी भी भार से दबने लगती है। सबके प्रति सद्भाव रखना, शान्त रहना, स्वाधीन रहना और प्रेम से भरपूर होने से संसार की बड़ी सेवा होती है। जहाँ शान्त पुरुष रहते हैं वहाँ की भूमि में विलक्षणता आ जाती है। पेड़-पौधे हर्षित होते हैं। कैसे होगा? (1) इस सृष्टि में मेरा कुछ नहीं

है। (2) मुझ पर सभी का अधिकार है (3) मेरा किसी पर नहीं है। (4) अचाह होना (5) सभी के प्रति सद्भाव।

प्रश्न- परमात्मा दिखाई नहीं देता, कैसे मानें ?

स्वामीजी- बिना देखा सदैव बिना देखा नहीं रहता। अपना। दायित्व पूरा करो। परमात्मा तो अपना करना करते ही हैं।

प्रश्न- शारीरिक कष्ट को कैसे भूला जाय ?

स्वामीजी- भूला न जाय, सहा जाय (चिन्ता-विलाप से रहित होकर)! यह तप है। इससे शक्ति बढ़ती है। भूलने से तो जड़ता आयेगी। उससे असंग होने की कोशिश करो। तितिक्षा रखो। हर्षपूर्वक कष्ट को। सहन करो!

प्रश्न- गुफा में रहने वाला क्या सच्चा साधू होता है ?

स्वामीजी- गुफा में मच्छर-मक्खी भी रहते हैं। क्या वे साधू हो जायेंगे ?

प्रश्न- शिव मूर्ति की जगह शिवलिंग की पूजा क्यों होती है?

स्वामीजी- लिंग की नहीं, शिव की पूजा की जाती है। जिसकी स्वयं की कोई आकति नहीं होती, उसमें प्रतीक की स्थापना की जाती है। में भी एक लिंग है- अपने में ही स्थापना कर लो।

प्रश्न- आपने भगवान को पसन्द किया है? स्वामीजी- हाँ! हमने किया है पसन्द। प्रश्न- आपको भगवान मिल गये?

स्वामीजी- हाँ, हमें मिल गये; वरना कहलवादो भगवान से कि नहीं मिले।।

प्रश्न- हमें पसन्द करा दीजिये।

स्वामीजी- भगवान ने हमें बताने की ड्यूटी दी है, पसन्द कराने की नहीं। कह दो भगवान से कि ड्यूटी दे दो, मैं सभी को पसन्द करा दें।

प्रश्न- ज्ञान किसको होता है?

स्वामीजी- ज्ञान उसे होता है जिसे सन्देह की वेदना होती है जिसमें सत्य की जिज्ञासा होती है।

प्रश्न- अत्याचारी का मन, पापी का मन कैसे बदला जाय?
स्वामीजी- भलाई करने व भला चाहने से।

प्रश्न- शरीर के रहते पराधीनता मिट सकती है?

स्वामीजी- हाँ! मिट सकती है। शरीर के रहते शरीर-धर्म रहेगा। पराधीनता अपना मानने से होती है। इससे सुख भोगते हैं, यही पराधीनता है। शरीर तो किसी विधान से मिला है, उसी विधान से चला जायेगा। लेकिन हमारा तो शरीर से न नित्य

सम्बन्ध है, न जातीय सम्बन्ध है। फिर हम क्यों जीने के लालच और मरने के भय में आबद्ध हैं?

प्रश्न- दायित्व क्या है?

स्वामीजी- 1- बल का दुरुपयोग नहीं करूंगा।

2- विवेक का अनादर नहीं करूंगा।

3- आस्था में विकल्प नहीं करूंगा।

प्रश्न- चित्तवृत्ति एकाग्र कैसे हो?

स्वामीजी- मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मेरा संसार पर कोई अधिकार नहीं है-इसे अनुभव करने से।

प्रश्न- आसक्ति कैसे मिटे?

स्वामीजी- तुम्हारे पास जो कुछ है हमें दे जाओ! आसंक्ति रह जाय तो Challenge है। संग्रही में आसक्ति रहती है।

प्रश्न- जन्म क्यों होता है?

स्वामीजी- बुराई और भलाई का फल भोगने के लिए होता है। बुराई करना नहीं है, भलाई का अभिमान और फल नहीं चाहिए। तो। अगला जन्म नहीं होगा।

प्रश्न- धर्म साधन में नींद आती है तो क्या करें?

स्वामीजी- सो जाओ, डरो मत! अगर भजन करते-करते सो जाओगे तो कारण शरीर में उसका प्रभाव होगा और दृढ़ता आयेगी।

प्रश्न- संसार से उपरामता कैसे हो?

स्वामीजी- संसार की सेवा करने से एवं उसमें दुःख का दर्शन करने से!

प्रश्न- स्वामी जी ब्रह्म का बोध किसे होता है?

स्वामीजी- अरे यार! ब्रह्म का बोध ब्रह्म को होता है।

प्रश्न- सम्मान बहुत अच्छा लगता है क्या करें?

स्वामीजी- सम्मान इतना भयंकर विष है कि विष खाने से तो एक बार इन्सान मरता है। पर सम्मान के भोग से जन्म-जन्मान्तर तक मरता है।

प्रश्न- क्या पूजा करना जरूरी है?

स्वामीजी- क्या तुम पूजा नहीं करते?

जिज्ञासु- नहीं करता हूँ।

स्वामीजी- क्यों झूठ बोलते हो? बताओ यार। स्त्री का पत्र नहीं आता तो चिन्तन होता है कि नहीं? चाय नहीं मिले तो चिन्तन होता है कि नहीं? यार, पूजा तो तुम करते हो। परमात्मा की पूजा भी तो यही है। पूजा का मतलब क्या है? किसी की याद आना। सेवा करोगे, पूजा होगी।

प्रश्न- संकल्पों का त्याग कैसे हो?

स्वामीजी- क्या सभी संकल्प किसी के पूरे हुए हैं? नहीं। सिद्ध हुआ कि संकल्प-पूर्ति जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं है कि कोई संकल्प पूरा न हुआ हो। तो सिद्ध हुआ कि संकल्प जीवन नहीं है, साधन सामग्री है। यह बात मानने से ही संकल्प पूर्ति का महत्व जीवन में नहीं रहेगा। इस प्रकार नि:संकल्पता आ आयेगी।

प्रश्न- विवेक का आदर क्यों नहीं कर पाते?

स्वामीजी- हम अपने साध्य को भूल जाते हैं और सुख, सुविधा व सम्मान में खो जाते हैं।

प्रश्न- रोग का सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- दुःख का प्रभाव होना चाहिए। रोग देह की वास्तविकता का अनुभव करा देता है। शरीर से व्यक्ति को असंग करने में रोग सहायता देता है।

प्रश्न- रोग का निदान या दवा क्या है?

स्वामीजी- शरीर के राग से निवृत्त होना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य का यथा-शक्ति ध्यान रखकर शरीर की सेवा करनी चाहिए-ऐसा करने से शरीर के रोग का अन्त हो जाता है। शरीर सेवा-सामग्री है। साधक की प्रार्थना होनी चाहिए-"हे प्रभु! यह शरीर विश्व के काम आ जाए, अहम् अभिमान-शून्य हो जाए एवं हृदय प्रेम से भर जाए।"

प्रश्न- सच्चा सुख मनुष्य को कब और कैसे मिल सकता है?

स्वामीजी- वास्तव में मानव-जीवन की यही सबसे बड़ी समस्या , है। इसके हल करने में प्राण सदा स्वतन्त्र है। इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार न करना बड़ी भारी भूल है।

मानवता प्राप्त होने पर मनुष्य को वह सुख मिल जाता है जिसमें दुःख नहीं होता अर्थात् सच्चा सुख मिल जाता है।

सहज भाव से मूक भाषा में प्रेम पात्र से प्रार्थना करो-"हे नाथ! इस हृदय को अपनी प्रीति से भर दो। इस शरीर को दुखियों की सेवा में लगा दो। बुद्धि को विवेकवती बना दो। इस जगत् रूपी वाटिका में मुझे एक सुन्दर पुष्प बना दो। मैं सदा आपकी कृपा की प्रतीक्षा में रहूँ।" ऐसी प्रार्थना करने से प्रेम-पात्र तुम्हें अपनी सेवा करने के योग्य अवश्य बना • लेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रश्न- शारीरिक कष्टों को कैसे भूला जाय?

स्वामीजी- भूला न जाय, सहा जाय-चिंता, विलाप से रहित होकर। यह तप है। तप से शक्ति बढ़ती है। भूलने से तो जड़ता आवेगी। शरीर से तितिक्षा होनी चाहिए। तितिक्षा का अर्थ है, हर्षपूर्वक कष्ट को सहन करना।

प्रश्न- मानव-सेवा-संघ की पहली प्रार्थना में यह कहा जाता है कि दुखियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करें। दुखी बेचारा क्या त्याग करेगा?

स्वामीजी- जब मनुष्य कुछ चाहता है और उसका चाहा हुआ नहीं होता है, तो वह दुःख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख का कारण 'चाह' है। अतः अगर दुखी दुःख से छुट्टी पाना चाहता है, तो उसे चाह का त्याग कर देना चाहिए। चाह का त्याग करने में मानव-मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न- आसक्ति-रहित होकर कार्य करने से क्या तात्पर्य है?

स्वामीजी- जिस कार्य को करने में अपना सुख निहित नहीं होता, जो सर्वहितकारी दृष्टि से किया जाता है, वह आसक्ति-रहित कार्य कहलाता है।

प्रश्न- दुखी होना और करुणित होना एक बात है क्या?

स्वामीजी- नहीं, दुःख में जड़ता आती है। करुणा में चेतना आती है, संसार से सम्बन्ध टूटता है।

प्रश्न- शारीरिक रोग आने पर दुःख क्यों होता है?

स्वामीजी- 'मैं शरीर हूँ' या 'शरीर मेरा है- ऐसा समझने से : दुःख होता है।

प्रश्न- रोगी को दुःख न सताये, इसके लिए क्या करना चाहिए?

स्वामीजी- रोग प्राकृतिक तप है, ऐसा मान कर उसे हर्षपूर्वक सहन कर लेना चाहिए।

प्रश्न- रोगी व्यक्ति को रोगावस्था में क्या करना चाहिए?

स्वामीजी- प्रत्येक अवस्था में प्रभु की अहैतुकी कृपा का अनुभव होता रहे और हृदय उनकी प्रीति से भरा रहे। शरीर के रहने, न रहने से साधकों को कोई लाभ-हानि नहीं होती। शरीर को बनाये रखने की कामना का त्याग आवश्यक है।

प्रश्न- भगवत्प्राप्ति में विघ्न क्या है?

स्वामीजी- संसार को पसन्द करना ही सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न- दुःख क्यों होता है?

स्वामीजी- सुख-भोग से ही दुःख-रूप वृक्ष उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है जिसका जन्म सुख-भोग से न हुआ हो।।

प्रश्न- दुःख और सुख का परिणाम क्या है?

स्वामीजी- जो सुख किसी का दुःख बनकर मिलता है, वह मिटकर कभी-न-कभी बहुत बड़ा दुःख हो जाता है और जो दुःख किसी का सुख बनकर मिलता है, वह मिटकर कभी-न-कभी आनन्द प्रदान करता है। प्राणी सुख से बँधता और दुःख से छूट जाता है। सुख से दुःख और दुःख से आनन्द मिलता है।

प्रश्न- त्याग क्या है?

स्वामीजी- संसार की अनुकूलता व प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है। क्योंकि अंनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष का जन्म होता है। राग-द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है। जिस प्रकार लड़की पिता के घर कन्या, ससुराल में बहू और पुत्रवती होने पर माता कहलाती है, उसी प्रकार त्याग ही प्रेम और प्रेम ही ज्ञान कहलाता है। त्याग होने पर आस्तिकता आ जाती है, तब त्याग प्रेम में बदल जाता है। आस्तिकता का यथार्थ अनुभव होने पर प्रेम ही ज्ञान में बदल जाता है।

प्रश्न- कर्म से स्थाई प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती है?

स्वामीजी- कर्म, शरीर व संसार-इन तीनों का स्वरूप एक ही है। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उससे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। स्वतन्त्रता के बिना प्रसन्नता कहाँ? अतः कर्मादि से प्रसन्नता नहीं मिल सकती।

प्रश्न- कर्म किस प्रकार करना चाहिए?

स्वामीजी- कर्म विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिए। ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भोगों का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप होता है। फिर कर्म करने में रुचि नहीं रहती। करने के राग की निवृत्ति हो जाती है और योग प्राप्त होता है।

प्रश्न- मनुष्य को शान्ति क्यों नहीं मिलती?

स्वामीजी- कामना पूरी करने के लिए कर्म करने से शान्ति नहीं मिलती। साधक यदि चित्त-शुद्धि का प्रयत्न करे, निष्काम होकर काम करे तो शान्ति अपने आप आ जाती है।

प्रश्न- भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, यह कैसे मालुम हो?

स्वामीजी- भगवान् पर विश्वास हो और उनसे हमारा सम्बन्ध हो, तब

मालुम हो सकता है। जैसे माता अपने बच्चे के लिए तरसती है, वैसे ही भगवान् अपने भक्त के लिए तरसते हैं। बच्चा काला-कलूटा, गूंगा-बहरा, लूला-लँगड़ा कैसा भी हो, माता उससे प्रेम करती है। बच्चा भी यह बात समझता है। भगवान् में तो माता से अनेक गुना वात्सल्य है। फिर वे भक्त से प्रेम करें, इसमें कहना ही क्या? अतः जो एकमात्र भगवान् को ही मानते हैं, उनको भगवान् का प्रेम मिलता है। इसमें सन्देह नहीं है। यह भक्तों का अनुभव है। ईश्वर प्रेमी-भक्त को ढूँढ़ता है। विचारशील साधक ईश्वर को ढूँढ़ता है।

प्रश्न- स्वामीजी ज्ञान किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जिसके द्वारा तुम जानते हो; जो जानते हो सो ज्ञान नहीं है। विज्ञान का अर्थ है-प्रकृति की जो शक्तियाँ हैं उनका क्या-क्या उपयोग है, क्या-क्या उनमें चमत्कार है? विज्ञान कर्म-के क्षेत्र की चीज है, जैसे-जीवन विज्ञान, भौतिक विज्ञान इत्यादि। वैसे विज्ञान का अर्थ विशेष ज्ञान भी है। स्थान भेद से अर्थ अलग-अलग हो जाता है।

प्रश्न- भौतिक विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान और आस्तिक विज्ञान क्या है?

स्वामीजी- (1) बुराई रहित होना जीवन का विज्ञान है।

(2) बल का दुरुपयोग मत करो, विकास होता जायेगा-यह भौतिक विज्ञान है।

(3) ज्ञान का अनादर मत करो, आपको जीवन-मुक्ति प्राप्ति होगी। यह आध्यात्मिक विज्ञान है।

(4) आस्था में विकल्प मत करो, भगवत्-तत्व आपको प्राप्त होगा। यह आस्तिक विज्ञान है।

ये तीनों तत्व आपमें मौजूद हैं

(1) भौतिक-विज्ञान हमें बुराई रहित होने की प्रेरणा देता है।

(2) अध्यात्म-विज्ञान हमें स्वाधीन होने की प्रेरणा देता है।

(3) आस्तिक-विज्ञान हमें प्रेमी होने की प्रेरणा देता है।

तीनों विज्ञान लगा लो। बुराई रहित हो, स्वाधीन हो और प्रेमी हो. यही जीवन है।

प्रश्न- भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद क्या है?

स्वामीजी- आपका और परमात्मा का सम्बन्ध प्रेम के लिये है। आपका और संसार का सम्बन्ध सेवा के लिये है। अगर आपने सेवा नहीं की और संसार से सम्बन्ध रखा तो अनेक आपत्तियाँ आएंगी जीवन में। ऐसे ही परमात्मा को माना और प्रेमी

नहीं हुये, तो कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये स्वाधीन होना जरूरी है। सेवा तुम स्वाधीन होकर ही कर सकते हो तथा प्रेमी तुम स्वाधीन होकर ही हो सकते हो। इसी को कहते हैं अध्यात्मवाद, जो स्वाधीन बनाता है। निर्भय होकर, निष्काम होकर, असंग होकर आप स्वाधीन होते हो।

मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मेरा संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सब बातों से ही आप स्वाधीन होते हैं। प्रभु अपने हैं। तो प्रेमी होते हैं। जीवन में बुराई का कोई स्थान नहीं है तो धर्मात्मा होते हैं। भौतिकवाद कहो चाहे धर्मात्मा होना कहो, अध्यात्मवाद कहो चाहे स्वाधीन होना कहो, ईश्वरवाद कहो चाहे प्रेमी होना कहो-एक ही बात है। यही जीवन का चित्र है।

प्रश्न- बुराई रहित जीवन कैसे प्राप्त हो ?

स्वामीजी- बुराई रहित जीवन की आवश्यकता अनुभव करो। बुराई जनित सुख का भोग मत करो, नहीं तो परिणाम में दुःख भोगना पड़ेगा। जरूरत महसूस करो- बुराई रहित, स्वाधीन और प्रेमी होने की। यही मानव का अपना जीवन है। प्रभु का और जगत का-दोनों का यह संकल्प है कि मानव में तीन बातें हों। जगत भी यही चाहता है कि आप बुराई रहित हों, प्रभु भी यही चाहते हैं कि आप बराई रहित हों। आप भी पसन्द कीजिये कि मैं बुराई रहित होना चाहता हूँ। जब व्यक्ति जरूरत अनुभव करता है तब बेचैन रहता है- मैं बुराई हित होना चाहता हूँ, मैं स्वाधीन होना चाहता हूँ मैं प्रेमी होना चाहता हूँ। इतना अनुभव करने की जिम्मेदारी आपकी है, शेष प्रभु पर है।

प्रश्न- अपनी वर्तमान स्थिति समझने के लिये कोई परिश्रमपरीक्षण करना होगा क्या?

स्वामीजी- अपनी दशा को देखना होगा। हर आदमी अपनी ज़रूरत को नहीं जानता क्या? देखना है

(1) जरूरत का ज्ञान (2)वर्तमान में क्या कठिनाई है? क्या कष्ट है? यानी किसी अभाव से पीड़ित होकर ही न आप प्रयत्न करेंगे! आप किस अभाव का अनुभव कर रहे हैं जीवन में, ऐसा महसूस करें। यदि कोई अभाव नहीं है तब तो कोई समस्या ही नहीं बनेगी, भाई! जितनी समस्यायें बनती हैं वे अपने अभाव के अनुभव से ही बनती हैं। जैसे कोई

पराधीनता से पीड़ित है, वह क्या सोचेगा? मुझे स्वाधीनता मिल जाय। जैसे कोई मृत्यु के भय से पीड़ित है क्या सोचेगा? मुझे अमर जीवन मिल जाय। जैसे कोई नीरसता से पीड़ित है क्या सोचेगा? मुझे नित-नव-रस मिल जाय।

प्रश्न- परमात्मा को हम अपना क्यों नहीं मान पाते?

स्वामीजी- इसलिये नहीं मान पाते कि हमने जरूरत महसूस नहीं की। कारण का कारण नहीं होता। देखिये! आपके सामने एक तरफ जगत है और एक तरफ परमात्मा। तीसरी चीज तो है नहीं। आप और आपका जगत, आप और आपका परमात्मा। अगर जगत पसन्द है तो परमात्मा कैसे पसन्द आ जायेगा? परमात्मा को पसन्द कैसे कर पायेंगे?

प्रश्न- जगत में ऐसी क्या विशेषता है जो पसन्द आ जाता है?

स्वामीजी- जगत की विशेषता नहीं है आपकी निर्बलता है।

प्रश्न- निर्बलता कैसे दूर हो ?

स्वामीजी- अपने आप दूर हो जायेगी। जगत पसन्द करोगे, मिलेगा है नहीं- धक्के खाओगे, अपने आप ही परमात्मा की ओर जाओगे। भाई! सीधी सी बात है, अगर हम जगत को पसन्द करेंगे तो वह मिलने. वाला है नहीं!

जगत माने - जो न मिले। परमात्मा माने - जो मिल जाय।

तो, अगर आप जगत को पसन्द करोगे तो मिलेगा नहीं। नहीं मिलेगा तो धक्का खाकर अपने आप परमात्मा की ओर आओगे। देखिये, इसका कोई तरीका नहीं है। इसका कोई टेक्नीक नहीं है जो आपको बता दी जाय, जिससे आपका जगत छूट जाय और परमात्मा पसन्द आ जाय। जिन लोगों ने टैकनीक बताई वे कामयाब हुये नहीं। क्या आपने नहीं सुना - लोगों ने कहा कि भगवान का नाम लेते रहो - सब काम हो जायेगा। पर क्या बतायें- हमसे साधकों ने यहाँ तक कहा कि हमने इतने करोड़ नाम लिये- पर हमारा काम नहीं बना। लेकिन इन बातों को हम कहें क्यों! ऐसा भी सुना कि एक बार नाम लिया और काम बन गया।

प्रश्न- परमात्मा के मिलने का सुगम उपाय बताएं?

स्वामीजी- परमात्मा ने ऐसा सुगम उपाय अपनी प्राप्ति के लिये रखा है लोगों के सामने कि भाई! अगर तुम कुछ भी नहीं कर सकते हो तो भी मुझसे मिल जाओगे। अगर

तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है तब भी मुझसे मिल सकते हो, लेकिन साथ-साथ कुछ चाहो मत, यही शर्त है। अगर हम। कुछ नहीं कर सकते हैं और कुछ न चाहें, तो न करने में क्या आपत्ति है? हमसे यह तो होता नहीं कि हम कुछ न चाहें, तब मालूम होता है भाई! जीवन बड़ा कठिन हो गया। लोग निराश हो जाते हैं, थक जाते हैं, विवश हो जाते हैं। यह निराशा हमारी भूल से आती है जीवन में। अगर सचमुच हमको परमात्मा ही पसन्द हैं, तब तो परमात्मा के मिलने में कोई बाधा है ही नहीं | मनुष्य अगर अपनी जरूरत को सामने रखकर परस्पर चर्चा करे, विचार विनिमय करे तो उसे राह मिलती है, जरूर मिलती है।

लेकिन हम तो हैं कहीं, सोचते हैं कुछ, पूछते हैं कुछ तो कैसे राह मिले? विचार कीजिये, क्या आप भगवत् प्राप्ति से भिन्न और कोई संकल्प रखते हैं? अगर और कोई संकल्प रखते हैं तब तो भगवत् प्राप्ति लम्बी हो जायेगी। बहुत लम्बा रास्ता हो जायेगा। क्योंकि जब तक वह संकल्प पूरा हो या बिना पूरा हुए बना रहे तब तक आपको फुर्सत कहाँ होगी भगवान से मिलने की! भगवान की ओर से इन्कार नहीं है आपसे मिलने के लिये। पर आपको ही फुर्सत नहीं है भगवान से मिलने के लिये। हमने मानव सेवा संघ के सत्संग में अनुभव करके देखा है कि सत्संग में जो लोग आते हैं- उनके खाने-पीने का इन्तजाम करते हैं - वे अनेक संकल्प से आते हैं - सत्संग का फायदा कैसे हो? आदि, आदि। इसलिये अपना एक संकल्प देखो कि क्या है? ऐसा कौन सा संकल्प है जो आपको निर्विकल्प नहीं होने देता ? पहले तो आपको.. निर्विकल्प होना पड़ेगा! अर्थात् परमात्मा से मिलने के लिये अकेले होना पड़ेगा न! ऐसा कह लो। तो कौन सा संकल्प है जो आपको अकेला नहीं होने देता। उन संकल्पों को चाहे पूरा करके, चाहे बिना पूरे किए समाप्त करो। भगवान से मिलने के लिये आपको निर्विकल्प होना ही पड़ेगा।

प्रश्न- मुक्ति कैसे मिले?

स्वामीजी- संसार की नापसन्दगी से। अचाह होना, निर्मम होना, असंग होना। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मेरा किसी पर कोई अधिकार नहीं है। मुक्त होने में, प्रभु प्रेम पाने में, शांति पाने में, निर्विकारिता पाने में कोई पराधीन नहीं है। आवश्यकता अनुभव करो, पसन्द करो। बाकी सब कामों में पराधीनता है। रोटी खाने में सब पराधीन। कपड़े पहनने में सब पराधीन। मकान बनाने में, सम्पत्ति

जोड़ने में सभी पराधीन हैं, कोई स्वाधीन नहीं है। पर शान्ति, मुक्ति, भक्ति पाने में सब स्वाधीन हैं।

प्रश्न- महाराज जी! व्यवहार में न चाहते हुये भी कभी-कभी अपनी या जिसके साथ व्यवहार कर रहे हैं उसकी गलती से, भूल से मन में विक्षेप हो जाता है। क्या करना चाहिये?

स्वामीजी- सजग रहो, धीरज रखो। संसार में थोड़े ही दिन तो रहना है। अपना आत्म-निरीक्षण करो। भूल ज्ञात होने पर न दुहराने का व्रत लो। अपने को दोषी मत मानते रहो। कोई दूसरा भी गलती करता है तो भी शान्त रहना चाहिये। अपना कर्तव्य देखो। बुराई के बदले में भलाई करना चाहिये। कोई चोरी करने आता है तो उसे आप पकड़ लेते हैं। अब आपका कर्तव्य है, आप उसे पुलिस के हवाले कर दें। दण्ड देना. आपका कर्तव्य नहीं है। इसी तरह आपके प्रति कोई गलत कार्य करता है तो या तो आप न्यायालय में जाइये (जैसी परिस्थिति हो) या शान्त हो जाइये। व्यक्तिगत रूप में शान्त हो जाइये। जिसने आपके प्रति गलत कार्य किया है उसे स्वतः दण्ड मिल जायेगा। जैसा दायित्व है उसी अनुसार व्यवहार निभाइये। अपने कल्याण के साथ-साथ सुन्दर समाज का निर्माण भी अभीष्ट होना चाहिये। बुराई देखते रहने से भी समाज में बुराई फैलती है। अत: निर्मल समाज के लिये दायित्व पूरा करना ही होगा। कर्तव्य पालन से ही विक्षेप का अन्त होगा।

प्रश्न- स्वामीजी! शहरी जीवन बड़ा अशान्त है, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) शान्त है।

स्वामीजी- नहीं! नहीं! ऐसी बात नहीं है। शहरी जीवन भी शान्त हो सकता है। अपनी रुचि शान्ति की होनी चाहिये। एक खेत है।

उसमें आप गन्ना बोते हो तो मिट्टी, पानी सब वही होते हुये उस मिट्टी में से आप मिठास खींचेंगे। यदि उसी मिट्टी में मिर्चे बोई जाये तो उसी मिट्टी से आप चरपरापन खींचेंगे। इसी प्रकार आपकी जरूरत यदि शान्त रस की है तो आपको शहरी जीवन में भी शान्ति मिल सकती है। ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रश्न- महाराज! हम जड़ता की तरफ आकर्षित क्यों हुये? .

स्वामीजी- जड़ बनकर जड़ता की तरफ आकर्षित हुये। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, यह सब जड़ है। इनको अपना मानना ही तो जड़ती है। इनको अपना क्यों मानते हो? क्या शरीर को आपने बनाया है? क्या। आपके चाहने से रहता है? यदि आप

अपने को जड़ नहीं बनायें तो आप जड़ता की तरफ आकर्षित नहीं होंगे। परमात्मा को अपना मानो, बुराई रहित हो जाओ तो धर्मात्मा हो जाओगे। अहंकार अपना मानने से होता है। बेईमानी से होता है। संसार की जितनी भी वस्तुयें, पदार्थ हैं वे सबके हैं, अपने नहीं हैं। अपना मानने से बेईमानी होती है। संसार की वस्तु संसार की सेवा में भेंट कर दो। आकर्षण गया। अपनी अपने में है तो भी आकर्षण नहीं रहेगा।

प्रश्न- महाराज जी! सहनशीलता नहीं है। कोई डाँटता है तो हलचल हो जाती है, चित्त अशान्त हो जाता है। क्या करें?

स्वामीजी- पहली बात तो यह है कि आप शरीर से तद्रूप रहते हैं तो ऐसा होता है। दूसरा यह सोचो कि कोई डाँटता क्यों है? इस पर विचार नहीं करते। यदि वह हमारी किसी भूल पर डाँटता है तब तो अच्छा ही है। उस भूल को निकाल देना चाहिये। फिर वैसीं गलती नहीं करना चाहिये। यदि कोई बिना गलती डाँटता है तो भी हलचल होने की कोई बात नहीं। यदि करोड़पति को कोई कंगाल कह दें तो उसे क्या फर्क पड़ जायेगा। वह तो उसकी बात पर हँसेगा ही। कोई असर नहीं होगा। इसलिये आप अपनी गलती सुधार लीजिये, हलचल नहीं होगी। अभी आप डाँटने योग्य हैं इसलिये डाँट पड़ती है। हलचल होती है। निष्काम होकर काम करें हलचल नहीं होंगी।

प्रश्न-'काम करने में सावधान, होने में प्रसन्न'-इसका आशय क्या है?

स्वामीजी- करने में सावधान का मतलब है जो कुछ भी आप करो उसे विधिवत् करो और उससे जो फल मिले उसमें प्रसन्नता अनुभव करो।

प्रश्न- शिक्षा और दीक्षा में क्या अन्तर है?

स्वामीजी- शिक्षा ज्ञान को बढ़ाती है, सौन्दर्य को बढ़ाती है और दीक्षा से लक्ष्य का निर्णय होता है।

प्रश्न- सत्संग क्या है और विश्राम कैसे मिले?

स्वामीजी- सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है। संसार में मानव को अपना कुछ भी नहीं, केवल कर्तव्य उसका है-यह मानकर जो चलता है वह शान्ति पाता है और कर्तव्य फल छोड़ दे तो स्वाधीन बन सकता है। उदार होकर प्रभु में आत्मीयता पैदा करे तो प्रेमी हो सकता है। कर्तव्य को समझे और अधिकार रहित होकर काम करे तो क्रोध का नाश हो जाता है। संसार के परे भी जीवन है, उस जीवन में पूरी-

पूरी आस्था हो जाय तो इससे प्रभु-प्राप्ति का रास्ता खुल जाता है। साधना स्वयं उदित हो जाती है। कर्तव्य किये जाना चाहिए।

काम करने के बाद जब हम विश्राम करते हैं, वह भी एक जरूरी काम है। यह भी जीवन के लिए उतना ही जरूरी है, जितने बाकी काम। मनुष्य का असली जीवन योग, बोध और प्रेम को प्राप्त करना है। परिस्थिति के अनुसार सही कार्य करने से विश्राम मिल जाता है। विश्राम सम्पादित करना चाहिए।

प्रश्न- हमारा दायित्व क्या है?

स्वामीजी- अपने को संसार से कुछ नहीं चाहिए, यही संसार के प्रति अपना दायित्व है। दायित्व पूरा करने से बन्धन टूटता है। यद्यपि • मोह का नाश ज्ञान से होता है, तथापि दायित्व पूरा करने से भी मोह का . नाश होता है।

प्रश्न- इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि की दृष्टि में क्या अन्तर है?

स्वामीजी- बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव को अपना लो, तो काम नाश हो जायगा और इन्द्रिय-दृष्टि से संसार का काम पूरा हो जायगा।

प्रश्न- कौन-सा धर्म सबसे अच्छा है?

स्वामीजी- जिस धर्म को मनुष्य मानता है वही धर्म सबसे अच्छा है।

प्रश्न- भाग्य और पुरुषार्थ में क्या भेद है?

स्वामीजी- हमें जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि प्राप्त हैं वह किसी विधान से प्राप्त है। उसे आप भाग्य कह सकते हैं। पुरुषार्थ है मिले हुए का बढ़िया-से-बढ़िया सदुपयोग!

प्रश्न- सुख-दुख का सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- सुख-दुःख के सदुपयोग से जीवन मिलता है। सुख का सदुपयोग है सेवा। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली के अनुसार सुख-दुःख मात्र साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो जीवन सुख-दुःख से अतीत है। भोग से मनुष्य के जीवन में जड़ता आती है, पराधीनता आती है। भोगी स्वाधीन नहीं हो सकता, प्रेमी नहीं हो सकता। और, जो परिस्थिति है, उसका सदुपयोग करने से उदारता आती है, क्लेश मिटता है और चिर शान्ति प्राप्त होती है। जो परिस्थितियाँ हमें मिली हैं, जो सुख-दुःख आया है उसका ठीक उपयोग करें तो हम अविनाशी जीवन से अभिन्न हो सकते हैं।

प्रश्न- जीवन क्या है?

स्वामीजी- जीवन शब्द का अर्थ है, जो अविनाशी हो, नष्ट न हो सकता हो, सदैव हो-वही जीवन है। जो चीज अपने में होती है, उसके लिए पराश्रय अपेक्षित नहीं होता है। अतः जीवन के लिए पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित नहीं है। निर्मम और निष्काम होकर मनुष्य अपने में सन्तुष्ट हो जाय, तो उसे जीवन मिल जाता है।

प्रश्न- कर्तव्य-पालन करने से क्या लाभ है?

स्वामीजी- कर्तव्य-पालन करने से मनुष्य भयरहित हो जाता है, जिससे दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। गरीबी सदा के लिए मिट जाती है। और मनुष्य करने के राग से छूट जाता है।

प्रश्न- इन्द्रियजन्य ज्ञान में सद्भाव क्यों होता है?

स्वामीजी- विषयों का राग होने पर इन्द्रियजन्य ज्ञान में सद्भाव होता है। विषयों का राग मिटने पर अर्थात् विचारपूर्वक वैराग्य होने से बुद्धिजन्य ज्ञान का प्रभाव होता है।

प्रश्न- दुःख क्यों होता है?

स्वामीजी- मनुष्य जब सुख का उपभोग करता है तो उसको दुःख होता है। सुख का उपभोग करना छोड़ दो, दुःख होगा ही नहीं।

प्रश्न- कर्म किस प्रकार करना चाहिए?

स्वामीजी- कर्म सर्वहितकारी भाव से करना चाहिए। हमारा : प्रत्येक कर्म राग-रहित होने के लिए हो। सही करने की कसौटी है कि करने के अन्त में विश्राम प्राप्त हो।

प्रश्न- सुख और आनन्द में क्या अन्तर है?

स्वामीजी- सुख से दुःख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है।

प्रश्न- चेतना क्या है?

स्वामीजी- चेतना सूर्य के समान है, जो स्वयं प्रकाशित है और जिससे जड़ प्रकाशित होते हैं।

प्रश्न- असत् क्या है?

स्वामीजी- जो हमेशा एक जैसा न रह पाये, वह असत् है।

प्रश्न- आनन्द क्या है?

स्वामीजी- जो होकर कभी न मिटे, जिसके मिलने के बाद और किसी चीज की इच्छा न रहे, वही आनन्द है।

प्रश्न- सब सन्देह दूर कब हो जाते हैं?

स्वामीजी-'संसार' और 'मैं'- इन दोनों में से किसी एक का यथार्थ ज्ञान हो जाय, तब सभी सन्देह दूर हो जाते हैं।

प्रश्न- प्रभु में पूर्ण आस्था कैसे हो?

स्वामीजी- प्रभु में आस्था पूर्ण तब होती है, जब उसकी तीव्र आवश्यकता हो, क्योंकि आस्था आवश्यकता के अधीन है।

प्रश्न- मन क्या है?

स्वामीजी- वासनाओं के समूह का नाम ही मन' है। सभी वासनाओं का अन्त करने पर मन मिट जाता है और फिर काम, क्रोध, मोह आदि विकार शेष नहीं रहते।

प्रश्न- वासनाओं का त्याग कैसे हो?

स्वामीजी- वासनाओं का अन्त यथार्थ ज्ञान से होता है। ज्ञान हृदय के शुद्ध होने पर होता है। हृदय त्याग और प्रेम से शुद्ध होता है। शरीरादि किसी वस्तु को अपना न समझना-त्याग और आनन्दघन भगवान् से किसी प्रकार की दूरी न रहना-प्रेम है।

प्रश्न- क्या मानव के विकास के लिए आध्यात्मिकता और नैतिकता दोनों आवश्यक हैं?

स्वामीजी- मानव आध्यात्मिक और नैतिक साधना का प्रतीक है। आध्यात्मिक साधना और नैतिक साधना एक ही जीवन के दो पहलू हैं। आध्यात्मिकता की उपेक्षा से नैतिक साधना निर्जीव हो जायगी और नैतिकता के बिना आध्यात्मिकता शून्य हो जायगी, जो मानव-स्वभाव को अभीष्ट नहीं है।

प्रश्न- आपका यन्त्रों के सम्बन्ध में क्या विचार है?

स्वामीजी- मैं सामान्यतः यन्त्रों के खिलाफ हूँ-क्योंकि यन्त्रों से विलास में वृद्धि होती है, संग्रह बढ़ता है, अभिमान आता है और बेकारी बढ़ती है।

प्रश्न- सुन्दर समाज के निर्माण की पद्धति क्या होगी?

स्वामीजी- कर्तव्य-परायणता के आधार पर ही सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है। .

प्रश्न- समाज में क्रान्ति कैसे आएगी?

स्वामीजी- क्रान्ति व्यक्ति में आयेगी, क्रान्ति जीवन में आयेगी। क्रान्तिकारी व्यक्तियों से सुन्दर समाज बनेगा। हमें समाज में एकता के भाव को लाना चाहिए। अनेक भेद होने पर भी लक्ष्य की एकता और प्रीति की एकता लायी जा सकती है। व्यक्तिव्यक्ति में क्रान्ति का प्रयास होना चाहिए। एक-एक क्रान्तिकारी व्यक्ति समाज में क्रान्ति की स्थिति लायेगा। इससे समाज क्रान्ति की ओर अग्रसर होगा।

प्रश्न- किसी आदमी को कर्तव्य-पालन में हानि होती हो तो वह उसे हानि से कैसे बचे?

स्वामीजी- सच्ची बात यह है कि कर्तव्य-पालन से कभी किसी की हानि होती ही नहीं। हानि का अर्थ है मनुष्य-जीवन का संकीर्णता में, पराधीनता में बँध जाना, विकास में बाधक बन जाना। मनुष्य को उदार होना चाहिए, स्वाधीन होना चाहिए। संकीर्ण बन जाना, पराधीन हो जाना हानि है। किसी का पैसा चला जाय तो उसे हानि नहीं कहते और किसी को बेईमानी करने से लाभ हो जाये तो उसे लाभ नहीं कहते। कर्तव्य उसे नहीं कहते, जिसके पालन में व्यक्ति असमर्थ हो। सामर्थ्य-विरोधी काम कभी किसी साधक को करना ही नहीं है। प्राप्त सामर्थ्य और निजविवेक के अनुरूप कर्तव्य-पालन से व्यक्ति को विकास होता है।

प्रश्न- मनुष्य का सम्बन्ध संसार और परमात्मा के साथ कैसा हो?

स्वामीजी- मानव को जगत् के प्रति उदार और अपने प्रकाशक के प्रति प्रेमी होना चाहिए। जगत् मानव से उदारता की ही आशा रखता है। और जो सभी का आधार तथा प्रकाशक है उसे मानव के हृदय का प्यार चाहिए। इस दृष्टि से मानव जगत् के लिए तथा सर्वाधार के लिए उपयोगी हो सकता है। यह विशेषता मानव को अपने निर्माता से प्राप्त है। अतः मानव को जगत के प्रति उदारता और अपने प्रकाशक तथा आधार के प्रति आत्मीयता रखनी चाहिए।

प्रश्न- दृश्य और दृष्टा का क्या सम्बन्ध है?

स्वामीजी- दृश्य की सीमा द्रष्टा के अन्तर्गत ही होती है। इस दृष्टि से समस्त दृश्ये इन्द्रियों की सीमा के भीतर है और इन्द्रियाँ मन की सीमा के भीतर हैं और मन बुद्धि की सीमा में है। बुद्धि तथा इन्द्रिय दृष्टि से ही जुग़त् की प्रतीति होती है। बुद्धि का ज्ञाता जो अहम् तत्त्व है, वह बुद्धि की सीमा से बड़ा है और अहम् का जो ज्ञाता अनन्त तत्त्व है वह अहम् से बड़ा है। अतः सर्व का ज्ञाता और प्रकाशक जो अनादि, अनन्त, अनुपम, अद्वितीय तत्त्व है उसके किसी अंश में अहम् और अहम् तत्त्व के किसी अंश में इदं तत्त्व है। अर्थात् 'है' के किसी अंश में 'मैं' और 'मैं' के किसी अंश में यह सृष्टि है।

प्रश्न- शरीर के रहते हुए क्या मानव स्वाधीन हो सकता है?

स्वामीजी- शरीर मानव का स्वरूप नहीं है, अपितु साधनसामग्री है। साधन-सामग्री का सदुपयोग करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर मानव अपनी भूल से ही

पराधीनता में आबद्ध होता है। मानव जन्मजात स्वाधीन ही है, यदि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करे। जब मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करता तब वह स्वयं स्वाधीन होकर उदारता तथा प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है और यही मानव का निजस्वरूप है।

प्रश्न- विचार क्या है?

स्वार्मीजी- दृश्य का यथार्थ ज्ञान जिस चेतना से होता है, वह विचार है। विचार से अविचार की निवृत्ति होती है। फिर विचार। स्वतः विचारक को लक्ष्य से अभिन्न कर देता है अर्थात् विचार से काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

प्रश्न- सामाजिक एकता के लिए भिन्नता में एकता से आपका क्या आशय है?

स्वामीजी- संसार में योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के भेद रहे हैं और रहेंगे। इन विविध प्रकार की अनेकताओं के होते हुए भी लक्ष्य की एकता हो सकती है। दूसरी एकता पारस्परिक प्रीति की एकता हो सकती है। ये दोनों प्रकार की एकताएं अनेक प्रकार की भिन्नताओं के बावजूद हो सकती हैं।

प्रश्न- सुन्दर समाज का जिक्र आपने बार-बार किया है- आपके विचार के अनुसार सुन्दर समाज कैसा होगा? उसका क्या रूप होगा?

स्वामीजी- (क) जिस समाज को पुलिस, फौज और न्यायशाला की अपेक्षा न हो।

(ख) जिसमें किसी के अधिकार का अपहरण न हो।

(ग) जिसमें एकता कर्तव्य-परायणता के आधार पर कायम हो, उसे सुन्दर समाज माना जायेगा।

प्रश्न- इस प्रकार के समाज के निर्माण का उपाय क्या होगा?

स्वामीजी- इसका उपाय है कर्तव्य-परायणता अर्थात् अपने अधिकार का त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा।

प्रश्न- इस निर्माण का प्रारम्भ कैसे होगा?

स्वामीजी- व्यक्ति-निर्माण से ही प्रारम्भ होगा। अपने सुधार में ही सभी का सुधार निहित है।

प्रश्न- सत्य क्या है?

स्वामीजी- जिससे असत्य की जानकारी हो, जो कभी नष्ट न होता हो। सदैव रहने वाले को सत्य कहते हैं।

प्रश्न- मनुष्य का मरने के बाद पुनर्जन्म होता है क्या?

स्वामीजी- प्राणशक्ति समाप्त हो जाय और इच्छा समाप्त न हो, तो

जन्म होता है और इच्छा समाप्त हो जाय तो जन्म नहीं होता|

प्रश्न- इतना पढ़ने-सुनने और साधन (क्रियात्मक) करने पर भी साधन-निर्माण क्यों नहीं हुआ?

स्वामीजी- आज का साधक सम्मान चाहता है, मन की बात पूरी करना चाहता है और दूसरों को बुरा समझने में दक्ष हो गया है-इन तीन बातों से साधन निर्माण नहीं हुआ।

प्रश्न- लोभ और मोह का नाश कैसे हो?

स्वामीजी- मिले हुए को अपना और अपने लिए न मानने से लोभ और मोह का नाश होता है।

प्रश्न- सुख और रस में क्या अन्तर है?

स्वामीजी- सुख हमेशा कम होता जाता है और रस उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

प्रश्न- अविनाशी जीवन की लालसा कैसे जगे?

स्वामीजी- विनाशी जीवन की वास्तविकता का बोध होने पर अविनाशी जीवन की लालसा स्वतः जगेगी।

प्रश्न- पूर्ण विकास का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- हम संसार और परमात्मा के काम आ जायें और बदले में दोनों से कुछ न चाहें।

प्रश्न- भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करे-यह भौतिक उन्नति है और हमें संसार की आवश्यकता न रहे-यह आध्यात्मिक उन्नति है।

प्रश्न- भय और दरिद्रता का नाश कैसे हो?

स्वामीजी- ममता छोड़ने से भय का और कामना छोड़ने से दरिद्रता का नाश हो जाता है।

प्रश्न- क्या व्यक्तिगत सम्पत्ति होनी चाहिए?

स्वामीजी- व्यक्तिगत सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिए, परन्तु उसे अपनी और अपने लिए नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न- निश्चिन्तता कैसे आती है?

स्वामीजी- अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने प्रियतम को अपने में स्वीकार करने से निश्चिन्तता आ जाएगी।

प्रश्न- महाराज जी! मरने का भय कैसे मिटे?

स्वामीजी- सोचो! मरने का भय किसको होता है?

(1) जो अपने लिये जीता है। जो समाज के लिये, देश के लिये, विश्व

के लिये जीता है, वह मरने से कभी नहीं डरता।

(2) जो गलत काम करता है। (3) जो अपने लक्ष्य को नहीं जानता। (4) जो सत्संग नहीं करता।

जो सत्संगी है, जो अपने लक्ष्य को जानता है, जिसने अपने कर्तव्य का पालन किया है, वह मरने से नहीं डरता। क्यों नहीं डरता? क्योंकि मरने का प्रश्न उसके सामने नहीं रहता। बड़ी गम्भीर बात है।

प्रश्न- मरने का प्रश्न किसके सामने रहता है?

स्वामीजी- जिसने शरीर के रहते हुये अपने को शरीर से अलग अनुभव नहीं किया। जिसने बल का सदुपयोग नहीं किया। जिसने निष्कामता को नहीं अपनाया, निर्ममता को नहीं अपनाया। आप मानव हैं। मानव होने के नाते आपको सत्संगी होकर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव करके अमरत्व को प्राप्त कर लेना है। बिना अमरत्व की माँग के हम एक भी क्षण न रहें। इस माँग को जगा लेने से सामर्थ्य आ जायेगी। मृत्यु का भय मिट जायेगा।

प्रश्न- प्रभु का कृपापात्र कैसे बनें ?

स्वामीजी- जब प्रेमी वह कर डालता है जो उसे करना चाहिये, तब प्रेमपात्र क्या वह नहीं कर सकते जो उनको करना चाहिये? स्वयं देखो! क्या हम जो कुछ कर सकते हैं, उसे कर दिया या नहीं। यदि कर दिया तो कुछ भी करना शेष नहीं है। यदि नहीं किया है तो फिर कृपा के अधिकारी नहीं हैं। कृपासिंधु की कृपा का अनुभव कृपापात्र को होता है। जो प्रेमी अपनी सारी शक्ति लगाकर क्रिया को भाव में विलीन कर शिशु की भाँति प्रेमपात्र की कृपा की प्रतीक्षा करता है, वह प्रेमपात्र का पवित्र प्रेम अवश्य पाता है। यह नि:सन्देह सत्य है।

प्रश्न- ज्ञान और प्रेम में सरल कौन सा है?

स्वामीजी- दोनों ही सरल हैं। पसन्द करने की बात है।

प्रश्न- विश्वास करके भगवान को प्राप्त कर लिये, अब क्या करें?

स्वामीजी- आनन्द करो! भगवान का काम करो! तब भगवान तुम्हें प्यार करेंगे। जैसे वेदों के चार महावाक्य हैं, उसी प्रकार मानव सेवा संघ के चार महावाक्य हैं। पहला- मेरा कुछ नहीं है। दूसरा-मुझे कुछ नहीं चाहिये। तीसरा- प्रभु अपने हैं; और चौथा- सब कुछ प्रभु का है। दो विश्वास के आधार पर, दो विचार के आधार पर। स्वीकार कर लें, प्रभु का प्रेम भी प्राप्त हो जायेगा।

प्रश्न- जब ईश्वर से सम्बन्ध है तो उसकी बनाई हुई चीजों से भी तो सम्बन्ध होना चाहिये?

स्वामीजी- ओ हो हो! ईश्वर की बनाई हुई चीजों से सम्बन्ध होना चाहिये ईश्वर का काम करने के लिये। पति की कमाई से सम्बन्ध है किसी और के लिये थोड़े ही, बल्कि पति की सेवा के लिये। आप तो ईश्वर की बनाई हुई चीजों को अपना मान लेते हैं। ईश्वर का नाम ही काट देते हैं। जरा गौर फरमाइये!

प्रश्न– ईश्वर हमारा है तो उसकी बनाई हुई चीज भी तो हमारी है**?**

स्वामीजी- नहीं, अगर ईश्वर की बनाई चीज आपकी है। और इसी सत्य को मानो तो हम भी आपके हैं! हमको तो आप अपना मानते नहीं हैं। अपना बैंक का एकाउन्ट थोड़े से लोगों के लिये रख देते हो। फिर तो आपका पड़ोसी भी आपका है। वह भी तो नहीं मानते! तुम तो ईश्वर की दुनियाँ में अपनी एक नई दुनियाँ बनाते हो। अगर ईश्वर की बनाई हुई सभी चीजें हमारी हैं तो हमारे जीवन में कहाँ वैर-भाव रहेगा? कहाँ विषमता रहेगी? कहाँ संकीर्णता रहेगी? कहाँ कामना रहेगी? सभी हमारे हैं तो कामना आयेगी? अगर इस सत्य को भी माना होता तो काम बन जाता। पर दुःख की बात तो यह है कि ईश्वर की चीजों को भी अपना नहीं मानते। कुछ चीजें अपनी मानते हैं। एक अलग मिल्कियत बनाते हैं। एक नई दुनियाँ बनाते हो। वही बन्धन का कारण है। उसी से पराधीन होते हो। जड़ता तथा अभाव में आबद्ध होते हो।

प्रश्न- शरीर का उपयोग क्या हो सकता है?

स्वामीजी- संसार के साथ हैं तो शरीर का उपयोग संसार के अहित में न हो। वाणी से कटु मत बोलो-सेवा हो गई। कटु नहीं बोलोगे तो मधुर बोलोगे। अहितकर मत बोलो - क्या होगा? हितकर बोलोगे। आपके शरीर का उपयोग दूसरे के अहित में न हो। अहित में कब होता है? जब अपने सुख में होता है। अपने लिये शरीर नहीं है। अर्थ यह है कि शरीर का उपयोग अपने सुख-भोग में नहीं करना है।

प्रश्न- शरीर मेरा नहीं है, शरीर मैं नहीं हूँ - फिर सेवा कैसे?

स्वामीजी- देखिये! कोई चीज 'मैं' होती है - कोई चीज 'मेरी होती है। मान लो मेरी भी नहीं है, मैं भी नहीं है - यह ज्ञान से सिद्ध है, लेकिन शरीर का उपयोग आप करते हैं कि नहीं? या तो आप शरीर से अकर्ता हो जायें, अभोक्ता हो जायें, असंग हो

जायें - तब तो यह बात बनेगी कि मुझे क्या मतलब शरीर की सेवा से! वैसे असंग होना भी तो सेवा हुई। असंग होने से क्या होगा? जिन चीजों पर आप अपना अधिकार मानते थे - वह हट गया, तो जो चीजें थीं वह समाज की हो गईं। आपको निर्विकारता प्राप्त हो गई।

प्रश्न- महाराज जी! सेवा शरीर के द्वारा ही तो करते हैं?

स्वामीजी- शरीर के द्वारा होती है कि आप करते हैं? सोचिए! जब हम बुराई रहित होने का व्रत लेते हैं तो भलाई करनी नहीं पड़ती। अपने आप होती है। झूठ न बोलने का निर्णय करने पर अपने आप सत्यवादी हो जाते हैं। यह तो परिस्थिति की बात है। सोचिये, आखिर आप पूछते हैं शरीर के द्वारा, कहते हैं शरीर के द्वारा। कोई खिलाता है तो शरीर के द्वारा, खाते हैं तो शरीर के द्वारा। अब रोटी खाना शरीर का काम है, आपका धर्म नहीं है। शरीर मेरा नहीं, शरीर मैं नहीं'-यह तो विदेह की बात है। कर्तव्य क्षेत्र की बात तो है बुराई रहित होना।

प्रश्न- चाह की उत्पत्ति का हेतु क्या है?

स्वामीजी- रुचि और अरुचिरूपी भूमि में चाहरूपी दूर्वा उत्पन्न होती है। यदि रुचि-अरुचि का समूह न रहे, तो चाह की उत्पत्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता; कारण कि रुचि-अरुचि के आधार पर ही सीमित अहंभावे सुरक्षित रहता है। उसी से चाह की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न- हम किसे अपना कह सकते हैं?

स्वामीजी- अपना उसी को कह सकते हैं, जिससे देश-काल, की दूरी न हो, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त न हो और जो अपने को अपने-आप प्रकाशित करने में समर्थ हो। क्योंकि अपने से अपना वियोग सम्भव नहीं है, और जो अपना नहीं है उससे वियोग होना अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण से बाह्य वस्तु की तो कौन कहे शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन आदि को भी अपना नहीं कह सकते।।

प्रश्न- हम अपने को भोक्ता न मानें तो क्या मानें ?

स्वामीजी- अपने को साधक मानें, सेवक माने, जिज्ञासु माने!

प्रश्न- हमारा साधन क्या है और हमारा साध्य क्या है?

स्वामीजी- साधक उसे कहते हैं, जिसका कोई साध्य हो और जिसमें साधन की माँग हो। साधक, साधन और साध्य में जातीय तथा। स्वरूप की एकता और गुणों की भिन्नता होती है, इसी कारण साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो

सकता है। इस दृष्टि से समस्त जीवन साधन होने पर ही सिद्धि सम्भव है।

प्रश्न- संकल्प-निवृत्ति में जो शान्ति है, उसका महत्त्व तथा महिमा क्या है?

स्वामीजी- संकल्प-निवृत्ति की शान्ति भोग को योग में, पराधीनता को स्वाधीनता में और जड़ता को चिन्मयता में परिवर्तित करने में समर्थ है।

प्रश्न- साधन-पद्धतियाँ मान्यताएँ हैं, तो फिर सिद्धान्त क्या है?

स्वामीजी- सिद्धान्त एक है, अनेक नहीं और उसका वर्णन नहीं हो सकता; प्रत्युत उसकी प्राप्ति हो सकती है। कारण कि वर्णन करने की सामर्थ्य सीमित है और सिद्धान्त असीम है।

प्रश्न- राग-रहित होने के लिए हमें परिस्थिति का सदुपयोग किस भाव से, किस प्रकार से और किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहिए?

स्वामीजी- सर्वहितकारी तथा सर्वात्मभाव ही वास्तविक भाव है, विरक्ति तथा उदारतापूर्वक कार्य करने का ढंग ही वास्तविक ढंग है। और उस अनन्त से अभिन्न होने का उद्देश्य ही वास्तविक उद्देश्य है। यदि परिस्थिति का सदुपयोग करने में उदारता तथा विरक्ति नहीं अपनाई गई तो सर्वहितकारी भाव स्वार्थभाव में, सर्वात्मभाव देहभाव में और अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन का उद्देश्य भोग प्राप्ति में बदल जाएगा, जो वास्तविक उद्देश्य नहीं है।

प्रश्न- क्या परिस्थिति नित्य-चिन्मय नहीं हो सकती ?

स्वामीजी- यह प्रश्न वर्तमान जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी आन्तरिक माँग नित्य-चिन्मय जीवन की ही है। उसकी पूर्ति के लिए चाहे हमें उस जीवन से अभिन्न होना हो अथवा वह जीवन हमारे में अवतरित हो। पर इन दोनों बातों के लिए परिस्थिति से तो असङ्ग होना ही होगा। क्योंकि परिस्थिति से असङ्ग बिना हुए जड़ता से जो हमारी तादात्म्य हो गया है, वह निवृत्त नहीं हो सकता और न काम

नाश हो सकता है। काम का नाश बिना हुए न तो राम से अभिन्नता हो सकती है, न राम से योग ही हो सकता है और न राम का प्रेम ही मिल सकता है।

प्रश्न- प्रभु को किस स्वरूप में स्वीकार कर समर्पण किया जाय?

स्वामीजी- प्रभु दो नहीं, एक हैं। पहली बात तो यह है कि वे गैरहाजिर नहीं हैं, हाजिर-नाजिर हैं।

अभी हैं, अपने में हैं। सदैव होने से अभी हैं। सर्वत्र होने से अपने में हैं। सभी के होने से अपने हैं। वे कैसे हैं? यह प्रश्न समर्पण के लिये जरूरी नहीं है। क्यों जरूरी नहीं है? आप विचार कीजिये। प्रभु कैसे हैं, इस बात की चर्चा भक्तों ने की है अनेक ढंग से। एक ढंग से तो की नहीं है कि कह दिया जाय ऐसे हैं, ऐसे हैं। किसी ने कहा- साकेतविहारी हैं। किसी ने कहा- गोलोकवासी हैं। किसी ने कहा- वैकुण्ठवासी हैं। किसी ने कहा- शिवलोक वासी हैं। किसी ने कहा- घट-घट वासी हैं। किसी ने कहा कुछ, किसी ने कहा, कुछ - इस तरह तो आप पचड़े में फंस जायेंगे!

वे चाहे जैसे हों, कोई चिन्ता की बात नहीं। अपने को तो यह एतराज है नहीं कि वे सगुण नहीं हैं। अपने को इसमें भी एतराज नहीं कि वे निर्गुण नहीं हैं। चाहे जैसे हों, चाहे कुछ करें, गलत तो करते नहीं! जो करेंगे, ठीक ही करेंगे। इसलिये समर्पण का अर्थ ही होता है - हर चीज पर से अपनी ममता हट जाय और उनकी सील लग जाय। मन तेरा, तन तेरा, प्राण तेरा, सारी सृष्टि तेरी। यह है पहली बात समर्पण की।

दूसरी बात- मैं भी तेरा। अपने को परमात्मा का मान लेने से मनुष्य अभय होता है। क्योंकि परमात्मा भयहारी हैं। परमात्मा दुःखहारी हैं। दुःख हरने वाला है। भय हरने वाला है। जीवन देने वाला है। तो यदि परमात्मा की महिमा सुनकर आप अपने को समर्पण नहीं कर सकते और किसी एक प्रतीक को लेकर समर्पण करना चाहते हैं तो जो प्रतीक आपको प्यारा लगता हो! लेकिन वह प्रतीक तो खाली इस बात का सबूत है कि वे ऐसे हैं। लेकिन जो प्रतीक है। उसे तो आप जानते ही हो कि वह आपका काल्पनिक है, मनुष्य कृत है। क्या राय है? जैसे गोस्वामीजी ने लिख दिया, "कोटि मनोज लजावन हारे....." उनमें इतना सौन्दर्य है कि करोड़ों कामदेवों को लज्जित होना पड़ता है। उसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। क्या राय है आपकी? नहीं कर सकते! इसलिये प्रभु चाहे जैसे हों, पर मैं आप ही का हूँ।' हर चीज आपकी है। और आप भय के हरने वाले हैं। मृत्यु का भय हर लेते हैं; पराधीनता, अभाव का भय हर लेते हैं और जीवन देने वाले हैं।

प्रश्न- जीवन किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जीवन माने जिसका नाश न हो। जीवन माने जो रसरूप हो। जीवन माने जो असीम हो। उनकी महिमा को स्वीकार करके अपने को समर्पण कर दिया जाय, अर्थात् अपना कोई संकल्प न

रखा जाय। प्रभु के संकल्प में अपने संकल्प को विलीन कर दिया जाय। इससे प्रभु के प्रेम की, प्रभु की स्मृति की जागृति होगी। उनकी हर चीज, यथा नाम भी प्यारा लगेगा, महिमा भी प्यारी लगेगी, रूप भी उनका प्यारा लगेगा। अगर सृष्टि उनकी है तो वह भी अपने को प्यारी लगेगी। प्यारी तो लगेगी, पर ममता उसमें नहीं होगी। सृष्टि की सेवा करेंगे, पर अपना नहीं मानेंगे। अर्थ क्या हुआ कि सेवा करने के लिये सृष्टि है और प्यार करने के लिये प्रभु हैं। यह सब कब होगा? जब इस बात को आप स्वीकार कर लें कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, प्रभु मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। ये चार महावाक्य हैं जीवन उपयोगी। देखिये, जब जीवन में प्यार भर जाता है तो नीरसता नाश हो जाती है। मन शान्त हो जाता है। बुद्धि सम हो जाती हैं। तुम्हारी माँग को प्रभु जानते हैं। तुम्हें भी वे जानते हैं। तुम्हारी भू: को भी प्रभु जानते हैं। उसे वे मिटा सकते हैं। माँग जग जाय ब:

प्रश्न- स्वामीजी! अपना मन स्थिर कैसे हो?

स्वामीजी- जब तक आपका अपना मन है, तब तक कभी भी स्थिर नहीं होगा। भगवान् को आप अपना मान लें, तो आपका मन भगवान् में विलीन हो सकता है। हम मन को अपना मान कर कभी स्थिर नहीं कर सके और न कोई कर सकता है। संसार के सम्बन्ध का जो प्रभाव है, सच पूछो तो उसी का नाम मन है। मन कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। यह संसार के सम्बन्ध का प्रभाव है। यानी संसार को जब आकर्षण होता है, तभी मालूम होता है कि हमारे पास मन है।

प्रश्न- कैसे जानें कि मेरे संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो गये?

स्वामीजी- जानो मत, मानो। जान तो आप सकते ही नहीं। जानना होता है उसके सम्बन्ध में जिसके सम्बन्ध में विकल्प हो। ऐसे मानो कि अपना करके संकल्प मत रखो। देखिये प्रभु का संकल्प सामर्थ्य और ज्ञान विरोधी नहीं होगा और वह पूरा जरूर हो जायेगा। प्रभु का संकल्प ज्ञान और सामर्थ्य के अनुरूप होता है। वह कर्तव्य का रूप धारण करके पूरा हो जाता है। इतनी कसौटी रख लीजिये ज्यादा-से-ज्यादा। जब आप स्वीकार कर लेंगे कि मुझे कुछ नहीं चाहिये। तब फिर जो होगा वह प्रभु का ही संकल्प होगा। विश्वास में बुद्धि नहीं लगाई जाती।

प्रश्न- अगर हम ऐसा सोच लें कि मुझे कुछ नहीं चाहिये, केवल प्रभु ही चाहिये तो?

स्वामीजी- प्रभु चाहिये तो प्रभु कोई दूर नहीं हैं। प्रेम के अभाव से दूर मालूम होते हैं। मान लो प्रभु आपको मिल जायँ और उनका प्रेम न मिले तो ठन-ठन पाल रह जाओगे। सत्ता रूप से तो परमात्मा सर्बको मिला हुआ है न। आप विचार करके देखो। परमात्मा के प्रेम की माँग ज़ब तक नहीं होगी, तब तक तुम्हारे और परमात्मा के मिलन का जो आनन्द है.वह नहीं आयेगा। क्योंकि परमात्मा तो मिला ही हुआ है। कोई ठौर खाली है जहाँ परमात्मा न हो! बोलो? नहीं है। प्रभु मुझको चाहिये क्यों मुझे उनका प्रेमी होना है यों नहीं तो प्रभु का आचार डालोगे क्या या भोग करोगे प्रभु का? मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ, गम्भीरता से सोचो! यह भी लोगों को भ्रम हो गया है कि प्रभु प्राप्त हो जायं, प्रभु प्राप्त हो जाये। अरे प्रभु अप्राप्त नहीं हैं प्यारे! प्रेम अप्राप्त है। इसीलिये प्रभु अप्राप्त लगता है। संसार प्राप्त नहीं है, आसक्ति प्राप्त है। इसलिये प्राप्त लगता है। संसार कहाँ प्राप्त है आपको? ममता आपमें है, इसलिये आपको लगता है प्राप्त हो गया है। ..यह भी प्रश्न कोई बढ़िया नहीं है कि मुझे प्रभु प्राप्त हो जाये। मुझे प्रभु का प्रेम प्राप्त हो जाय। कुछ मत चाहो तो प्रभु तो प्राप्त हैं ही। दो ही चीज हैं- एक चाह और एक परमात्मा। चाह छूट गई, परमात्मा रह गया-ऐसा मान लो। यह संत मत है। हमारे और परमात्मा के बीच में हमारी भूल से उत्पन्न हुई कामना ही पर्दा है। कुछ मत चाहो, बस परमात्मा प्राप्त है। लेकिन प्राप्त होने से काम नहीं चलेगा जब तक कि उसका प्रेम न प्राप्त हो। इसी को भक्ति-रस कहते हैं। जो आपको पसन्द आ जाय। जिसमें आपको सन्देह न हो। देखिये, जिस बात में सन्देह नहीं होगा, जो बात आपको रूचिकर होगी, जो सामर्थ्य के अनुसार होगी, वही जीवन के साथ मिल जायेगी। परमात्मा है, इसमें सन्देह मत करो। अपना है, इसमें विकल्प मत करो। उसका प्रेम मुझे चाहिये। प्रभु अपना प्रेम दे दो! प्रभु अपनी आस्था दे दो! प्रभु अपना विश्वास दे दो! माँगो, जरूरत महसूस करो।

देखो! संसार के पाने में और परमात्मा के पाने में एक बड़ा भारी अन्तर है। आप संसार की कामना करते हो तो उसके लिये प्रयास भी करना पड़ता है। कर्म भी करना पड़ता है। खाली कामना मात्र से नहीं होता। जल पीने की कामना करते हो

तो उसके लिये ग्लास हाथ से उठाना होगा, मुँह से लगाना पड़ेगा। फिर भी पानी पी पाएं या न पी पाएं, इसमें भी सन्देह है। लेकिन परमात्मा की प्राप्ति में केवल आवश्यकता अनुभव करो- कोई अन्य प्रयास नहीं करना पड़ेगा। बुराई छोड़नी पड़ेगी, अचाह होना पड़ेगा। यह प्रयास तो शरीर धर्म नहीं है न! जानी हुई, की हुई बुराई छोड़ दो, अचाह हो जाओ, प्रभु की आवश्यकता अनुभव करो, प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो, अवश्य मिल जायेगा।

प्रश्न- अचाह का क्या तात्पर्य है?

स्वामीजी- मुझे कुछ नहीं चाहिये।

प्रश्न- गृहस्थ जीवन में तो वस्तुओं की चाह रहेगी ही?

स्वामीजी- गृहस्थ जीवन में तो आवश्यक वस्तुयें बिना माँगे मिलती हैं। चाहने से नहीं मिलती। नहीं तो कौन सा गृहस्थ ऐसा है। जो करोड़पति से कम रहना चाहे! सब चाहते हैं सुन्दर नारी, सपूत पुत्र और समाज में ऊँचा स्थान! लेकिन मिल जाता है क्या चाहने से? वह तो विधान के अनुसार जो मिलना है मिल ही जायेगा। चाहो, चाहे मत चाहो न चाहने से गृहस्थी नहीं चलेगी, ऐसी बात नहीं है। और चाहने से चलेगी, ऐसी बात भी नहीं है।'चाह तो हमारी आपकी भूल है। बाकी तो वस्तु मिली है, योग्यता मिली है, परिस्थिति मिली है, सामर्थ्य मिली है, उसका सदुपयोग करो। व्यक्ति मिले हैं, उनकी सेवा करो; आदर दो, प्यार दो। यही तो गृहस्थी है। बिना कार्य किए भी तो गृहस्थी का काम नहीं चलता कार्य करो, लेकिन उसको भगवान का मानकर करो। हर चीज पर भगवान की मुहर लगा दो। शरीर पर, मन पर, बुद्धि पर, पत्नी पर, पुत्र पर, परिवार पर, हर चीज पर भगवान की मुहर लगा दो।

प्रश्न- स्वामी जी! कोई प्रयास न करें तो काम अपने आप हो जायेगा क्या?

स्वामीजी- काम करने का प्रयास करो। कामना मत करो। कर्तव्य परमात्मा की प्राप्ति में बाधक नहीं है। कामना बाधक है।

प्रश्न- परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा नहीं होने का कारण क्या है?

स्वामीजी- सुख का भोग! भोग में रुचि है। भोग पसन्द है। पराधीनता पसन्द है। यही भूल है।

प्रश्न- सुना है संसार जागते का सपना है। जो भाग्य में है वह अपने से हो जाएगा?

स्वामीजी- अपने से नहीं हो जाता करना पड़ता है। तीन अवस्थायें हैं- जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। यह प्राकृतिक विधान है। जाग्रत है तो स्वप्न भी होगा और सुषुप्ति भी होगी। जड़ता में लय हो गये, सुषुप्ति हो गई। सूक्ष्म शरीर की रचना हुई-स्वप्न हो गया। वैसे तो जांग्रत भी स्वप्न ही है।

प्रश्न- ध्यान कैसे किया जाता है? ध्यान पर बैठते हैं लेकिन लगता नहीं है?

स्वामीजी- जब तक ध्यान करेंगे, ध्यान कभी होगा ही नहीं। थोड़े दिन पहले एक आस्ट्रेलियन आदमी मेरे पास आया था आश्रम में। उसने कहा कि मुझे Meditation के सम्बन्ध में कुछ बतायेंगे?

मैंने कहा 'नहीं'। क्यों? तुमसे होगा नहीं यों! फिर भी एक हवा बह रही है-ध्यान करो, ध्यान करो! यह हवा इसलिये बह रही है - आप विचार करके देखो - आपको प्यास लगी हो, पानी का ध्यान करने से होगा कि अपने आप आयेगा? श्रोता-प्यास लगते ही आयेगा। पानी के ध्यान का मूल कारण हुआ प्यास। अच्छा, आपको अपने परिवार का ध्यान आता है कि नहीं आता ? श्रोता-आता है। उसका मूल

कारण हुआ "अपनापन"। तो आवश्यकता और अपनापन ध्यान का मूल है। आँख बन्द करके बैठना, अकड़कर बैठना, ध्यान का मूल नहीं है। यह तो बैठने की बात है नहीं। यह तो अनुभव करने की बात है।

प्रश्न- स्वप्न में जो कुछ दिखायी देता है, उसका रहस्य समझ में नहीं आता?

स्वामीजी- रहस्य तो इसलिये समझ में नहीं आता कि वह अवस्था आपने थोड़े ही बनाई है। मनुष्य कृत स्वप्न थोड़े ही होता है! स्वप्न एक अवस्था है और वह होती है इसलिये कि अगर स्वप्न अवस्था न रहे जीवन में, तो मानसिक रोग हो सकते हैं। बहुत से संकल्प ऐसे हैं जिन्हें आप पूरी भी नहीं कर पाते और छोड़ भी नहीं पाते, तो वे स्वप्न में पूरे हो जाते हैं। या, उनका परिणाम स्वप्न में दिख जाता है।

कुछ स्वप्न ऐसे होते हैं कि जो कुछ हमने किया है या करना चाहते हैं, वह आते हैं। भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव से भी होते हैं। कुछ स्वप्न ऐसे भी होते हैं जो भविष्य में होने वाले हैं। सच्चे भी होते हैं और उल्टे भी होते हैं। किसी को बीमार, देखा, वह अच्छाभला मिला और किसी को अच्छा-भला देखा, उसकी मृत्यु हो गई।

स्वप्न अपने वर्तमान की ठीक दशा का बोध कराने वाली बात है। आप कहते हैं स्वप्न में ही भगवान का दर्शन हो जाता-तो भाई, प्रेम चाहो दर्शन मत चाहो, तो शायद दर्शन भी हो जाय। क्योंकि भगवान प्रेम का पान करने के लिये प्रकट होता है। ईमानदारी से देखा जाय तो भगवान प्रकट होता है प्रेम के रस का पान करने के लिये। भगवान प्रकट नहीं होता अपनी शकल दिखाने के लिये! उसे गरज नहीं पड़ी है! जब हम प्रेमी होंगे तभी भगवान प्रकट होंगे। प्रेम नहीं होगा, वहाँ भगवान प्रकट कैसे होगा?

मैं पूछता हूँ कि भगवान आपको क्यों मिलें? क्या दोगे आप। उसको? उसे क्या गरज पड़ी है और आप भगवान को क्यों मिलें? आपको क्या गरज पड़ी है? दोनों की जरूरत हो, तब न मिलेगा? अगर आपको प्रेमी होने की जरूरत है और आप प्रेमी होते हैं तो. प्रभु दर्शन देते हैं। प्रेमियों को प्रभु दर्शन देते हैं। यह आजकल भी सत्य है, पहले भी सत्य था; अकाट्य सत्य है।

देखिये! प्रेमी दर्शन के बाद क्या माँगते हैं- तुम प्यारे लगते रहो, तुम प्यारे लगते रहो। भगवान को और आपका सम्बन्ध प्रेम का है। मुक्ति का सम्बन्ध ज्ञान से है और सेवा का सम्बन्ध संसार से है। तीन ही क्षेत्र हैं आपके जीवन के-संसार में रहो तो सेवा करो। मुक्ति चाहो तो ज्ञानपूर्वक ही होगी और किसी प्रकार नहीं होगी। प्रेमी होना चाहो तो भगवत् प्राप्ति होगी। बस, भगवान प्रकट हो जायेगा। अप्राप्त तो भगवान है नहीं! यह तो खाली भ्रम से हम लोग कहते हैं- भगवान नहीं मिला-भगवान नहीं मिला। नहीं मिला तो मिला क्या? भगवान ही तो मिला है। और तो कोई चीज मिलने वाली है नहीं। मिलती भी नहीं है; मिल सकती भी नहीं है।

प्रश्न- शरीर की सेवा का स्वरूप क्या हैं और निर्भयता कैसे मिले?

स्वामीजी- जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता और समतां के द्वारा ही शरीर की पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियता के द्वारा शरीर में शुद्धि आती है, मन की निर्विकल्पता के द्वारा सामर्थ्य आती है और बुद्धि की समता के द्वारा शान्ति आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं, जो विश्व की सेवा है। शरीर और वस्तु आदि की ममता तो केवल आसक्ति ही उत्पन्न करती है, उससे न तो शरीर का हितं होता है और न समाज को ही। इस दृष्टि से वस्तु

आदि के प्रति ममता करने का कोई स्थान ही नहीं है। जिनसे ममतारहित होना है, उनकी सेवा अवश्य करनी है। और जिन पर विश्वास करना है। उनसे ही प्रेम करना है। उन्हीं को अपना मानना है और उन्हीं से अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अचाह हो जाएँ; क्योंकि चाह न तो प्रेम उत्पन्न होने देती है, न अपना मानने देती है और न अभिन्न होने देती है। शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होने पर सब प्रकार की चाह का अन्त स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर की सेवा में ही उनका प्रेम निहित है, जिनसे हमें अभिन्न होना है, क्योंकि समस्त विश्व उस अनन्तं की ही अभिव्यक्ति है। शरीर तथा विश्व की सेवा ही 'कर्त्तव्य' का, शरीर आदि से सम्बन्ध-विच्छेद ही 'विवेक' का और जो वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है, उससे नित्य- सम्बन्ध ही 'विश्वास' का प्रतीक है। अतः अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य का अन्त होने पर ही निर्भयता प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न- नीरसता का उद्गम स्थान क्या है?

स्वामीजी- नीरसता को उद्गम स्थान है, विषय-रस का सेवन, अर्थात् विषय-सुख में वह जीवन-बुद्धि है, जो अविवेकसिद्ध है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो सुख-भोग विकास में बाधक होता है, उसका राग मिटाने के लिए ही प्रतिकूल परिस्थिति आती है। और जो सुख विकास में साधक होता है, उसकी पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थिति आती है; अथवा यों कहो कि प्रतिकूलता जागृति के लिए आती है और अनुकूलता उदार बनाने के लिए। परन्तु जो दुःख में जाग्रत् नहीं होता और सुख में उदार नहीं रहता, वही परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होता है और उसी के जीवन में नीरसता निवास करती है।

प्रश्न- क्या सुख-भोग का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है?

स्वामीजी- सुख की वास्तविकता जानने के लिए सुख, देने का स्थान है, लेने का नहीं। इस दृष्टि से परस्पर में सुख देने की ही रुचि रहनी चाहिए, लेने की नहीं। सुख देने की रुचि सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है। फिर साधक सुगमतापूर्वक सुख की दासता से मुक्त हो जाता है, क्योंकि सुख देने की लालसा 'त्याग' और 'प्रेम' को पुष्ट करती है। अतः सुख देने के लिए ही मिला है, भोग के लिए नहीं। सुख देने का जो सुख है, वह साधक को उदार बनाता है।

प्रश्न- उद्देश्य का ज्ञान कैसे हो?

स्वामीजी- हमें अनेक इच्छाओं के मूल में अपनी स्वाभाविक आवश्यकता को जानना होगा, क्योंकि आवश्यकता के ज्ञान में ही उद्देश्य को ज्ञान विद्यमान है। आवश्यकता उसी का नाम है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसके लिए अनेक इच्छाओं का त्याग किया जा सके; पर जिसका त्याग किसी भी प्रकार न हो सके। जिस आवश्यकता को त्याग किसी प्रकार नहीं हो सकता, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा, जब हम उन सभी इच्छाओं का त्याग कर दें, जिनकी पूर्ति के बिना सुखपूर्वक अथवा दुःखपूर्वक रह सकते हैं।

प्रश्न- श्रमरहित होने का उपाय क्या है?

स्वामीजी- सर्वप्रथम चाह और अचाह के जाल से मुक्त हो जाएँ, फिर अपनी सीमित शक्तियों को अनन्त शक्ति के समर्पित कर दें। ऐसा करने पर जिससे समस्त सृष्टि गतिशील हो रही है उसी से सब कुछ होगा। उसके लिए चिन्ता व्यर्थ है। श्रमरहित होने का अर्थ कर्तृत्व के अभिमान से रहित होना है, कर्तव्य से रहित होना नहीं! कर्तव्य के लिए तो अनन्त शक्ति स्वतः कार्य कर रही है। हमें अपनी सीमित शक्तियों को उसी में मिला देना है, अर्थात् 'करना' होने में परिवर्तित कर देना है।

प्रश्न- भेद का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति का हेतु क्या है?

स्वामीजी- समस्त विश्व एक है, जीवन एक है, तत्त्व एक है। उसमें अनेकता को स्वीकार करना ही भेद का स्वरूप है और अविवेक ही उसका कारण है। अविवेक के कारण ही प्राणी शरीर और विश्व का भेद स्वीकार करता है, जो वास्तव में नहीं है। जैसे अनेक कीटाणुओं का समूह एक शरीर है, वैसे ही समस्त दृश्य का समूह एक विश्व है। वह विश्व जिसके प्रकाश से प्रकाशित है तथा जिसमें उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय है, वह तत्त्व भी एक है। इस दृष्टि से उसे एक में ही अनेकों की प्रतीति होती है, पर अनेक एक से भिन्न कभी नहीं होते। अथवा यों कहो कि अनेकता उस एक की ही विभूति-मात्र है। यद्यपि किसी भी विभूति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती; परन्तु जिसकी वह होती है उससे भिन्नता का भास अवश्य होने लगता है, जो वास्तविक नहीं है।

प्रश्न- दृश्य का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- जिसमें प्रवृत्ति तो हो, पर जिसकी प्राप्ति न हो। अर्थात्

जिसकी ओर दौड़ते हों, पर उसे पकड़ न पाते हों-यही दृश्य का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न- मानव-सेवा-संघ की पहली प्रार्थना में यह कहा जाता है। कि दुःखियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करें। दुःखी बेचारा क्या त्याग करेगा? इस पर प्रकाश डालें।

स्वामीजी- जब मनुष्य कुछ चाहता है और उसका चाहा हुआ नहीं होता है तो वह दुःख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख का कारण चाह' है। अतः अगर दुःखी दुःख से छुट्टी पाना चाहता है तो उसे चाह का त्याग कर देना चाहिए। चाह का त्याग करने में मानवमात्र स्वाधीन है।

प्रश्न- आसक्तिरहित होकर कार्य करने से क्या तात्पर्य है?

स्वामीजी- जिस कार्य को करने में अपना सुख निहित नहीं होता बल्कि जो सर्वहितकारी दृष्टि से किया जाता है, वह आसक्तिरहित कार्य कहलाता है।

प्रश्न- क्या शरीर छोड़ने से पहले शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद करना सम्भव है?

स्वामीजी- हाँ, यह सम्भव है। यदि हम स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर अर्थात् तीनों शरीरों से सुख लेना छोड़ दें, तो तीनों ही शरीरों से (शरीरों के रहते हुए भी) सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।

प्रश्न- स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की परिभाषा बताइये?

स्वामीजी- यद्यपि यह प्रश्न जीवन से सीधे सम्बन्धित नहीं है फिर भी मानव-सेवा-संघ में तीनों शरीरों से असंग होने की बात कही जाती है, इसलिए इस पर प्रकाश डाला गया है। स्थूल शरीर के सम्बन्ध में किसी को कोई कठिनाई नहीं है। यह हाड़-माँस का पुतला है जो कि हमारी प्रतीति में आता है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि यह सूक्ष्म शरीर के अर्थ में आते हैं। जिससे हमें अपने होनेपन का भास होता है, उसे कारण शरीर कहते हैं। जैसे गहरी नींद में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का कारोबार तो बन्द रहता है, परन्तु उठने के बाद ये अनुभव होता है कि मैं बड़ी गहरी नींद सोया।' यह अनुभव कारण शरीर के द्वारा ही होता है।

प्रश्न- विश्राम की उपलब्धि कैसे हो?

स्वामीजी- जो कर सकते हैं एवं जो करना चाहिये वह करके, करने के राग से रहित होकर विश्राम प्राप्त करें। प्रत्येक दशा में क्षोभ रहित

होने से ही यथेष्ट विश्राम मिल सकता है। हम क्षोभरहित तभी हो सकते हैं जब हमारी दृष्टि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के सतत्। परिवर्तन पर लगी रहे; अर्थात् अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सदैव नहीं रहेगी, यह अनुभूति जीवन बन जाए। अनुभूति के आदर के बिना साधन-निर्माण सम्भव नहीं है। इस कारण अनुभूति का आदर अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि अनुभूति ही साधक के पथ-प्रदर्शन में हेतु है।

प्रश्न- विश्राम का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- विश्राम आलस्य नहीं है, अकर्मण्यता नहीं है। क्योंकि आलस्य और अकर्मण्यता से तो प्राणी व्यर्थ-चिन्तन तथा जड़ता में आबद्ध हो जाता है और विश्राम व्यर्थ-चिन्तनरहित होने पर तथा जड़ता से अतीत होने पर ही सम्भव है। विश्राम वह जीवन है, जिससे सभी क्रियाएँ उदित होती हैं अथवा जिसमें सभी क्रियाएँ विलीन होती हैं; अर्थात् क्रियाशीलता का उद्गम-स्थान भी विश्राम है और उसका लयस्थान भी विश्राम ही है।

प्रश्न- वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाए?

स्वामीजी- निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए जो बीजरूप से विद्यमान है, और उस योग्यता को देखा जाए जिससे उसकी पूर्ति और निवृत्ति हो सकती है; क्योंकि विद्यमान रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति के बिना हम अपने वास्तविक जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते। भुक्त और अभुक्त रुचियों के जाल में आबद्ध प्राणी परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्त नहीं हो सकता।

प्रश्न- साधन-निर्माण की अपेक्षा ही क्यों है?

स्वामीजी- राग की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ही साधन की अपेक्षा है।

प्रश्न- हम क्या जान सकते हैं?

स्वामीजी- इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि से शरीर तथा उससे सम्बन्धित वस्तु, अवस्था आदि के सतत परिवर्तन को जान सकते हैं।

प्रश्न- मानने का साधन-निर्माण में क्या स्थान है?

स्वामीजी- हम अपने को साधक मानकर ही साधन का निर्माण कर सकते हैं और साध्य को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न- त्याग और प्रेम से जीवन की सार्थकता कैसे सिद्ध होती है?

स्वामीजी- त्याग के बिना चिर-शान्ति नहीं मिलती और प्रेम के बिना अगांध-अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। चिर-शान्ति के बिना जीवन तथा सामर्थ्य की उपलब्धि नहीं होती और अगाध-अनन्त रस के बिना खिन्नता एवं नीरसता का अन्त नहीं हो सकता। खिन्नता तथा नीरसता का अन्त हुए बिना काम का अन्त नहीं होता और काम का अन्त हुए बिना जड़ता, परतन्त्रता, शक्तिहीनता आदि दोषों का अन्त नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि काम का अन्त हुए बिना अभाव का अभाव नहीं हो सकता। अभाव के अभाव में ही इस जीवन की सार्थकता है, जो त्याग और प्रेम से ही सम्भव है।

प्रश्न- अपने अधिकार का त्याग क्यों करना है?

स्वामीजी- इसलिए कि क्रोध की उत्पत्ति न हो। प्रश्न- दूसरों के अधिकार की रक्षा क्यों करनी है? स्वामीजी- इसलिये कि विद्यमान रागे की निवृत्ति हो जाय। प्रश्न- मुक्त कौन है?। स्वामीजी- जिसको जगत की अपेक्षा नहीं रहती। प्रश्न- भक्त किसे कहते हैं? स्वामीजी- जिसे मुक्ति का रस भी खारा लगे। प्रश्न- संसार माने क्या? स्वामीजी- संसार माने उत्पन्न हुई चीज।

प्रश्न- शरीर क्या है? स्वामीजी- सृष्टि का एक छोटा-सा नमूना। प्रश्न- देहातीत जीवन की प्राप्ति कैसे हो?

स्वामीजी- बुराई रहित होकर भलाई का फल छोड़ने से स्थूल शरीर और स्थूल जगत की आवश्यकता नहीं रहती और अचाह होने से सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत की आवश्यकता नहीं रहती और अप्रयत्न होने से कारण शरीर और कारण जगत की आवश्यकता नहीं रहती। चाहे यों कह दो कि स्थूल सूक्ष्म में, सूक्ष्म कारण में विलीन हो जाता है और फिर देहातीत जीवन की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न- समाधि एवं योग से क्या तात्पर्य है?

स्वामीजी- इन्द्रियों की शक्ति को मन में लय कर दो, मन की शक्ति को बुद्धि में लय कर दो। तो जब इन्द्रियाँ अविषय होंगी, मन निर्विकल्प होगा, बुद्धि सम होगी-इसे समाधि कह दो, योग कह दो।

प्रश्न- शुद्ध भौतिकवाद का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- अगर योग ही जीवन है, बोध और प्रेम की प्राप्ति न हो-तो यह शुद्ध भौतिकवाद है।

प्रश्न- आध्यात्म विज्ञान एवं आस्तिक विज्ञान क्या है?

स्वामीजी- बोध जो है यह आध्यात्म विज्ञान है और प्रेम आस्तिक विज्ञान है।

प्रश्न- योग की प्राप्ति का उपाय क्या है?

स्वामीजी- तीन तरह से योग की प्राप्ति हो जाती है। धर्मात्मा . होने से, अचाह होने से और शरणागत होने से!

प्रश्न- योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

स्वामीजी- अगर सुखमय जीवन है तो धर्मात्मा होना अनिवार्य है, अगर दुःखमय जीवन है तो अचाह होना अनिवार्य है, अगर आस्थामय जीवन है तो शरणागत होना अनिवार्य है। इनमें से किसी के द्वारा भी आप राग रहित होकर योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न- आस्था का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- जिसने अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर सर्वसमर्थ का आश्रय ले लिया।

प्रश्न- मोक्ष का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- मोक्ष का अर्थ दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है।

प्रश्न- मोक्षार्थी और प्रेमार्थी में क्या भेद है?

स्वामीजी- जो मोक्षार्थी है वह विरक्त है भोग से, और जो प्रेमार्थी है वह मोक्ष से भी विरक्त है।

प्रश्न- अप्रयत्न क्यों नहीं हो पाते?

स्वामीजी- जीवन में करने का राग है इसलिये। अगर सेवा नहीं करोगे तो भोग करोगे, जब भोग करोगे तब अचाह नहीं हो सकोगे, तब अप्रयत्न नहीं हो सकोगे।

प्रश्न- स्वाधीन क्यों नहीं हो पाते?

स्वामीजी- जब तक देह के साथ मिले रहोगे पराधीन रहोगे, स्वाधीन नहीं हो सकते।

प्रश्न- प्रेम की शर्त क्या है?

स्वामीजी- प्रेम के लिये प्रभु को ही अपना मानना पड़ेगा। वे ही मेरे अपने हैं और कोई मेरा अपना नहीं है; और उनसे भी मुझे कुछ नहीं चाहिये। और यह भी मानना पड़ेगा कि अपने पर उनका पूरा अधिकार है।

प्रश्न- अपनी खोज कैसे हो?

स्वामीजी-शरीर के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा, मन-बुद्धि के द्वारा, प्राणों के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती। इन सबसे अलग होने पर ही अपने द्वारा ही अपनी चोज हो सकती है।

प्रश्न- शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण इन सबसे अलग होने का उपाय क्या है?

स्वामीजी सेवा करो और कुछ मत चाहो। क्योंकि अपने लिये कुछ करने की बात है नहीं।

प्रश्न- अपने लिये कुछ करने की बात है नहीं क्यों?

स्वामीजी- अपनी जो माँग है अमर जीवन की, स्वाधीन जीवन की, चिन्मय जीवन की - वह माँग किसी कर्म के द्वारा पूरी. नहीं होगी।

प्रश्न- कर्म का सम्बन्ध किससे है?

स्वामीजी- एक होता है खोज करना, एक होता है उत्पन्न करना। कर्म का सम्बन्ध होता है उन चीजों से जो उत्पन्न होती हैं। 'यह' के सम्बन्ध में जो कुछ जरूरत होती है, उसके लिये कर्म किया जाता है। संसार के जितने कर्म हैं वे शरीर तक रहते हैं 'मैं' तक नहीं पहुँचते।

प्रश्न- 'मैं' की खोज के लिये शर्त क्या है?

स्वामीजी- 'मैं' की खोज करने के लिये शरीर का आश्रय छोड़ना पड़ता है।

प्रश्न- शरीर का आश्रय कैसे छोड़े?

स्वामीजी- शरीर का आश्रय छोड़ने के लिये सेवा करनी पड़ती है।

प्रश्न- सेवा का मतलब क्या है?

स्वामीजी- सेवा का मतलब यह है, जो काम आप करो उसमें दूसरों का हित होना चाहिये, उसका सम्बन्ध दूसरे के साथ होना चाहिये; अपने सुख में उसका उपयोग नहीं होना चाहिये।

प्रश्न- सेवा और भोग में भेद क्या है?

स्वामीजी- जिसमें दूसरे का हित निहित हो उसको सेवा कहते हैं, जिसमें अपना सुख हो उसे भोग कहते हैं।

प्रश्न- 'मैं' की खोज कैसे की जाय?

स्वामीजी- 'यह' से 'मैं' को सम्बन्ध तोड़ दिया जाय। 'यह' में मेरा कुछ नहीं है, 'यह' से मुझे कुछ नहीं चाहिये, 'यह' के द्वारा 'यह' की सेवा करनी है। यह माने शरीर; शरीर के द्वारा संसार की सेवा करनी है। 'यह' माने संसार; संसार में मेरा कुछ नहीं है, संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिये। मुझे अपने लिये कुछ करना नहीं है।

प्रश्न- योगं क्या है?

स्वामीजी- जाग्रत अवस्था में ज्ञानपूर्वक न करने की जो स्थिति है, उसका नाम है 'योग'।

प्रश्न- जब हम शरीर नहीं हैं तो हम क्या हैं?

स्वामीजी- जाग्रत अवस्था में जब न करने की स्थिति आती है तो इस बात का बोध होता है कि हम किसी काल में भी शरीर नहीं हैं। न स्थूल शरीर हैं, न सूक्ष्म शरीर हैं और न कारण शरीर हैं। हम शरीर नहीं हैं- इस बात को शरीर से अलग होकर अनुभव करो कि हम शरीर नहीं हैं। शरीर से असंगता का अनुभव हमें उस जीवन से, उस सत्य से जिसका कभी नाश नहीं होता, अभिन्न कर देता है।

प्रश्न- 'मैं' का अन्तिम विकसित रूप क्या है?

स्वामीजी- वह योग है, बोध है और प्रेम है।

प्रश्न- योग परमात्मा के साथ होता है, कैसे?

स्वामीजी- 'न करने की स्थिति को ही योग कहते हैं। लेकिन मैं ऐसा मानता हूँ किन करने की स्थिति में हमारा उससे योग होता है जो अपना है, अपने में है और अभी है, अविनाशी है और समर्थ है; अद्वितीय है, एक ही है। तो, योग परमात्मा के साथ होता है।

प्रश्न- जीवन क्या है?

स्वामीजी- जगत की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनमें कीजिएये तीनों मिलकर एक जीवन है।

प्रश्न- असत् कार्य कौन सा कहलाता है?

स्वामीजी- जिसके मूल में अपने सुख का भोग रहता है। अपने सुख भोग की रुचि से की हुई प्रवृत्ति असत् कार्य कहलाती है।

प्रश्न- सत् कार्य कौन सा कहलाता है?

स्वामीजी- जिसके मूल में परहित रहता है। परहित के भाव से की हुई प्रवृत्ति सत् कार्य कहलाती है।

प्रश्न- त्याग का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- जो अपने से भिन्न है, उसकी हमें अपेक्षा न रहे। हम • अपने में अपने जीवन का अनुभव करें।

प्रश्न- मनुष्य की मौलिक माँग क्या है?

स्वामीजी- हम अपने में अपने प्रेमास्पद को पा जायें। अपने में 'जीवन' पा ज़ायें।

प्रश्न- रसरूप जीवन से अभिन्न कैसे हो सकते हैं।

स्वामीजी- जो अपने में है, वह कभी अपने से अलग नहीं होगा। अर्थात् 'योग' जो 'वियोग' से रहित है अगर हमें प्राप्त हो जाये तो हम बड़ी सुगमता पूर्वक अमर जीवन से, स्वाधीन जीवन से, रसरूप जीवन से अभिन्न हो सकते हैं।

प्रश्न- जीवन का सत्य क्या है?

स्वामीजी- संयोग का उपयोग है सेवा में, उसका फल है त्याग। त्याग का फल है प्रेम। तो सेवा, त्याग, प्रेम यह जीवन का सत्य है।

प्रश्न- सेवा का वास्तविक स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- सर्वांश में बुराई रहित हो जायें अर्थात् बुराई न करें, तो वास्तविक सेवा स्वतः होगी।

प्रश्न- परमात्मा किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जिससे हम कभी भी अलग न हो सकें अथवा जो हमसे कभी भी अलग न हो सके, उसका नाम परमात्मा है। जिसका 'अस्तित्व' है उसी का नाम परमात्मा है।

प्रश्न- अस्तित्व माने क्या?

स्वामीजी- जिसका कभी भी नाश नहीं होता।

प्रश्न- पूजा का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- भगवद् सम्बन्ध से ओतप्रोत प्रवृत्ति।

प्रश्न- कर्त्तव्य का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- जिसके अन्त में स्वतः विश्राम अर्थात् योग की प्राप्ति हो।

प्रश्न- पूजा और कर्त्तव्य में क्या भेद है?

स्वामीजी- भगवत् नाते किया हुआ कार्य भगवान की पूजा और विश्राम के लिये किया हुआ कार्य कर्त्तव्य कहलाता है।

प्रश्न- साधन किसे कहते हैं?

स्वामीजी-स्वाधीनता के लिये किये हुये कार्य को साधन कहते हैं।

प्रश्न- प्रेम कैसे प्राप्त हो?

स्वामीजी- आप सभी को अपना मानकर काम करें, आपको प्रेम प्राप्त होगा।

प्रश्न- जीवन में प्रसन्नता कैसे आये?

स्वामीजी- श्रमी, संयमी, विवेकी और प्रेमी - जब ये चारों बातें आ जाती हैं तब निरभिमानता भी आ जाती है। जब निरभिमानता आ जाती है तब समता भी आ जाती है। जब समता आ जाती है तो प्रसन्नत भी आ जाती है।

प्रश्न- शरीर से तादात्म्य कब होता है?

स्वामीजी- जब आप कुछ करते हैं तब! जब आप बोलते हैं तो वाणी से तादात्म्य होता है। जब आप सुनते हैं तो कानों से तादात्म्य होता है। जब आप सोचते हैं तो मस्तिष्क से तादात्म्य होता है। जब आप देखते हैं तो आँखों से तादात्म्य होता है।

प्रश्न- 'मैं' का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- 'मैं' माने उदार, 'मैं' माने स्वाधीन, 'मैं' माने प्रेमी। उदारता से 'मैं' जगत के लिये, प्रेम से प्रभु के लिये और स्वाधीनता से अपने लिये उपयोगी होता है। यह 'मैं' का स्वरूप है।

प्रश्न- पराधीन कौन रहता है?

स्वामीजी- चाहने वाला हमेशा पराधीन रहता है।

प्रश्न- उदार और प्रेमी कौन?

स्वामीजी- जिसे कुछ नहीं चाहिये वही उदार है और वही प्रेमी है।

प्रश्न- विश्राम क्यों नहीं मिलता ? विश्राम का महत्व क्या है?

स्वामीजी- जगत का अस्तित्व मानक़र अगर आप सेवा नहीं करेंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। अपना अस्तित्व मानकर अगर आप अचाह और अकिंचन नहीं होंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। परमात्मा का अस्तित्व मानकर अगर आप शरणागत नहीं होंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। जब तक विश्राम नहीं मिलेगा तब तक स्वाधीनता और प्रेम : का उदय नहीं होगा।

प्रश्न- हम सही अर्थों में साधक कब होते हैं?

स्वामीजी- जब तक हम अपने सत्य को स्वीकार नहीं करेंगे तब तक कितना भी सत्कार्य कर लें, कितना ही सत्चर्चा कर लें, कितना ही सत् चिन्तन कर लें सही अर्थों में हमारी साधक संज्ञा सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न- अचाह कैसे हों?

स्वामीजी- ईमानदारी से इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि संसार में मेरा कुछ नहीं है। तो अचाह हो जाओगे।

प्रश्न- अपना क्या नहीं है?

स्वामीजी- जो सदा के लिये नहीं हैं वह अपने लिये नहीं है। जो सदैव नहीं है सो अपना नहीं है। जो अपने में नहीं है सो अपना नहीं है।

प्रश्न- राग का नाश कैसे हो?

स्वामीजी- दूसरों का अधिकार देने से राग का नाश होता है।

प्रश्न- क्रोध का नाश कैसे हो?

स्वामीजी- अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध का नाश होता है।

प्रश्न- स्वाधीन कैसे हों?

स्वामीजी- मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए-इन दो बातों को मानकर हम स्वाधीन हो सकते हैं।

प्रश्न- आध्यात्मिक विकास किसे कहते हैं?

स्वामीजी- किसी प्रकार की पराधीनता शेष न रहे तो यह आध्यात्मिक विकास कहलाता है।

तब शरीर के रहते ही जीवन्मुक्ति का आनन्द आता है।

प्रश्न- परमात्मा किसे कहते हैं?

स्वामीजी- परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है, एक ही है, अद्वितीय है और समर्थ है-यह जिसकी महिमा है उसी को परमात्मा कहते हैं।

प्रश्न- ईश्वरवाद की साधना की पूर्णता क्या है?

स्वामीजी- अपना होने से परमात्मा प्यारा लगना चाहिये। अभी होने से मिला हुआ होना चाहिये। अपने में होने से नित्य-प्राप्त होना चाहिये। अपने को उनके प्रेम तत्व से अभिन्न होने की आनन्दमयी अनुभूति होनी चाहिये।

प्रश्न- परमात्मा सभी को मिल सकते हैं, कैसे?

स्वामीजी- जो बिना परिश्रम के मिलता है उसी का नाम परमात्मा है। परिश्रम करने में सब व्यक्ति बराबर नहीं हो सकते, परन्तु परमात्मा को अपना मानने में सब बराबर हो सकते हैं। अतः परमात्मा सभी को मिल सकते हैं। यह बात आपमें दृढ़ हो जाये तो परमात्मा से मिलने की उत्कण्ठा तीव्र हो जायेगी।

प्रश्न- कामना से छुटकारा कैसे मिले?

स्वामीजी- जब परमात्मा की माँग सबल हो जाती है तो फिर कोई कामना शेष नहीं रहती।

प्रश्न- हमारी स्वाधीनता किसमें है?

स्वामीजी- ज्ञान के द्वारा आप मुक्त हो जाइये, विश्वास के द्वारा आप भक्त हो जाइये। इसमें आपकी स्वाधीनता है।

प्रश्न- संसार से मन कैसे हटे?

स्वामीजी- संसार को नापसन्द कर दो तो उससे मन हट जायेगा।

प्रश्न- परमात्मा में मन कैसे लंगे?

स्वामीजी- परमात्मा को पसन्द कर लो तो उसमें मुन लग जायेगा।

प्रश्न- साधन की सिद्धि कब होती है।

स्वामीजी-जब हम अपनी दृष्टि में इतने ईमानदार हो जायें कि जाने हुए असत् से सम्बन्ध न रहे। उसमें विश्वास न रहे। उसकी कामना न रहे। उसकी ममता न रहे। उसका दुरुपयोग न रहे।

प्रश्न- विश्राम कब मिलता है?

स्वामीजी- जब असत् की कामना न रहे।

प्रश्न- असत् किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जिससे आपका नित्य-सम्बन्ध में रहे।

प्रश्न- साधन निर्माण कैसे हो?

स्वामीजी- साधन निर्माण सत्संग के बिना किसी प्रकार हो नहीं सकता।

प्रश्न- साधन का असली अर्थ तथा साधन निर्माण क्या है?

स्वामीजी- साधन का असली अर्थ ही यह है कि जिसकी अभिव्यक्ति साधक में से हो। और वह साधन साधक को साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ हो जाये। इसका नाम है साधन निर्माण।

प्रश्न- ज्ञान के प्रकाश से तात्पर्य क्या है?

स्वामीजी- किसी पोथी का सीखा नहीं, किसी गुरु का बताया हुआ नहीं, किसी का सुनाया हुआ नहीं वरन् स्वयं जो ज्ञान आपको प्राप्त है।

प्रश्न- असहयोग का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- किसी से द्वेष नहीं, किसी को बुरा समझना नहीं। असहयोग का अर्थ है - सम्बन्ध विच्छेद।

प्रश्न- अविवेक क्या है?

स्वामीजी- अविवेक विवेक का अनादर है और कुछ नहीं।

प्रश्न- चित्त शुद्ध और शान्त क्यों नहीं होता?

स्वामीजी- चित्त कभी शुद्ध और शान्त नहीं हो सकता, जब तक कि हम अपने दोषों को, अपने विकारों को चित्त में आरोप करते रहेंगे।

प्रश्न- नित्य योग, बोध और प्रेम में क्या भेद है?

स्वामीजी- नित्य योग सामर्थ्य का प्रतीक है, बोध जीवन का प्रतीक है और प्रेम रस का प्रतीक है।

प्रश्न- भेद का नाश होने से क्या होगा?

स्वामीजी- जब भेद का नाश होगा तब अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होगी।

प्रश्न- योग का भोग नहीं करेंगे, तब क्या होगा?

स्वामीजी- जब हम और आप आये हुए योग का भोग नहीं करेंगे तो योग जो स्वभाव से गतिशील है वह हमें पराधीनता से. स्वाधीनता की ओर ले जायेगा, जड़ता से चिन्मयता की ओर ले जायेगा, अभाव से पूर्णता की ओर ले जायेगा और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जायेगा। योग का भोग न करने से चिन्मय-दिव्य जीवन की प्राप्ति होगी।

प्रश्न- योग क्या है?

स्वामीजी- कामना की निवृत्ति।

प्रश्न- भोग क्या है?

स्वामीज़ी- कामना के अनुरूप प्रवृत्ति।

प्रश्न- मूक-सत्संग क्या है?

स्वामीजी- न देखने से, न सुनने से, न बोलने से, न सोचने से जिसका संग होता है वह है-मूक सत्संग।

प्रश्न- व्यर्थ चिन्तन का नाश कैसे हो?

स्वामीजी- अचिन्त होने से, अर्थात् किसी प्रकार का चिन्तन न करने से।

प्रश्न- पूजा का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- भगवत् सम्बन्ध से ओतप्रोत प्रवृत्ति।

प्रश्न- कर्तव्य का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- जिसके अन्त में स्वतः चिर-विश्राम अर्थात् योग की प्राप्ति हो।

प्रश्न- पूजा और कर्त्तव्य में क्या भेद है?

स्वामीजी- भगवत् नाते किया हुआ कार्य भगवान की पूजा और विश्राम के लिये किया गया कार्य कर्तव्य कहलाता है।

प्रश्न- साधन किसे कहते हैं?

स्वामीजी- स्वाधीनता के लिये किये गये कार्य को साधन कहते हैं।

प्रश्न- राग निवृत्ति कैसे हो?

स्वामीजी- प्रवृत्ति काल में दूसरों के काम आयें, निवृत्ति काल में अचाह हो जाये तो प्रवृत्ति से तो विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अचाह होने से नवीन राग पैदा नहीं होगा। अतः हम राग-रहित हो जायेंगे।

प्रश्न- सृष्टि का आधार और सृष्टि का प्रकाशक कौन है?

स्वामीजी- जो सभी को अपना है, जो सदा के लिये अपना है, जिससे कभी वियोग हो ही नहीं सकता; वह जो हमारा अपना है वह सृष्टि का आधार है।

प्रश्न- साधक का स्वधर्म व परम पुरुषार्थ क्या है?

स्वामीजी- अपना करके संसार में कुछ नहीं है। अपने को जगत के प्रति उदार होना है, प्रभु के प्रति प्रेमी होना है। जिसके प्रति उदार होना है उससे भी कुछ नहीं चाहिए और जिसके प्रति प्रेमी होना है उससे भी कुछ नहीं चाहिए। यह साधक का स्वधर्म है, परम पुरुषार्थ है।

प्रश्न- साधक के लिए सबसे आवश्यक, मूल्यवान, अनिवार्य क्या है?

स्वामीजी- यही सत्य कि मेरा कुछ नहीं है। जब मेरा कुछ नहीं है तो मुझे कुछ नहीं चाहिए- यह बात अपने आप आ जायेगी। जब ये दोनों बात आ गयीँ तो यह बात भी आ जायेगी अपने आप कि प्रभु अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं। यह निर्विवाद सत्य है।

प्रश्न- आध्यात्मिक जीवन क्या है?

स्वामीजी- अचाह होकर अपने में सन्तुष्ट होना।

प्रश्न- आस्तिक जीवन क्या है?

स्वामीजी- प्रेमी होकर प्रेमास्पद को पाना।

प्रश्न- सुख भोग से अरुचि कैसे हो?

स्वामीजी- सुख का भोग एक भयंकर दुःख में आबद्ध करता है। यह बात अगर समझ में आ जाये तो सुख भोग से अरुचि हो जायेगी।

प्रश्न- परिस्थिति से तादात्म्य कैसे टूटेगा?

स्वामीजी- परिस्थिति के सदुपयोग करने से।

प्रश्न- परिस्थिति का सही सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- सुख में सेवा और दुःख में त्याग अपनायें।

प्रश्न- परिस्थितियों से अतीत जो जीवन है उसकी प्राप्ति कैसे हो?

स्वामीजी- परिस्थितियों से तादात्म्य टूटने से, परिस्थितियों की कामना छूटने से!

प्रश्न- जीवन का सत्य क्या है?

स्वामीजी- काम आओ और कुछ न चाहो - यह जीवन का ध्रुव सत्य है, अखण्ड सत्य है। इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा।

प्रश्न- अचाह होने से क्या मिलेगा?

स्वामीजी- अचाह होने से स्वाधीनता मिलेगी, निर्विकारता मिलेगी, जीवन-मुक्ति मिलेगी।

प्रश्न- दूसरों के काम आने से क्या मिलेगा?

स्वामीजी- दूसरों के काम आने से आपको अचाह होने की शक्ति मिलेगी; क्योंकि दूसरों से काम लेने से नवीन चाह पैदा होती है।

प्रश्न- रागरहित होने से क्या होगा?

स्वामीजी- रागरहित होने से योग का आनन्द मिल सकता है, आत्मा का आनन्द मिल सकता है, परमात्मा का आनन्द मिल सकता है।

प्रश्न- हमारी आसक्ति क्यों नहीं मिटती ?

स्वामीजी- इसलिये नहीं मिटती कि हमने वास्तविक आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और उसमें आस्था नहीं रखते कि यह पूर्ण हो जायेगी।

प्रश्न- दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति, जीवन मुक्ति, भगवद् भक्ति कैसे मिले ?

स्वामीजी- माँग अनुभव करो, त्याग अपने आप आ जायेगा। माँग अनुभव करने से संसार का सम्बन्ध टूट ही जाता है। संसार का सम्बन्ध टूटने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है और जीवन मुक्ति मिल ही जाती है, भगवद् भक्ति मिल ही जाती है।

प्रश्न- संसार का सम्बन्ध कैसे टूटता है?

स्वामीजी- संसार का सम्बन्ध टूटता है ज्ञान से और सेवा से। जिससे रोग है, उनकी सेवा करो, बाकी ज्ञानपूर्वक अचाह हो जाओ।

प्रश्न- सबसे बड़ा सुख किसे मिलता है?

स्वामीजी- सबसे बड़ा जो सुख है, वह उसी को मिलता है, जो साधु (साधक) हो जाता है।

प्रश्न- शरणागति का तात्पर्य क्या है?

स्वामीजी- शरणागति का मतलब होता है उनका हो जाना। 'हे प्रभु मैं तेरा हूँ'-यह पहला स्टेज है शरणागति का। तुम मेरे हो'-यह आखिरी स्टेज है। शरणागति का फल है - 'तुम ही हो'।

प्रश्न- सबसे ऊँचा जीवन कौन सा होता है?

स्वामीजी- जिसका कभी नाश न हो और जो सभी के लिये उपयोगी हो। योग का कभी नाश नहीं होता, बोध का कभी नाश नहीं होता और प्रेम का कभी नाश नहीं होता।

प्रश्न- हम फैसे किसमें हैं?

स्वामीजी- भोग में, मोह में और आसक्ति में।

प्रश्न- जीवन की सभी समस्याएँ हल कैसे हों ?

स्वामीजी- अगर हम शरीर को जगत की मर्जी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु की मर्जी पर, तो जीवन की जितनी समस्याएँ हैं वे सब हल हो सकती हैं।

प्रश्न- दुनिया में बड़ा आदमी कौन होता है?

स्वामीजी- जो दूसरों की जरूरत को अपनी जरूरत मानता है। जिसके सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में अथवा जगत के संकल्प में विलीन हो गये हैं, वह दुनिया को बड़ा आदमी है।

प्रश्न- जीवन का सत्य क्या है?

स्वामीजी- जिसके हृदय में परपीड़ा होती है, उसके जीवन में

सुख भोग की रूचि नहीं रहती। यह जीवन का सत्य है।

प्रश्न- संकल्प का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- वह जो वस्तु से, व्यक्ति से, परिस्थिति एवं अवस्था से सम्बन्ध जोड़ दे।।

प्रश्न- साधन का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- साधन उसे कहते हैं कि जिसके अपना लेने पर साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता न रहे। वह श्रम साध्य उपाय से उदित नहीं होता। साधन जीवन के सत्य को स्वीकार करने से स्वतः उदय होता है। उदारता, स्वाधीनता, प्रियता साधन हैं।

प्रश्न- जीवन में उदारता, प्रियता, स्वाधीनता कैसे आये?

स्वामीजी- अगर आप किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लें तो जीवन में उदारता आ जायेगी। अगर आप प्रभु को अपना मान लें तो प्रियता आ जायेगी। अगर अपना करके कुछ न मानें तो स्वाधीनता आ जायेगी।

प्रश्न- समाज में आदर कौन पाता है?

स्वामीजी- जो आदर के योग्य हो जाता है, और आप जानते हैं। कि जो आदर के योग्य हो जाता है उसमें आदर की वासना नहीं रहती।।

प्रश्न- आदर के योग्य कौन है?

स्वामीजी- जिसमें छः बातें हों- योग्य हो, ईमानदार हो, परिश्रमी हो, उदार हो, स्वाधीन हो और प्रेमी हो।

प्रश्न- योग्यता का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- योग्यता का अर्थ है कि समाज के किसी भी कार्य के लिये हम उपयोगी हो जायें।

प्रश्न- कार्य कुशलता कैसे आये?

स्वामीजी- जब किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत ममता कुछ नहीं रहती। या तो सभी अपने हैं अथवा कोई अपना नहीं है तो उसका भाव पवित्र हो जाता है। उसमें कार्य कुशलता आ जाती है, वह विधि से कार्य करता है।

प्रश्न- स्वाधीनता और प्रेम कैसे मिले?

स्वामीजी- अगर आपके अन्दर यह विश्वास हो जाये कि मैं सही काम करूंगा तो मुझे विश्राम मिलेगा। विश्राम मिलेगा तो जीवन

मिलेगा और जीवन मिलेगा तो स्वाधीनता और प्रेम मिलेगा।

प्रश्न- कार्य किसलिये किया जाता है?

स्वामीजी- काम किया जाता है आराम के लिये और आराम होता है अपने लिये, क्योंकि विश्राम में जीवन है। विश्राम में ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस है। इसलिये हमको विश्राम चाहिये। विश्राम किसी परिस्थिति से नहीं मिलता।

प्रश्न- हमें सही कार्य करता क्यों नहीं आता?

स्वामीजी- हम सभी को अपना नहीं मानते इसलिये।

प्रश्न- हम अचाह क्यों नहीं हो पाते ?

स्वामीजी- अपना करके किसी भी काल में कुछ है ही नहीं- हम यह नहीं मान पाते इसलिए।

प्रश्न- अखण्ड स्मृति क्यों नहीं जगती ?

स्वामीजी- सर्वसमर्थ प्रभु अपने हैं, यह भी नहीं मान पाते। नहीं तो अखण्ड स्मृति जग जाती।

प्रश्न- आज हमारे और परमात्मा के बीच में दूरी, भेद और भिन्नता क्यों है?

स्वामीजी- विस्मृति से। अगर स्मृति जाग्रत हो जाये तो दूरी का भी नाश हो जाए, भेद का भी नाश हो जाय और भिन्नता का भी नाश हो जाय।

प्रश्न- प्रभु विश्वास से क्या होगा?

स्वामीजी- विश्वास का काम है सम्बन्ध जोड़ना। अगर हम प्रभु में विश्वास करेंगे तो हमारा प्रभु से सम्बन्ध हो जायेगा और सम्बन्ध का काम है स्मृति को जगा देना।

प्रश्न- मानसिक रोगों से छुटकारे का उपाय क्या है?

स्वामीजी- जो प्रभु में विश्वास करता है उसके जीवन में अन्य विश्वास नहीं रहता। जब अन्य विश्वास नहीं रहता तो अन्य सम्बन्ध कैसे रहेगा? जब अन्य सम्बन्ध नहीं रहेगा तो अन्य चिन्तन कैसे रहेगा? और जब अन्य चिन्तन नहीं रहेगा तो मानसिक रोग कैसे होंगे ?

प्रश्न- संसार की ममता कैसे छूटे?

स्वामीजी- जब मनुष्य यह मान लेता है, जो कुछ है सब प्रभु का है, तो उसमें संसार की ममता रहेगी क्या?

प्रश्न- प्रभु स्मृति कैसे जगती है?

स्वामीजी- स्मृति है स्वधर्म और वह केवल आत्मीय सम्बन्ध से जाग्रत होती है। आत्मीय सम्बन्ध के बिना स्मृति कभी जाग्रत नहीं होती।

जो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ते हैं, वह सबसे पहले क्या मानते हैं? यह जो कुछ है, सारी सृष्टि प्रभु की है-ऐसा मानते हैं।

प्रश्न- परमात्मा सर्वत्र कैसे मालूम हो ?

स्वामीजी-'सब कुछ प्रभु का है'-ऐसा जब मान लेता है आदमी तो वह ममता से रहित हो जाता है, कामना से रहित हो जाता है। और, जो ममता और कामना से रहित हो जाता है उसे निर्विकारता और शान्ति नहीं मिलेगी? और, जब निर्विकारता और शान्ति जीवन में आ जायेगी तो चित्त शुद्ध और शान्त नहीं होगा? और, जब चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है तब, उसको जो परमात्मा कहीं दूर मालूम होता था वह सर्वत्र मालूम होने लगता है।

प्रश्न- अकिंचन और अचाह कैसे हो?

स्वामीजी- अगर आप इस सत्य को अनुभव कर लेते कि सृष्टि की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है तो अकिंचन और अचाह हो जाते।

प्रश्न- चित्त शुद्ध और शान्त कैसे हो?

स्वामीजी- जो आदमी केवल इतना मान लेता है कि संसार में व्यक्तिगत कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिये, उसका चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है।

प्रश्न- दृश्य से सम्बन्ध कैसे टूटे?

स्वामीजी- जिसके जीवन में सुख भोग का प्रलोभन नहीं रहता है उसका दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है।

प्रश्न- चित्त शुद्धि का उपाय क्या है?

स्वामीजी- जब अकिंचन और अचाह हो जाते हैं तो चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है। देखो! चित्त की शुद्धि मेरा कुछ नहीं है-इस बात से होती है। यह चित्त शुद्धि का सबसे बड़ा उपाय है।

प्रश्न- परमात्मा में मन कैसे लगे?

स्वामीजी- परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है, सब कुछ उन्हीं का है, मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये? जब परमात्मा ही अपना है तो अपने को चाहिये क्या? अरे भाई! मालिक जिसका अपना है, उसको मिल्कियत में से भी कुछ चाहिये क्या? मालिक को जो पसन्द कर लेगा, मिल्कियत उसके पीछे-पीछे दौड़ेगी। उसे मिल्कियत से क्या मतलब! इस तरह से परमात्मा में चित्त लग जाता है।

प्रश्न- मन अमन कैसे हो?

स्वामीजी- परमात्मा को अपना मानने से और सब कुछ प्रभु का है, यह मानने से और मुझे कुछ नहीं चाहिये, यह मानने से। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, सब कुछ प्रभु का है; यह मानने से परमात्मा. में मन लग जाता है। और, जब परमात्मा में मन लग जाता है तब मन, अमन हो जाता है, अमन यानी मन नहीं रहता-बे मन का, मनरहित। जब मन रहित है तो वहाँ चिर शान्ति है, वहाँ जीवन्मुक्ति है। इसलिये भाई, परमात्मा को अपना मानना बहुत बड़ी चीज है।

प्रश्न- मनुष्य के विकास का पहला कदम क्या है?

स्वामीजी- मनुष्य के विकास का पहला कदम है कि भाई. हमें दूसरों के दुःख से दुःखी होना चाहिये, तब उसके हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है और जब दूसरों के सुख से प्रसन्न होते। हैं तो प्रसन्नता को रस बहता है। करुणा और प्रसन्नता हमारी निजी निधि होनी चाहिये। करुणा का रस जब तक नहीं आयेगा, सुख-भोग की रुचि मिटेगी नहीं। प्रसन्नता का रस जब तक नहीं आयेगा, तब तक कामनायें नाश होंगी नहीं। इसलिये हृदय करुणा और प्रसन्नता से भरना चाहिये।

प्रश्न- सत्य क्या है?

स्वामीजी- परपीड़ा से पीड़ित होना सत्य है। अचाह होना सत्य है। भगवान का आश्रय लेकर शरणागत होना सत्य है।

प्रश्न- भोग, मोह और आसक्ति की निवृत्ति कैसे हो?

स्वामीजी- जब हम सत्य को स्वीकार कर लेंगे तो भोग, मोह और आसक्ति की निवृत्ति स्वयं हो जायेगी।

प्रश्न- मनुष्य के विकास का अन्तिम कदम क्या है?

स्वामीजी- भोग की रुचि और काम का जब नाश हो जाता है, तब जीवन्मुक्ति का आनन्द आता है। भोग-रुचि नाश हुई तो योग प्राप्त हो गया या काम नाश हुआ तो राम प्राप्त हो गया। जब योग और बोध प्राप्त हो जाता है तब स्वत: प्रेम और प्रेमास्पद का नित्यविहार होने लगता है। इसी बिहार की माँग मनुष्य की अपनी माँग है। हमारा अस्तित्व प्रेम से भिन्न कुछ न रह जाये, हमारा अस्तित्व बोध और योग से भिन्न कुछ न रह जाये। भोग, मोह, आसक्ति की अत्यन्त निवृत्ति हो जाये और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो जाये।

प्रश्न- भयंकर दुःख से बचना हो तो क्या करें ?

स्वामीजी- सुख का भोग मत करो।

प्रश्न- सत्य को स्वीकार करने में बाधा क्या है?

स्वामीजी- परिस्थिति के आश्रय को लेकर जो हम सुख भोगते हैं, उसका प्रलोभन हमें सत्य को स्वीकार करने नहीं देता। परिस्थिति का सहयोग कह दो, चाहे दार्शनिक भाषा में दृश्य का सहयोग कह दो। दृश्य के सहयोग से जो हम सुख का भोग करते हैं, यही हमारा एक ऐसा प्रमाद है कि जो हमें सत्य को स्वीकार करने नहीं देता। यद्यपि सुख के भोगी को भयंकर दुःख भोगना ही पड़ता है और जब तक वह सुख का भोग कस्ता रहेगा, तब तक उसे अनन्त काल तक दुःख ही भोगना पड़ेगा। केवल जड़ता में लय होने मात्र से दुःख की मात्रा कुछ घटेगी, पर मिटेगी नहीं।

प्रश्न- साधक अविनाशी जीवन से अभिन्न कैसे होता है?

स्वामीजी- जब साधक की दृष्टि दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब वह अपने में सन्तुष्ट होकर एक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है।

प्रश्न- राजयोग किसे कहते हैं?

स्वामीजी-राजयोग' में दो बातें प्रधान हैं कि दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाये, चित्त बिना आधार के शान्त हो जाये। तब क्या होता हैकि प्राण बिना निरोध के सम हो जाता है अर्थात् योग प्राप्त हो जाता है। इसी को 'राजयोग' कहते हैं। राजयोग में प्राणों पर दबाब नहीं डाला जाता, शरीर पर दबाबा नहीं डाला जाता, बल्कि मन का सुधार किया जाता है, अपनी रुचि को बदला जाता है।

प्रश्न- मन के सुधार का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- मन कोई बिगड़ता थोड़े ही है, मन रुचि के अधीन रहता है। अगर हम अपनी रुचि बदल दें तो मन बदल जाता है।

प्रश्न- योगवित्, आत्मवित् और ब्रह्मवित् कैसे हो?

स्वामीजी- दृश्य के आश्रय से उत्पन्न होने वाला सुख यदि हमें नापसन्द हो जाये तो हम बड़ी सुगमतापूर्वक योगवित् हो जायें और योगवित् होने से आत्मवित् होने की सामर्थ्य आ जाये और आत्मवित् होने से ब्रह्मवित् हो जायें। इन तीनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि योगवित्, आत्मवित् हो ही जायेगा। पर एक सावधानी रखनी पड़ेगी कि योग का जो बाह्य रूप है, बाह्य फल है भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव

होना। साधक अगर उन शक्तियों का भोग नहीं करेगा तो आत्मवित् हो जायेगा।

प्रश्न- योग का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- योग तो वास्तव में एक प्रकार से भौतिक विज्ञान है। योग का जो बाह्य रूप है, वह भौतिक विज्ञान है। भौतिक विज्ञान की चरम सीमा योग में ही जाकर होती है। जैसे कि अलौकिक शक्तियों का प्राप्त हो जाना, कामनापूर्ति की सामर्थ्य का आ जाना इत्यादि। यद्यपि योग का जो उत्तर पक्ष है, वह कामना-निवृत्ति की प्रेरणा देता है। पूर्व पक्ष जो है, वह कामना-पूर्ति की दिव्य शक्तियों के उपयोग की प्रेरणा देता है; यानि वे शक्तियाँ योग से प्राप्त होती हैं। परन्तु हमें अपने लिये किसी प्रकार के दृश्य का सहयोग नहीं चाहिये। अगर यह बात दृढ़ता के साथ हम पसन्द कर लें तो वियोग का भय भी जाता रहेगा और नित्य योग भी प्राप्त हो जायेगा। यह योग का उत्तर पक्ष है-नित्य-योग को प्राप्त। हो जाना। योग से मिली हुई शक्तियों का भोग करना-यह योग का पूर्व पक्ष है।

प्रश्न- अलग कौन होता है?

स्वामीजी- जो अलग है, वही अलग होगा।

प्रश्न- मिलता कौन है?

स्वामीजी- जो मिला है। जो अलग नहीं है, वही तो मिलेगा। दृश्य से अतीत जो स्वतःसिद्ध तत्व है, वह कभी किसी से अलग नहीं है। अतः उसी की प्राप्ति होगी और समस्त दृश्य चूंकि भिन्न है, इसलिये अलग होगा। अभिन्न नहीं है, इसलिये अलग होगा ही।

प्रश्न- हमें जो चाहिये, हमारा जो अपना है, उसके हमारे बीच में भिन्नता क्यों है, उसका नाश कैसे हो?

स्वामीजी- यह विस्मृति की भिन्नता है, भूलजनित भिन्नता है, स्वरूप से भिन्नता नहीं है। हमें जो चाहिये वह हम में ही है, हम उसी में हैं। स्वरूप से हम एक दूसरे से अलग नहीं हैं। चाहे आप एक का नाम 'जीव' और दूसरे का नाम 'ब्रह्म' रख लीजिये, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इनमें स्वरूप से भिन्नता नहीं है, विस्मृति की भिन्नता है, भूलजनित भिन्नता है। जब हम दृश्य से विमुख हो जाते हैं, तो वह भूलजनित भिन्नता है वह नाश हो जाती है।

प्रश्न- साध्य किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जो सभी का आराध्य है।

प्रश्न- सभी का आराध्य कौन है?

स्वामीजी- जिसे पाकर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रहता, वही सभी का आराध्य है।

प्रश्न- साध्य से हमारा क्या सम्बन्ध है?

स्वामीजी- साध्य से हमारी जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है। और आत्मीय सम्बन्ध है।

प्रश्न- भोग की रुचि का नाश कैसे हो?

स्वामीजी- मिले हुए शरीर के द्वारा परिवार की, समाज की, संसार की सेवा करनी है; भोग नहीं करना है। इससे भोग की रुचि नाश हो जायेगी।

प्रश्न- सेवा क्या है?

स्वामीजी- सेवा में दूसरे का हित निहित होता है, भोग में अपना सुख निहित होता है। तो हम अपने सुख के लिये मिली हुई वस्तुरूपी शरीर का, योग्यता का, सामर्थ्य का उपयोग न करें। अपितु परहित में मिले हुए शरीर का, योग्यता का, सामर्थ्य का उपयोग करें।

प्रश्न- जीवन में पूर्णता कैसे आयेगी?

स्वामीजी- सेवा और त्याग से आपको प्रेस तत्त्व की प्राप्ति होगी और प्रेम तत्व की प्राप्ति से ही आपके जीवन में पूर्णता होगी।

प्रश्न- मौजूद परमात्मा अप्राप्त और अप्राप्त संसार प्राप्त- ऐसा हमको जो लगता है, इसका क्या कारण है?

स्वामीजी- हमने अपनी ही भूल से जो अपना है उसे अपना मानना बन्द कर दिया, और जो अपना नहीं है उसे अपना मान लिया।

प्रश्न- अपना क्या नहीं है?

स्वामीजी- जो सदैव हमारे साथ नहीं रह सकता अथवा सदैव हम जिसके साथ नहीं रह सकते, वह अपना नहीं है।

प्रश्न- परमात्मा किसे नहीं कहा गया?

स्वामीजी- परमात्मा उसे नहीं कहा गया, जो सर्व देश में, सर्वकाल में, सर्वत्र और सभी का न हो।

प्रश्न- हमारा भगवान में नित्यवास कैसे हो?

स्वामीजी- हम केवल परमात्मा को अपना मान लें और सब प्रकार से उसी के होकर रहें और उन्हीं के नाते सबसे सद्भाव रखें, तो यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा उन्हीं में नित्यवास होगा।

प्रश्न- जो दिखाई न दे और उसे अपना मानें तो क्या होगा?

स्वामीजी- वह अनदेखा जो देखने में नहीं आता, वह सदा के लिये अनदेखा नहीं रहेगा। जो दूर मालूम

होता था, वह प्राप्त मालूम होगा। उस न दिखने वाले प्रभु से दूरी न रहेंगी, भेद भी नहीं रहेगा, भिन्नता भी नहीं रहेगी। दूरी मिट जाती है तो उसका नाम योग हो जाता है, भेद मिट जाता है तो उसका नाम बोध हो जाता है और भिन्नता मिट जाए तो उसका नाम प्रेम हो जाता है। अर्थात् हम सभी को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न- सेवा करें और अपना न मानें तो क्या होगा?

स्वामीजी- सेवा करने से निर्विकारता प्राप्त होगी और निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य आ जाएगी।

प्रश्न- अच्छा लगना सदा रह सकता है क्या?

स्वामीजी- जो अच्छा लगता है वह हमेशा नहीं रहता।

प्रश्न- जो अच्छा लगता है पर रहता नहीं। जब नहीं रहता तब क्या होता है?

स्वामीजी- चित्त दुःखी हो जाता है, निराश हो जाता है, अनेक प्रकार की मानसिक पीड़ाएँ होने लगती हैं।

प्रश्न- हमारा इतना पुराना साथी चला गया। बड़े परिश्रम से वस्तु प्राप्त की थी, चली गई। इस तरह की एक व्यथा हृदय में जगती है। इस व्यथा की निवृत्ति हो जाए, इसके लिए उपाय क्या है?

स्वामीजी- जिसके साथ सदैव नहीं रह सकते, जो हमारे साथ सदैव नहीं रह सकता उसे हम अपना न मानें। अगर वस्तु है तो उसका सदुपयोग करो। अगर कोई व्यक्ति है, साथी है तो उसकी सेवा करो। पर भाई मेरे, अगर हुँच जाए बात तो उसे अपना मत मानो। न वस्तु को, न व्यक्ति को! वस्तु में अपना शरीर भी आता है।

प्रश्न- वस्तु, व्यक्ति को अपना न मानने से क्या होगा?

स्वामीजी- इतनी ही बात से हममें एक दैवी शक्ति आएगी और उसके आने से निर्विकारता भी प्राप्त होगी और निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य आ जाएगी।

प्रश्न- निर्ममता प्राप्त कैसे हो?

स्वामीजी- मिली हुई वस्तु को मिले हुए व्यक्तियों को बुरा न समझें उनके साथ दुर्व्यवहार न करें, सद्व्यवहार करें। मिली हुई वस्तु को बुरा न समझें। उसका दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें। तब हमें निर्ममता प्राप्त होगी।

प्रश्न- हमें निर्लोभता और निर्मोहता कैसे प्राप्त हो?

स्वामीजी- जब निर्ममता प्राप्त होगी तब वस्तुओं के संग्रह की तो रुचि जाती रहेगी और व्यक्तियों के साथ मोह का नाश हो जाएगा। मोह नहीं रहेगा। अर्थात् हमें निर्लोभता और निर्मोहता प्राप्त होगी।

प्रश्न- निर्मोहता प्राप्त होने से क्या होगा?

स्वामीजी- निर्मोहता आ जाय तो फिर कोई भय नहीं रहता।

प्रश्न- दरिद्रता न रहे इसका उपाय क्या है?

स्वामीजी- जीवन का विज्ञान हमें यह प्रत्यक्ष करके दिखा देता है कि अगर हमारे जीवन में निर्लोभता आ जाय तो दरिद्रता नहीं रहती।

प्रश्न- दरिद्रता मिटने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- दरिद्रता मिटने का अर्थ यह है कि आवश्यक कार्य पूरा हो जाएगा, आवश्यक वस्तु अवश्य मिल जाएगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप करोड़पति हो जायेंगे या आपके पास बहुत सी सम्पत्ति हो जायेगी!

प्रश्न- भय रहित जीवन से तात्पर्य क्या है?

स्वामीजी- जिसके जीवन में मोह नहीं रहता उसके जीवन में • भय नहीं रहता। निर्भयता जब प्राप्त होती है तो उसमें एक बड़ा अलौकिक रस मालूम होता है। बड़ी अपूर्व प्रसन्नता मालूम होती है। भयभीत जीवन में सदैव ही खिन्नता, नीरसता और अभाव रहता है। भयरहित जीवन अभाव नहीं रहता, नीरसता नहीं रहती, खिन्नता नहीं रहती-ऐसा मेरा विश्वास और अनुभव है।

प्रश्न- किसे अपना मानें ?

स्वामीजी- गुरुवाणी से हमने सुना है, वेदवाणी से हमने सुना है वह जो इन्द्रियों की सीमा में न आने वाला, बुद्धि की सीमा में न आने वाला परमात्मा है-मन-वाणी को अगम-अगोचर अविगत,अकथ, अपार। जो बुद्धि से परे परमात्मा हैं भाई! केवल उसको अपना मान लो।

प्रश्न- परमात्मा को अपना मानने में हम लोगों को क्या कठिनाई मालूम होती है?

स्वामीजी- जिसे देखा नहीं है उसे अपना मान लेना-यह बड़े साहस की बात है।

प्रश्न- स्वधर्म क्या है?

स्वामीजी- स्वधर्म अर्थात् जीवन का सत्य। यह जीवन का सत्य है कि सेवा करें और अपना न मानें और दिखाई न दे और उसे अपना मानें।

प्रश्न- परमात्मा किसे कहते हैं?

स्वामीजी- परमात्मा कहते ही उसको हैं जो नित्य-प्राप्त हो। जो कभी मिले और कभी अलग हो जाए, उसका नाम परमात्मा नहीं होता। किसी को मिले, किसी को न मिले उसका नाम परमात्मा नहीं होता। कहीं हो और कहीं न हो, उसका नाम परमात्मा नहीं होता। परमात्मा उसी का नाम है जो सभी का हो, सदैव हो, सर्वत्र हो।

प्रश्न- हम परमात्मा से दूरी अनुभव क्यों कर रहे हैं?

स्वामीजी- जो सभी का है वह अपना नहीं है क्या? सदैव है तो अभी नहीं है क्या? सर्वत्र है तो अपने में नहीं है क्या? पर हम उसे अपना नहीं मानते इसलिए उससे दूरी अनुभव कर रहे हैं।

प्रश्न- मिला हुआ शरीर, साथी, सामान हमें प्राप्त नहीं है क्या?

स्वामीजी- मिले हुए शरीर को, मिले हुए साथियों को, मिले हुए सामान को हम अपना मानते हैं। इसलिए उनकी समीपता का अनुभव कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति अनुभव कर रहे हैं। वास्तव में इनकी प्राप्ति है नहीं।

प्रश्न- हमारा शरीर अभी तो मौजूद है, छूटेगा तब छूट जायेगा।

स्वामीजी- अरे बाबा! छूटा है!! मौजूद दिखता है, है नहीं।

प्रश्न- 'मैं' का और 'यह' का सम्बन्ध कैसे मालूम होता है?

स्वामीजी- 'मैं' का और 'यह' का कभी सम्बन्ध हुआ नहीं। ममता के कारण 'मैं' का और 'यह' का सम्बन्ध मालूम होता है।

प्रश्न- हमें परमात्मा से दूरी मालूम होती है क्यों?

स्वामीजी- परमात्मा से कभी दूरी हुई नहीं, आत्मीयता के अभाव से दूरी मालूम होती है।

प्रश्न- हृदय की शान्ति के लिए दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए, नीरसता और अभाव मिटाने के लिए हम क्या करें ?

स्वामीजी- मिले हुए को अपना न मानें और प्रभु को अपना मानें।

प्रश्न- अपना अगर कोई हो सकता है तो कौन है?

स्वामीजी- केवल परमात्मा ही हो सकता है और कोई अपना नहीं हो सकता।

प्रश्न- वस्तु, योग्यता सामर्थ्य का उपयोग क्या है?

स्वामीजी- वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का भोग करोगे तो मोह और आसक्ति में आबद्ध हो जाओगे।

प्रश्न- ज्ञान का क्या प्रभाव होता है?

स्वामीजी- ज्ञान का कोई भी प्रभाव हो सकता है तो यही हो सकता है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। इसी को मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में 'सत्संग' कहते हैं।

प्रश्न- साधना क्या है?

स्वामीजी- साधना जो होती है उसमें सत्ता साध्य की ही होती है, साधक की नहीं होती। यानी साध्य का ही एक रूप है जिसे साधना कहते हैं और उसी साधना से हम साधकों की अभिन्नता होती है। अतः साधना में सत्ता साध्य की होती है इस दृष्टि से हम सबका जीवन एक उस अलौकिक तत्त्व को प्राप्त कर सकता है जहाँ केवल अद्वैत है और कुछ नहीं।

प्रश्न- अद्वैत से क्या तात्पर्य है?

स्वामीजी- अद्वैत माने और काई नहीं है और कुछ नहीं है, केवल अद्वैत। अद्वैत शब्द का अर्थ हमारे गुरु महाराज प्रेम बताया करते थे। अद्वैत शब्द का अर्थ सन्त लोग बोध बताया करते हैं और योगी लोग योग बताया करते हैं। योग में अद्वैत है, बोध में अद्वैत है, प्रेम में अद्वैत है।

प्रश्न- सेवा कैसे करें?

स्वामीजी- आप परमात्मा को मानने वाले हो तो परमात्मा के नाते सेवा करो और आत्मा को मानने वाले तो आत्मा के नाते सेवा करो और जगत् के मानने वाले हो तो जगत् के नाते सेवा करो।

प्रश्न- सेवा करने से हमें क्या मिलेगा?

स्वामीजी- जिसकी तुम सेवा करोगे उसका तुम्हें प्रेम मिलेगा। तुम्हें मिलेगा विश्व प्रेम, आत्मरति और प्रभु प्रेम!

प्रश्न- मनुष्य का पुरुषार्थ क्या है?

स्वामीजी- अगर कोई मिलने वाला तत्त्व है तो वह प्रेम है और करने वाला तत्त्व है तो सेवा है अथवा तीसरी चीज त्याग है-अचाह होना, मेरा कुछ नहीं। तो सेवा-त्याग-प्रेम ही तो मनुष्य का पुरुषार्थ है!

प्रश्न- अपना किसे मानें ? और कैसे मानें ?

स्वामीजी- केवल प्रभु को ही अपना मानें। वे चाहे जहाँ हों, चाहे कुछ करें। मिलें चाहे न मिलें, कुछ परवाह नहीं। हम अपना मानेंगे तो केवल प्रभु को ही अपना मानेंगे और किसी को अपना मानेंगे नहीं।

प्रश्न- अलौकिक जीवन क्या है?

स्वामीजी- जो जीवन कभी भी, किसी भी महामानव को मिला है। जिसमें केवल रस है, न सुख है न दुःख।

प्रश्न- क्या हम केवल सुख-दुःख भोगने के लिए ही पैदा हुए हैं?

स्वामीजी- सुख-दुःख का उपयोग करने के लिए पैदा हुए हैं।

प्रश्न- सुख-दुःख जीवन में क्या प्रेरणा देता है?

स्वामीजी- अगर हमारे जीवन में सुख आया है तो वह सेवा की प्रेरणा देता है। दुःख आया है तो वह त्याग की प्रेरणा देता है।

प्रश्न- प्रेम कैसे प्राप्त होता है?

स्वामीजी- प्रेम दो ही चीजों से प्राप्त होता है- सेवा से और त्याग से; और किसी प्रकार प्रेम प्राप्त नहीं होता। प्रेम तभी प्राप्त होता है-सेवा करो या त्याग करो।

प्रश्न- त्याग माने क्या? सेवा माने क्या?

स्वामीजी- त्याग माने अचाह होना। सेवा माने सभी के लिए उपयोगी होना, सभी में सद्भाव रखना।

प्रश्न- साध्य किसे कहते हैं?

स्वामीजी- साध्य उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति में विकल्प न हो, सन्देह न हो, निराशा न हो उसको साध्य कहते हैं। जिसकी प्राप्ति में विकल्प है, सन्देह है वह साध्य नहीं कहलाता।

प्रश्न- किस चीज की प्राप्ति में विकल्प नहीं होता?

स्वामीजी- जो सदा हो और सभी के लिए हो, उसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं होता।

प्रश्न- हमारा साध्य क्या वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था नहीं हो सकती ?

स्वामीजी- हमारा साध्य कोई वस्तु नहीं हो सकती, कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, कोई परिस्थिति नहीं हो सकती, कोई अवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि यह तो सबके लिए होती नहीं और सदा के लिए रहती नहीं!

प्रश्न- निष्काम होने में कठिनाई क्या होती है?

स्वामीजी- हम निर्मम नहीं होते।

प्रश्न- निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता की प्राप्ति कैसे हो?

स्वामीजी- अगर हम निर्मम हो जाएँ तो निष्काम होने की शक्ति आ जाए और निष्काम हो जाएँ तो असंग होने की शक्ति आ जाए। और, जब ये

तीनों चीजें- निर्ममता, निष्कामता, असंगता आ जाती हैं तो निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता भी प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न- विवेक का अनादर क्या है?

स्वामीजी- जब हम अपने साध्य को ही भूल जाते हैं और सुख-सुविधा-सम्मान को पसन्द कर लेते हैं या उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं-सुख की, सुविधा की, सम्मान की। तब विवेक का अनादर कर बैठते हैं सुख के लिए, सुविधा के लिए, सम्मान के लिए। अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं तो यह विवेक का अनादर करना हुआ।

प्रश्न- सृष्टि का आकर्षण न रहे, इसका उपाय क्या है?

स्वामीजी- हमें जो चाहिए वह वस्तु के आश्रित नहीं हैं, व्यक्ति के आश्रित नहीं हैं, किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं हैं और सारी सृष्टि में वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के सिवाय कुछ नहीं है। अर्थात् हमें जो चाहिए वह सृष्टि के आश्रित नहीं हैं। तब हमारी दृष्टि में अपने लिए। सृष्टि का आकर्षण रह सकता है क्या?

प्रश्न- इन्द्रियों का अविषय होना, मन का निर्विकल्प होना बुद्धि का सम होना- हमारे लिये कैसे सम्भव है?

स्वामीजी- जब सृष्टि का आकर्षण नहीं रहता तब इन्द्रियाँ अविषय हो सकती हैं कि नहीं? जब इन्द्रियाँ अविषय होती हैं तब मन निर्विकल्प हो सकता है कि नहीं? और जब मन निर्विकल्प होता है तब बुद्धि सम हो सकती है कि नहीं?

प्रश्न- अभ्यास की किसके लिए जरूरत है?

स्वामीजी- जो शरीर से साध्य है, जो योग्यता से साध्य है, जो सामर्थ्य से साध्य है उसके लिये अभ्यास चाहिए। लेकिन जो बात ज्ञान से सिद्ध है जो बात विश्वास से साध्य है, उसके लिये अभ्यास की अपेक्षा नहीं होगी।

प्रश्न- चैन नहीं मिलता क्यों ?

स्वामीजी- हमें जो सेवा-सामग्री प्राप्त है उसके द्वारा सेवा करते नहीं, उसके द्वारा करते हैं भोग। जब हम सेवा सामग्री को भोग-सामग्री बना देते हैं तो उसी का परिणाम यह होता है कि हम मोह में और आसक्ति में आबद्ध हो जाते हैं। मोह में आबद्ध होने से और आसक्ति में आबद्ध होने से चैन नहीं मिलता।।

प्रश्न- हम सेवा के बदले में शरीर को अमर बनाना चाहते हैं, सेवा के बदले में हम सर्व-दुःखों की

निवृत्ति करना चाहते हैं-यह हो सकता है क्या?

स्वामीजी- नहीं हो सकता।

प्रश्न- सेवा के द्वारा हम क्या कर सकते हैं?

स्वामीजी- सेवा के द्वारा हम सुखं-भोग की रुचि का नाश कर सकते हैं।

प्रश्न- योग कैसे प्राप्त होगा?

स्वामीजी- जब भोग की रुचि का नाश होगा तब आपको स्वतः योग प्राप्त होगा।

प्रश्न- कर्मयोग किसे कहते हैं?

स्वामीजी- सेवा से भोग की रुचि का नाश होगा और भोग की रुचि के नाश होने से हमको योग प्राप्त होगा और योग प्राप्त होने से बोध और प्रेम प्राप्त होगा। इसी को कर्मयोग कहते हैं। इसी को कर्तव्य-पथ भी कहते हैं।

प्रश्न- भोग की रुचि के नाश का उपाय क्या हैं?

स्वामीजी- विचार के द्वारा अथवा शरणागति के द्वारा भी भोग की रुचि का नाश होता है।

प्रश्न- योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति के पथ क्या हैं?

स्वामीजी- कर्त्तव्य-पथ, विचार-पथ, विश्वास-पथ! इन तीनों पथों से योग बोध प्रेम की प्राप्ति होती है।

प्रश्न- योग प्राप्ति का साधन क्या है?

स्वामीजी- कर्त्तव्य-पथ से जिस योग की प्राप्ति होती है उसी • योग की प्राप्ति विचार-पथ से होती है। उसी योग की प्राप्ति विश्वास-पथ से होती है।

प्रश्न- योग का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- जो सदा है, सर्वदा है, सर्वत्र है, उसके साथ मिलना; उसके साथ मिलन का नाम योग होता है।

प्रश्न- भोग का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- जो कभी है, कभी नहीं है; कहीं है, कहीं नहीं है-उसके साथ मिलने से भोग होता है। जो कहीं है, कहीं नहीं है-वह तो आपके जानने में आता ही है।

प्रश्न- परमात्मा जानने में नहीं आता क्यों?

स्वामीजी- जो सदैव, सर्वत्र है वह आपके जानने में नहीं आता, वह सुनने में आता है। कोई कहता है परमात्मा सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, समर्थ है और अद्वितीय है। तो यह जो विश्वास है आपका कि परमात्मा सभी का होने से अपना है, सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से अपने में है, समर्थ है, अद्वितीय है-यही साधन है।

प्रश्न- विश्वास का अनादर क्या है?

स्वामीजी- परमात्मा से भिन्न को अपना मानना बन्द नहीं किया।

प्रश्न- विचार का अनादर क्या है?

स्वामीजी- जो सदा के लिए नहीं है क्या उसको आपने नापसन्द कर दिया-नहीं। तो आपने विचार का अनादर कर दिया।

प्रश्न- कर्त्तव्य-पथ का अनादर क्या?

स्वामीजी- जो दूसरों के लिए हैं उसको आपने दूसरों की सेवा। में नहीं लगाया। तो यह कर्त्तव्य-पथ का अनादर कर दिया।

प्रश्न- कर्त्तव्य-पथ की सिद्धि क्या है?

स्वामीजी- मन-वाणी-कर्म से बुराई रहित होने पर कर्त्तव्य-पथ सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न- विचार-पथ की सिद्धि क्या है?

स्वामीजी- मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है-इस बात के मानने से विचार-पथ सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न- विश्वास-पथ की सिद्धि क्या है?

स्वामीजी- प्रभु से भिन्न कोई और अपना है नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं-इस बात को मानने से विश्वास-पथ सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न- धर्मात्मा, कर्तव्यनिष्ठ कैसे बनें ?

स्वामीजी- मन, वाणी, कर्म से बुराईरहित होने का व्रत आपको धर्मात्मा बना देगा, कर्तव्य-निष्ठ बना देगा।

प्रश्न- ज्ञान योगी कैसे बनें ?

स्वामीजी- ज्ञान-पूर्वक निर्मम निष्काम होने का व्रत आपको ज्ञानयोगी बना देगा।

प्रश्न- विश्वास-पथ के साधक कैसे बनें ?

स्वामीजी- श्रद्धा-विश्वास पूर्वक प्रभु के अस्तित्व को, महत्व को स्वीकार करने का व्रत आपको विश्वास-पथ का साधक बना देगा।

प्रश्न- जीवन्मुक्त कैसे हो?

स्वामीजी- मेरा कुछ नहीं है-यह जान लिया तो जीवन्मुक्त हो गए।

प्रश्न- भक्त कैसे हों ?

स्वामीजी- प्रभु अपने हैं-यह मान लिया तो भक्त हो गये।

प्रश्न- मानव-मात्र का अपना लक्ष्य क्या है?

स्वामीजी- योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति ही मानव-मात्र का अपना लक्ष्य है।

प्रश्न- योग किसे चाहिये?

स्वामीजी- भौतिक विज्ञानी हो, भौतिकवादी हो-अगर ईमानदार . है तो योग से इन्कार नहीं कर सकता।

प्रश्न- बोध किसे चाहिये?

स्वामीजी- कोई आध्यात्मवादी हो, तो बोध से इन्कार नहीं कर सकता।।

प्रश्न- प्रेम किसे चाहिये?

स्वामीजी- आस्थावान हो तो प्रेम से इन्कार नहीं कर सकता।

प्रश्न- योग, बोध, प्रेम किसका प्रतीक है?

स्वामीजी- योग जो है वह सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है। बोध जो है यह जीवन का प्रतीक है। और प्रेम जो है वह रस का प्रतीक है।

प्रश्न- सभी के लिए योग, बोध, प्रेम अभीष्ट है कैसे?

स्वामीजी- योग के बिना सामर्थ्य और शान्ति नहीं मिलती, बोध के बिना अमरत्व प्राप्त नहीं होता। प्रेम के बिना रस-रूप जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। मानव होने के नाते जो जीवन का सत्य है वह सबको अभीष्ट है।

प्रश्न- कामना के सम्बन्ध में कुछ बतायें?

स्वामीजी- कामना के सम्बन्ध में यह कहना बिल्कुल यथार्थ है। कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होती और हर कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है; अथवा जो कामना-पूर्ति में रमण करता है उसे कामना-पूर्ति का अभाव सहना ही पड़ता है। कामना परिवर्तनशील, गतिशील, अभावरूप दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है।

प्रश्न- माँग के सम्बन्ध में मार्गदर्शन करें?

स्वामीजी- माँग पूरी होने से अभाव नहीं रह सकता। क्योंकि माँग उससे हमारा सम्बन्ध जोड़ देती है, उससे अभिन्न कर देती है जो सदा ही सब प्रकार से पूर्ण है। जो अभाव और प्राधीनता से रहित हैं, नीरसता से रहित है। यानी माँग उस अविनाशी-अनन्त तत्त्व से सम्बन्ध जोड़ती है, जो कभी भी दृश्य नहीं है अथवा संमस्त दृश्य का प्रकाशक और आधार है। यह दृश्य भी उसी के आश्रय से प्रतीत हो रहा है। अगर उसका आश्रय न हो तो दृश्य की प्रतीति नहीं हो सकती।

प्रश्न- गुरु किसे कहते हैं?

स्वामीजी- गुरु उसे नहीं कहते जो हर चीज सिखाता फिरे। गुरु एक ऐसे सत्य का बोध करा देते हैं जिसको अपनाने से सब कुछ अपने आप आ जाता है।

प्रश्न- यह सब कुछ उन्हीं का है-इसका अर्थ क्या हुआ?

स्वामीजी- मेरा नहीं है, किसी गैर का नहीं है तो यह जो कुछ है। वह प्यारा लगता है।

प्रश्न- मनुष्य का जीवन कैसा हो?

स्वामीजी- यह मनुष्य को अपना जीवन है कि वह दृश्य के प्रभाव से मुक्त भी हो और दृश्य के प्रति सद्भाव और सहयोग भी रखे।

प्रश्न- साधननिष्ठ होने का सुंगम उपाय क्या है?

स्वामीजी- इस गुरु वाक्य पर ध्यान दो कि, 'सब कुछ उन्हीं का है। वे सबमें हैं, सबसे परे भी है। वास्तव में वे ही हैं और कुछ है ही नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।' उन्हीं से हमारा 'मैं योग होकर, बोध होकर, प्रेम होकर अभिन्न हो सकता है। यह जीवन का सत्य है। अगर आप चाहें तो इस सत्य को स्वीकार कर बड़ी सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ हो जायें। ..

प्रश्न- मानव किसे कहते हैं?

स्वामीजी- मानव उसे नहीं कहते जो जगत् और जगदाधार को प्यारी न लगे। 'सर्व-प्रिय' मानव का ही नाम है। मानव जगत् को भी प्यारा लगता है क्योंकि उदार होता है, स्वाधीन होता है और परमात्मा को भी प्यारा लगता है क्योंकि प्रेमी होती है। इसलिए मानव माने जो सभी को प्यारा लगे। ऐसा जीवन जो सभी के लिए प्रिय है मानव-मात्र को अभीष्ट है और मिल सकता है।

प्रश्न- मानव के गुण क्या हैं?

स्वामीजी- तीन गुण मानव में होते हैं। मानव में यह ईश्वर-प्रदत्त होते हैं, परमात्मा में स्वरूपजन्य होते हैं। मानव उदार है तो हमारे प्रभु परम उदार हैं। मानव स्वतन्त्र है तो प्रभु परम स्वतंत्र है। मानव प्रेमी है तो प्रभु प्रेम के भण्डार हैं। जैसे, देखो न! एक लहर में जो जल होता है तो सागर में भी तो जल ही होता है। सागर में कोई ऐसी चीज नहीं होती जो लहर में नहीं है। लेकिन लहर में जहाज नहीं चलता, सागर में चलता है। इतना ही फर्क है। मानव में और परमात्मा में कोई अगर भेद स्थापित करे तो'स्वरूप की एकता' गुणों की भिन्नता- ऐसा है। और किसी के मन में कोई बात उठती हो? देखो! लहर और सागर में जल ही जल है; जल न लहर है न सागर है। ऐसे ही सत्ता रूप में परमात्मा ही परमात्मा है। चाहे उसको ईश्वर कहो, चाहे मत कहो। परमात्मा को परमात्मा न कहने से भी परमात्मा ही प्राप्त होता है।

प्रश्न- दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी कौन?

स्वामीजी- दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी दृष्टि में जैसा है वैसा ठीक-ठीक अनुभव कर ले। दूसरों की दृष्टि में अच्छा कहलाना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। लेकिन हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं, यह देखने की बात है।

प्रश्न- शरीर का क्या महत्व है?

स्वामीजी- शरीर की जातीय एकता है संसार के साथ। इसलिए शरीर के द्वारा आप किसी-न-किसी सत्-कार्य को ही कर सकते हैं, परमात्मा को, ब्रह्म को नहीं पकड़ सकते। यह शरीर ब्रह्म-प्राप्ति का साधन नहीं है। यह शरीर संसार की सेवा का साधन है।

प्रश्न- संसार की सेवा कब होगी?

स्वामीजी- जब आप उदार हों।

प्रश्न- उदार कब होंगे?

स्वामीजी- जब प्रभु के नाते सबको अपना मानें; और उदार होने के लिए कोई विशेष योग्यता नहीं चाहिए।

प्रश्न- हम स्वाधीन कब होंगे?

स्वामीजी- अगर आप इस बात को मानें कि मेरा और संसार का कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो आप स्वाधीन हो सकते हैं।

प्रश्न- हम प्रेमी कब हो सकते हैं?

स्वामीजी- प्रभु से मेरा नित्य-सम्बन्ध है, आत्मीय-सम्बन्ध हैतो आप प्रेमी हो सकते हैं।

प्रश्न- मूल में सत्य क्या है?

स्वामीजी- मूल में सत्य तो.तीन ही बातें हैं- संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रभु से मेरा नित्य सम्बन्ध है और; शरीर और संसार में अविभाज्य सम्बन्ध है, मेरा सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न- शरीर के द्वारा संसार के काम आते हैं कैसे?

स्वामीजी- बुराई रहित होकर। और कोई उपाय नहीं है काम आने का। मन से, वाणी से, कर्म से जो बुराई-रहित होगा, वह अपने आप संसार के काम आ जाएगा।

प्रश्न- संसार को क्या चाहिए?

स्वामीजी- संसार को जो चाहिए, वह यही एक चीज चाहिए। कि उसको ऐसा साथी चाहिए जिसमें बुराई न हो।

प्रश्न- बुराई क्या है?

स्वामीजी- जो सुख का लोलुप हो। सुख लोलुप को कहते हैं बुरा। बुराई का मूल है सुख-लोलुपता। मनुष्य अपनी सुखलोलुपता से प्रेरित होकर ही दुराचार करता है, व्यभिचार

करता है, चोरी करता है, बदमाशी करता है, संग्रह करता है। यानी जितने दोष पैदा होते हैं सब सुख-लोलुपता से पैदा होते हैं। और यह सुखलोलुपता जो है यह पशुता है, यह मानवता नहीं है। जैसे एक पशु अपने सुख के लिए ही जीता है, वह नहीं जानता दूसरे का हित किसे कहते हैं।

प्रश्न- सुख-लोलुपता का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- पराधीनता को सहन करना। हम यदि किसी प्रकार की भी पराधीनता सहन करते हैं तो यह सुख-लोलुपता है।

प्रश्न- पराधीनता को सहन कौन करता है?

स्वामीजी- जो सभी के लिए उदार नहीं होता, जो स्वाधीन नहीं होता, जो प्रेमी नहीं होता।

प्रश्न- समाज की माँग क्या है?

स्वामीजी- समाज की माँग है कि हम मन से, कर्म से, वाणी से बुराई-रहित हों। जिससे कि हमें भले हो जाएँ। भले होने से हमसे भलाई होने लगेगी। यही समाज की माँग है।

प्रश्न- भलाई कब होती है?

स्वामीजी- भलाई करके कोई भला नहीं होता, वरन् भला होकर भलाई करता है-यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। पहले हम भले होंगे, पीछे हमसे भलाई होगी।

प्रश्न- आसक्ति क्या है?

स्वामीजी- आसक्ति प्रेम का दूषित रूप है। अन्तर इतना होता है कि प्रेम में तो प्रिय को रस देने की बात होती है और आसक्ति में अपने सुख लेने की बात होती है।

प्रश्न- भला होकर ही मनुष्य पराधीन होता है, बुरा होकर पराधीन नह होता कैसे?

स्वामीजी- जो लोग भले हो जाते हैं उनके द्वारा भलाई होने लगती है। भलाई होने पर समाज की ओर से उनके प्रति जो सम्मान आता है, आदर आता है, सुविधा आती है उसको वे भोग करने लगते हैं। जिससे वे फिर पराधीन हो जाते हैं।

प्रश्न- मानव-सेवा-संघ माने क्या?

स्वामीजी- मानव-सेवा-संघ माने साधकों का संघ। मानव-सेवा-संघ कोई व्यक्तियों का संघ थोड़े ही है अथवा किसी वर्ग का, किसी मत और सम्प्रदाय को संघ थोड़े ही है!

प्रश्न- साधक कौन होता है?

स्वामीजी- जो भला हो, स्वाधीन हो, प्रेमी हो अथवा भले होने के लिए, स्वाधीन होने के लिए, प्रेमी होने के लिए अथक प्रयत्नशील हो।

प्रश्न- भले कैसे हों ?

स्वामीजी की हुई बुराई को दुहराओ मत, जानी हुई बुराई करो मत। लो! हो गए भले।।

प्रश्न- स्वाधीन कैसे हों?

स्वामीजी- अपना वही है जो अपने में है और अपने से भिन्न जो कुछ है वह अपना नहीं है। अपने से भिन्न की आवश्यकता अनभुव मत करो, स्वाधीन हो गए।

प्रश्न--प्रेमी कैसे हों ?

स्वामीजी- अपने में हैं- श्रीहरि।-अपने में अपने हरि हैं। इसलिए वे अपने को प्यारे लगने लगते हैं।

प्रश्न- शास्त्र और गुरु कब फल देते हैं?

स्वामीजी- शास्त्र और गुरु तब फल देता है जब उसमें श्रद्धा हो।

प्रश्न- शास्त्र अध्ययन का अधिकारी कौन है?

स्वामीजी- शास्त्र अध्ययन का अधिकारी वही है जिसको शास्त्र में विकल्प-रहित आस्था हो।

प्रश्न- अपने को देखने का मतलब क्या है?

स्वामीजी- अपने को देखने का मतलब यह है कि अगर प्रेम नहीं है तो मान लो कि आसक्ति है। अगर स्वाधीनता नहीं है तो मान लो कि पराधीनता है। अगर उदारता नहीं है तो मान ही लो कि स्वार्थ-भाव है।

प्रश्न- मनुष्य स्वाधीन, उदार, प्रेमी कैसे होगा?

स्वामीजी- स्वाधीन होगा अचाह होने से, उदार होगा सभी को अपना मानने से और प्रेमी होगा प्रभु को अपना मानने से।

प्रश्न- ज्ञान किसे कहते हैं?

स्वामीजी- ज्ञान क्या उसे कहते हैं जो कभी घटे और कभी बढ़े? जो कभी रहे, कभी भूल जाए!

प्रश्न- क्या कारण है कि भगवान मौजूद है और प्यारा नहीं लगता?

स्वामीजी- हमने सही अर्थ में परमात्मा के अस्तित्व को, महत्व को, अपनत्व को स्वीकार नहीं किया। इसलिए परमात्मा प्यारा नहीं लगता।

प्रश्न- संसार की स्थिति नहीं है प्रतीति है, फिर भी वह प्यारा लगता है।

स्वामीजी- सही अर्थ में हमने- संसार की स्थिति नहीं है-इस बात का ठीक-ठीक अनुभव नहीं किया।

प्रश्न- हमने बुराई क्यों नहीं छोड़ी?

स्वामीजी- धर्मात्मा होना अनिवार्य है-इस बात को हमने

स्वीकार नहीं किया। इसलिये बुराई नहीं छोड़ी।

प्रश्न - निर्दोष कैसे हो?

स्वामीजी- भाई, की हुई बुराई को न दुहराओ तो निर्दोष हो जाओगे।

प्रश्न- धर्मात्मा, स्वाधीन, प्रेमी कैसे हो?

स्वामीजी- इस क्षण से कोई बुराई नहीं करूंगा-धर्मात्मा हो गए। अब मैं इच्छा-पूर्ति का सुख नहीं चाहता हूँ-स्वाधीन हो गए। मैं आज से परमात्मा को अपना मानूंगा-प्रेमी हो गए।

प्रश्न- आज हमारे हृदय में उदारता नहीं है स्वार्थ-भाव है, सुख लोलुपता है तो क्यों है?

स्वामीजी- इसलिए है कि हमने सभी को अपना नहीं माना अथवा इसलिए है कि हम स्वाधीन नहीं हुए अथवा हम प्रेमी नहीं हुए।

प्रश्न- पराधीनता क्या है?

स्वामीजी- कामना-पूर्ति का सुख हमको अच्छा लगता है-यही तो पराधीनता है। . .

प्रश्न- अपना कौन?

स्वामीजी- मानव की जातीय एकता परमात्मा के साथ है। जिसके साथ हमारी जातीय एकता होती है, उसी के साथ नित्यसम्बन्ध भी होता है और जिसके साथ नित्य-सम्बन्ध होता है, वही अपना होता है।

प्रश्न- व्यर्थ-चिन्तन का नाश कैसे होता है?

स्वामीजी- किसी प्रकार का चिन्तन न करने से अर्थात् अचिन्त होने से हमारे न चाहते हुए भी जो चिन्तन हो रहा है उसका प्रभाव स्वीकार न करें अर्थात् उससे अहसहयोग रखें।

प्रश्न- असहयोग का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- असहयोग का अर्थ विरोध नहीं है। असहयोग का। अर्थ समर्थन न करना, सहयोग न देना।

प्रश्न- वैष्णव-धर्म का सार-सर्वस्व क्या है?

स्वामीजी- आत्मीयता, नित्य सम्बन्ध और जातीयता-यह वैष्णव धर्म का सार सर्वस्व है। क्योंकि वे भगवान के साथ दास्य भाव से, सख्य भाव से, वात्सल्य भाव से, मधुर भाव से सम्बन्ध जोड़ते हैं। मैं प्रभु का नित्य सखा हैं, मैं प्रभु का नित्य दास हूँ, मैं प्रभु की नित्य प्रिया हूँ-इस प्रकार का जो नित्य-सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है यह असल में वैष्णव धर्म है।

प्रश्न- बल्लभ सम्प्रदाय का सार सर्वस्व क्या है?

स्वामीजी- वे कहते हैं कि पहले शरणागति ले लो, फिर ब्रह्म-

सम्बन्ध ले लो। ब्रह्म-सम्बन्ध होता है बल्लभ सम्प्रदाय में। तो परमात्मा और मनुष्य इन दोनों में जातीय एकता है। इसीलिये वहाँ सेवा की प्रधानता है उपासना की प्रधानता नहीं है चिन्तन की प्रधानता नहीं है। आप भगवान की किस-किस प्रकार से, कैसी-कैसी सेवा करते हो, कैसे खिलाते हो, कैसे पिलाते हो आदि। असल में यह बल्लभ सम्प्रदाय का सार-सर्वस्व है।

प्रश्न- प्रमाद क्या है?

स्वामीजी- जब प्राणी निज विवेक का अनादर करता है। तब इन्द्रियों के ज्ञान को ही पूरा ज्ञान मान बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है।

प्रश्न- परिस्थितियों का सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- आस्तिक परिस्थितियों का सदुपयोग अपने प्रभु के नाते करता है, अध्यात्मवादी सर्वात्म-भाव से करता है और भौतिकवादी विश्व के नाते करता है।

प्रश्न- विरक्ति का वास्तविक अर्थ क्या है?

स्वामीजी- इन्द्रियों के विषयों से अरुचि हो जाना अर्थात् भोग की अपेक्षा भोक्ता का मूल्य बढ़ा लेना। भोक्ता भोग के बिना भी सहर्ष रह सके।

प्रश्न- अपने कल्याण का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- अपनी प्रसन्नता के लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे।

प्रश्न- सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- जिस समाज में एक-दूसरे के अधिकारों का अपहरण न होता हो।

प्रश्न- संयोग क्या है?

स्वामीजी- संयोग है-सुने हुए, माने हुए सम्बन्धों का सद्भाव। जो हमने सुनकर मान लिया और उस पर सद्भाव कर लिया, उसी का नाम संयोग है।

प्रश्न- सम्बन्ध के भेद क्या हैं?

स्वामीजी- सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक भेद-भाव का। दूसरा अभेद-भाव का।

प्रश्न- अभेद भाव का सम्बन्ध किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जिससे 'अहं' की पुष्टि हो।

प्रश्न-भेद-भाव का सम्बन्ध किसे कहते हैं?

स्वामीजी- जिससे मम्' की पुष्टि हो।

प्रश्न- स्वाधीनता का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- वासनाओं से रहित होना। साधारण लोग अपनी इच्छा-पूर्ति के सुख को ही स्वाधीनता मानते हैं जो वास्तव में पराधीनता है।

प्रश्न- मुक्ति किसे कहते हैं?

स्वामीजी- स्थायी स्वाधीनता का नाम मुक्ति है।

प्रश्न- लालसा किसे कहते हैं?

स्वामीजी- लालसा उसे नहीं कहते जो मिटाई जा सके। जो मिटाई जा सके उसे तो वासना कहते हैं।

प्रश्न- मुक्ति कब मिलती है?

स्वामीजी- मुक्ति मिलती है निर्दोषता के आ जाने पर।

प्रश्न- हम भले कब होते हैं?

स्वामीजी- जब अपना कोई संकल्प नहीं रखते।

प्रश्न- हम बुरे कब होते हैं?

स्वामीजी- जब अपना कोई संकल्प रखते हैं।

प्रश्न- जीवन में श्रम का उद्गम स्थान क्या है?

स्वामीजी- असत् की कामना, असत् का विश्वास, असत् से सम्बन्ध और असत् का दुरुपयोग। इन सब कारणों से श्रम की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न- असहयोग का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- असहयोग का पहला अर्थ होता है कि उससे तादात्म्य न रखें। दूसरा अर्थ होता है कि उसका अपने पर प्रभाव न हो।

प्रश्न- अपने कल्याण का अर्थ क्या है और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- अपने कल्याण का अर्थ है-अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ है कि जिस समाज में एक दूसरे के अधिकारों का अपहरण न होता हो। कुछ लोग सुन्दर समाज का अर्थ मानते हैं-सुन्दर-सुन्दर मकानों का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर सड़कों का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर बगीचों का निर्माण। ये सब तो बाह्य चीजें हैं। वास्तव में सुन्दर समाज की कसौटी यह है कि जिस समाज में किसी के अधिकारों का अपहरण न होता हो।

प्रश्न- जब हमें अपने अधिकार प्रिय हैं, तो हमारे अधिकार क्या होंगे?

स्वामीजी- हमारे अधिकार वही होंगे, जो हमारे साथियों के कर्तव्य हैं। और हमारे साथियों के अधिकार वे हैं, जो हमारे कर्तव्य हैं। हमारे अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते हैं जब हमारे साथी कर्त्तव्यपरायण हों और हमारे साथियों

के अधिकार तभी सुरक्षित होंगे जब हम कर्तव्यनिष्ठ हों।।

प्रश्न- सुन्दरता समाज में कब आयेगी?

स्वामीजी- जब व्यक्ति में सुन्दरता आयेगी तब।

प्रश्न- सुन्दर समाज का असली दृश्य क्या है?

स्वामीजी- जहाँ किसी विधान की आवश्यकता न हो, जहाँ बल के द्वारा किसी को बात मनवाने की आवश्यकता न हो। जहाँ सुन्दरता आ जाती है वहाँ इन चीजों की जरूरत नहीं होती। नं चौकीदार रखना पड़ता है और न ताला ही लगाना पड़ता है। सुन्दरता का वास्तविक अर्थ यह है कि हम सब अनेक होते हुए भी एक होकर रहें।

प्रश्न- एकता का अनुभव कैसे हो?

स्वामीजी- हम जाग्रत अवस्था में विविध प्रकार की भिन्नता होते हुए भी एकता का अनुभव करें। वह तभी सम्भव है जब हम एकमात्र अपना कर्तव्य जाने और उसके पालन में तत्पर हो जाएँ।

प्रश्न- अधिकार का क्या मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है?

स्वामीजी- अपने अधिकार की प्रियता से हम यह अनुभव करें कि दूसरों को भी अपना अधिकार प्रिय है और दूसरों की प्रियता की पूर्ति ही मानवता है।

प्रश्न- मानव में मानवता कैसे आये?

स्वामीजी- हमारा कर्म भाव-रहित न हो और भाव विवेक-शून्य न हो, अर्थात् हमारी भावनाएँ निज-विवेक से प्रकाशित रहें और हमारा कर्म भाव से प्रभावित हो। यह नियम है कि कर्म में प्रवृत्ति जिस भाव से 95 होती है कर्म के अन्त में कर्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है और फिर भाव विवेक से स्वत: अभेद हो जाता है। अर्थात् विवेक हमारा जीवन बन जाता है और फिर अविवेक तथा इसके कार्यरूप अनेक विकार सदा के लिए ही मिट जाते हैं। यही वास्तव में मानव-जीवन है क्योंकि निर्विकार जीवन ही मानव-जीवन है।

प्रश्न- यदि पर दोष-दर्शन न करें तो माता-पिता बालकों का, गुरुजन शिष्यों का, राष्ट्र प्रजा का सुधार कैसे करें? क्योंकि इनमें अपने दोष देखने की सामर्थ्य नहीं है।

स्वामीजी- यह सन्देह निर्मूल है। जो जिस अवस्था में होता है, वह उस अवस्था के दोषों को भी जानता है; क्योंकि प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य-मात्र को अपने दोष देखने का

विवेक स्वतः प्राप्त है। बालक बालकपन के दोष अवश्य देख लेगा, युवक युवावस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्यार्थी विद्यार्थी-अवस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्वान् विद्वत्ता के दोष अवश्य देख लेगा; महाजन और मजदूर भी अपनी-अपनी अवस्था के दोष अवश्य देख लेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी-अपनी परिस्थितियों में अपने-अपने दोषों का दर्शन सभी को सम्भव है। आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न- शासक, नेता और गुरु में क्या भेद है?

स्वामीजी- शासक बल के द्वारा, नेता विधान के द्वारा और गुरु ज्ञान के द्वारा सुधार करने का प्रयास करते हैं। यह अन्तर होते हुए भी तीनों ही सुधारने का दावा करते हैं। परन्तु भैया, मानवता तो एक अनूठी प्रेरणा देती है और वह यह कि हमें नेता होना है तो अपने ही नेता बनें, यदि हमें शासन करना है तो अपने पर ही शासन करें, और यदि गुरु बनने की कामना है तो अपने ही गुरु बनें। मानवता के इस दृष्टिकोण को जब हम अपनायेंगे, तो हम अपने को ही अपना शिष्य और अपने जीवन को ही अपना समाज और अपने चरित्र को ही अपनी प्रज़ा बना लेंगे। यह नियम है कि जो अपना गुरु बन जाता है, अपना नेता बन जाता है। और अपना शासक हो जाता है वह सभी का गुरु, शासक और नेता बन जाता है।

प्रश्न- हम अपने गुरु, नेता या शासक कैसे बनें ?

स्वामीजी- भौतिकवाद की दृष्टि से मानव-मात्र को जो विवेक प्राकृतिक नियमानुसार मिला है, आस्तिकवाद की दृष्टि से जो विवेक। प्रभु की अहैतुकी कृपा से मिला है और अध्यात्मवाद की दृष्टि से जो अपनी ही एक विभूति है वह विवेक ही वास्तव में गुरु, नेता तथा शासक है, जो प्रत्येक भाई-बहिन को स्वतः प्राप्त है। पर, खेद तो यह है कि हम उस विवेक का प्रयोग अपने जीवन पर न करके, समाज पर करने की सोचते हैं। समाज इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही विश्वास करता है। वह जैसा देखता है, वैसा बनता है। जिस चरित्र को हम अपने जीवन से नहीं दिखा पाते, केवल समझा कर समाज में उसका प्रचार करना चाहते हैं अथवा यों कहो कि शासक बनकर बल-प्रयोग से उसे समाज द्वारा मनवाना चाहते हैं। अथवा गुरु बनकर समाज के जीवन में उसे ढालना चाहते हैं-यह वास्तव में सम्भव नहीं है।

प्रश्न- मानवता प्राप्त कैसे करें?

स्वामीजी- मानवता प्राप्त करने में सभी भाई-बहिन सर्वथा स्वतन्त्र हैं। हमसे कोई ऐसा कार्य न हो जिसे हम अपने साथ पसन्द नहीं करते और जो हम अपने प्रति दूसरों से कराना चाहते हैं वह हम दूसरों के प्रति करने के लिए सर्वदा उद्यत बने रहें।

प्रश्न- योग का क्या अर्थ है?

स्वामीजी- योग का अर्थ है- चित्त की वृत्तियों का सब ओर से हटकर किसी एक ओर लग जाना अथवा यों कहें कि 'पर' से हटकर 'स्व' में विलीन हो जाना, अथवा यों कहें कि राग से रहित होकर चित्त का वीतराग हो जाना। चित्त की वीतरागता का ही दूसरा नाम 'योग' है।

प्रश्न- चित्त की शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता की प्राप्ति कैसे हो?

स्वामीजी- योग कल्पवृक्ष के समान है, अर्थात् योग प्राप्त होने पर हमें वह शक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। जब चित्त वीतराग हो जाता है तब इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, फिर मन बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही दृश्य अर्थात् जिसे हम यह कहते थे और दर्शन अर्थात् जिसके द्वारा 'यह' की प्रतीति होती थी, वे दोनों अपने में ही अर्थात् द्रष्टा में विलीन हो जायेंगे और त्रिपुटी का अभाव हो जायगा। त्रिपुटी का अभाव होते ही चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता स्वतः प्राप्त होगी।

प्रश्न- मानव कल्याण का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- यह नियम है कि जहाँ शान्ति तथा प्रसन्नता आ जाती है वहाँ निर्वासना स्वतः आ जाती है। कारण कि शान्ति और प्रसन्नता खिन्नता और नीरसता को खा लेती है। खिन्नता और नीरसता-रहित जीवन वासना-रहित जीवन हो जाता है। यह सभी का अनुभव है कि वासना-रहित जीवन में पराधीनता शेष नहीं रहती, अर्थात् एक ऐसी अनुपम स्वाधीनता प्राप्त होती है जिसको पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। बस! यही कल्याण का स्वरूप है।

प्रश्न- कल्याणयुक्त जीवन पर कुछ और प्रकाश डालें ?

स्वामीजी- जब तक हमें कुछ प्राप्त करना शेष है तब तक हम अभाव का अनुभव करते हैं और जब तक हम किसी भी अभाव का अनुभव करते हैं तब तक हमें मानना होगा कि हमारा कल्याण नहीं हुआ। जैसे

पेट भर जाने पर भूख की वेदना स्वतः शान्त हो जाती है और फिर न भोजन की ही आवश्यकता रहती है और न उसका चिन्तन ही होता है, वैसे ही अभाव का अभाव होने पर जीवन में स्वतः एक ऐसी अनुपम अलौकिकता आ जाती है कि फिर कुछ करना. या पाना शेष नहीं रहता। ऐसे जीवन का नाम ही कल्याणयुक्त जीवन है।

प्रश्न- अभाव का अभाव कैसे हो?

स्वामीजी- जितने भी अभाव हमारे जीवन में हैं, उन सबका मूल एकमात्र राग है। राग-रहित होने पर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रह जाता।

प्रश्न- राग-रहित होने के उपाय क्या हैं?

स्वामीजी- राग-रहित होने के दो उपाय हैं-एक तो यह कि अपने पर दूसरों का जो अधिकार है, उसकी पूर्ति कर दी जाय और दूसरा यह कि अविवेक के कारण दूसरों पर अपना जो अधिकार मान लिया था, उसकी लालसा का त्याग कर दिया जाय।

प्रश्न- 'साधन तत्व' का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- साधन-तत्त्व का स्वरूप है-जगत् के अधिकारों की रक्षा और भगवत्-विश्वास, सम्बन्ध, प्रीति एवं तत्त्व-जिज्ञासा।

प्रश्न- क्या हमारी साधना ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु है, जिसकी आवश्यकता भगवान् को भी है और संसार को भी है?

स्वामीजी- निःसन्देह यही सत्य है। आप विचार करें, क्या भगवान् ने अनेक बार यह नहीं कहा कि मेरी शरण में आओं? शरणागति साधना नहीं तो क्या है? और क्या संसार आपके सामने नहीं कहता कि हमारे अधिकार की रक्षा करो? अब विचांर करो, संसार भी आपके सामने अधिकार की रक्षा के लिए आता है और भगवान् भी आपसे कहते हैं कि तू मेरी शरण में आजा। तात्पर्य क्या है? तुम्हारी माँग संसार , को भी है और भगवान् को भी। अन्तर केवल इतना है कि संसार को तो तुम्हारी माँग अपनी कामनापूर्ति के लिए है, और भगवान् को तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। कारण कि वे स्वभाव से ही प्राणी के परम सुहृद हैं।

प्रश्न- जिस संसार को हमारी माँग है क्या उस संसार की हमें माँग नहीं हो सकती?

स्वामीजी- कदापि नहीं! कारण कि अपने को देह से अतीत अनुभव करने पर किसी को भी संसार की चाह नहीं रहती। अतः यह सिद्ध हुआ कि हमें संसार की चाह नहीं है, किन्तु जब हम अविवेक के

कारण देह से मानी हुई एकता स्वीकार कर लेते हैं तब हमें अपने में संसार की चाह का भास-मात्र होता है।

प्रश्न- व्यक्ति का अस्तित्व क्या है?

स्वामीजी- व्यक्ति है समाज के अधिकारों का समूह।

प्रश्न- कृपया संक्षेप में मानव की महिमा बताएं?

स्वामीजी- जिस जीवन से सभी के अधिकार सुरक्षित हों, उसी का नाम वास्तव में मानव-जीवन है। मानवता इतना महत्वपूर्ण तत्त्व है। कि जिसकी माँग सदैव सभी को रहती है।

प्रश्न- अपने को सुन्दर बनाने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- सुन्दर बनने का अर्थ है-अचाह पद। अचाह का अर्थ है-अपनी कोई चाह नहीं रहना। जहाँ अपनी कोई चाह नहीं रहती वहाँ बन्धन नहीं रहता, पराधीनता नहीं रहती तथा जड़ता नहीं रहती। वहाँ चिन्मयता आ जाती है, स्वतन्त्रता आ जाती है और जीवन में एक ऐसी विलक्षणता आ जाती है जिसको प्रकट करने के लिए शब्द नहीं हैं, परन्तु उसका अस्तित्व है। उसी जीवन को आप चिन्मय जीवन कह सकते हैं, आस्तिक जीवन कह सकते हैं, आध्यात्मिक जीवन कह सकते हैं।

प्रश्न- श्रेष्ठ मानव जीवन किसे कहेंगे?

स्वामीजी- सुन्दर मानव जीवन उसे कहेंगे जिसमें किसी के अधिकार का अपहरण न हो और जिस जीवन की आवश्यकता सर्वदा सभी को बनी रहे। उसी जीवन का नाम सुन्दर मानव-जीवन है।

प्रश्न- चाह की उत्पत्ति कब और क्यों होती है?

स्वामीजी- चाह की उत्पत्ति तब होती है जब हम अपने को मानव न मानकर देह मान लेते हैं।

प्रश्न- देह मानने और मानव मानने में क्या भेद है?

स्वामीजी- इसमें एक भेद है- देह मानकर हम अधिकार-लालसा में आबद्ध होते हैं और मानव मानकर कर्तव्य-पालन में प्रवृत्त होते हैं। जिस समय जीवन में अधिकार लिप्सा दिखाई दे उस समय विचार करना चाहिए कि हम देह हैं या मानव? यदि आपको स्मरण आ जाय कि हम देह नहीं हैं, हम तो मानव हैं तो आप स्वयं कहने लग जायेंगे कि हमें तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करनी है, 'अपने' को कुछ अधिकार लालसा नहीं है।

प्रश्न- कल्याण और अकल्याण का हेतु क्या है?

स्वामीजी- जिस अंश में हमारे कर्त्तव्य से दूसरे की चाह की पूर्ति होती है, उसी अंश में हमारा जीवन उदारता तथा प्रेम से भर जाता है, जो कल्याण का हेतु है और जिस अंश में हम अपनी चाह-पूर्ति की सोचते हैं उसी अंश में हम परतन्त्र तथा भोगी हो जाते हैं, जो अकल्याण का हेतु है।

प्रश्न- चाह की उत्पत्ति का कारण क्या है?

स्वामीजी- चाह की उत्पत्ति का कारण यदि विवेकदृष्टि से। देखा जाय तो एकमात्र अविवेक है।

प्रश्न- अविवेक क्या है?

स्वामीजी- अविवेक कहते हैं- विवेक के अनादर को। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जो विवेक है उसका हम अनादर करते हैं, अर्थात् जाने हुए को नहीं मानते। इसी का नाम अविवेक है।

प्रश्न- हम जाने हुए का अनादर क्यों करते हैं? इसका कारण क्या है?

स्वामीजी- जाने हुए के अनादर का एकमात्र कारण परिस्थिति द्वारा सुख लेने की आसक्ति है, और कोई कारण नहीं।

प्रश्न- परिस्थिति द्वारा सुख लेने की आसक्ति क्या है?

स्वामीजी- परिस्थिति में और अपने में हमने जो एकता मान ली है, उसे एकता की सत्यता इतनी दृढ़ हो गई है कि हमारी सत्ता से परिस्थिति सत्ता पाकर हम पर ही शासन करने लगी है। परिस्थिति अपनी सत्ता से हम पर शासन नहीं करती, किन्तु सत्ता हमसे लेती है, चेतना हमसे लेती है और हम पर ही शासन करती है। यही कारण है परिस्थितियों में सुख की आसक्ति होने का।

प्रश्न- सत्य क्या है?

स्वामीजी- सत्य उसे नहीं कहते, जो किसी के न मानने से अथवा किसी के वर्णन न करने से न रहे। सत्य तो उसे कहते हैं जो आप जानें तो सत्य, न जानें तो सत्य मानें तो सत्य, न मानें तो सत्य और उसके सम्बन्ध में मौन रहें तो सत्य। अतः दुःख की निवृत्ति के पश्चात् जो उपलब्ध होता है उसका नाम सत्य है।

प्रश्न- अचाह-पद की प्राप्ति हमें कैसे हो?

स्वामीजी- अपने जाने हुए ज्ञान का आप अनादर न करें।

प्रश्न- सही करने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- सही करने का अर्थ है, जिसे प्रवृत्ति से जिनको सम्बन्ध है उनके अधिकार की रक्षा। जैसे, हम वही बोलें जिससे सुनने वाले का हित तथा प्रसन्नता हो और अगर हम वैसा

न बोल सकें तो बोलने के राग से रहित होकर मौन हो जायें।

प्रश्न- शान्तिपूर्वक सहन करने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- शान्तिपूर्वक सहन करने का अर्थ है, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानकर दुःख को सहन कर लेना।

प्रश्न- सुख का सदुपयोग कैसे करें ?

स्वामीजी- सुख आने पर अपने से दुखियों को बिना किसी अभिमान के वितरण कर देना चाहिये। चूँकि सुख वास्तव में दुखियों की ही धरोहर है, अतः उसे अपना नहीं मानना चाहिये। अन्तर केवल यह है। कि आस्तिक उस सुख को प्रभु के नाते दुखियों को भेंट करता है, तत्त्वज्ञ सर्वात्मभाव से और सेवक विश्व के नाते से।

प्रश्न- आनन्द किसको मिलता है?

स्वामीजी- जिसकी प्रवृत्ति दूसरों के हित के लिये हो और जिसकी निवृत्ति वासना-रहित हो।

प्रश्न- दुःख किसके पास आता है?

स्वामीजी- जिसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये हो अथवा जिसकी निवृत्ति वासना-युक्त हो।

प्रश्न- गुरु का काम क्या है?

स्वामीजी- गुरु का काम है- साधक की योग्यतानुसार साधन का निर्माण तथा उसके दोषों का ज्ञान कराना।

प्रश्न- भूल किसे कहते हैं?

स्वामीजी- भूल उसे कहते हैं जिसे जानते तो हैं, किन्तु जानते हुए भी न जानने जैसी स्थिति हो गई हो। जानते हुए, न जानने जैसी स्थिति हो जाने का नाम ही वास्तव में भूल है।

प्रश्न- भूल कब तक जीवित रहती है?

स्वामीजी- जब तक हम अपने विवेक का उपयोग अपने पर नहीं करते। जब हम विवेक का उपयोग अपने पर करने लगते हैं और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश में ही करने लगते हैं, तब भूल अपने-आप मिट जाती है।

प्रश्न- विवेक का आदर करने में कठिनाई क्या है?

स्वामीजी- कठिनाई यह है कि हम मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार को ही जीवन मान लेते हैं। यदि हम विवेक-पूर्वक मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार से अपने को असंग कर लें अथवा उसमें जीवन-बुद्धि न रखें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक विवेक का आदर कर सकते हैं।

प्रश्न- सरल विश्वास किसे कहते हैं?

स्वामीजी- सरल विश्वास उसे कहते हैं जिसमें कोई विकल्प न हो, जो सहज भाव से प्राप्त हो; जिसे यह विश्वास हो कि प्रभु मेरे हैं। और मैं प्रभु का हूँ। 'वह' कहाँ है? कैसा है? यह न जानते हुए भी जिसे अपने और प्रभु के नित्य-सम्बन्ध पर विश्वास हो, उसी का नाम सरल विश्वास है।

प्रश्न- सार्थक सम्बन्ध किसके साथ हो सकता है?

स्वामीजी- सबसे अथवा अपने से अथवा प्रभ से।

प्रश्न- साधनरूप विश्वास क्या है?

स्वामीजी- भगवत्-विश्वास अथवा कर्त्तव्य-विश्वास ही साधन रूप विश्वास है।

प्रश्न- सार्थक चिन्तन क्या है?

स्वामीजी- तत्त्व-चिन्तन अथवा प्रिय-चिन्तन ही सार्थकचिन्तन है।

प्रश्न- प्रवृत्ति कैसी हो?

स्वामीजी- प्रवृत्ति वही सार्थक है जिसमें दूसरे का हित निहित हो।

प्रश्न- हमारा वर्तमान जीवन क्या है?

स्वामीजी- कुछ करना, कुछ मानना और कुछ जानना। जो कुछ हम करें वह विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होकर करें। जो कुछ मानें वह विवेक के प्रकाश में ही मानें और जो कुछ जानें वह स्वयं से जानें।

प्रश्न- समता कैसे प्राप्त हो?

स्वामीजी- वस्तुओं के सतत् परिवर्तन को जानकर हम राग से रहित हो जाते हैं और राग से रहित हो जाने पर बुद्धि की आवश्यकता शेष नहीं रहती। जब बुद्धि का कार्य पूरा हो जाता है, तब वह स्वतः अपने अधिष्ठान में विश्राम पो जाती है। तब हमारा मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर अविषय हो जाती हैं। अर्थात् बुद्धि के सम होते ही निर्विकल्पता, जितेन्द्रियता और संमता आ जाती है।

प्रश्न- 'है' क्या है?

स्वामीजी- जो उत्पत्ति-विनाश से रहित है अथवा उत्पत्तिविनाश से पूर्व है। जिससे उत्पत्ति और विनाश प्रकाशित है, उसी को 'है' के अर्थ में लेना चाहिए। है' का वर्णन संकेत भाषा से ही सम्भव है। कारण कि जिन साधनों से हम हैं' का वर्णन कर सकते हैं वे सब है' से . ही प्रकाशित हैं और है' की सत्ता से ही सत्ता पाते हैं। जो साधन जिससे सत्ता पाते हैं वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं? केवल संकेत ही कर सकते हैं।

प्रश्न- इच्छाओं की निवृत्ति कैसे हो?

स्वामीजी- यदि हमें अपनी इच्छाओं का अन्त करना है तो

सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं का निरीक्षण करना चाहिये। उत्पन्न हुई इच्छाओं में जो ऐसी इच्छाएँ हों कि जिनका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिनको पूरा किये बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते, जिनकी पूर्ति के साधन प्राप्त हों। तथा जिनसे किसी का अहित न हो, उन इच्छाओं की पूर्ति कर लेनी . चाहिये। परन्तु पूरी करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी पूर्ति का जो सुख है वह हमें अभीष्ट नहीं है। कारण, यदि हम इच्छा-पूर्ति का सुख लेते रहेंगे, तो पुनः इच्छाएँ उत्पन्न होती रहेंगी और यह चक्र चलता ही रहेगा। जिन इच्छाओं में उपर्युक्त चार बातें न घटती हों, उन इच्छाओं का विचार पूर्वक त्याग करना होगा। यह नियम है कि, आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करने पर अनावश्यक इच्छाओं के त्याग का बल स्वतः आ जाता है।

प्रश्न- निरर्थक चिन्तन क्या है?

स्वामीजी- जिसके लिये कर्म अपेक्षित हो, जिससे देश-काल की दूरी हो, जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त हो, जिसमें जड़ता का दोष हो उसका चिन्तन निरर्थक-चिन्तन है।

प्रश्न- हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता किससे है तथा मानी हुई एकता किससे है?

स्वामीजी- जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है उससे जातीय एवं स्वरूप की एकता है। और, मानी हुई एकता उसी से हो सकती है जिसकी अस्वाभाविक इच्छाएँ हैं। अर्थात् अमरत्व से ही हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता हो सकती है, क्योंकि उसकी स्वाभाविक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त शरीरादि वस्तुओं से तो केवल मानी हुई एकता ही सिद्ध हो सकती है।

प्रश्न- जब जीवन में वस्त-चिन्तन का कोई स्थान ही नहीं है, तो हमें आवश्यक वस्तुएँ कैसे मिलेंगी?

स्वामीजी- आंप गम्भीरता से विचार करें कि वस्तुएँ चिन्तन करने मात्र से कभी प्राप्त नहीं होतीं। वस्तुओं की प्राप्ति का सम्बन्ध तो वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग अर्थात् कर्म से है, चिन्तन से नहीं। यह नियम है कि कर्म का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से होता है और चिन्तन का सम्बन्ध होता है अप्राप्त परिस्थिति से। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राप्त योग्यतानुसार आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करें, किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करें। इससे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान में जो बल

तथा विवेक आपको प्राप्त है उसके द्वारा यदि आप सही कर्म करें तो आवश्यक वस्तु अवश्य मिलेगी, चिन्तन से आपको वस्तु नहीं मिलेगी।

प्रश्न- चिन्तन से क्या मिलेगा?

स्वामीजी- चिन्तन से वह मिलेगा जो उत्पत्ति-विनाश से अतीत है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो पर-प्रकाश्य नहीं है; अर्थात् दिव्य तथा चिन्मय है। उसके मिल जाने पर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहेगा।

प्रश्न- हम अभाव का अनुभव कब करते हैं?

स्वामीजी- जब हम अपने को वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में आबद्ध कर लेते हैं।

प्रश्न- परिस्थिति का सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- प्राप्त वस्तुओं तथा योग्यता का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है। अब हम निज-विवेक से देखें कि हमारे मन में शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं अथवा अशुद्ध। यदि शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, तो मिले हुए मन का सदुपयोग हो गया। यदि अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, तो मिले हुए मन का दुरुपयोग हो गया।

प्रश्न- हम परिस्थिति का सदुपयोग क्यों नहीं कर पाते?

स्वामीजी- इसका एकमात्र कारण है-निजज्ञान अर्थात् अलौकिक विवेक का अनादर।।

प्रश्न- निज ज्ञान क्या है?

स्वामीजी- निज-ज्ञान वही है जिससे आप अपने को तथा 'पर' को जानते हैं अथवा यों कहो कि निज-ज्ञान वह है जिससे निज-ज्ञान को और पर-ज्ञान को जानते हैं।

प्रश्न- पर-ज्ञान का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- पर-ज्ञान का अर्थ है बुद्धि का ज्ञान और इन्द्रियों का ज्ञान। जिस प्रकार बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान को जानते हैं, उसी प्रकार निज-ज्ञान से बुद्धि के ज्ञान को जानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान को ज्ञान से ही जानते हैं।

प्रश्न- अज्ञान क्या है?

स्वामीजी- अल्प ज्ञान का दूसरा नाम ही अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। जब प्राणी अल्प ज्ञान को ही पूरा ज्ञान मान लेता है तब वह वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिये और वह मानने लगता है, जो नहीं मानना चाहिये।

प्रश्न- नित्य-योग किससे नहीं है?

स्वामीजी- माने हुए 'मैं' तथा माने हुए मेरे' से नित्य-योग नहीं है।

प्रश्न- प्राप्त वस्तु को अपना न मानने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- अपना न मानने का अर्थ है कि प्राप्त वस्तुओं में मोहपूर्वक आबद्ध नहीं होना चाहिये और उनके रहने पर अभिमान तथा न रहने पर दु:ख नहीं होना चाहिये; न उनका चिन्तन होना चाहिये।

प्रश्न- 'मैं' और 'ज्ञान' में भेद क्या है?

स्वामीजी- जिसे आप 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' नहीं कह सकते। और जिसे मैं कह सकते हैं, उसे ज्ञान नहीं कह सकते। क्योंकि 'मैं' सीमित है और ज्ञान अनन्त है, 'मैं' परिवर्तनशील है और ज्ञान नित्य है। 'मैं' करण का भले ही ज्ञाता हो पर 'मैं' ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो स्वयं अपना ज्ञाता है। अब 'मैं' और 'ज्ञान' का भेद स्पष्ट हो गया। ज्ञान की दृष्टि से 'मैं' भी 'यह' के अर्थ में आ जाता है, अर्थात् अहंता और ममता दोनों को ही 'यह' के अर्थ में समझना चाहिये।

प्रश्न- इन्द्रियजन्य ज्ञान, बुद्धिजन्य ज्ञान तथा शुद्ध ज्ञान में भेद क्या है?

स्वामीजी- उस अनन्त ज्ञान में तो 'मैं-'तू' लगता ही नहीं। वह तो अनन्त-नित्य-चिन्मय तत्त्व ही है। उस तत्त्व का प्रकाश बुद्धि में आ जाता है, तो वह बुद्धिजन्य ज्ञान बन जाता है। उसका प्रकाश बाद में इन्द्रियों में आ जाता है, तो इन्द्रियजन्य ज्ञान बन जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान में आपको सन्देह हो सकता है, बुद्धि के ज्ञान में आपको सन्देह हो सकता है। क्योंकि वह अल्प है, सीमित है और परिवर्तनशील है। लेकिन जिस ज्ञान से बुद्धि को ज्ञान और इन्द्रियों का ज्ञान प्रकाशित होता है, उस ज्ञान में सन्देह हो ही नहीं सकता।

प्रश्न- हम साधारण प्राणियों में तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति कैसे हो?

स्वामीजी- तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति सन्देह की वेदना से होती है और संन्देह की उत्पत्ति अधूरे ज्ञान से होती है। जो कुछ नहीं जानता उसे भी सन्देह नहीं होता और जो सब कुछ जानता है उसे भी सन्देह नहीं होता। प्रत्येक भाई-बहिन कुछ-न-कुछ जानते हैं, और जो कुछ-न-कुछ जानते हैं उन्हें सन्देह की वेदना होना स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है। कि मानव-जीवन तो तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति का प्रतीक ही है। किन्तु प्रमाद-वश प्राणी सुख-लोलुपता के कारण तत्त्व-जिज्ञासा को दबाता रहता है।

प्रश्न- मानी हुई स्वीकृति हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं?

स्वामीजी- मानी हुई स्वीकृति का जन्म अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। जब मानव अलौकिक विवेक का आदर करने लगता है तब अविवेक मिट जाता है। अविवेक के मिटते ही अविवेक का कार्य जो मानी हुई स्वीकृति थी, अस्वीकृति में बदल जाता है।

प्रश्न- चिन्मय जीवन से अभिन्न कैसे हो?

स्वामीजी- उसके लिए हमें सबसे प्रथम अलौकिक विवेक के प्रकाश में अपने को तीनों शरीरों से असङ्ग करना होगा। जिसके करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। स्थूल शरीर से असङ्ग होने पर अशुभ कर्म की उत्पत्ति नहीं होती और शुभ कर्म में आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर से असङ्ग होने पर निरर्थक-चिन्तन की उत्पत्ति नहीं होती और सार्थक-चिन्तन में आसक्ति नहीं रहती। कारण शरीर से असङ्ग होने पर निर्विकल्प स्थिति में आसक्ति नहीं रहती और देह का अभिमान नहीं रहता। निरभिमानता आते ही माना हुआ अहं-भाव मिट जाता है और उसके मिटते ही जड़ता से विमुखता हो जाती है अथवा यों कहो कि चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न- अलौकिक विवेक क्या है?

स्वामीजी- जिस ज्ञान से हम बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि समस्त जीवन के दोषों को जानते हैं, उस ज्ञान का नाम ही अलौकिक विवेक है।

प्रश्न- विषयों के रोग से मुक्त होकर भोग से योग की ओर अग्रसर कैसे हो?

स्वामीजी- उसके लिए सबसे प्रथम बुद्धिजन्य ज्ञान से इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर विजय प्राप्त करनी होगी। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता को दर्शन कराता है। उस पर विश्वास करने से प्राणी विषयों में आसक्त हो जाता है, जिससे बेचारा प्राणी पराधीन होकर दीन-हीन हो जाता है। पर, बुद्धिजन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में असुन्दरता, सतत् परिवर्तन तथा क्षणभंगुरता आदि दोषों का दर्शन कराता है, जिससे साधक सुगमतापूर्वक विषयों के राग से मुक्त होकर भोग से योग की ओर अग्रसर होता है।

प्रश्न- हम शरीर को सुन्दर-सुन्दर अलङ्कारों एवं वस्त्रों से सुशोभित क्यों रखते हैं?

स्वामीजी- बुद्धिजन्य ज्ञान के निरादर से।

प्रश्न- भोगे हुए सुखों की स्मृति ने हमें जो आगे-पीछे के चिन्तन में आबद्ध कर दिया है, उससे कैसे छुटकारा हो?

स्वामीजी- उसके लिए साधक को योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक वर्तमान कार्य को पवित्र भाव के द्वारा करना होगा और कार्य के अन्त में अपने में छिपी हुई जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा को जागृत करना होगा। कारण कि चिन्तन-शक्ति हमें तत्त्व-जिज्ञासा एवं प्रिय-लालसा की ओर अग्रसर होने के लिए मिली है। उसका उपयोग विषयों के चिन्तन में नहीं करना चाहिए।

प्रश्न- भोगे हुए सुख की स्मृति क्यों आती है?

स्वामीजी- उसके लिए कहना होगा कि हम अपने को भोगी मानकर भोग करते हैं, इस कारण किये हुए का संस्कार अङ्कित हो जाता है। यह नियम है कि कर्ता जैसा,अपने को मानता है, वैसा ही बन जाता है, और जो करता है उसका संस्कार अङ्कित हो जाता है। अङ्कित संस्कार भोगे हुए सुखों की स्मृति कराने में समर्थ होते हैं। अतः उनके मिटाने के लिये हमें अपने को भोगी मानकर भोग नहीं करना चाहिए।

प्रश्न- साधन-निर्माण करने में कठिनाई क्यों होती है?

स्वामीजी- इसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने निजविवेक से सारे संसार को तो जानना चाहते हैं, पर अपनी वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न नहीं करते। यह नियम है कि अपनी वस्तुस्थिति को जाने बिना कोई अपना साधन-निर्माण कर ही नहीं सकता।

प्रश्न- ऋणी न रहने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- ऋणी न रहने का अर्थ है कि हमारी प्रवृत्तियों से किसी के अधिकारों का अपहरण न हो।

प्रश्न- ईमानदार होने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- ईमानदार होने का अर्थ है कि शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानें। अपना न मानने से कोई क्षति नहीं होती। अथवा। यों मान लें कि सेवा करने के लिए तो सभी अपने हैं और अपने लिए तो केवल "वे" ही अपने हैं, जिनके लिए हम सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अलग होना चाहते हैं।

प्रश्न- क्या जाग्रतावस्था में भी सुषुप्ति होती है?

स्वामीजी- जाग्रत में भी स्वप्न और सुषुप्ति होती है। किसी कार्य के

करते हुए किसी ऐसी बात की स्मृति आना जिसका सम्बन्ध उस कार्य से नहीं है, यही जाग्रत का स्वप्न है। और, वर्तमान कार्य से सम्बन्ध न रहे तथा अन्य कार्य की भी स्मृति न आए, यह भीतर-बाहर का मौन ही जाग्रत की सुषुप्ति है। गहरी नींद में जड़ता का दोष रहता है, किन्तु जाग्रत की सुषुप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता।

प्रश्न- मानवता को विकसित करने के लिए हमें सबसे प्रथम क्या करना है?

स्वामीजी- मानवता का विकास जीवन में तभी हो सकेगा, जब हम अपने को निर्दोष तथा आत्मनिर्भर बना लें।

प्रश्न- निर्दोष होने का वास्तविक उपाय क्या है?

स्वामीजी- निर्दोष होने का वास्तविक उपाय है अपने विवेक से अपने पर न्याय करना। किसी को दण्ड देना, संघर्ष करना, किसी का विनाश करना, किसी से द्वेष या घृणा करना-यह सब न्याय को अर्थ नहीं है।

प्रश्न- न्याय का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- न्याय का अर्थ है जिसके प्रति न्याय किया जाय, उसे उसके दोष का यथार्थ दर्शन करा देना और किसी उपाय विशेष से उस दोष को निवृत्त करा देना अर्थात् उसे निर्दोष बना देना। जिसके प्रति न्याय किया गया यदि वह निर्दोष नहीं हुआ तो समझना चाहिये कि न्यायकर्ता में कोई दोष है, अर्थात् उसके प्रति सही न्याय नहीं किया गया।

प्रश्न- व्रत किसे कहते हैं?

स्वामीजी- अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा का नाम ही व्रत है।

प्रश्न- तप किसे कहते हैं?

स्वामीजी- उस व्रत को पूरा करने में जो कठिनाइयाँ आएँ, उन्हें सहर्ष सहन कर लेना ही तप है।

प्रश्न- प्रायश्चित किसे कहते हैं?

स्वामीजी की हुई भूल को न दोहराना ही प्रायश्चित है और यह तभी सम्भव होगा जब भूल से भोगा हुआ सुख हमारा दुःख बन जाय।।

प्रश्न- प्रार्थना किसे कहते हैं?

स्वामीजी- अपनी निर्बलताओं एवं अभावों को मिटाने के लिए परम व्याकुलता की जागृति ही वास्तविक प्रार्थना है।

प्रश्न- निजदोष-दर्शन से क्या लाभ होता है?

स्वामीजी- अपना दोष देखते ही हम अपने को दोष से अलग -- अनुभव करते हैं। कारण कि दोष से असंग होने पर ही दोष देखा जा सकता है। किसी दोष की स्वतन्त्र

सत्ता नहीं है, प्रत्येक दोष दोषी की सत्ता से ही सत्ता पाता है। जब दोषी निज-विवेक के प्रकाश में अपना दोष देख लेता है, तब बेचारा दोष सत्ता-हीन हो जाता है।

प्रश्न- हम दोषों को अपनाते क्यों हैं?

स्वामीजी- सुख-लोलुपता में आसक्त होकर। कारण कि सभी सुखों का जन्म किसी-न-किसी दोष से ही होता है अथवा यों कहो कि दुःख से होता है। जैसे, यदि लोभ का दोष न हो तो लाभ का सुख नहीं होता और न हानि का दुःख होता। यदि मोह का दोष न हो तो न संयोग का सुख होता है और न वियोग का दुःख होता है। और, यदि अभिमान का दोष न हो तो न सम्मान का सुख होता है और न अपमान का दुःख होता है, इत्यादि। अतः स्पष्ट हो जाता है कि सुख-दुःख किसी दोष का ही परिणाम है।

प्रश्न- आज हमारा सुख हमारे लिए बन्धन बन गया है और दुःख ने हमें भयभीत कर दिया है। इसका क्या कारण है?

स्वामीज़ी- कारण यह है कि हमने अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम-युक्त भावना से सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं किया। यदि हम सुख का सदुपयोग सेवा अर्थात् उदारता में और दुःख का सदुपयोग त्याग अर्थात् विरक्ति में करने लग जायँ, तो न तो सुख बन्धन का हेतु रहेगा और न दुःख भयं का।

प्रश्न- उच्चकोटि का भोग कब मिलता है?

स्वामीजी- जब हमारा जीवन श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, पुण्यकर्म तथा तप से युक्त हो जाय।

प्रश्न- स्वाधीनता का असली अर्थ क्या है?

स्वामीजी- स्वाधीनता का असली अर्थ है-वासनाओं से रहित होना और यदि कोई सङ्कल्प अनिच्छा से अथवा परेच्छा से पूरा भी हो, तो उस सङ्कल्प-पूर्ति के सुख से असंग बने रहना अर्थात् संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना। चाहे पराई इच्छा से हमारे मन की बात पूरी हो जाय, चाहे अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा से हमारे मन की बात पूरी हो जाय। जब तक हम अपनी इच्छा के पूरा होने का सुख लेते हैं तब तक हम स्वाधीन नहीं हैं। परन्तु साधारण लोग अपनी इच्छा-पूर्ति के सुख को ही स्वाधीनता मानते हैं जो वास्तव में पराधीनता है, क्योंकि इच्छा-पूर्ति का सुख पुनः इच्छाओं को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के अन्त में प्राणी उसी स्थिति में

आ जाता है जिस स्थिति में इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व था।

इस दृष्टि से इच्छाओं की पूर्ति का सुख तो केवल दाद की खुजली के समान है और कुछ नहीं। इच्छा-पूर्ति के सुख से दु:ख दब जाता है, मिटता नहीं। इसी कारण सच्ची स्वाधीनता के लिए सर्व इच्छाओं की निवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है।

प्रश्न- मुक्ति कब मिलती है?

स्वामीजी- मुक्ति मिलती है निर्दोषता के आ जाने पर।

प्रश्न- प्रमाद क्या है और कहाँ से आया?

स्वामीजी- प्रमाद अलौकिक विवेक के अनादर का दूसरा नाम है। वह कहाँ से आया? जहाँ से ज्ञान का अनादर किया। कब से आया? जब से ज्ञान का अनादर किया। कब मिटेगा? जब ज्ञान का आदर करोगे। यह सन्देहकर्ता का ही तो ज्ञान है कि 'यह''मैं' नहीं हो सकता। किसी और ने सिखाया थोड़े ही है। प्रश्नकर्ता स्वयं अपने ज्ञान का आदर करे और माने हुए का अनादर करे, अर्थात् अपने को जो देह मान लिया है। सो न मानें।

प्रश्न- दोष उत्पन्न होने का कारण क्या है? सभी दोष कैसे मिटेंगे?

स्वामीजी- सभी दोष देहाभिमान से उत्पन्न होते हैं, कारण कि देहाभिमान प्राणी में वासनाएँ उत्पन्न कर देता है। यह नियम है कि वासना-पूर्ति के सुख से राग स्वतः उत्पन्न होता है और उस सुख में जो बाधक होता है, उससे द्वेष हो जाता है। द्वेष प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होने देता, क्योंकि जीवन में निवैरता नहीं आती। यदि विवेक के प्रकाश से देहाभिमान मिट जाय तो सभी दोष मिट जाते हैं और निर्वासना अपने आप आ जाती है, फिर किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहता। राग के बिना द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष मिटाने के लिए राग का मिटाना अनिवार्य है। इस दृष्टि से जहाँ निर्दोषता है, वहाँ निर्वैरता है।

प्रश्न- मुक्ति तथा भक्ति से हमें विमुख किसने किया है?

स्वामीजी- जब हम उन्हें अपना मान लेते हैं जो हमें अपना नहीं मानते, तभी हम मुक्ति तथा भक्ति से विमुख हो जाते हैं।

प्रश्न- सेवा-भाव का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- सेवा-भाव का अर्थ है-सुख-भोग की आसक्ति का त्याग एवं प्राप्त योग्यता तथा वस्तुओं आदि का दुखियों को वितरण कर देना अथवा यों कहो कि संसार से मिली

हुई वस्तुओं को संसार को वापिस कर देना।

प्रश्न- हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता किससे है?

स्वामीजी- इस प्रश्न को हल करने के लिये हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश में जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे अपने को विमुख करना होगा। स्थूल शरीर से विमुख होते ही अशुभ कर्म की निवृत्ति हो जायगी और शुभ कर्म से उत्पन्न होने वाले सुख की आसक्ति न रहेगी। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से विमुख होते ही निरर्थक चिन्तन मिट जायगा और सार्थक-चिन्तन अचिन्तता में विलीन हो जायेगा। अचिन्तता आते ही कारण शरीर से विमुख होने की शक्ति स्वतः आ जायगी और देहाभिमान अपने आप गल जायगा। फिर जिससे स्वरूप की एकता है उससे अभिन्नता हो जायेगी और जिससे जातीय एकता है उसकी प्रीति उदय हो जायगी। स्वरूप की एकता से मुक्ति और प्रीति के उदय से भक्ति स्वतः हो जाती है।

प्रश्न- क्या भक्ति और मुक्ति अलग-अलग हैं?

स्वामीजी- तत्त्व रूप से तो दोनों एक हैं, पर दोनों के रस में भेद है। मुक्ति में अखण्ड-एक रस और भक्ति में अखण्ड-अनन्त रस है। क्योंकि मुक्ति तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति से और भक्ति प्रीति के उदय से होती है। यह नियम है कि प्रीति का उदय होता है, किन्तु पूर्ति नहीं होती। इस कारण प्रीति का रस अनन्त है, नित-नव है। और, तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति होती है, इस कारण मुक्ति का रस अखण्ड-एक रस है। पर यह नियम है कि तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति के बिना प्रीति का उदय ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भोग-इच्छा की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति प्रेम-प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

प्रश्न- रस सुख-भोग में भी होता है क्या?

स्वामीजी- सुख-भोग का रस नीरसता, जड़ता तथा शक्तिहीनता आदि दोषों में बदल जाता है और उसका आरम्भ भी किसी नीरसता तथा अभाव से ही होता है। जिसका प्रारम्भ अभाव, जड़ता तथा पराधीनता से होता है और जिसके अन्त में भी अभाव, जड़ता तथा पराधीनता है केवल मध्य में ही रस की प्रतीति है वह वास्तव में रस नहीं है, रस का भास है। सुख-भोग में रस का भास होता है, यदि वास्तव में रस होता तो सुख-भोग का अन्त नीरसता में न होता।

प्रश्न- हम लोग मुक्त क्यों नहीं हो पाते?

स्वामीजी- मुक्त वही नहीं हो पाते, जो मुक्त होना नहीं चाहते।

प्रश्न- सुख-भोग की लालसा मिटाने का सुगम उपाय क्या है?

स्वामीजी- सुख-भोग की उत्पत्ति कब होती है? यह मानना होगा कि कामना के पूर्तिकाल में ही सुख की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त सुख की और कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। कामना-पूर्ति को प्रश्न ही तब उत्पन्न होता है जब कामना की उत्पत्ति हो। सभी कामनाओं का जन्म तब होता है, जब हम उससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है अर्थात् भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने से भिन्न है, उससे अभिन्नता स्वीकार कर लेने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। यदि उससे भिन्नता स्वीकार कर ली जाय, तो सभी कामनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं और फिर कामनापूर्ति अर्थात् सुख-भोग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिकोण से सुख-भोग की लालसा मिटाने का एकमात्र उपाय कामनाओं की निवृत्ति है।

प्रश्न- कामनाओं की निवृत्ति का उपाय क्या है?

स्वामीजी- सभी कामनाओं की उत्पत्ति का कारण अविवेक है। अविवेक की निवृत्ति एक-मात्र विवेक के आदर से हो सकती है।

प्रश्न- सुख के बन्धन से मुक्त कैसे हों?

स्वामीजी- यदि प्राप्त सुख के द्वारा उदारतापूर्वक बिना प्रत्युपकार की आशा के दुखियों की सेवा कर दी जाय, तो हम बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की आसक्ति तथा सुख के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, एवं जिनको अपना मान लिया था उनके बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न- विवेक का आदर करने की सामर्थ्य कैसे प्राप्त हो?

स्वामीजी- विवेक का आदर करने की सामर्थ्य उन्हीं प्राणियों में आती है, जो अपना प्राप्त सुख दुखियों की सेवा में लगा देते हैं और अपने सुख को दुखियों की ही देन मानते हैं। कारण कि अपने से दुःखी को देखकर सभी को सुख प्रतीत होने लगता है। जिसके दर्शनमात्र से हम अपने को सुखी मानने लगते हैं, क्या उसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य नहीं है? अर्थात् अवश्य है।

प्रश्न- मुक्ति क्या है और कैसे प्राप्त हो?

स्वामीजी- सुख-भोग की लालसा मिटते ही मुक्ति की

अभिलाषा पूर्णरूप से स्वतः जागृत हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है अर्थात् एक साथ हो जाती है, उसी प्रकार मुक्ति की अभिलाषा की पूर्ण जागृति तथा बन्धन की निवृत्ति युगपद् होती है अर्थात् एक साथ हो जाती है। विजातीय से मुक्त होना ही वास्तव में मुक्ति है, क्योंकि भिन्नता उसी से हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपने में-से विजातीयता का निकल जाना ही मुक्त हो जाना है।

प्रश्न- हममें बुराई का भाव क्यों उत्पन्न होता है?

स्वामीजी- अविवेक के कारण जब हम अपने को देह मान लेते हैं, तब काम की उत्पत्ति होती है। काम की पूर्ति होने से लोभ और मोह तथा काम की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से क्रोध और द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों से दूषित होकर हम अपने को दोषी मान बैठते हैं और इस मान्यता से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति के द्वारा समाज का अहित करते हैं। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से सर्वांश में कोई कभी दोषी नहीं होता, क्योंकि दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, स्वभावसिद्ध नहीं है। की हुई दोषयुक्त प्रवृत्ति की स्मृति को प्राणी अपने 'अहम्' में स्थापित कर लेता है, जिससे दूषित प्रवृत्ति बार-बार होने लगती है।

प्रश्न- अभिमान की उत्पत्ति कब और क्यों होती है?

स्वामीजी- अभिमान तब होता है जब अपने को किसी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध कर लेते हैं। यह नियम है कि वस्तु आदि में आबद्ध होते ही स्वार्थभाव उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होते ही। अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और फिर हम अपने से भिन्न की आवश्यकता अनुभव करने लगते हैं अर्थात् पराधीन हो जाते हैं। फिर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करने लगते हैं, जो हमें कर्ता बना देती हैं। कर्ता बनते ही की हुई प्रवृत्तियों के संस्कार दृढ़ होने लगते हैं। उन। संस्कारों के समूह से ही अभिमानी हो जाते हैं।

प्रश्न- वास्तविक जीवन क्या है?

स्वामीजी- कर्त्तव्य के समूह का नाम ही कर्ता है। कर्तव्य उसे कहते हैं कि जिसके पालन करने से साधक निर्दोष हो जाय। निर्दोष होते ही गुणों का अभिमान गल जाता है और फिर कर्ता, कर्म तथा उसका फल-ये तीनों अपने लक्ष्य में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है और तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती

है, जो वास्तविक जीवन है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्यनिष्ठ होने पर कर्ता का वास्तविक जीवन से भिन्न कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता।

प्रश्न- अभिमान का अन्त एवं अपने वास्तविक स्वरूप से एकता कैसे हो?

स्वामीजी- अभिमान का अन्त करने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि करना' 'होने में विलीन हो जाय। यह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने अहम्-भाव को उस अनन्त के समर्पण कर अचिन्त तथा अचाह हो जाए। अचाह होते ही करना होने में विलीन हो जाता है।

और फिर किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। अभिमान का अन्त होते ही पराधीनता सदा के लिये मिट जाती है और फिर साधक की अपने वास्तविक स्वरूप से एकता हो जाती है।

प्रश्न- दोषों की उत्पत्ति क्यों होती है?

स्वामीजी- जब हम प्रमादवश उन्हें अपना मान लेते हैं जो हमारे नहीं हैं अथवा जब हम उन्हें अपना नहीं मानते जो हमारे हैं, तभी सभी दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न- कौन हमारा है, और कौन हमारा नहीं है?

स्वामीजी- जो हमारे बिना रह सकता है और जिसके बिना हम रह सकते हैं, वह हमारा नहीं है। और जिसके बिना हम नहीं रह सकते और जो हमारे बिना नहीं रह सकता, वही हमारा है।।

प्रश्न- अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में हमारी सबसे बड़ी असावधानी क्या है?

स्वामीजी- हमारी सबसे बड़ी असावधानी यही होती है। कि अवस्था को अपना स्वरूप और प्रतीति को यथार्थ मान लेते हैं, जिससे 'अहम्' और 'मम्' की उत्पत्ति हो जाती है जो अनेक विकारों का मूल है। अवस्था स्वरूप नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक अवस्था पर-प्रकाश्य है और स्वरूप स्वयं प्रकाश है, तथा प्रतीति यथार्थ नहीं हो सकती क्योंकि वह सतत् परिवर्तनशील है। किन्तु 'अहम्' और 'मम्' के कारण प्रतीति में सत्यता और अवस्था में स्वरूप का अभिमान हो जाता है। यह सब असावधानी का कार्य है, और कुछ नहीं। असावधानी मिटते ही असावधानी का कार्य स्वत प्रश्नात मिट जाता है और फिर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो। जाती है।

प्रश्न- हम उसे कैसे जानें, जिसकी यह अवस्थामात्र है?

स्वामीजी- जब हम अपने को सभी अवस्थाओं से विमुख कर। लेंगे, बस उसी काल में उससे अभिन्न हो जायेंगे जिसकी यह अवस्था है। 'यह' से विमुख होते ही 'मैं''वह' से, जो दृश्य से अतीत है, अभिन्न हो जाता है। यह नियम है कि असत् से असङ्ग होने पर असत् की प्रतीति होती है और सत् से अभिन्न होने पर सत् की प्राप्ति होती है। अतः जड़वर्ग से, जो पर-प्रकाश्य है, विमुख होकर ही हम अनन्त-नित्य- चिन्मय तत्त्व से अभिन्न हो सकते हैं।

प्रश्न- राग-द्वेष की उत्पत्ति क्यों होती है?

स्वामीजी- जिससे मानी हुई एकता और जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो, उसी से राग होता है और किसी एक से राग होने पर ही किसी दूसरे से द्वेष होने लगता है। अथवा यों कहो कि जातीय भिन्नता होने पर भी हम देह को अपना मान लेते हैं तथा 'अपने' को देह मान लेते हैं। इस दृढ़ता से ही राग की उत्पत्ति होती है। इसका जन्म निज-ज्ञान के अनादर से होता है। अर्थात् देह 'मैं' हूँ अथवा देह 'मेरी' है, ऐसी मान्यता ही राग उत्पन्न कर देती है।

प्रश्न- राग के बिना हम अपने प्रियजनों की सेवा कैसे करेंगे?

स्वामीजी- सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं हैं, अपितु उदारता की अपेक्षा है। कारण कि उदारता आ जाने पर पराया दुःख अपना दुःख बन जाता है और फिर अपना सुख वितरण करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं रहता। इतना ही नहीं, सुख-भोग की आसक्ति का अन्त हो जाता है। यही सेवा की वास्तविक सार्थकता है। सेवा का अन्त किसी वस्तु, पद आदि की प्राप्ति में नहीं है। सेवा का अन्त तो त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में होता है।

प्रश्न- जब मानवता एक है, तो फिर मानव-समाज में अनेक मत, दल, सम्प्रदाय आदि की क्या आवश्यकता है?

स्वामीजी- दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता या रुचि के नहीं होते और न सभी की परिस्थिति में समानता होती है। किन्तु : उद्देश्य तथा आवश्यकता सभी की एक होती है। इस कारण साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता होना अनिवार्य है। परन्तु साधन कों ही साध्य मान लेना प्रमाद, अर्थात् अमानवता है। यह नियम है कि अपनी योग्यतानुसार साधन करने पर साधक में स्वतः निर्मलता आ जानी चाहिए, जो उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से सभी अपनी-अपनी

योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति के अनुरूप अपनाई हुई पद्धति के द्वारा अपने कर्तव्य का पालन कर अपने को निर्मल बनायें, जिससे सभी के उद्देश्य की, जो सबका एक है, पूर्ति सुगमतापूर्वक हो जाय। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न मत, दल तथा सम्प्रदाय होने से कोई क्षति तो तब होती है, जब हम इन्हें अपने को निर्मल बनाने का साधन न मानकर इनकी ऊपरी मान्यताओं में ही सद्भाव करके भेद उत्पन्न कर लेते हैं, जो संघर्ष का मूल है। जैसे, कुछ लोग अर्थ की एकता होने पर भी भाषा का भेद सहन नहीं कर सकते और परस्पर संघर्ष कर अपनी मानवता खो बैठते हैं।

प्रश्न- सुख का अस्तित्व नहीं है, तो हमें शरीरादि वस्तुओं की प्राप्ति से सुख क्यों होता है?

स्वामीजी- शरीर आदि वस्तुएँ संसार रूपी सागर की लहरें मात्र हैं। जब हम समस्त संसार को अपना न मानकर केवल उसके कुछ अंश-मात्र को अपना मान लेते हैं, तब उस अंश-मात्र के अभिमान को स्वीकार कर सुख का भोग करते हैं। समस्त संसार की कुछ वासनाओं को अपना मान लेना क्या बेईमानी नहीं है? इससे तो यह सिद्ध हुआ कि हम बेईमान होकर सुख भोगते हैं।

प्रश्न- हम समस्त संसार को अपना मान लें, तो क्या सुख न होगा?

स्वामीजी- कदापि नहीं। कारण कि समस्त संसार तो अनेक प्रकार के अभावों, क्लेशों तथा विपत्तियों से निरन्तर पीड़ित है। तो फिर उसको अपना मानकर कौन सुखी हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं। संसार को अपना मानकर तो संसार से मिली हुई वस्तुओं को अपने-से दुखियों को भेट कर सकता है सुख नहीं भोग सकता, जो वास्तव में ईमानदारी है।

प्रश्न- सुख तथा दुःख के आक्रमणों से क्षुब्ध क्यों होते हैं?

स्वामीजी- अनुकूलता का लालच और प्रतिकूलता का भय ही हमें क्षुब्ध कर देता है।

प्रश्न- जब लालच और भय का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है, तो ये क्यों उत्पन्न होते हैं?

स्वामीजी- अनुकूलता और प्रतिकूलता का सदुपयोग न करने से लालच तथा भय की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न- दुःख से प्राणी का क्या हित होता है?

स्वामीजी- दुःख ही सुख की वासना से मुक्त कर अनन्तचिन्मय आनन्द से अभिन्न करने में समर्थ है। जिस प्रकार धन की आवश्यकता के

अतिरिक्त निर्धनता और कुछ नहीं है, उसी प्रकार आनन्द की आवश्यकता के अतिरिक्त दुःख कुछ नहीं है। आवश्यकता उसे ही कहते हैं जिसकी निवृत्ति न हो अर्थात् जो मिटाई न जा सके, अपितु उसकी पूर्ति अनिवार्य हो।

प्रश्न- अचाह हम क्यों नहीं हो पाते?

स्वामीजी- आज हमें यह विश्वास नहीं रहा कि वस्तु, अवस्था। तथा परिस्थितियों से अतीत भी कोई जीवन है। इस प्रमाद का एकमात्र कारण निज-ज्ञान का अनादर है। क्योंकि सतत परिवर्तनशील, पर-प्रकाश्य वस्तु आदि का ज्ञान सबको है।

प्रश्न- जिसमें सचमुच दोष है, उसके दोष को क्यों न देखें?

स्वामीजी- जिनके आप दोष देखते हैं क्या उनके किये हुए दोष का फल स्वयं भोगने को राजी हैं? क्या कोई पर-दोष-दर्शी दूसरों के किये हुए दोष को अपने द्वारा मिटा सकता है? यदि ये दोनों बातें वह नहीं कर सकता, तो उसे किसी के दोष देखने का क्या अधिकार है? अर्थात् कुछ नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि जिसमें किसी को दोष का दर्शन हो, वह उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है। सम्बन्ध-विच्छेद का अर्थ द्वेष नहीं है, घृणा नहीं है प्रत्युत सम्बन्ध विच्छेद का अर्थ है उससे विमुख होकर उसे सदा के लिये भूल जाना।

प्रश्न- लक्ष्य क्या है? उसके लिए क्या करें?

स्वामीजी- सतत् परिवर्तन से अनन्त नित्य की ओर और उत्पत्ति-विनाश से अमरत्व की ओर तथा दुःख से आनन्द की ओर गतिशील होना ही हमारा लक्ष्य है। अतः उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, करना है।

प्रश्न- 'करने से रहित हो जाने पर हमें क्या मिलता है?

स्वामीजी- 'करने' का जन्म किसी-न-किसी चाह से ही होता है। 'न करना उन्हीं को प्राप्त होगा जो चाह से रहित हैं और चाह से रहित वे ही हो सकते हैं जिन्होंने अपने को सब प्रकार से उस अनन्त के समर्पण कर दिया है।

प्रश्न- शिक्षित होने की कसौटी क्या है?

स्वामीजी- ज्ञान-विज्ञान, कला आदि के द्वारा हम अपने को इतना सुन्दर बना लें कि समाज को हमारी आवश्यकता अनुभव होने लगे। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो समझना चाहिए कि हम अभी शिक्षित नहीं हैं। यह नियम है कि समाज उसी की

आवश्यकता अनुभव करता है जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ हो। जिसे अपनी पूर्ति के लिये ही समाज के पीछे दौड़ना पड़ रहा है उसे समझना चाहिए कि अभी उसके। जीवन में गुणों का विकास नहीं हुआ।

प्रश्न- प्रेमी तथा तत्त्वज्ञ होने पर मन कहाँ चला जाता है?

स्वामीजी- जब संसार नहीं था, तब जो था अथवा जब संसार नहीं रहेगा, तब भी जो रहेगा और जिसमें संसार है उसी में प्रेमी का मन प्रीति बनकर निवास करता है और तत्त्वज्ञ का मन अभिन्न होकर रहता है। यही मन का अपने पास न रहना व नाश होना है।

प्रश्न- मृत्यु का भय कैसे मिटे?

स्वामीजी- यदि प्राणों के रहते हुए ही भोग-इच्छाओं का अन्त हो जाय और तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा की पूर्ति हो जाय, तो देह की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती। अतः मृत्यु का भय स्वतः मिट जाता है।

प्रश्न- जो नित्य-प्राप्त है उससे दूरी क्यों प्रतीत होती है?

स्वामीजी- 'पर' की ओर गतिशील होने से जो नित्य-प्राप्त है। उससे दूरी प्रतीत होने लगती है। यद्यपि नित्य-प्राप्त से देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है, तथापि प्रमादवश हम उसे अपने से दूर मान लेते हैं। और प्रतीति की ओर गतिशील हो जाते हैं। प्रतीति की ओर प्रवृत्ति तो होती है पर उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतीति की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

प्रश्न- योग का वास्तविक अर्थ क्या है?

स्वामीजी- योग का वास्तविक अर्थ है 'पर' से विमुख होकर 'स्व' में स्थित होना, अथवा यों कहो कि विषयों से विमुख होकर जो अपने अत्यन्त निकट है उससे तद्रूप होना। यह नियम है कि अत्यन्त निकट से मिलने के लिए कोई 'करण' अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई 'करण' अपेक्षित नहीं होता, उसके लिए कोई प्रयत्न भी अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, उसकी नित्य-प्राप्ति सिद्ध होती है।

प्रश्न- प्रेम का वास्तविक स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- प्रेम में किसी प्रकार की चाह तथा भोग की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि चाह तथा भोग से अहंभाव की पुष्टि होती है। अहंभाव की पुष्टि से भेद उत्पन्न होता है और भेद से ही अनेक प्रकार के राग-द्वेष

तथा वासनायें उत्पन्न होती हैं। किन्तु जब विचार की अग्नि अहंभाव को भस्म कर देती है, तब स्वतः प्रेम की गङ्गा लहराने लगती है।

प्रश्न- जगत् का हम पर क्या अधिकार है?

स्वामीजी- जो किसी एक का अधिकार होता है, वही किसी दूसरे का कर्तव्य होता है। अतः जगत् और जगत्पति का अधिकार ही अपना कर्तव्य है। जगत् से प्राप्त संग्रह का सद्व्यय ही जगत् का अधिकार है। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं द्वारा हमें जगत् की सेवा करनी है। ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं के रूप में जो भी सौन्दर्य प्राप्त है, उसके द्वारा भी जगत् के अधिकार की रक्षा करनी है; पर उसके बदले में जगत् से कुछ लेना नहीं है। इतना ही नहीं, यदि बिना ही माँगे जगत् से कुछ मिले तो उसे भी जगत् ही को वापस कर देना है, नहीं तो नवीन राग उत्पन्न हो जाएगा, जो अवनति का मूल है।

प्रश्न- जगत्पति हमसे क्या आशा करते हैं, उनका हम पर क्या अधिकार है?

स्वामीजी- जिनके अंशमात्र में समस्त जगत् विद्यमान है, उन्हें किसी वस्तु आदि की तो अपेक्षा हो ही नहीं सकती। जिनके अनन्त सौन्दर्य से सभी को सौन्दर्य मिला हो, उन्हें किसी परिवर्तनशील सौन्दर्य की आवश्यकता हो ही नहीं सकती। जिनकी सत्ता से ही सभी को सत्ता मिली हो, उन्हें किसी अस्तित्व की तो अपेक्षा है ही नहीं। फिर हम उन्हें क्या दे सकते हैं? केवल यही दे सकते हैं कि, 'हम सदैव तेरे हैं और तुम सदैव मेरे हो।' अर्थात् उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना ही उनके अधिकार की रक्षा है।

प्रश्न- सार्थक प्रयास क्या है?

स्वामीजी- अनित्य जीवन से निराश होकर अनन्त-नित्य जीवन को वर्तमान में प्राप्त करने का प्रयत्न ही सार्थक प्रयास है।

प्रश्न- अनित्य से निराश क्यों नहीं हो पाते और नित्य को प्राप्त क्यों नहीं कर पाते?

स्वामीजी- इसका एकमात्र कारण है प्राप्त विवेक का अनादर; क्योंकि अनित्य की आशा और अनन्त-नित्य से निराशा अविवेक सिद्ध है। यद्यपि अनित्य सर्वदा उस अनन्त-नित्य में ही निवास करता है, फिर भी उसकी आशा साधक को नित्य से विमुख रखती है। अथवा यों कहो कि अनित्य जीवन नित्य जीवन की ही लालसा है, और कुछ नहीं।

प्रश्न- कामनापूर्ति का जीवन में क्या स्थान है?

स्वामीजी- जिस राग को साधक विचार से न मिटा सके, उसकी वास्तविकता को जानने के लिए उसे विधान के अनुरूप कामनापूर्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कामनापूर्ति का जीवन में और कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न- कार्य के चिन्तन का हेतु क्या है?

स्वामीजी- परिस्थिति के अनुसार किए हुए कार्य का राग ही। कार्य के चिन्तन का हेतु है। किये हुए कार्य का राग तभी अङ्कित होता है, जब कर्ता कार्य में ही जीवन बुद्धि कर लेता है, अथवा किये हुए कार्य का फल भोगना चाहता है। अर्थात् सुख-भोग की आसक्ति ही कर्ता को परिस्थितियों में आबद्ध करती है।

प्रश्न- आसक्तियों का अन्त कैसे हो?

स्वामीजी- वह तभी होगा जब हम उन सबकी सेवा करें जिनका वियोग हो रहा है। वियोग उन्हीं का हो रहा है जिनसे संयोग है। संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव करने से भी आसक्तियों का अन्त हो सकता है।

प्रश्न- जिसको 'है' कहते हैं, उसको ही 'मैं' क्यों न कहा जाए?

स्वामीजी- 'मैं' अनेक मान्यताओं के रूप में स्वीकार कियां गया है और मैं' का अर्थ सीमित रूप में अनेक बार किया गया है, इस कारण 'है' को 'मैं' कहने में प्रमाद हो सकता है। हाँ, यह और बात है कि यदि किसी को 'मैं' के प्रति इतनी ममता हो जाए कि उसको किसी-न-किसी रूप से जीवित ही रखना है, तो भले ही 'है' को 'मैं' के नाम से कह दिया जाए। वास्तव में तो 'मैं' 'है' की प्रीति है, और कुछ नहीं। यद्यपि प्रीति में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह है। इस दृष्टि से 'मैं' 'है' की ही अभिव्यक्ति है।

प्रश्न- लक्ष्य का निर्णय कैसे हो?

स्वामीजी- भोग का आरम्भकाल भले ही सुखद प्रतीत हो, पर अन्त में तो भयंकर दुःख ही प्राप्त होता है। इस अनुभूति का आदर ज्यों-ज्यों स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों लक्ष्य के निर्णय की सामर्थ्य साधक में स्वतः आने लगती है।

प्रश्न- साधन निर्माण कैसे हो?

स्वामीजी- लक्ष्य का निर्णय होते ही साधन का निर्माण होने लगता है, अथवा यों कहो कि साधक का समस्त जीवन अपने आप साधन बन जाता है। भोग के आरम्भ-काल के सुख का भास और परिणाम का भयंकर दुःख भोग की वास्तविकता का ज्ञान, भोग से निराश करने में हेतु

है, भोग को जीवन बनाने में नहीं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिए ही साधन-निर्माण की अपेक्षा है। विभिन्न साधकों के साध्य में एकता हो सकती है साधन में नहीं; कारण कि साधन का जन्म साधकों में-से होता है। साध्य में-से नहीं। यह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में दो साधक भी समान योग्यता के नहीं होते। इस कारण साधन का भेद स्वाभाविक है, पर साध्य का नहीं। साधन निर्माण करने के लिए हमें यह भली-भाँति जानना होगा कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह नियम है। कि जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है।

प्रश्न- इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि के ज्ञान का अनादर कराने में कैसे समर्थ होता है?

स्वामीजी- देह की प्रियता ने ही देह में नित्यता का भास करा दिया है। यद्यपि देह स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, परन्तु देह की तद्रूपता उस देह के परिवर्तन का प्रभाव व्यक्ति पर नहीं होने देती। बस, यही बुद्धि के ज्ञान के अनादर का हेतु है।

प्रश्न- असावधानी क्या परिस्थिति जन्य है?

स्वामीजी- असावधानी परिस्थिति-जन्य नहीं है, अपितु जो कर सकते हैं उसके न करने से अथवा प्राप्त योग्यता के दुरुपयोग से ही असावधानी उत्पन्न होती है। जो साधक को अपना बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि जब साधक अपने बनाए हुए दोष को सहन नहीं कर सकता, तब निर्दोष होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। अर्थात् असावधानी अपने आप मिट जाती है। यह नियम है कि वही दोष सुरक्षित रहता है जिसे हम सहन करते रहते हैं। अतः असावधानी तभी तक रहती है जब तक हम उसे रखना चाहते हैं। असह्य होते ही असावधानी स्वतः मिट जाती है।

प्रश्न- सुख-लोलुपता का हेतु क्या है?

स्वामीजी स्वार्थ-भाव ने ही सुख-लोलुपता को जन्म दिया है। स्वार्थ-भाव गलाने के लिए सेवा-भाव को अपना लेना आवश्यक है। सेवा उन्हीं की करनी है, जिनसे छुटकारा पाना है। जिनसे छुटकारा पाना है उनसे ममता नहीं करनी है। कारण कि ममता आसक्ति उत्पन्न करती है, जो बन्धन का हेतु है। अतः जिनसे

विमुख होना है उनसे ममता करना भूल है। इस दृष्टि से हमें शरीर आदि सभी वस्तुओं से ममता का त्याग करना होगा। यह नियम है कि जिन वस्तुओं में आसक्ति नहीं रहती उनके सदुपयोग की सामर्थ्य आ जाती है। अतः देह आदि का सदुपयोग करने के लिए भी हमें उनसे ममता का त्याग करना होगा।

प्रश्न- ममता के त्याग का साधक के जीवन में क्या स्थान है?

स्वामीजी- ममता करने मात्र से शरीर का कोई हित नहीं होता और ममता के त्याग से कोई अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, ममता किसी वस्तु को सुरक्षित भी नहीं रख सकती। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, जो स्वरूप है वह वैसा ही रहेगा। ममता से केवल वस्तु आदि में आसक्ति उत्पन्न होती है और कुछ नहीं। आसंक्ति का साधन-युक्तं जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु आसक्तिरहित होने से ही साधन में प्रगति सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु आदि में ममता करना भूल है। इस भूल के मिटते ही समस्त जीवन साधन बन जाएगा। समस्त जीवन साधन बन जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासनारहित सहज निवृत्ति स्वतः आ जाएगी। जिसके आते ही स्वाभाविक लालसा की पूर्ति हो जाएगी, जो साधक का उद्देश्य है।

प्रश्न- अविवेक क्या है?

स्वामीजी- निज़ज्ञान का अनादर करना ही अविवेक है।

प्रश्न- अविश्वास क्या है?

स्वामीजी- अनेक विश्वासों का होना ही अविश्वास है।

प्रश्न- अकर्तव्य क्या है?

स्वामीजी- जिसके करने पर कर्ता में करने का राग शेष रहे। वही अकर्तव्य है।

प्रश्न- विश्वास करने योग्य क्या है?

स्वामीजी- वस्तु आदि के न रहने पर जो रहता है, अथवा जब वस्तुएँ नहीं थीं तब जो था, अथवा वस्तुएँ जिसका आश्रय पाकर प्रकाशित होती हैं-वही विश्वास करने योग्य है। जो विश्वास करने योग्य है उस पर विश्वास करते ही अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं।

प्रश्न- शरीर की सेवा का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता और समता के द्वारा ही। शरीर की पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियता के द्वारा शरीर में शुद्धि आती है, मन की निर्विकल्पता के द्वारा सामर्थ्य आती है और बुद्धि की

समता के द्वारा शान्ति आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं, जो विश्व की सेवा है। शरीर और वस्तु आदि की ममता तो केवल आसक्ति ही उत्पन्न करती है, उससे न तो शरीर का हित होता है और न समाज का ही। इस दृष्टि से वस्तु .. आदि के प्रति ममता करने का कोई स्थान ही नहीं है।

प्रश्न- प्रमाद की निवृत्ति कैसे हो?

स्वामीजी- प्रमाद को 'प्रमाद' जान लेने पर उसकी निवृत्ति स्वत: हो जाती है। जिसे 'यह' कहते हैं उसको 'मैं' मान लेना वास्तव में प्रमाद है। 'यह' 'मैं' नहीं है, ऐसा जानते ही प्रमाद मिट जाता है। यह का अर्थ है जो अपने को अपने-आप प्रकाशित न कर सके। इस दृष्टि से समस्त दृश्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि 'यह' के अर्थ में आ जाते हैं। अतः जो अपने को बुद्धि आदि से विमुख कर लेता है, उसका प्रमाद स्वतः मिट जाता है। प्रमाद के मिटते ही अहंभाव अनन्त-नित्य-चिन्मय की प्रीति हो जाता है। उसके बाद प्रीति तथा प्रीतम से भिन्न कछ शेष नहीं रहता।।

प्रश्न- प्रेम-प्राप्ति में सुख की आशा बाधक क्यों है?

स्वामीजी- सुख की आशा अहंभाव को पुष्ट और देहाभिमान को उत्पन्न करती है। प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए सब प्रकार के अभिमान का अन्त करके अपने आपको मिटाना पड़ता है, क्योंकि प्रेम भेद तथा दूरी सहन नहीं कर सकता। अभिमान रहते हुए भेद मिट नहीं सकता और अहं के रहते हुए दूरी नहीं मिट सकती। दूरी मिटाने के लिए अहं का अन्त करना होगा और भेद मिटाने के लिए अभिमान रहित होना होगी। यह तभी सम्भव होगा, जब सुख की आशा सदा के लिए मिटा दी जाए। इस दृष्टि से सुख की आशा प्रेम-प्राप्ति में बाधक है।

प्रश्न- 'पर' और 'प्रिय' में क्या भेद है?

स्वामीजी- 'पर' उसे कहते हैं जिसका त्याग स्वाभाविक है, और 'प्रिय' उसे कहते हैं जिससे नित्य-योग स्वाभाविक है। अथवा यों कहो कि 'पर' उसे कहते हैं जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो,और 'प्रिय' उसे कहते हैं जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। जिससे एकता है उसकी चर्चा रसरूप होती है, अथवा यों कहो कि रस का . उत्पादन करती है।

प्रश्न- परचर्चा भयंकर दोष कैसे है?

स्वामीजी- जिससे जातीय भिन्नता है उसकी चर्चा तो केवल राग-द्वेष में ही आबद्ध करती है। 'राग' पराधीनता को तथा' द्वेष' क्रोध, ईष्र्या और हिंसा आदि अनेक दोषों को उत्पन्न करता है। अर्थात् राग-द्वेष के रहेते हुए दिव्य-जीवन प्राप्त नहीं हो सकता, जिसके बिना जीवन की सार्थकता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस दृष्टि से पर-चर्चा बड़ा ही भयंकर दोष है। पर-चर्चा से तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न- पर-सेवा का महत्व क्या है?

स्वामीजी- प्राकृतिक नियमानुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों की सेवा में अपना हित है। सेवा स्वार्थभाव को मिटा देती है, जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है। उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ा ही सुगमतापूर्वक अपने ही में अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है। इतना ही नहीं सेवा द्वारा भौतिक विकास भी स्वतः होता है। कारण कि सेवा सेवक को विभु बना देती है अर्थात् सेवक समाज के हृदय में निवास करता है; क्योंकि सेवक में निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं।

प्रश्न- सेवा का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- सेवा दो प्रकार की होती है-एक बाह्य और एक आन्तरिक। सेवा का अर्थ है-प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी न मानें, अपितु उसी की मानें जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है। क्योंकि सृष्टि एक है उसमें भेद करना प्रमाद है।

प्रश्न- कृपया आन्तरिक और बाह्य सेवा का भेद स्पष्ट करें?

स्वामीजी- बाह्य सेवा जिन साधनों से की जाती रही है यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं, तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर में एक दूसरे की सेवा करते हैं उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनों के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवा द्वारा भेद गल जाता है तब 'करना' स्वतः 'होने में बदल जाता है और आन्तरिक

सेवा स्वतः होने लगती है। आन्तरिक सेवा के लिए किसी बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। उसमें तो सर्वहितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता है, उसके भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होने लगती है। सर्वहितकारी भाव सर्वात्मभाव प्रदान करता है; अर्थात् सभी में सेवक अपने ही को अनुभव करता है। फिर सेवक, सेवा और सेव्य में अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा की पराकाष्ठा है।

प्रश्न- साधन निर्माण में बाधा क्या है?

स्वामीजी- हम अपने जीवन का अध्ययन बिना किए और वर्तमान दशा को बिना जाने साधन करने का प्रयास करते हैं, जो अस्वाभाविक है। इसी कारण न तो साधक को साधन रुचिकर होता है और न साधन के प्रति निस्संदेहता होती है। अरुचि और संदेहयुक्त साधन से सिद्धि सम्भव ही नहीं है। हमें साध्य से निराश नहीं होना है, अपितु साधन का निर्माण करना है। यह तभी सम्भव होगा जब हम 'क्या करें?'- इसको भूल जाएं और जो कर सकते हैं उसे करने लग जाएँ। जो कर सकते हैं उसके करने से राग निवृत्त हो जाता है तथा जो करना चाहिए उसकी योग्यता और सामर्थ्य आ जाती है। जब तक साधक की साध्य से अभिन्नता नहीं होती तब तक सतत रूप से यह क्रम चलता ही रहता है; अर्थात् साधक साधन होकर साध्य की ओर गतिशील होता रहता है।

प्रश्न- निर्बल प्राणी साधन कैसे करें ?

स्वामीजी- जो कुछ भी नहीं कर सकता है उससे वह भी तो नहीं हो सकता जो नहीं करना चाहिए! जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से भी निर्बल-से-निर्बल प्राणी भी साधन कर सकता है। अतः हमसे. साधन नहीं हो सकता-यह कहना उसी समय तक सम्भव है जब तक हम साधन नहीं करना चाहते। साधन की रुचि में साधन करने की सामर्थ्य निहित है। अतः साधन न कर सकने की बात कहना अपने-आपको धोखा देना है।

प्रश्न- सुख की दासता तथा दुःख का भय कब तक जीवित रहता है?

स्वामीजी- जब तक हम अपने संकल्पों की पूर्ति चाहते हैं। संकल्पों की पूर्ति कब तक चाहते हैं? जब तक अपने को देह में आबद्ध रखते हैं। देह में आबद्ध कब तक रखते हैं? जब तक सभी मान्यताओं से अतीत के जीवन का अनुभव नहीं कर

लेते। कोई भी प्राणी अपने को केवल 'देह' मानकर कभी भी भोग की वासनाओं से रहित नहीं हो सकता, और उसके बिना नि:संकल्पता आ नहीं सकती। निःसंकल्पता के बिना सुख की दासता और दुःख का भय मिट नहीं सकता।

प्रश्न- विश्राम-प्राप्ति में क्या-क्या विघ्न हैं?

स्वामीजी- जो वर्तमान का कार्य है उसे भविष्य पर छोड़ना और जो वर्तमान का कार्य नहीं है उसका चिन्तन करना अथवा यों कहो कि जो कर सकते हैं उसको न करना और जो करने योग्य नहीं है उसको करना अथवा जिसका होना सम्भव नहीं है उसके करने की सोचना आदि विश्राम में विघ्न हैं।

प्रश्न- वर्तमान में करने योग्य क्या है?

स्वामीजी- शरीर और विश्व की एकता, प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग एवं उनको सदुपयोग वर्तमान जीवन की वस्तु है। ममता-रहित होते ही सभी बन्धन स्वतः टूट जाते हैं। प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग करते ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। तथा, शरीर और विश्व की एकता सिद्ध होते ही निरभिमानता आ जाती है, जो सब प्रकार के संघर्ष मिटाने में समर्थ है। अतः जो वर्तमान का कार्य है वही करने योग्य है; क्योंकि वर्तमान के सुधार में ही सफलता निहित है।

प्रश्न- न करने योग्य क्या है?

स्वामीजी- जो करने योग्य है उसके विपरीत जो कुछ है वह न करने योग्य है। किसका होना सम्भव नहीं है? जो समय निकल गया उसका हाथ आना सम्भव नहीं है; शरीर आदि वस्तुएँ वर्तमान में जैसी हैं। उनका वैसा ही रहना सम्भव नहीं है; व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है और अनन्त से विमुख रहकर शान्ति पाना सम्भव नहीं है। अत: जिसका होना सम्भव ही नहीं है उसके लिए सोचना या चिन्ता करना जीवन का अनादर तथा सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है और कुछ नहीं। जो करने योग्य नहीं है उसके न करने से, जो करने योग्य है उसकी, योग्यता तथा सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। जो नहीं करना चाहिए उसका त्याग जो करना चाहिए उसकी भूमि है। इस दृष्टि से जो करने योग्य है। उसके करने में कोई असमर्थ तथा अयोग्य नहीं है।

प्रश्न- जो करने योग्य है उसके करने में जब हम असमर्थ और अयोग्य नहीं हैं, तब हम उसे क्यों नहीं कर पाते?

स्वामीजी- करने की सामर्थ्य तथा योग्यता को उसमें लगा देते हैं जो करने योग्य नहीं है। जैसे, सामर्थ्य तथा योग्यता का बहुत बड़ा भाग हम संसार से सुख लेने की आशा में लगा देते हैं। यद्यपि हमें तो संसारसेवा करनी है उससे लेना कुछ नहीं; क्योंकि बेचारा संसार स्वयं ही किसी की खोज में है। वह हमें दे ही क्या सकता है? तो भी हम उसके पीछे पड़े हैं, यही प्रमाद है। अतः हमें संसार की धरोहर जो शरीर आदि वस्तुओं के रूप में प्राप्त है, उसे संसार की ही सेवा में लगा देना है और आगे उससे क्षमा माँग लेना है। जब हम संसार की समस्त वस्तुएँ उसी की सेवा में लगा देते हैं, तब हम स्वभाव से ही उसके बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और समस्त संसार हम से प्रसन्न हो जाता है; क्योंकि जो उस पर अधिकार नहीं जमाता संसार उससे सदैव प्रसन्न रहता है। संसार उसी को भय देता है जो उसकी वस्तुओं को अपनी मान लेता है। अतः हमें संसार से कुछ लेना नहीं है अपितु उससे मिली वस्तुओं को उसी को दे देना है। और स्वयं विश्राम पा लेना है, जो हमारी साधन है।

प्रश्न- निस्संदेहता प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

स्वामीजी- निस्संदेहता दो प्रकार से प्राप्त होती है-एक तो जिज्ञासा की पूर्ति से और दूसरी विकल्परहित विश्वास द्वारा। जब तक जिज्ञासा की पूर्ति नहीं होती तब तक भी निस्संदेहता नहीं आती और जब तक दो विश्वास रहते हैं तब तक भी निस्संदेहता नहीं आती। संदेह की वेदना जिज्ञासा की जागति में हेतु है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओं की निवृत्ति में हेतु है। कामनाओं की निवृत्ति से जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है; फिर निस्संदेहता स्वतः प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न- सभी समस्याओं का हल कैसे हो?

स्वामीजी- 'यह''मैं' नहीं है-इसे स्वीकार करते ही 'यह' से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है अर्थात् 'यह' की ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो जाता है। फिर मैं सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अपने वास्तविक जीवन को पा लेता है। इस दृष्टि से 'यह' को जानते ही 'मैं' को और 'मैं' को जानते ही वास्तविकता को जानकर साधक निस्संदेह हो जाता है। निस्संदेहता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

प्रश्न- 'है' को हम कैसे मान लें, जब कि जानते नहीं हैं?

स्वामीजी- जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं उसी को तो मानना है। जानने के पश्चात् तो मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अथवा जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते हैं उस पर तो सन्देह हो सकता है विश्वास नहीं। विश्वास उसी पर किया जाता है जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। वह एक' ही विश्वास करने योग्य है। शरीर, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी जो 'यह' के अर्थ में आते हैं विश्वास करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन सबसे हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न- निष्कामता प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

स्वामीजी- हमें प्राप्त परिस्थिति का आदर करना चाहिए, पर उससे ममता और उसमें जीवन-बुद्धि नहीं करनी चाहिए अपितु साधन-बुद्धि रखनी चाहिए। ऐसा करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों से अतीत के उस जीवन पर विश्वास हो जाएगा, जो निष्कामता प्रदान करने में समर्थ है।

प्रश्न- उस प्राकृतिक विधान का आदर कैसे करें जो कामना-अपूर्ति के दुःख में हेतु है?

स्वामीजी- कामना-अपूर्ति का दुःख कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आया था, जिसे पाकर हम भयभीत हो गए। यह भूल गए कि कामना-पूर्ति के सुख से अतीत भी एक जीवन है, जो कामना-पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय में हमारा हित ही निहित है। अतः उसका आदर करना अनिवार्य है।

प्रश्न- जब साधन-तत्त्व साधक में विद्यमान है, तब साधक में असाधन उत्पन्न क्यों होता है?

स्वामीजी- निज-ज्ञान के अनादर से। निज-ज्ञान का अनादर होता है बाह्य ज्ञान की आशा तथा विश्वास से। इन्द्रियंजन्य ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान की अपेक्षा बाह्य है और बुद्धिजन्य ज्ञान निज-ज्ञान की अपेक्षा बाह्य है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान का आदर तथा उस पर विश्वास ने किया होता तो किसी प्रकार के राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई होती। यदि राग की उत्पत्ति न होती तो किसी दोष का जन्म ही नहीं होता।

प्रश्न- वर्तमान जीवन का सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- अपने-आप आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग ही वर्तमान जीवन का सदुपयोग है। सुख का सदुपयोग उदारता में और दुःख का विरक्त होने में निहित है। उदारता

सुख-भोग की आसक्ति को और विरक्ति सुख-भोग की कामना को खा लेती है।

प्रश्न- उदारता का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- उदारता का अर्थ दूसरों के दुःख से दुःखी होकर प्राप्त सुख का सद्व्यय करना है।

प्रश्न- विरक्ति का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- विरक्ति का अर्थ इन्द्रियों के विषयों से अरुचि का जागृत् होना है।

प्रश्न- शरीर आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर क्या वर्तमान कार्य हो सकेगा?

स्वामीजी- सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही कार्य सुन्दरतापूर्वक हो सकता है, क्योंकि सम्बन्ध-विच्छेद होने से अनासक्ति आ जाती है जो सभी दोषों को खा लेती है; अथवा यों कहो कि इससे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। इनके शुद्ध होने से समस्त व्यवहार पवित्र तथा सुन्दर होने लगते हैं, क्योंकि अशुद्धि ही कर्तव्य में दोष उत्पन्न करती है। शुद्धि तो कर्तव्यनिष्ठ बनाती है। इसे दृष्टि से अमरत्व की प्राप्ति तथा वर्तमान जीवन को सदुपयोग, ये दोनों जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने में निहित हैं।।

प्रश्न- जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कैसे किया जाए?

स्वामीजी- साधक को सर्वप्रथम जीवन और मृत्यु के स्वरूप को जानना होगा। वर्तमान जीवन क्या है? जीवन-शक्ति, प्राण और इच्छाओं का समूह। मृत्यु क्या है? प्राण-शक्ति का व्यय हो जाना और इच्छाओं का शेष रह जाना। जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने के लिए साधक को प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना होगा। इच्छाओं का अन्त होते ही देहाभिमान गल जाता है। फिर सभी अवस्थाओं से अतीत जो सभी अवस्थाओं का प्रकाशक है, उस स्वयं प्रकाश नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न- समाज-सेवा के लिए तो जीवन में मृत्यु का अनुभव आवश्यक नहीं है?

स्वामीजी- वास्तविक सेवा के लिए भी जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना होगा, क्योंकि सेवा त्याग की भूमि तथा प्रेम की जननी है। सेवा वही कर सकेगा जो अपने सेव्य के मन की बात पूरी कर सके और उसके बदले में किसी प्रकार की आशा न करे। दूसरे के मन की बात पूरी करने में अपने को मन को दे देना होगा। अतः जीते-जी बिना मरे सेवा की भी सिद्धि नहीं हो सकती,

क्योंकि अपने पास अपने मन को न रहना ही जीते-जी मरना है। जब तक अपने पास अपना मन रहता है तब तक मृत्यु में जीवन प्रतीत होता है और जब अपने पास अपना मन नहीं रहता तब जीवन में ही मृत्यु का अनुभव होता है।

प्रश्न- अपने पास अपना मन न रहे, इसके लिए साधक को क्या करना होगा?

स्वामीजी- साधक का जिनसे सम्बन्ध है उनके मन में अपना मन मिला देना चाहिए। पर उसी अंश में जिस अंश में उनका हित हो। यदि असमर्थता के कारण साधक दूसरों के मन की बात पूरी न कर सके तो उसे नम्रतापूर्वक दु:खी हृदय से क्षमा माँग लेनी चाहिए। ऐसा करने से भी साधक का मन साधक के समीप न रहेगा, क्योंकि किसी के मन की बात पूरी करना अथवा मन की बात पूरी न करने के दु:ख से दु:खी होना समान अर्थ रखता है। अत: योगी, विवेकी, प्रेमी और सेवक होने के लिए जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना है। योग से सामर्थ्य, विवेक से अमरत्व और प्रेम से अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि सुगमतापूर्वक हो। सकती है, जो वास्तविक जीवन है।

प्रश्न- आस्था क्या है?

स्वामीजी- विश्व का कोई प्रकाशक है, ऐसा मान लेना आस्था है।

प्रश्न- विश्वास क्या है?

स्वामीजी- 'उसका अस्तित्व है', यह मान लेना विश्वास है।

प्रश्न- सम्बन्ध क्या है?

स्वामीजी- 'उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है' अर्थात् 'वह मेरा है। और मैं उसका हूँ'-ऐसा सर्वदा मानना सम्बन्ध है।

प्रश्न- स्मृति क्या है?

स्वामीजी- उसके बिना मैं नहीं रह सकता'-यह स्मृति है।

प्रश्न- प्रीति क्या है?

स्वामीजी- 'उससे मेरी अत्यन्त आत्मीयता है'-ऐसा अनुभव करना प्रीति है। साधन का आरम्भ स्वीकृति (आस्था) से होता है और उसकी परावधि प्रीति में होती है। ऐसा होने पर साधक स्वतः अपने प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, क्योंकि प्रीति किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देती। इतना ही नहीं प्रीति प्रेमास्पद को प्रेमी बनाने में भी समर्थ है।

प्रश्न- ममता का उद्गम स्थान क्या है?

स्वामीजी- सीमित अहंभाव जो अविवेक सिद्ध है।

प्रश्न- ममता से लाभ क्या है?

स्वामीजी- ममता प्रियता का भास कराती है।

प्रश्न- ममता से हानि क्या है?

स्वामीजी- ममता सीमित प्यार में आबद्ध करती है जो संघर्ष का मूल है।

प्रश्न- सभी को अपना मान लेने से ममता कैसे मिट जाएगी?

स्वामीजी- जो सभी को अपना मान लेगा वह किसी का बुरा नहीं चाहेगा। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता वह अपने से सुखियों को देखकर प्रसन्न होता है और अपने से दुखियों को देखकर करुणाई होने लगता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति को और प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है। सुख-भोग की आसक्ति तथा खिन्नता के मिटते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है। भोग-वासनाओं के अन्त में ही नित्य-योग निहित है और नित्य-योग में ही वह चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य विद्यमान है जिससे ममता और अहंता स्वतः मिट जाती है।

प्रश्न- सभी को अपना मानने में सुगमता है अथवा किसी को अपना न मानने में?

स्वामीजी सेवा तथा प्यार करने के लिए सभी को अपना मान लो और अपनी पूर्ति के लिए किसी को भी अपना मत मानो। सेवा क्रियात्मक रूप से सीमित और भावरूप से असीम होती है। सेवा का भाव ही वास्तव में प्यार है, अर्थात् क्रिया सीमित होने पर भी प्रीति विभु होनी चाहिए। सभी को अपना मान लेने पर संग्रह की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता आ जाती है। निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग होने लगता है और अप्राप्त वस्तुओं की चाह मिटती जाती है। वस्तुओं की चाह मिटते ही जड़ता शेष नहीं रहती और वस्तुओं से अतीत दिव्य-चिन्मय जीवन की लालसा जागृत् होती है, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ है। अपनी पूर्ति के लिए किसी को अपना न मानने से समस्त दृश्य से विमुखता आ जाएगी, जिसके आते ही अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाएगी। अतः सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए केवल वही अपने हैं। जो सभी से अतीत और सभी के प्रकाशक भी हैं, अथवा यों कहो कि जिनसे सभी को सत्ता मिलती है।

प्रश्न- दूसरों का अधिकार क्या है?

स्वामीजी- जो बात हम अपने प्रति दूसरों से नहीं कराना चाहते वह दूसरों के प्रति नहीं करना है, अपितु जो हम दूसरों से आशा करते हैं। वही हमें दूसरों के प्रति करना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने से जो सबल है। उससे रक्षा और प्यार की आशा करता है।

प्रश्न- अध्यात्म विज्ञान का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ है 'स्व' का विज्ञान, जो 'पर' से विमुख होने की प्रेरणा देता है।

प्रश्न- 'स्व' का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- 'स्व' का अर्थ है जिससे नित्य-योग हो।

प्रश्न- पर का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- 'पर' का अर्थ है, जिससे वियोग अनिवार्य हो।

प्रश्न- देखने के अभिमानी में देखने की कामना कब से उत्पन्न हुई और क्यों उत्पन्न हुई ?

स्वामीजी- प्रवृत्ति स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन होती है। देखने की प्रवृत्ति से कोई ऐसा परिणाम प्राप्त नहीं होता जिसका कोई अस्तित्व हो और प्रवृत्ति के अन्त में अभाव ही शेष रहता है। जिस प्रवृत्ति के परिणाम में अभाव हो एवं प्रवृत्ति-काल में परतन्त्रता हो उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः देखने के अभिमानी में देखने की कामना कब से उत्पन्न हुई, इसके लिए किसी काल की कल्पना नहीं की जा सकती। केवल यह कहा जा सकता है कि देखने की प्रवृत्ति का अन्त होता है। इस कारण देखने की प्रवृत्ति की उत्पत्ति सिद्ध होती है, अर्थात्। विनाश के आधार पर ही उत्पत्ति की बात कही जाती है।

प्रश्न- देखने आदि की प्रवृत्ति क्यों होती है?

स्वामीजी- देखने की वास्तविकता जानने के लिए अर्थात् प्रवृत्ति की वास्तविकता जानने के लिए ही प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति की वास्तविकता का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही भोक्तो जिज्ञासु हो जाता है। जिस काल में जिज्ञासा जिज्ञासु को खाकर पूर्ण जागृत् होती है उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। जिसके होते ही भोक्ता, भोगने के साधन और भोग्य वस्तुएँ तीनों ही उसी में विलीन हो जाते हैं जो सभी कल्पनाओं से अतीत है।

प्रश्न- सुख-दुःख क्या है?

स्वामीजी- संकल्प-पूर्ति को ही दूसरा नाम सुख है और संकल्प-उत्पत्ति का ही दूसरा नाम दुःख है।

प्रश्न- क्या कामना-पूर्ति के लालच का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है?

स्वामीजी- कामना-पूर्ति का स्थान भले ही हो पर उसके लालच का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि जिन कामनाओं का पूरा होना अनिवार्य है वे तो स्वभाव से ही पूरी हो जाएगी, पर उनकी पूर्ति का लालच तो नवीन कामनाओं को भी जन्म देगा। अतः वह न तो योग होने देगा, न विचार का उदय होने देगा और न प्रेम का उदय ही होने देगा। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के लालच का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न- क्या कामना-निवृत्ति में जीवन है?

स्वामीजी- कामना-उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के अन्त में जो जीवन है, वही कामना-निवृत्ति में है। कामना की उत्पत्ति में तो अभाव है। और पूर्ति में जड़ता है। वास्तविक जीवन तो कामना-निवृत्ति में ही है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं जो कामना की उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव कर लेते हैं। बड़ी-से-बड़ी कामना की पूर्ति के पश्चात् साधक उसी स्थिति में आता है जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व थी। इससे यह सिद्ध हुआ कि कामना की उत्पत्ति से पूर्व का जीवन स्वाभाविक जीवन है। और कामना की उत्पत्ति तथा पूर्ति का जीवन अस्वाभाविक है, अथवा यों कहो कि वह जीवन नहीं मृत्यु है।

कामना-उत्पत्ति और पूर्ति ही उसे अनन्त में जगत् का दर्शन कराती है और कामना-निवृत्ति ही उस अनन्त से अभिन्न करती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति से आसक्ति तथा कामना की निवृत्ति से अनुरक्ति प्राप्त होती है। अथवा यों कहो कि कामना की उत्पत्ति और पूर्ति जगत् की आसक्ति उत्पन्न करती है तथा कामना की निवृत्ति अनन्त की प्रीति जागृत् करती है। आसक्ति का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रीति की जागृति स्वतः सिद्ध है। प्रीति की जागृति समस्त विश्व में अपने प्रीतम का ही दर्शन कराती है; क्योंकि आसक्ति प्रीतम में जगत् का और प्रीति जगत् में प्रीतम का दर्शन कराती है।

प्रश्न- आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का अन्तर क्या है?

स्वामीजी- नास्तिक जिस जगत् को अपनी भोग-सामग्री मानता है आस्तिक उस जगत् को प्रीतम मानकर उसकी पूजा करता है। इस दृष्टि से कामना-उत्पत्ति और पूर्ति का जीवन 'नास्तिक-जीवन' है और कामना-निवृत्ति में 'आस्तिक-जीवन' है। हाँ, आस्तिक-जीवन नास्तिक जीवन का प्रकाशक है, नाशक नहीं। परन्तु आस्तिकता की लालसा नास्तिकता को खाकर आस्तिक

बनाने में समर्थ है। वह आस्तिकता की लालसा कामना-निवृत्ति से ही पुष्ट होती है।

प्रश्न- सीमित अहंभाव का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- जिनसे हमारी ममता है उनके अधिकारों का समूह और अपने अधिकार की लालसा ही सीमित अहंभाव है। किसी-न-किसी दृष्टि से सभी के प्रति हमारी ममता है, क्योंकि देह की ममता में ही सभी की ममताएँ निहित हैं और देह, का विश्व से विभाजन हो नहीं सकता। अतः सभी के प्रति ममता स्वतः सिद्ध है।

प्रश्न- हम उस अनन्त की तो प्रीति होना चाहते हैं पर इस भौतिक जगत् की, जिसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं, प्रीति कैसे हो सकते हैं?

स्वामीजी- जब प्रीति से अभिन्नता हो जाती है तब समस्त भौतिक जगत् उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है, उसके बाद यह प्रश्न शेष नहीं रहता कि हम किसकी प्रीति हैं। प्रीति तो सभी की प्रीति है। पर यह अवश्य है कि वह किसी परिस्थिति आदि में आबद्ध नहीं है, सीमित नहीं है, विनाशी नहीं है; नित-नव है, दिव्य है, चिन्मय है और उसकी दृष्टि में प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं है। क्योंकि प्रेम के साम्राज्य में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ हुआ ही नहीं।

प्रश्न- हम बुराई को बुराई जानते हुए भी उसका त्याग क्यों नहीं कर पाते?

स्वामीजी- इन्द्रिय-ज्ञान में और बुद्धि के ज्ञान में जो द्वन्द्व है, उसी के कारण हम बुराई को बुराई जानकर भी उसका त्याग नहीं कर पाते। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान पर विजयी हो जाता है, उसी काल में द्वन्द्व मिट जाता है। उसके मिटते ही बुराई का त्याग स्वतः हो जाता है और भलाई अपने आप होने लगती है, क्योंकि बुराई को तो किया जाता है और भलाई स्वतः होती है।

प्रश्न- साधना का क्रम क्या होना चाहिए?

स्वामीजी- सेवा करते हुए त्याग का सम्पादन करना चाहिए और त्याग को प्रेम में बदलने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहि। यह तभी सम्भव होगा जब सेवा करने पर न तो सेवा का अभिमान हो और न सेवक कहलाने की रुचि ही। निरभिमानतापूर्वक की हुई सेवा स्वतः त्याग में बदल जाती है। त्याग का फल चिर-शान्ति और अमरत्व की प्राप्ति है। जब साधक शान्ति के रस

में आबद्ध नहीं होता, तब 'त्याग प्रेम में बदल जाता है। सेवा, त्याग और प्रेम के साथ अहंभाव नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने पर सेवा त्याग में और त्याग प्रेम में स्वत: विलीन हो जाता है अर्थात् सेवा, त्याग और प्रेम तो हो पर सेवक, त्यागी और प्रेमी न हो। अथवा यों कहो कि सेवक 'सेवा' होकर त्यागी 'त्याग' होकर और प्रेमी प्रेम' होकर प्रेमास्पदों से अभिन्न हो जाए। यही वास्तविक जीवन है।

प्रश्न- गुण और दोष के द्वन्द्व का अन्त कैसे हो?

स्वामीजी- गुण और दोष के स्वरूप को जान लेने पर ही द्वन्द्व का अन्त हो सकता है। सभी को सुख देने के प्रयास को गुण कहते हैं किन्तु केवल एक ही शरीर को सुखी रखने का प्रयास किया जाए तो वह दोष हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण को सीमित कर देना दोष हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनता ही अन्धकार है। अन्धकार का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार गुण की न्यूनता ही दोष है दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यदि दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह मिट ही नहीं सकता था। मिटाना उसी को है जो मिट सकता है; और मिट वही सकता है जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न हो अपितु जो किसी कारण से प्रतीत होता हो। ज्ञान की न्यूनता 'अज्ञान', प्रेम की न्यूनता द्वेष', त्याग की न्यूनता 'राग' और उदारता की न्यूनता 'लोभ' है। यद्यपि गुण और दोष अनेक नहीं हैं, परन्तु एक ही गुण स्थान-भेद से अनेक गुणों के रूप में और एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक दोषों के रूप में प्रतीत होता है।

प्रश्न- मौलिक गुण और दोष क्या हैं?

स्वामीजी- सभी दोष अविवेक में और सभी गुण विवेक में विद्यमान हैं। अतः गुण और दोष का द्वन्द्व मिटाने के लिए विवेक रूपी प्रकाश के द्वारा अविवेकरूपी अन्धकार का अन्त करना अनिवार्य है।

प्रश्न- अविवेक क्या है?

स्वामीजी- अविवेक केवल विवेक का अनादर है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेक के आदर में ही अविवेक का विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेक का आदर करने पर सीमित अहंभाव रूपी अन्धकार, जो अविवेक है, स्वत: मिट जाता है। उसके मिटते ही समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि जिस भूमि में दोष निवास करते थे वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

प्रश्न- विवेक का आदर क्या है?

स्वामीजी- 'यह' को 'मैं' न मानना ही विवेक का आदर है, जिसके करते ही सीमित अहंभाव मिट जाता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपत् है, उसी प्रकार विवेक का आदर और अविवेक की निवृत्ति युगपत् है। 'यह' को 'मैं' न मानने पर सभी दोष मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही स्वतः दिव्य गुण प्रकाशित होते हैं। क्योंकि 'यह' को 'मैं' न मानने से कामनाओं का अन्त हो जाता है और कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होते ही सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती; क्योंकि सभी कामनाओं का उद्गम स्थान जो 'यह' को 'मैं' मानना था वह शेष नहीं रहा।

प्रश्न- कामना-रहित होने पर क्या जिज्ञासा के आधार पर सीमित अहं नहीं रह सकता?

स्वामीजी- कदापि नहीं! क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो अविनाशी है उसकी जिज्ञासा उसी में विलीन हो जाती है, यह प्राकृतिक विधान है। अत: कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर सीमित अहं का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह नियम है कि सीमित अहं के मिटते ही 'मम' मिट जाता है तथा 'अहं' और 'मम' के नाश होते ही सीमित प्रीति अर्थात् सब प्रकार की आसक्तियाँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही सभी दोष मिट जाते हैं। फिर गुण और दोष का द्वन्द्व नहीं रहता। कामनाओं की निवृत्ति में चिर-शान्ति और सामर्थ्य, जिज्ञासा की पूर्ति में अमरत्व और समस्त आसक्तियों की निवृत्ति में दिव्य-चिन्मय प्रीति निहित है।

प्रश्न- प्रीति.किसका फल है?

स्वामीजी- प्रीति किसी का फल नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव है। क्योंकि कर्म का फल नित्य नहीं हो सकता और प्रीति नित्य-तत्त्व है। अभ्यास अनन्त नहीं हो सकता, श्रमरहित नहीं हो सकता, अहंरहित नहीं हो सकता। परन्तु प्रीति श्रमरहित है, अहंरहित है, अनन्त है, और दिव्य चिन्मय है। इस दृष्टि से प्रीति की सिद्धि न किसी कर्म का फल है और न अभ्यास का।।

प्रश्न- हम सभी को अपना क्यों नहीं मानते हैं?

स्वामीजी- सुख-भोग की आसक्ति के कारण हम सभी को अपना नहीं मान पाते, क्योंकि काम ही भेद को उत्पन्न करता है जो अविवेकसिद्ध है।

प्रश्न- किसी एक को ही अपना मानने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है?

स्वामीजी- समस्त विश्व की पर-प्रकाश्यता एवं इसके सतत परिवर्तन का ज्ञान किसी स्वयं प्रकाश एवं अपरिवर्तनशील की लालसा जागृत करता है। उसी लालसा के आधार पर किसी 'एक' को अपनी मानने की प्रेरणा मिलती है। अथवा यों कहो कि प्रेम का आदान-प्रदान करने के लिए किसी एक नित्य साथी की आवश्यकता स्वाभाविक है, उसके आधार पर भी किसी एक का होकर रहने की प्रेरणा मिलती है।

प्रश्न- स्वत: क्या होना चाहिए?

स्वामीजी- योग, ज्ञान और प्रेम-ये तीनों स्वतः होने चाहिए; क्योंकि इनके लिए किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। वस्तु की चाह लोभ उत्पन्न करती है, अवस्था की चाह जड़ता उत्पन्न करती है और किसी परिस्थिति की चाह सीमित बनाती है अथवा यों कहो कि मोह में आबद्ध करती है। परन्तु जिसकी प्राप्ति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, उस की प्राप्ति तो स्वाभाविक होनी चाहिए! इस दृष्टि से योग, ज्ञान और प्रेम वर्तमान की वस्तुएँ हैं और स्वभावसिद्ध हैं। जो स्वभावसिद्ध हैं उनके लिए हम अस्वाभाविक साधनों को अपनाते हैं, यही प्रमाद हैं।

प्रश्न- क्या जीवन में श्रम तथा अरुचि का कोई स्थान ही नहीं है?

स्वामीजी- श्रम का स्थान आलस्य मिटाने में है, प्रिय के पाने में नहीं। अरुचि का स्थान सुख-भोग के त्याग में है, प्रीति के उदय में नहीं। इतना ही नहीं, अरुचि ही वास्तव में अनेक रुचियों को जन्म देती है और श्रम ही आलस्य को उत्पन्न करता है। पर यह रहस्य तब समझ में आता है जब देह का अभिमान गल जाए।

प्रश्न- अरुचि ने अनेक रुचियों को जन्म कैसे दिया?

स्वामीजी- अरुचि प्रतिकूलता से उत्पन्न होती है और प्रतिकूलता कामना की अपूर्ति में प्रतीत होती है। कामना की उत्पत्ति मिथ्या अभिमान से होती है। कामना-पूर्ति के लिए ही अनेक प्रकार की रुचियाँ उत्पन्न होती हैं और रुचि-पूर्ति के लिए ही श्रम अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि कामना-अपूर्ति के

दु:ख ने अरुचि को उत्पन्न किया और कामना-पूर्ति के लालच ने अनेक रुचियों को जन्म दिया।

प्रश्न- रुचि तो राग उत्पन्न कर देगी?

स्वामीजी- राग तो सुख-भोग से उत्पन्न होता है, जो रुचि-अरुचि के द्वन्द्व से सिद्ध है। केवल रुचि तो अनुराग उत्पन्न कर देगी, राग नहीं अनुराग विभु है और राग वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध है। अत: अरुचि से रहित जो रुचि है वह राग उत्पन्न नहीं कर सकती, अपितु प्रीति जागृत् करती है।

प्रश्न- क्या सब ओर से विमुख होने पर ही हम सत्य से अभिन्न हो सकते हैं?

स्वामीजी- जो सत्य सब ओर से विमुख होने पर प्राप्त होता है। वही सभी के सम्मुख होने से भी मिल सकता है; अर्थात् जिसकी उपलब्धि त्याग से होती है उसी की प्रेम से भी होती है। त्याग विमुखता का पाठ पढ़ाता है और प्रेम सम्मुखता का। जब तक किसी और की स्वीकृति है। तब तक त्याग साधन है, और जब कोई और है ही नहीं तब प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य है। अथवी यों कहो कि त्यागरूपी भूमि में ही प्रेमरूपी-वृक्ष उत्पन्न होता है, अर्थात् त्याग का फल ही प्रेम है।

प्रश्न- दृष्टियों में से सर्वप्रथम किस दृष्टि का उपयोग करना चाहिए?

स्वामीजी- निर्दोषता आने पर ही प्रीति का उदय होता है और अमरत्व से अभिन्नता होती है। इस कारण सर्वप्रथम विवेक-दृष्टि का उपयोग करना अनिवार्य है।

प्रश्न- समस्त दृश्य से विमुखता प्राप्त करने के लिए क्या करना होगा?

स्वामीजी- दृश्य के स्वरूप को यथार्थ ज्ञान होने पर ही दृश्य से विमुखता सम्भव है।

प्रश्न- यदि दृश्य नहीं है तो प्रतीत क्यों होता है?

स्वामीजी- दृश्य की प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से तद्रूप होने पर होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि दृश्य से तद्रूप होने पर ही दृश्य की प्रतीत होती है। दृश्य से तद्रूपता निज-ज्ञान के अनादर से है, वास्तविक नहीं। निज-ज्ञान का आदर करने पर दृश्य से तद्रूपता नहीं रहती। तद्रूपता के मिटते ही दृश्य की प्रतीति स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही नित्य-योग प्राप्त हो जाता है। नित्य-योग में चिर-शान्ति और सामर्थ्य विद्यमान है।

प्रश्न- वर्तमान कार्य क्या है?

स्वामीजी- प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, जाने हुए दोष का त्याग, जिसे प्राप्त करना हो उसका विश्वास, उससे नित्य-सम्बन्ध और जिससे छुटकारा पाना है उसकी ममता का त्याग वर्तमान का कार्य है।

प्रश्न- वर्तमान क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग क्या है?

स्वामीज़ी- क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग है 'सर्व हितकारी प्रवृत्ति'। सर्व हितकारी प्रवृत्तियाँ स्वार्थभाव को खा लेती हैं, स्वार्थभाव के मिटते ही सुख-भोग की आसक्ति शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के साथ एकता का ज्ञान हो जाता है। जिसके होते ही मोह का नाश और प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है। निर्मोहता में वास्तविक ज्ञान और प्रेम में अगाधअनन्त रस निहित है।

प्रश्न- सर्व हितकारी प्रवृत्ति क्या है?

स्वामीजी- जिसमें किसी का अहित न हो, जिसका उदय करुणा तथा प्रसन्नता से हो और जिसके अन्त में अभिन्नता प्राप्त हो, वही सर्वहितकारी प्रवृित्त है। अभिन्नता आते ही कर्तृत्व का अभिमान गल जाता है। और वासनाओं का अन्त हो जाता है। वासनाओं का अन्त होते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। जिसके मिटते ही नित्य-योग, नित्य-जीवन और प्रेम प्राप्त होता है।

प्रश्न- वर्तमान जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- वर्तमान व्यक्तिगत जीवन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व : नहीं है; क्योंकि समष्टि शक्तियों के आधार पर ही व्यक्तिगत चेष्टाएँ होती हैं। जैसे सूर्य के आधार पर ही नेत्रं की चेष्टा होती है। इस दृष्टि से समस्त विश्व और व्यक्तिगत जीवन के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अतः जो समस्त विश्व का प्रकाशक है, वही व्यक्तिगत जीवन का भी है।

प्रश्न- भोग की रुचि का अन्त कैसे हो?

स्वामीजी- भोग की वास्तविकता का ज्ञान भोग की रुचि का अन्त कराने में समर्थ है। प्रत्येक भोग-कामना की पूर्ति के अन्त में भोगी पुन: उसी स्थिति में आता है, जिसमें भोग-कामना की उत्पत्ति से पूर्व था। कामना के उत्पत्ति काल का अभाव तथा दुःख, प्रवृत्ति-काल का श्रम तथा सुख और पूर्तिकाल की शक्तिहीनता तथा जड़ता-इनके ज्ञान से यह प्रेरणा मिलती है कि भोग-कामना की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और पूर्ति से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, केवल श्रम का दुर्व्यय और अभाव की उपलब्धि होती है। यदि

भोग-कामना की उत्पत्ति से पूर्व के जीवन पर दृढ़ आस्था हो जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग की रुचि का अन्त हो सकता है।

प्रश्न- असत् के सदुपयोग का वास्तविक अर्थ क्या है?

स्वामीजी- प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा ही असत का सर्वोत्कृष्ट उपयोग है। यह नियम है कि जो वस्तु सेवा में लग जाती है उससे ममता नहीं रहती और जिसकी सेवा की जाती है उसमें सौन्दर्य आ जाता है। अतः शरीर आदि वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा करने से विश्व में सौन्दर्य आ जाएगा और शरीर आदि वस्तुओं की ममता मिट जाएगी। जिसके मिटते ही सत् की वह अभिलाषा स्वतः जागृत होगी जो सत् से अभिन्न करने में हेतु है।

प्रश्न- सीमित अहं का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी- सीमित अहं का स्वरूप है-करने की रुचि, पाने का लालच और जीने की आशा। करने की रुचि का उपयोग आलस्य रहित तथा लालचरहित होकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा में है; और जीने की आशा का उपयोग अमर होने में है। पर ऐसा न करके हम अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए श्रम का, दूसरों के अधिकार की रक्षा में आलस्य का एवं सुख-भोग के लिए जीने की आशा का उपयोग करते हैं। जिसके परिणाम केवल अनेक प्रकार के भय, शोक और मृत्यु आदि हैं।

प्रश्न- 'यह' को यह जानने का अर्थ क्या है?

स्वामीजी- इन्द्रियों की दृष्टि से समस्त विश्व का अर्थ यह है, बुद्धि की दृष्टि से मन का अर्थ यह है और अन्तर्दृष्टि से बुद्धि का अर्थ भी 'यह' है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य से विमुख होना है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि स्वयं अनन्त से अभिन्न कर देगी। फिर सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी।

प्रश्न- बाह्य दृष्टि का सदुपयोग क्या है?

स्वामीजी- बाह्य दृष्टि का सदुपयोग करने के लिए सर्वप्रथम स्वार्थभाव का अन्त करना होगा। उसके होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा-भाव से स्वतः होने लगेगी। यह नियम है कि सेवा-भाव से की हुई प्रवृत्ति हृदय में अनुराग जागृत करती है और उस प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही वह सहज निवृत्ति आ जाती है, जिसके आते ही चिर-शान्ति अथवा मधुर स्मृति स्वतः होने लगती है। चिर-शान्ति से नित्य-योग तथा मधुर स्मृति से प्रिय से भिन्न की विस्मृति स्वतः होने

लगती है। फिर बाह्य दृष्टि स्वत: अन्तर्दृष्टि में विलीन हो जाती है।

प्रश्न- अधिकार-लालसा की उत्पत्ति क्यों होती है?

स्वामीजी- जब तक प्राणी अपने अस्तित्व को किसी की भी उदारता पर जीवित रखता है तब तक अधिकार-लोलुपता उत्पन्न होती रहती है। यद्यपि जिस अस्तित्व की सिद्धि किसी अन्य पर निर्भर है वह वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु प्रमादवश प्राणी उसे अस्तित्व मान लेता है। वास्तव में तो वह केवल दूसरों के अधिकारों का समूह है और कुछ नहीं। जिन्हें हमने अपना मान लिया है अथवा जिन्होंने हमें अपना मान लिया है उनके अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करने पर वह अस्तित्व, जो अधिकार-लालसा पर जीवित था, मिट जाता। है। उसके मिटते ही चिर-शान्ति से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से क्रियाशीलतापूर्वक दूसरों के अधिकार की रक्षा करने तक ही अपना अधिकार है। किसी से अधिकार माँगने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्रश्न- दूसरों के अधिकार की रक्षा में यदि हम अपने को असमर्थ पाएं, तब साधन का निर्माण कैसे होगा?

स्वामीजी- ऐसी दशा में किसी का अहित न चाहना ही साधन हो जाता है। साधक के जीवन में किसी के अहित करने तथा चाहने का कोई स्थान ही नहीं है। असमर्थता में किसी का अहित तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि अहित करने के लिए भी तो सामर्थ्य अपेक्षित है! समर्थ दशा में सर्वहितकारी चेष्टाओं से जो शुद्धि आती है, वही शुद्धि असमर्थता में किसी का अहित न चाहने से आ जाती है। इस दृष्टि से असमर्थता साधन-निर्माण में बाधक नहीं है। साधन-निर्माण में बाधक तो एकमात्र सामर्थ्य का दुरुपयोग ही है, और कुछ नहीं।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

(भाग – १)

I. मानवमात्र के शरणानन्दजी

II. सत्संग और साधन

1. असत् का त्यागः साधन की अभिव्यक्ति
2. अकर्तव्य का नाश: कर्तव्य की अभिव्यक्ति
3. पराधीनता का नाश: स्वाधीनता की अभिव्यक्ति
4. आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति
5. मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति
6. उपसंहार

III. दर्शन और नीति

IV. जीवन पथ

1. जीवन असत से सत की ओर।
2. प्रभु में प्रियता।
3. मिले हुए का सदुपयोग।
4. मानव जीवन का महत्व।
5. विश्राम में जीवन हैं।
6. कर्तव्य परायणता।
7. स्मृति की जागृति – "हैं" की प्राप्ति
8. असंगता का महत्व।
9. प्रवृति सेवा में निवृति प्रेम में।
10. प्रभु में विश्वास
11. प्रियता में जीवन की पूर्णता।
12. ममता का त्याग
13. अगाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति
14. जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति – अनित्य हैं।

V. दुःख का प्रभाव

1. एक परिचय
2. दुःःख का प्रभाव
3. उपसंहार

VI. मानवता के मूल सिद्धांत

VII. मूक-सत्संग तथा नित्य-योग

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग - २

I. साधन-तत्व

1. साधक कौन है?
2. साधन-तत्व क्या है?
3. साध्य क्या है?
4. क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है?
5. साधन-तत्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं?

6. साधन और साधन-तत्व में क्या भेद है?
7. साधन की आवश्यकता क्यों है?
8. साधन में विघ्न क्या हैं?
9. साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती?
10. जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों है?
11. साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो?
12. साधक होने का अधिकारी कौन है?
13. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
14. साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?
15. साधन का आरंभ कैसे हो?
16. साधन की लालसा
17. साधन का महत्व
18. असाधन का त्याग
19. दर्शन और साधन
20. जीवन और साधन
21. विश्वास और साधन
22. साधन-विधि
23. साधन-क्रम
24. साधन और असाधन
25. साधन और सत्संग
26. सत्संग की आवश्यकता
27. अहम् का नाश तथा साधन-तत्व

II. मानव की मांग

1. प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग
2. सुन्दर समाज का निर्माण
3. अपना कल्याण चाह-रहित होने में है
4. सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति
5. बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर
6. अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति
7. संयोग में वियोग के दर्शन
8. कर्तव्य-परायणता
9. अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम
10. भुक्ति, मुक्ति और भक्ति
11. निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है
12. मुक्त किससे होना है
13. कर्ता और कर्म- मान्यता का प्रभाव
14. निर्मलता कि प्राप्ति
15. सुख का उपयोग सेवा है
16. कर्म, विवेक और विश्वास
17. परिस्थितियाँ
18. भाव – शुद्धि
19. अचाह होने का महत्व
20. कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्रता
21. पर-दोष-दर्शन
22. करना और होना

23. जीवन-विभाजन
24. करो 'सेवा' जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को
25. निर्भयता की प्राप्ति
26. स्वाभाविक आवश्यकता कि सहज पूर्ति
27. चरित्र – निर्माण

III. मानव–दर्शन

28. मानव जीवन की समस्या, मानव–दर्शन का महत्व
29. असत् का विवेचन
30. मैं का विवेचन
31. पथ-विवेचन
32. कर्तव्य-विवेचन
33. समाज-दर्शन
34. दुःख की समस्या
35. शिक्षा और दीक्षा
36. विश्व-शान्ति
37. उपसंहार

IV. साधन-निधि

1. अपने लिए उपयोगी होना
2. जगत् के लिए उपयोगी होना
3. प्रभु के लिए उपयोगी होना
4. उपसंहार

V. मंगलमयी विधान

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ३ & ४

स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज के अकाट्य प्रवचनों का संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ५

I. सन्त समागम

II. सन्त सौरभ

III. सन्त उद्बोधन

IV. साधन सूत्र

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ६

I. चित्त शुद्धि

1. अशुद्धि क्या?
2. अशुद्धि के कारण की खोज
3. सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग
4. व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान
5. प्राप्त का सदुपयोग
6. अस्वाभाविकता का त्याग
7. न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति
8. न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति

9. असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति
10. परिस्थितियों की अनित्यता
11. भय तथा प्रलोभन से मुक्ति
12. नीरसता और खिन्नता से मुक्ति
13. स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता
14. कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अंत
15. निस्संकल्पता की आवश्यकता
16. वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद
17. अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं
18. निषेधात्मक साधन की आवश्यकता
19. निज-ज्ञान की सामर्थ्य
20. चित्त की महिमा
21. चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति
22. ज्ञान और जीवन की अभिन्नाता
23. व्यक्तित्व के मोह का अन्त
24. सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज
25. सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति
26. असंभव का त्याग तथा संभव की प्राप्ति
27. गुणदोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति
28. सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति
29. कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग
30. जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग
31. मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति
32. अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय
33. स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ
34. निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान
35. इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग एवंबुद्धि-ज्ञान का आदर
36. आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति
37. सुख-भोग की आशा का त्याग
38. मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय
39. सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व
40. क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व
41. अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति
42. व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ
43. रूचि-अरूचि के द्वन्द्व का अन्त
44. अहम् और वस्तु का विभाजन
45. आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त
46. प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण

47. प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में
48. अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति
49. अहम्-भाव की निवृत्ति एवंभय-प्रलोभन से मुक्ति
50. अनन्त के विधान-विवेक का आदर
51. वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति
52. कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति
53. संकल्प उत्पत्ति-पूर्त्ति से अतीत का जीवन
54. करने में सावधान और होने में प्रसन्न

II. जीवन दर्शन

55. अचाह पद
56. विवेक एवं अविवेयुक्त विश्वास
57. भोग-इच्छाओं की निवृत्
58. व्यक्तित्व की दासता
59. परिस्थितियों का सदुपयोग
60. व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति
61. हमारी वास्तविकता आवश्यकता
62. मान्यता, विधान और जीवन की एकता
63. आशा और निराशा किसकी?
64. 'करने' का 'होने' में परिवर्तन
65. गुणों के अभिमान का त्याग
66. अनित्य जीवन से निराशा
67. कामना-निवृत्ति
68. नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव
69. माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति
70. सहज निवृत्ति का सदुपयोग
71. वर्तमान का सदुपयोग
72. आसक्ति और प्रीति
73. व्याकुलता और प्रेम
74. विवेक और प्रीति
75. साधन-निर्माण
76. प्रीति ही जीवन है।
77. कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्त
78. निर्मोहता में दिव्य-जीवन
79. परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर
80. निर्भयता की कुन्जी
81. आसक्ति और प्रीति का विवेचन
82. सुख की आशा के त्याग में ही विकास
83. पर-चर्चा से हानि
84. सफलता की कुन्जी
85. विश्राम की महिमा
86. विश्राम की विधि
87. साधन-निर्माण की भूमि
88. अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता
89. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
90. भिन्नता के अन्त में जीवन
91. 'मैं' क्या है?

92. निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति
93. प्रवृत्ति और निवृत्ति
94. निष्कामता में ही सफलता है
95. पराश्रय का त्याग और सेवा
96. कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन
97. साधन-तत्त्व
98. वर्तमान जीवन का सदुपयोग
99. साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है
100. वर्तमान का आदर ही साधन है।
101. स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति
102. 'मैं' का स्वरूप
103. त्याग और प्रेम
104. विवेक की अलौकिकता
105. व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन
106. उपासना का रहस्य
107. निःसंदेहता तथा प्रीति
108. कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति
109. कामना-निवृत्ति का महत्त्व
110. जीवन का परम पुरुषार्थ
111. असंगता और प्रेम
112. दोषों का मूल-असावधानी
113. गुण, दोष और उनकी निवृत्ति
114. साधनरूप मान्यताएँ
115. अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति
116. विवेक से प्रीति
117. उद्देश्य और उसकी पूर्ति
118. कर्तव्य-मीमांसा
119. क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय
120. परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन
121. ममता का त्याग और प्रेम
122. अचाह में अभिन्नता
123. श्रमरहित साधन
124. साधन-भेद और साध्य की एकता
125. बाह्य दुष्टियों का सदुपयोग
126. चिर-शान्ति और सरसता।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ७

साधकों को पत्रों के माध्यम से स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज जी का उपदेश संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ८

I. सन्त जीवन दर्पण

1. स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज`
2. पुण्य- स्मृति
3. वह तो आते आधे नाम
4. जीवन के मार्मिक प्रसंग
5. विविध प्रसंग

II. साधन त्रिवेणी

1. जीवन का सत्य
2. हमारी आवश्यकता
3. सेवा ही जीवन का सार सर्वस्व
4. सत्संग मानव का स्वधर्म
5. स्वाधीनता, उदाराता और प्रेम
6. धर्म विज्ञान
7. सच्चा साधक कौन?
8. विवेक और विश्वास
9. साधना-पथ की बाधाएँ
10. प्रभु-प्रेम की विलक्षणता
11. विश्व-शान्ति

III. 'मैं' की खोज

1. 'मैं' क्या है?
2. 'मैं' का स्वरूप'
3. 'मैं' का विवेचन
4. उपसंहार

IV. पथ प्रदीप

1. जीवन कला
2. मानव की महिमा
3. 'मैं' का परिचय
4. अचाह-मानव का परम पुरुषार्थ
5. राग निवृत्ति-नित्ययोग
6. दुःख-एक विवेचन
7. सन्तुलन
8. सेवा का माहात्म्य
9. व्यक्तिगत सत्संग
10. विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि
11. विश्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं
12. साधन-भजन-पूजन
13. भक्ति – योग
14. अहैतुकी कृपा
15. प्रभु की प्रियता

V. प्रश्नोतरी संतवाणी

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ९ & १०

दिव्य ज्योति प्रो.देवकी माँ के प्रवचनों के संग्रह